ग्रन्थ : पाण्डवचरित्रम्

कर्त्ता : पूज्यश्री देवविजयजी गणि

आशीर्वाददाता : जैनशासन के ज्योतिर्धर पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजयरामचन्द्र सूरीश्वरजी म सा. एव सौजन्यमूर्ति पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजयप्रद्योतनसूरीश्वरजी महाराज ।

सम्पादक : प्रवचनपटु पूज्य मुनिप्रवर श्री रत्नसेनविजयजी महाराज ।

प्रकाशक एवं प्राप्ति-स्थान : श्री झालावाड जैन श्वे. मूर्त्ति. तपागच्छ सघ ट्रस्ट
सुरेन्द्रनगर (सौराष्ट्र)

प्रकाशन सहयोग : श्री झालावाड़ जैन श्वे. मूर्त्ति तपा. सघ ट्रस्ट सुरेन्द्रनगर के ज्ञानखाते मे से

मूल्य : ७० ०० रुपये

प्रकाशन-तिथि : चैत्री पूर्णिमा २०४६, दिनाक १० अप्रेल, १९९०

मुद्रक : ताज प्रिन्टर्स, जोधपुर (राजस्थान)

दुर्योधनाद्या न हताः, सांप्रतं दुर्योधनमिहायान्तं जिघांसुं न सहिष्ये, दुर्योधनवधे त्वयाऽहं न निषेध्यः, यदा निषेधं करिष्यसि तदाऽहं त्वदाज्ञां न करिष्ये। एनं दुर्योधनमहं मूलादुन्मूलयिष्यामि, महावायुर्वृक्षमिव।

यथा—"हस्तिनापुरसाम्राज्यगर्वपर्वतमस्तकात् ।
लीलयैव पराजित्य पातयिष्यामि विद्विषम्" ॥ १ ॥

एव सर्वेऽपि बान्धवा बाढस्वरेण पूत्कुर्वन्ति स्म। तेषां क्रोधवतां वाक्यानि श्रुत्वा युधिष्ठिरो बभाषे—भो बान्धवाः! युष्माभिः क्षत्रियकुलोचित वचो भाषितम्, परं ममोपरोधेन कियन्त्यपि हायनानि यूयं क्षन्तुमर्हथ। पूर्णे वनवासावधौ मया सत्यव्रते तीर्णे युष्मान् कः स्खलिष्यति, अर्णवानिव?। भो बान्धवा.! युष्माभिस्त्रयोदशवर्षान्ते दु शासनदुर्योधनादीनां भ्रातॄणां कृष्णाकेशाऽऽकर्षणनिष्क्रयरूपा शिक्षा देया। तद् युधिष्ठिरवाक्य सर्वैर्भ्रातृभिरङ्गीकृतम्।

पुनर्युधिष्ठिरेणोक्तम्—भो बान्धवाः! सांप्रत वयं गन्धमादनभूमौ यामः, यतोऽत्र वने निजश्रीगर्वितो दुर्योधनः समेष्यति, तदाऽस्माकं विरूपं भविष्यति। तद् युधिष्ठिरवचनं भीमादिभ्रातृभिः प्रतिपन्नम्। ततो युधिष्ठिरो भ्रातृमातृप्रियोपेतो गन्धमादनभूमिं प्रतस्थौ, यूथाधिप इव। मार्गे तीर्थान् नमस्यन् चारणमुनीन् नमस्कुर्वन् तेभ्यो धर्मलाभाऽऽशिषं गृह्णन् मार्गे नानाऽऽश्चर्याणि समभिलोकयन् पूर्वोत्तरां दिशं ययौ। तस्मिन् सुधामधुरस्वादुफलाकीर्णे सकलपञ्चवर्णसुरभिपुष्पप्रकरदन्तुरे किन्नरकिन्नरीगीतनादबन्धुरे गन्धमादनवने सानुजो युधिष्ठिरः सुखेनैव समाजगाम।

यथा—"क्रमाद् भुवमतिक्रम्य तटिनीशैलसंकटाम् ।
भूधरं स ययौ सार्धं बन्धुभिर्गन्धमादनम्" ॥ १ ॥

प्रकाशक की कलम से....

चैत्र पूर्णिमा के पावन दिन **श्रीमद् देवविजयगणि** कृत सस्कृत भाषा के विशालकाय **'पाण्डवचरित्रम्'** ग्रन्थ का प्रकाशन करते हुए हमे अत्यन्त हर्ष हो रहा है। इस पुनीत प्रसग पर हमारे सघ के असीम उपकारी वात्सल्यवारिधि, मोक्षमार्गप्रदर्शक, जिनशासन के अजोड प्रभावक सुविशाल गच्छाधिपति पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी म सा को याद किए बिना नही रह सकते। उनका मार्गदर्शन और शुभाशीर्वाद ही हमारा महान् सम्बल है। पूज्यपादश्री की कृपावृष्टि हमारे सघ पर सतत बरसती रही है।

हमारे सघ की आग्रहपूर्ण विनम्र विनति स्वीकार कर पूज्यपादश्री प्रतिवर्ष अपने शिष्य-प्रशिष्यादि गीतार्थ मुनिवर्यों को चातुर्मास आदि के लिए भेज कर सघ के धर्मबाग को सदैव सिंचित करते रहते हैं। पूज्य गुरुवर्यो की वाणी जिनशासन के बाग को सदैव हरा-भरा रखने का अमोघ साधन है।

प्रतिवर्ष की भाँति वि स २०४३ मे चातुर्मास हेतु विनति करने पर परम कृपालु पूज्यपाद गच्छाधिपति आचार्य भगवन्त ने अपने शिष्यरत्न अध्यात्मयोगी पूज्यपाद पन्यासप्रवर श्री भद्रकर विजयजी गणिवर्यश्री के चरम शिष्यरत्न विद्वद्वर्य युवा मुनिश्री रत्नसेन विजयजी म. सा एव परम तपस्वी सेवाभावी पूज्य मुनिश्री वीरसेन विजयजी महाराज को चातुर्मास हेतु भेजकर हमारे सघ पर महान् उपकार किया था। प्रतिदिन प्रात ९ बजे परम पूज्य प्रभावक प्रवचनकार मुनिश्री रत्नसेनविजयजी म. सा के 'तत्त्वार्थाधिगम' सूत्र पर एव प्रति रविवार को प्रात. ९ बजे 'जिनशासन के तेजस्वी सितारे' एव दोपहर ३ बजे 'पाण्डवचरित्रम्' ग्रन्थ के आधार पर 'महाभारत और हमारी सस्कृति' विषय पर जाहिर प्रवचन होते थे।

मयाऽसौ वराहः कुरुचन्द्रस्य तव द्रोहकारी ज्ञात्वा तव रक्षाकृते बाणेन विद्धः, त्वं तु मद्बाणरत्नं ग्रहीतुं प्रक्रमसे । मया ज्ञातम्—अहमेनं वराहं व्यापादयामि, एनं पुमांसं रक्षामि, यतोऽसौ रक्षतो मम मित्रं भविष्यति, इत्याशा मम दूरे गता, किन्तु त्वं मम प्रत्यर्थी अभवः ।

हे महद् ! यदि त्वादृशा अनीतिवर्त्मना वर्तन्ते, तर्हि न्यायमार्गे के प्रवर्तिष्यन्ते ? । यदि तव बाणेन कार्यमस्ति, तर्हि मां मार्गय, नाहं तव प्रार्थनाभङ्गं करिष्ये, यतोऽहं प्रार्थनाभङ्गं नास्मि शिक्षितः, त्वादृशोऽर्थी पुण्यप्राग्भारेण लभ्यते । इत्याद्युक्त्वा निवृत्ते भिल्लेऽर्जुनो बभाषे—भोः पल्लीश ! स्वबाणग्रहणे केयं तवोपालम्भपरम्परा ? । अयं दुर्जनस्वभावो यत् स्वमर्यादामुल्लङ्घयति, दुर्जनः कालकूटवज् ज्ञेयः ।

भिल्लस्य प्रार्थना

यतः—"दुर्जनः कालकूटश्च ज्ञातमेतौ सहोदरौ ।
अग्रजन्माऽनुजन्मा वा न विद्मः कतरोऽनयोः ?" ॥ १ ॥

हे क्रूरचेतः ! त्वं मां चौरंकारमित्याक्रोशन् किं न लज्जसे ?, त्वयाऽहं कदा चौरत्वेन धृतः ? । तथा त्वं मम मित्रं कदाऽसि ?, तथा मतिशालिनः पामरेण सार्धं का नाम संगतिः? यतस्तमस्काण्डेन सह चण्डांशो कीदृशं सौहार्दम् ? । भोः पल्लीश ! तव दुर्वाक्यैरसं कालुष्यं न यामि, शृगालानामारावैः किं कदापि मृगारातिः क्षुभ्यति ? । अहो ! अहं तव पश्यतो मदीयं स्वर्णपुङ्खं शरं गृह्णामि, यस्य दोर्दण्डयोः शक्तिरस्ति स मां निषेधतु । रे त्वं कोऽसि ! न नरेन्द्रः, न देवेन्द्रः, न खेचरेन्द्रः, किन्तु भिल्लमात्रः, अतो भवन्तं दृष्ट्वा मे धनुस्त्रपते । अथ शबरो बभाषे—हे सौम्य ! त्वं किं मिथ्या प्रगल्भसे ? यतः खगपतेः पुरः फणिनः किं फटाऽऽटोपं वृर्युः ?; इति जल्पन् शबरेशोऽनल्पौजाः शरं संदधे । ततस्तयोः पल्लीशपार्थयोः परस्परं रणः प्रववृते ।

पूज्य मुनिश्री के प्रभावक/प्रेरक प्रवचन सुनने के लिए दूर-सुदूर से श्रोतागण आते थे। प्रेरक प्रवचनो के साथ ही चातुर्मास दरम्यान पूज्य मुनिद्वय की शुभ निश्रा मे अनेकविध तप-जप व आराधना/अनुष्ठान भी सम्पन्न हुए। पर्युषण दरम्यान **'श्रुत-भक्ति'** विषय पर प्रवचन देते हुए पूज्य मुनिराजश्री रत्नसेन विजयजी म. ने प्राचीन साहित्य के समुद्धार हेतु खूब सुन्दर प्रेरणा दी। बस, उस प्रेरणा को प्राप्त कर ही हमारे सघ ने प्रस्तुत ग्रन्थ के पुनरुद्धार का निश्चय किया। प्रस्तुत 'पाण्डवचरित्रम्' ग्रन्थ की पूर्व आवृत्ति काफी जीर्ण हो गई थी, अतः इसका पुनरुद्धार आवश्यक भी था। पूर्व आवृत्ति मे रही क्षतियो का परिमार्जन भी आवश्यक था अतः इस कार्यभार को वहन करने के लिए पूज्य मुनिश्री को ही हमने विनति की। अनेक कार्यों मे व्यस्त होने पर भी पूज्य मुनिश्री ने प्रस्तुत ग्रन्थ का पुन. सम्पादन कर हम पर महती कृपा की है। हमारे लिए विशेष गौरव की बात है कि प्रस्तुत ग्रन्थ के आधार पर पूज्य मुनिश्री द्वारा दिए गए जाहिर प्रवचनो का सुन्दर सकलन **स्वाध्याय संघ, मद्रास** की ओर से **'महाभारत और हमारी संस्कृति'** भाग I और II यथाशीघ्र प्रकाशित होने वाले है।

अन्त मे, पुन परमाराध्यपाद सुविशाल गच्छाधिपति आचार्यदेवश्री के पावन चरणो मे वन्दना करते हुए यही प्रार्थना करते हैं कि भविष्य में भी हमे पूज्यपादश्री की ओर से समय-समय पर योग्य मार्गदर्शन मिलता रहे जिससे हमारा सघ रत्नत्रयी की आराधना मे चौमुखी विकास साध सके।

यद्यपि हमारी यह इच्छा थी कि पाण्डवो के मुक्ति दिवस—आसो पूर्णिमा के दिन ही इस ग्रन्थ का प्रकाशन हो जाय परन्तु कुछ कारणवश देरी हो जाने से अब इस ग्रन्थ का चैत्र पूर्णिमा के दिन, जिस दिन पुण्डरीक स्वामी आदि ५ करोड़ के साथ शाश्वत तीर्थ-सिद्धक्षेत्र मे मुक्तिगामी बने है, इस ग्रन्थ का प्रकाशन कर रहे हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ का स्वाध्याय-चिन्तन-मनन कर सभी भव्यात्माएँ मोक्ष-मार्ग में आगे बढ़े, यही शुभेच्छा।

निवेदक : **श्री झालावाड़ जैन श्वेताम्बर मूर्त्तिपूजक तपागच्छ संघ ट्रस्ट, सुरेन्द्रनगर (सौराष्ट्र)**

अर्जुनेनोक्तम्—त्वं कोऽसि ?। तेनोक्तम्—विशालाक्षविद्याधरतनयः प्रज्ञप्त्यादिविद्यापारगश्चन्द्रशेखर-नामाऽस्म्यहम्। मित्रकार्ये त्वदन्तिकमुपागतोऽस्मि। अर्जुनेनोक्तम्—तावदयमास्तां तव वर, समयेऽहं प्रार्थयिष्ये। तव यत् किञ्चित् कार्यं भवति, तद् ब्रूहि। विद्याधरेणोक्तम्—श्रूयताम्—वैताढ्यपर्वते रथनूपुरं नाम नगरमस्ति। तन्नगरनायको विद्युत्प्रभो नाम राजाऽस्ति। तस्येन्द्राणी नाम पट्टदेव्यस्ति। तयोः पुत्रौ तीव्रतेजसौ सकलकलापारीणौ आद्य इन्द्राभिधो द्वितीयो विद्युन्माली। एकस्मिन् दिने विद्युत्प्रभो राड् गुर्वन्तिके धर्मं श्रुत्वा वैराग्याद् निजे राज्ये इन्द्रं संस्थाप्य कनिष्ठं विद्युन्मालिनं यौवराज्ये संस्थाप्य स्वयं प्रव्रज्यामाददे। विद्युत्प्रभो राजर्षिस्तीव्रं तपस्तप्त्वा मोक्षमियाय।

अथेन्द्रो राट् स्वराज्ये कृत्रिमान् लोकपालान् विदधे, एकं श्वेतगजेन्द्रमैरावणं मेने, तेन सप्ताऽनीकानि कृत्रिमानि चक्रिरे, अष्टौ विद्याधर्यो निजपत्न्यः पट्टदेव्यः स्थापिताः। एवमन्यदपि सर्वं स्वबुद्ध्या इन्द्रचिह्नं तेन निर्मितम्। इतश्चेन्द्रलघुबान्धवो विद्युन्माली ऐश्वर्यगर्वितो मदोद्धतः काममोहितः स्वेच्छया पौराणां दारान् गृहीत्वा तैः सार्धमेकान्ते गत्वा स्वयं क्रीडति स्म, तथा पौराणां रत्नानि गृह्णाति स्म। एवं तेन दुर्मतिना सकलोऽपि पुरीजनो बहुधा विडम्बितः। ततो लोकैरिन्द्रो विज्ञप्तः—स्वामिन्! तव भ्रात्रा पीडिता वयमन्यत्र यास्यामः, अस्माकं निवासस्थानं देहि। ततः क्रुद्धेन राज्ञा संमान्य पौरान् विसृज्य विद्युन्माली समाहूतः।

एकान्ते कनीयांसं नीत्वा क्षोणीपतिरिन्द्रोऽशिक्षयत्—भो बन्धो! अन्यायं मा कुरु, स्वां प्रजां मा पीडय, पितृकुलोचितं समाचर; इत्यादि बहुशिक्षितोऽपि स दुष्टः पापाद् न विरराम। तत इन्द्रेण स्वराज्याद् निष्कासितो भृशं वैरं वहन् विहरति स्म। स विद्युन्माली इन्द्रं राज्यादुच्छेत्तुं सुवर्णपुरवासिनां निवातकवचनाम्नां

* जैन कथासागर का तेजस्वी रत्न *

卐 पाण्डवचरित्रम् 卐

(जैन महाभारत कथा)

[लेखक—**पूज्य पंन्यासप्रवर श्री पूर्णचन्द्र विजयजी गणिवर**]

जैनशासन मे धर्म-कथानुयोग का अपना विशिष्ट स्थान है। श्रुतसाहित्य में द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग, चरणकरणानुयोग और धर्मकथानुयोग ये चार अनुयोग वर्णित है। इनमे धर्मकथानुयोग अन्तिम होने पर भी उसका महत्त्व कम नही है, क्योकि धर्मकथानुयोग का क्षेत्र इतना अधिक विस्तृत है कि इसमे पूर्व के तीनों अनुयोग न्यूनाधिक अश मे समाविष्ट हो सकते हैं। उदाहरणत. किसी भी जैनकथा मे तत्त्वज्ञान तो आएगा ही। इसी प्रकार उसमे जम्बुद्वीप आदि क्षेत्रो की लम्बाई-चौडाई आदि का भी वर्णन आएगा तो वह गणितानुयोग कहलाएगा। महापुरुषो के द्वारा आचरित चारित्र का वर्णन चरणकरणानुयोग कहलाएगा। इस प्रकार धर्मकथानुयोग मे पूर्व के तीनो अनुयोगो का समावेश हो सकता है। आबालवृद्ध सभी के लिए सर्वग्राही बन सके ऐसा एक अनुयोग **धर्मकथानुयोग** ही है।

जैनशासन का धर्मकथानुयोग एक विशाल सागर के समान है। प्रस्तुत 'पाण्डवचरित्रम्' इसी सागर का एक तेजस्वी रत्न है। महाभारत/रामायण का आम जनता पर अत्यधिक प्रभाव रहा है। अत: अजैनो की बात तो दूर रही परन्तु बहुत से जैन भी इस बात से अज्ञात होगे कि जैनो का भी एक रामायण और महाभारत

तव पैतृकं सौहार्दं वर्तते, पूर्वं पाण्डुराज्ञा विशालाक्षस्तव पिता कीलैर्बद्धो मोचितः। अतस्त्वं तत्र गत्वा तं समानय।

इति हेतोर्भो धनञ्जय! सोऽहं त्वामाह्वातुं समागतोऽस्मि। एषा वराहभिल्लरूपा माया मया विकृता तव माहात्म्यं द्रष्टुम्। मया तव पराक्रमो दृष्टः, त्वं मत्स्वामिनेन्द्रेण समाहूतोऽसि, अतः शीघ्रं समागच्छ। मत्स्वामिन इन्द्रस्य पैतृकं राज्यं देहि, यथा पाण्डुना राज्ञा मम पितुर्विशालाक्षस्य जीवितं राज्यं च दत्तम्; तथा त्वमपीन्द्रस्य राज्यं देहि। तत् श्रुत्वा हृष्टो धनञ्जयः।

पुनश्चन्द्रशेखरोऽवोचत्—भो धनञ्जय! तवाङ्गुलौ यदङ्गुलीयकं वर्तते, तद् विशालाक्षस्य पाण्डोश्च प्रीतिं प्रति सूचकं वर्तते। तदस्य स्नपनपानीयैर्दिव्यौषधैरिव निजाङ्गे व्रणसंरोहणं कुरु। अथ त्वं पाण्डुपुत्रः, पाण्डुवत् त्वमप्युपकारं कुरुष्व, इन्द्रविद्याधरं त्वं चरणन्यासेन सनाथय, इत्यादिप्रेमसूचकं वचनं निशम्य चन्द्रशेखरं विद्याधरं ज्येष्ठबन्धुवद् धनञ्जयो मेने। धनञ्जय ऊचे—भोश्चन्द्रशेखर! विशालाक्षेण तव पित्रैषा मुद्रिका पाण्डवे दत्ता, पाण्डुना युधिष्ठिराय दत्ता, युधिष्ठिरेण भ्रात्रा मम दत्ता, एवं ममान्तिके एषा मुद्रिका समायाता। व्रणसंरोहणम्

चन्द्रशेखरेणोक्तम्—यथा विशालाक्षस्य पाण्डोश्च परस्परं स्नेहोऽभूत्, तथाऽऽवयोरपि स्नेहो भवतु। धनञ्जयेनोक्तम्—एवमस्तु, तद्दिनादारभ्य तयोः प्रीतिर्जाता। ततश्चन्द्रशेखरो धनञ्जयं विमाने आरोप्य मरुतां पथि गच्छन्ननेकाश्चर्याणि दर्शयामास—हे धनञ्जय! एष सीमन्तको गिरिः, एषा गङ्गा च, एषा सिन्धुर्महानदी; ययोस्तीरे किंनरकिंनरीभिर्विद्याधरीभिश्च त्वद्यशो गीयते। एष उज्ज्वलः त्वद्यशोराशिसदृशो वैताढ्यो नाम पर्वतः पुरतो वर्तते; पृथुलत्वे पञ्चाशद् योजनानि; तदर्धमुच्चत्वेन; दक्षिणोत्तरश्रेणिशोभितः पञ्चाशत्-षष्टिनगरपरिमण्डितो विद्याधरश्रेणिविराजितः शाश्वतजिनभवनमण्डितश्च वर्तते।

है। इतना ही नही, जैनो की रामायण/महाभारत अद्भुत, अजोड और रसिक बातो से भरपूर है तथा उसमे वर्णित बाते तर्कबद्ध और सुसगत है। इस बात से अधिकाश लोग अनजान है। अजैन महाभारत/रामायण के श्रवण से दिल-दिमाग मे अनेक प्रश्न उठे बिना नही रहते है, उनका सचोट समाधान देने की ताकत जैन महाभारत/रामायण मे विद्यमान है।

मुनिश्री रत्नसेन विजयजी म. सुन्दर सम्पादन-शैली को हासिल कर शुद्ध/सुन्दर मुद्रण मे **'पाण्डवचरित्रम्'** को प्रकाशित करवा रहे है। **पंडित श्री देवविजयजी गणि** ने बहुत ही सुन्दर शैली मे जैन महाभारत का वर्णन किया है। आज से लगभग ७० वर्ष पूर्व प्रकाशित यह चरित्र-ग्रन्थ अप्राप्य होने से इसका नवीन सस्करण आवश्यक था। वह आवश्यकता आज वर्षो बाद पूर्ण होने जा रही है।

परम शासन-प्रभावक, भारतवर्षालकार, सघस्थविर, व्याख्यान-वाचस्पति पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय रामचन्द्र सूरीश्वरजी म. के आशीर्वाद एवं मार्गदर्शनानुसार 'श्री झालावाड़ जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक तपागच्छ सघ ट्रस्ट' (सुरेन्द्रनगर) ज्ञानखाते के सदुपयोग रूप, इस प्रकार के प्राचीन ग्रन्थों को प्रकाशित कराने मे लाभ लेता रहता है। इस ट्रस्ट ने **'पाण्डवचरित्रम्'** ग्रथ-प्रकाशन का लाभ लिया है, जो अत्यन्त ही अनुमोदनीय है। इससे बोध-पाठ लेकर अन्य-अन्य सघ भी पूज्य गीतार्थ गुरु भगवन्तो की सलाह-सूचनानुसार लाभ लेने मे कटिबद्ध बन जाय तो अपने प्राचीन एव अनुपलब्ध साहित्य का पुनरुद्धार आसानी से हो सकता है। इस प्रासगिक बात के बाद अब सक्षेप मे पाण्डवचरित्र का विषय-दर्शन भी कर ले।

'पाण्डवचरित्रम्' की सरचना जगद्गुरु हीर सूरीश्वरजी महाराजा के पट्टधर सवाई हीरला पू. आचार्यदेव श्रीमद् विजयसेन सूरीश्वरजी महाराजा के शासन-काल मे पडित देवविजयगणि द्वारा गद्य मे की गई है।

कपिकेतुः पुनर्लक्ष्मीमुपेन्द्रं नेतुमुत्सुकः । रथेन मन्दरेणेव ममन्थ समरार्णवम्" ॥ २ ॥

तमर्जुनं समरावनिप्रसरन्तं दृष्ट्वा चन्द्रशेखरविद्याधरो भृशं मुमुदे। धन्य एषोऽर्जुनो यादृशो नैमित्तिकेन ज्ञानिनोक्तस्तादृगेवायं महानेकोऽप्यनेकधा दृश्यते ।

यथा-"प्रत्येकं विशिखांश्छिन्दन्नेकोऽपि कपिकेतनः । तेऽभूवन् युधि यावन्तस्तावद् वा ददृशे स तैः ॥१॥

मुक्ता यथा तथा बाणा नैतत्प्राणापहारिणः । पार्थोऽपि तान् निचिक्षेप चिच्छेद द्विषतां पुनः ॥२॥

एकत्र पिण्डितान् शत्रून् वीक्ष्य प्रहरतो मुहुः। पार्थः किञ्चिदिवौत्सुक्यादवोचच्चन्द्रशेखरम्" ॥३॥

भोश्चन्द्रशेखर ! रथं चालय, एते तु महारथिनो बाणवर्षणं वर्षयन्ति। तत् पार्थवचनं श्रुत्वा वीरशिरोमणिश्चन्द्रशेखरोऽवोचद्—भो अर्जुन ! रथं चालयेति वचनं तव नोचितम् । त्वं त्विन्द्रपुत्रः, तव पुरतः केऽमी वराकाः ?, काका इव नंष्ट्वा दूरे यास्यन्ति। पुनरर्जुनेनोक्तम्–त्वयाऽस्मभ्यं यो वरो दत्तस्तेन वरेणाऽहं तुभ्यं प्रार्थये; मम रथं परावर्तय। तेन कृष्णास्येन चन्द्रशेखरेण तत्क्षणादेव रथो व्यावर्तितः, तदाऽर्जुनरथं निवर्तितं दृष्ट्वा कालकेत्वाद्याः शत्रवो जयश्रीलम्पटाः सर्वेऽप्येकीभूय भूयांसो मुखे करतलं कृत्वा सिंहनादं कुर्वाणा धनञ्जयानुपदिका दधाविरे ।

यतः–"जयश्रीवल्लभम्मन्या, मुखाग्रन्यस्तपाणयः ।
ते क्ष्वेडां युगपच्चक्रुः, कृतान्ताह्वानसंनिभाम्" ॥ १ ॥

तदा तालुकरतलसंयोगे द्विषां वध्यत्वं ज्ञात्वा द्रुतं प्रत्यावृत्तो धनञ्जयो द्रोणोदितं मन्त्रं स्मृत्वाऽनेकबाणप्रसू बाणं मुमोच ।

इनकी गद्यशैली अत्यन्त ही रोचक और रसिक है। बीच-बीच मे आने वाले सुभाषित-श्लोक अत्यन्त ही बोधक होने से मननीय और सग्रहणीय है। अनेक चरित्र-ग्रन्थो को नजर समक्ष रखकर ग्रन्थकार महर्षि ने इस ग्रथ की रचना की होने से यह चरित्र अत्यन्त ही रसिक बन गया है।

'पाण्डवचरित्र' का विस्तार अठारह सर्ग का है। पाण्डवो के पूर्वजो के वर्णन से प्रारम्भित इस चरित्र मे पाण्डवो के निर्वाण तक का विस्तृत वर्णन है। कृष्णवासुदेव और नेमिनाथ प्रभु का चरित्र भी इसमे ठीक-ठीक प्रमाण मे वर्णित है। छोटी दिखाई देने वाली कोई घटना कितना भयकर स्वरूप धारण कर लेती है कि उसमे से भयकर सग्राम खडे हो जाते है। उसी समय धर्मी दिखाई देने वाले मनुष्य भी कैसी भूल कर देते हैं? इत्यादि रोमाचक इतिहास का विस्तृत वर्णन इस पाण्डवचरित्र मे है। इस पाण्डवचरित्र को पढते ही ख्याल आ जाता है कि यह जैन महाभारत कितना अद्भुत और सद्भूत गिना जा सकता है।

इस पाण्डवचरित्र के सम्पादक मुनिश्री रत्नसेनविजयजी जैनसघ मे सुपरिचित प्रवचनकार और लेखक है। हिन्दीभाषी जनता के लिए उनके द्वारा सर्जित, अनूदित और सम्पादित साहित्य अत्यन्त ही उपकारक बन रहा है। उनकी यह श्रुतसेवा विस्तृत बनती रहे, इसी शुभेच्छा के साथ इस पाण्डवचरित्र का वाचन-मनन क्रोध-मान-माया और लोभ के सनातन सग्राम मे सबको धर्म-विजय दिलाने वाला बना रहे, यही एक कल्याण कामना है।

—पं. पूर्णचन्द्रविजय गरिण

मोतीशा लालबाग जैन उपाश्रय
भूलेश्वर—बम्बई-४
कार्तिक पूर्णिमा, २०४५

वदनैर्वदनं चुम्बन्ति, खरैर्नखैर्हृदयं विदारयन्ति, रेणवश्चन्दनायन्ते, तस्य शरीरस्य साम्प्रतं शोणितं कुङ्कुमायते । हा! हा! असौ मद्बन्धुः कुसंसर्गात् सरलाशयो निधनं गतः, एष विद्युन्माली मां भृशं दुनोति । अथ रणे मृतानां निवातकवचप्रभृतीनां वैरिणां स्त्रियो रुदन्ति स्म ।

यथा—"काश्चिच्चिकुरसंभारं त्रोटयन्ति मुहुर्मुहुः । काश्चित् प्रतिक्षणं वक्षःकुट्टिमं कुट्टयन्ति च ॥ १ ॥
क्षिपन्ति दूरमश्रूणि हारमुक्ताश्च काश्चन । मन्यन्ते च दुकूलानि प्रतिकूलानि काश्चन" ॥ २ ॥

एवमरिनारीणां विलापान् श्रुत्वेन्द्रो विमानाऽऽरूढः सार्जुनः सुवर्णपुरासन्नवर्तिसिद्धकूटमुपागमत् । तत्र गत्वा विमानादवतीर्य पुष्करिण्यां स्नानं कृत्वा तत्कमलान्यादाय सिद्धकूटे शाश्वतजिनान् ऋषभचन्द्राननवारिषेण-वर्द्धमानाभिधानान् नत्वा पुष्पादिभिरष्टभेदैः पूजयित्वा इन्द्रयुतोऽर्जुनो जिनं स्तोतुमेवमुपचक्रमे ।

अर्जुनकृत प्रभोः स्तुति

यथा—"श्रीमज्जिनर्षभाऽपारराजमानयशोभर! । जगत्त्रयजनाधार! विजयस्व क्षमाधर! ॥ १ ॥
जय चन्द्राननाऽमार! यतीन्द्रगुणभासुर! । सूक्तसन्मण्यकूपार! रिक्तदोष! गुणाकर! ॥ २ ॥
विद्वारिषेण! सद्वीर! नेतर्नतसुराऽसुर! । यतेन्द्रिय! महःसार! पङ्कजाक्ष! समुद्धर ॥ ३ ॥
देवेन्द्रनतकोटीर! वर्द्धमान! जिनेश्वर! । विद्वत्श्रेणिशिरोहीर! जय त्वं परमेश्वर! ॥ ४ ॥
यशस्विन्! पुण्यसंभार! कृत्योज्झित! जयाऽजर! । तनूकृतस्वकर्मार! परब्रह्मकृतादर! ॥५॥
रोषपञ्चकपूत्कारपटीयः! कामशङ्कर! । कायरुग्जितखर्जूर! राजप्रणतगोहिर! ॥ ६ ॥
यजमानसुधाहार! चरित्रमुदितामर! । रिक्तमोहादिकर्मार! तत्त्वदानं समाचर! ॥ ७ ॥

सम्पादक की कलम से....

इस हिन्दुस्तान की धरा पर पाण्डवों के नाम-काम से भला कौन अपरिचित है ? जैन-जैनेतर सभी पाण्डवो के नाम से सुपरिचित है। जैनेतर लोग व्यास ऋषि के द्वारा विरचित 'महाभारत' का समय-समय पर पाठ करते रहते है। बहुत कम लोगो को इस बात का पता है कि जैनों का भी अपना कोई महाभारत है और उस महाभारत-कथा का अवतरण छठे अग 'ज्ञाताधर्मकथा' मे से किया गया है। अनन्तज्ञानी, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी तारक तीर्थंकर परमात्मा के श्रीमुख से त्रिपदी का श्रवण कर बीजबुद्धि के निधान गणधर भगवन्त द्वादशागी की रचना करते है। उसी द्वादशागी का छठा अंग 'ज्ञाताधर्मकथा' है।

तीर्थंकर परमात्मा 'अर्थ' से देशना देते है और गणधर भगवंत उसे सूत्र रूप मे गूँथते है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि इस पाण्डव-चरित्र (महाभारत) के मूल प्रणेता तीर्थंकर परमात्मा होने से उसमे कपोल-कल्पनाओं को कोई स्थान नही है।

घातिकर्मों का क्षय कर वीतराग अवस्था को प्राप्त आत्माओ में राग-द्वेष का सर्वथा अभाव होने से उन्हे असत्य कहने का कोई प्रश्न ही नही रहता है। वे केवलज्ञानी परमात्मा तो केवल प्रजा के आत्महित के लिए नित्य धर्मोपदेश करते है।

पाण्डवचरित्र का मूल स्रोत सर्वज्ञ तीर्थंकर परमात्मा होने से अब यह बात एकदम स्पष्ट हो जाती है कि इस महाभारत की कथा मे सन्देह का कोई स्थान नही है।

यादवाङ्गनाऽऽदिभिः शृङ्गारितः कृतमङ्गलः कृष्णपाण्डवद्रुपदयादवकुमारादिभिः परिवृतो मत्तगन्ध-सिन्धुराधिरूढः सौभद्रेयः शिरसि विधृतातपत्रश्चामरैर्वीज्यमानो यादवाङ्गनाऽऽदिभिर्गीयमानोऽभिमन्युर्विराटराजद्वारे समागतः। ततः सुदेष्णया युगमुशलशरावादिभिः पुङ्खितो विवाहमण्डपमध्यगात्। ततो वधूवरयोस्तस्मिन्नेव शुभदिने शुभलग्ने विप्रैः कृतो विवाहोत्सवः संजज्ञे।

यथा–"विराटकन्यया सार्धमभिमन्युः करात्तया। प्रदक्षिणीकरोति स्म ज्वलन्तं जातवेदसम् ॥ १ ॥
दत्ते स्म हास्तिकाश्वीयस्वर्णरत्नादिकं बहु। कुमाराय विराटेन्द्रः पाणिमोचनपर्वणि" ॥ २ ॥

यादवा विराटश्च परस्परं गमनागमनोद्यताः पौराणां मुदं ददिरे। विराटनगरे स्थिताः पाण्डवा यादवाश्च द्रुपदो विराटश्चेत्येवं सर्वेऽपि राजानः सुखेनैव दिनानि गमयामासुः।

यथा-"आनन्दैकमयाः सुधारसमयाः कल्याणसंपन्मया लक्ष्मीकेलिमया महोत्सवमयाः कौतूहलश्रीमयाः।
एतेषां कतिचिद् विराटनगरे तस्मिन् ययुस्तस्थुषामन्योऽन्यप्रणयेन पुण्यदिवसेष्वग्रेसरा वासराः" ॥१॥

इति श्रीमत्तपागच्छाधिराजभट्टारकश्री ५ हीरविजयसूरिपट्टालङ्कारसंप्रतिविजयमानभट्टारकश्रीविजयसेनसूरिराज्ये पण्डितदेवविजय-गणिविरचिते गद्यबन्धबन्धुरे श्रीपाण्डवचरित्रे विराटावस्थानगोग्रहवर्णनो नाम दशमः सर्गः।



प्रस्तुत गद्यबद्ध सस्कृत 'पाण्डवचरित्रम्' ग्रन्थ के रचयिता पूज्यश्री देव विजयजी गणि हैं। उन्होने पूर्व प्रकाशित ग्रथो मे से उद्धृत करके इस चरित्र-ग्रन्थ की रचना की है।

यह ससार अनेकविध द्वन्द्वो से भरा हुआ है। हिंसा-अहिंसा, सत्य-असत्य, न्याय-अन्याय तथा सदाचार-दुराचार आदि के द्वन्द्व इस ससार मे सर्वत्र दिखाई देते हैं।

प्रस्तुत महाभारत-कथा भी न्याय और अन्याय के संघर्ष की ही कहानी है। ग्रन्थकार महर्षि ने अत्यन्त ही सरल व सुबोधशैली मे ग्रन्थ की रचना कर बालजीवो पर बहुत ही उपकार किया है।

पूर्वाचार्य महर्षि विरचित कुछ ग्रन्थ केवल विद्वद्भोग्य ही होते है अर्थात् संस्कृत भाषा के विशिष्ट ज्ञाता ही उन ग्रन्थो का अध्ययन व परिशीलन करने मे समर्थ हो पाते है। ऐसे गहन-ग्रन्थ बालजीवो पर उपकार करने मे असमर्थ होते हैं। परन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ की भाषाशैली इतनी सरल व सुगम है कि सस्कृत भाषा का प्राथमिक अभ्यासी भी इस ग्रन्थ का सरलता से अध्ययन कर सकता है।

अहकार की पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए व्यक्ति की कैसी दुर्दशा होती है, उसका यह प्रस्तुत ग्रन्थ साक्षात् प्रतिबिम्ब है। कौरवकुल का विनाश यह दुर्योधन की अहकारवृत्ति का ही आभारी है।

अहकार से ग्रस्त व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को विनाश के कगार पर लाकर खड़ा कर देता है।

सन्मार्गगामी जीवन जीने के लिए यह ग्रन्थ अनेक दृष्टि से प्रेरणादायी है।

नेमिं दृष्ट्वा राजीमती—

"सस्तम्भं सहरोमाञ्चं सस्वेदं सहवेपथु। नव्यनव्योल्लसद्भावं बिभरामास सा वपुः" ॥ १ ॥

राजीमत्या दक्षिण-चक्षु-स्फुरणम्

तं नेमिनाथं स्वप्राणनाथं विलोक्यन्ती राजीमती तत्क्षणादेव श्यामाननाऽभवत्। राजीमतीं श्यामाननां दृष्ट्वा सख्यौ ऊचाते—हे सखि ! त्वं श्याममुखा कथं दृश्यसे ?, हर्षस्थाने किं विषादकारणम् ?। राजीमती उवाच—हे सख्यौ ! मम दक्षिणं चक्षुरूरुश्च दक्षिणः परिस्फुरति, निर्भाग्याऽहं युष्माकं किं कथयामि ?। सख्यवोचत्—हहा सखि ! तव किमेतद् दुर्निमित्तमुपस्थितम् ?, आनन्दस्थाने विषादो जातः, चिन्तां मा विधेहि पुण्यानुभावतः कुलदेव्यः कुशलं करिष्यन्ति। राजीमती उवाच—हे सखि ! नास्ति मे एतादृशानि पुण्यानि, यदेष नेमिर्मे पाणिग्रहणं करोति, एवं यावता वक्ति तावत् किं जातम् ?। श्रीनेमी रथारूढो राजीमत्या दृग्मार्गमभ्यगात्। तदानीमुग्रसेनगृहासन्नवाटके रुद्धाः पशवो नेमिमालोक्य बाढस्वरेण पूत्कुर्वन्ति स्म। तं पशूनामार्तस्वरं श्रुत्वा नेमिः सारथिं प्रत्यूचे—भोः सारथे ! किमिदं पशूनामार्तस्वरः श्रूयते। नेमिं प्रति सारथिरुवाच—हे स्वामिन् ! एते पशवस्तव विवाहकार्ये आमिषगौरवं कर्तुं समानीताः। एतेषां मांसैर्गौरवः करिष्यते, यादवा भोक्ष्यन्ते। तत् श्रुत्वा नेमिश्चिन्तयति—

"अहह ! श्रोतुमशक्यं चरित्रमपवित्रचित्तवृत्तीनाम्।
ये कुर्वन्ति निजोत्सवमनुत्सवैरपरजन्तूनाम्" ॥ १ ॥

हे सारथे ! यत्रैते पशवः पूत्कुर्वन्ति तत्र मां नय, यथैते पशवो मुच्यन्ते। ततस्तेन सारथिना नेमे रथस्तत्र नीतः। नेमिं दृष्ट्वा एको हरिणः स्वग्रीवया हरिणीग्रीवां पिधाय बाढस्वरेणैवमभाषत।

प्रस्तुत प्रकाशन :

वि. सं. २०४३ मे हालार की ओर विहार करते समय सर्वप्रथम यह ग्रन्थ मुझे शान्ति भवन (जामनगर) के ज्ञानभडार मे देखने को मिला। मैंने उसे कुछ ही दिनो मे आद्योपान्त पढ लिया। तत्पश्चात् सुरेन्द्रनगर के चातुर्मास दरम्यान भी इसी ग्रन्थ के आधार पर **'महाभारत और हमारी संस्कृति'** जाहिर प्रवचनमाला का भी आयोजन हुआ। मेरे दिल मे इस ग्रन्थ के प्रति सहज आकर्षण बना रहा। इस ग्रन्थ का पूर्व मुद्रण वि स. १९७० के आसपास हुआ होने से यह ग्रन्थ भी जीर्णप्राय हो गया था—मैंने मन ही मन इस ग्रन्थ के जीर्णोद्धार का सकल्प किया। परम पूज्य प्राचीन साहित्योद्धारक आचार्य श्रीमद् जिनेन्द्र सूरीश्वरजी म. सा. से भेंट होने पर उन्होने इस ग्रन्थ मे रही अशुद्धियो के परिमार्जन के लिए तैयार किया **'शुद्धिपत्र'** भी मुझे दे दिया। मैं उनका अत्यन्त ही आभारी हूँ।

पूर्व मुद्रण मे प्रत्येक पन्ने पर 'विषय-निर्देश' का सकेत नही था। अध्ययनकर्त्ता के लिए उसकी भी आवश्यकता देख उसे भी तैयार किया। परम पूज्य जिनशासन के ज्योतिर्धर महान् शासनप्रभावक गच्छाधिपति आचार्यदेव श्रीमद् विजयरामचन्द्र सूरीश्वरजी म. सा. की सतत कृपादृष्टि, स्व. अध्यात्मयोगी, प्रशान्तमूर्ति, पूज्य गुरुदेव पन्यासप्रवर श्री भद्रकर विजयजी गणिवर्यश्री की असीम कृपावृष्टि, प. पू. सौजन्यमूर्ति आचार्यदेव श्रीमद् विजय-प्रद्योतन सूरीश्वरजी म. सा. के शुभाशीर्वाद, प पू. विद्वद्वर्य पन्यासप्रवर श्री वज्रसेनविजयजी गणिवर्यश्री के मार्गदर्शन एव सेवाभावी परम तपस्वी पू मुनिश्री जिनसेन विजयजी म. सा. की अपूर्व सहयोगवृत्ति आदि का ही यह सुफल है—ग्रन्थ का सहजतया सम्पादन एवं प्रकाशन। मैं उन समस्त पूज्यो के प्रति नतमस्तक हूँ, जिनकी कृपा, आशीर्वाद व सहयोग से प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादन का भगीरथ-कार्य सफल बन सका है।

अन्येषु त्रिषु सिंहासनेषु व्यन्तराऽमरास्तिसृषु दिक्षु त्रीणि प्रतिरूपाणि चक्रिरे—ततश्चतुर्विधा देवा देव्यो नरा नार्यस्तिर्यगादयः कुड्मलीकृतपाणयो जिनाऽभिमुखा उपाविशन्, यथा—मुनिवैमानिकीदेवीसाध्व्यश्चेत्यग्निकोणे तिष्ठन्ति, भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कदेव्यो नैरृत्यां तिष्ठन्ति, भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कदेवा वायव्यां तिष्ठन्ति, कल्पसुरा मनुष्या नार्यश्चेशान्यां तिष्ठन्ति ।

यतः—"चउदेविसमणिउ ट्ठ ट्ठिआ विचिट्ठा नरित्थिसुरसमणा ।
इय पणसगपरिसा सुणंति देसणं पडमवप्पंतो ॥ १ ॥
इय आवस्सयवत्तीवुत्तं चुण्णीइ पुण मुणिनिवट्ठा । वेमाणिणिसमणी दोउ ट्ठा सेसा विआउ नव ॥२॥
वीअंतो नर ईसाणि देवछन्दो अन्नाण तइअंतो । तह चउरंसे दु दु वाविकोण उ चिट्ठ इविकवको" ॥३॥

इत्यादि सिद्धान्तोक्तं समवसरण दृष्ट्वा मोहितमनसो रैवतोद्यानपालका हरये चक्रपाणये प्रभोः केवलज्ञानोत्सवोदन्तं वेगादागत्य निवेदयामासुः । हरिस्तेभ्य उद्यानपालकेभ्यः प्रीत्या रूप्यस्य सार्धद्वादशकोटीर्ददौ, ततो भवत्युत्तालमानसो हस्तिस्कन्धं समारुह्य मार्गे याचकेभ्यो दानं वितरन् जिनाऽभिमुखश्चचाल ।

यथा—"समं पित्रा पितृव्यैश्च मातृभ्रातृसुतैस्तथा । पृथक्स्तम्बेरमारूढैरन्वितः पाण्डवैरपि ॥ १ ॥
समग्रेणावरोधेन पौरलोकैश्च संयुतः । द्वारवत्याः पतिः प्राप ज्ञानोत्सवभुवं विभोः" ॥ २ ॥

तस्मिन् समवसरणे स्वामिनो धर्मदेशनां श्रोतुमनाः सपरिकरा राजीमत्यपि तत्रागात् । अथ नारायणः

प्रभो केवल-ज्ञान-प्राप्ति

प्रकाशन के अनुरूप प्रस्तावना—लेखक पूज्य विद्वद्वर्य पन्यासप्रवर श्री पूर्णचन्द्र विजयजी गणिवर्यश्री का भी मैं अत्यन्त आभारी हूँ।

प्रकाशन-व्यवस्था मे डॉ. चेतनप्रकाशजी पाटनी का अपूर्व सहयोग रहा है। इस प्रशस्त कार्य मे सहयोग के लिए वे धन्यवाद के पात्र है।

ग्रन्थ-सम्पादन, प्रकाशन-मुद्रण मे यद्यपि पूर्ण सावधानी बरती गई है, फिर भी छद्मस्थतावश कही स्खलना रह गई हो तो उसके लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ।

अन्त मे, प्रस्तुत-ग्रन्थ का अध्ययन-अध्यापन कर सभी भव्यात्माएँ मुक्ति-मार्ग मे ऊर्ध्वगामी बने और क्रमशः शाश्वत सुख की भोक्ता बने, इसी शुभकामना के साथ—

माघ शुक्ला १३, २०४६
(दीक्षा-दिन)

अध्यात्मयोगी पूज्यपाद पंन्यासप्रवरश्री
भद्रंकर विजयजी गणिवर्य कृपाकांक्षी
मुनि रत्नसेन विजय



अर्हम्

अथ सप्तदशः सर्गः



"हस्तिनापुरसाम्राज्यसरोजवनखेलिनः ।
दिनानि निन्युर्भूयांसि राजहंसा पृथासुताः" ।। १ ।।

नीति-न्यायेन राज्य-पालनम्

तेषां न्यायनीतिनिपुणानां राज्यं पालयतां दिनानि यान्ति, तथापि तेषां पाण्डवानां धर्मार्थकाममोक्षेषु चतुर्वर्गेषु धर्मं साधयतां कालो याति, धर्मान्मोक्षोऽपि भवति। तं धर्मं वर्णयति, यथा—दानं ददति, यथाशक्त्या शीलं पालयन्ति, तपो विधिवद् विदधति, भावेन भावनां भावयन्ति, निरन्तरं नव्यां धर्मोन्नतिं कारयन्ति।

यतः—"त एव धन्या यशसां निकेतनं, तैरेव रत्नप्रसवा वसुन्धरा ।
बलेन वीर्येण धिया ह्रिया श्रिया, कुर्वन्ति ये श्रीजिनशासनोन्नतिम्" ।। १ ।।

सर्वत्र स्वदेशेष्वार्हतं धर्मं प्रवर्तयन्ति, जिनमण्डितां वसुधां विदधति, भगवत्प्रतिष्ठया यात्रया च तेषां कालो याति, यतो महात्मानो धर्माद् धनं लब्ध्वा धर्मे यत्नं कुर्वन्ति, अतस्तेऽपि पाण्डवा धर्मपरायणा धर्मं विदधति। एकस्मिन् दिने पौषधागारे पौषधे स्थिताः पञ्चापि पाण्डवा नेमेरागममिच्छन्तो नेमिं स्मरन्ति,

॥ 卐 ॥ विषयानुक्रमणिका ॥ 卐 ॥

यतः—"रे पक्षिन्नागतस्त्वं कुत इह सरसस्तत् कियद् भो विशालं,
किं मद्धाम्नोऽपि बाढं नहि नहि च महत् पाप! मा ब्रूहि मिथ्या।
इत्थं कूपोदरस्थः सपदि तटगतं दर्दुरो राजहंसं,
नीचः स्वल्पेन गर्वी भवति हि विषया नापरे येन दृष्टाः" ॥ १ ॥

हस्तिनापुरे पाण्डवपत्न्याः पाञ्चाल्याः पुरः कीदृश्यस्तव वल्लभाः?। इति मत्पुरतः कथयित्वा गगनाध्वना नारदोऽन्यत्र ययौ। पाञ्चालीगुणाकृष्टोऽहं पौषधागारेऽष्टमभक्तेन पूर्वसङ्गतिकं भवनवासिनं देवं समाराध्य कृष्णाहरणं प्रार्थयामि। देवोऽब्रवीत्—भो मूढमते! एषा सतीमतल्लिका मनसापि नान्यं पुरुषं वाञ्छति, भवत्प्रयासो वृथा भविष्यति, तथापि तव प्रीत्या तां समानेष्यामि। इत्युक्त्वा गतो देवो मन्दिरोपरि युधिष्ठिरान्तिके शायिनीं दृष्ट्वा तयोरवस्वापिनीं निद्रां दत्त्वा द्रौपदीमुज्जहार। तामानीय मम प्रमदवने मुक्त्वा मां कथयित्वा देवः स्वस्थाने गतः। ततः सा जागरिता निजं वेश्म राज्ञः समीपं चापश्यन्ती चिन्तयति—किमिन्द्रजालं दृश्यते, अथवा किं मे मतिमोहः? एवं भयभीता यावता चिन्तयति, तावदहं पौषधागाराद् निर्गत्य कृतस्नानो विहितशृङ्गारः स्वान्तःपुरपरिवृतः प्रमदवने पाञ्चालीसमीपे समागाम्। ततोऽहं तां तथावस्थां दृष्ट्वाऽभ्यधाम्—हे सुन्दरि पाञ्चालि! क्षोभं मा कार्षीः, अहं तव किङ्करोऽस्मि।

यथा—"द्वीपेऽस्मिन् धातकीखण्डे जम्बूद्वीपादहारयम्।
नृपः पद्माभिधोऽहं त्वां तन्मां मन्यस्व वल्लभम्" ॥ १ ॥

ततः किञ्चिद्विचिन्त्य एषा बभाषे—भो महात्मन्! जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे स्वर्णप्राकारोपगूढायां द्वारवत्यां

नारद-पृच्छा

रुचितो भर्त्ता भविष्यति। एतद्वचनं श्रुत्वा हृष्टो राजा स्वस्थानं गतः। तद्वचनश्रवणात् प्रासादशिखरस्थयोरावयोर्भवतो मार्गं पश्यन्त्योर्भवद्दर्शने वाञ्छितं फलितम्।

अथ राजा ऊचे--हे गङ्गे! हे मृगलोचने! मृगोऽपि मे महोपकारी जातः, येन त्व नेत्रकौमुदी दर्शिता। हे प्रिये! लोका नानोपायैर्यां लक्ष्मीमभिलषन्ति, सा मयि स्वयमेवाऽभिलाषुका जाता; यत्त्वया स्वयमेवाहं वृतः। अतो ब्रूहि त्वद्वाचिकं किं करोमि? तयोक्तम्; मद्वचनं कार्यम्। राज्ञोक्तम्, करिष्ये। गङ्गयोक्तम्, वचनोल्लङ्घने अहं स्वस्थानं पितृगृहं समेष्यामि। राज्ञोक्तम्, एवम्। ततो गङ्गया सखीमुखेन जह्नुराजानं सामानाय्य उभयोः सैन्यस्वजनसमागमादिमहामहेन पाणिग्रहणं कृतम्। तयोः संयोगे प्रीतिः पल्लविता। अथ निर्वृत्ते पाणिग्रहणोत्सवे जह्नुविद्याधरपतिः गङ्गाकरमोचने गजवाजिस्वर्णरत्नमणिमाणिक्यादिकं स्वकुलोचितं धनं ददौ। तद्धनादिक गृहीत्वा शान्तनुर्गङ्गायुतो हस्तिनापुरं नगरमाजगाम। तत्र तौ दम्पती प्रेमानुरूपाणि राज्योचितानि सुखान्यनुबभूवतु।

गङ्गाया पुत्रजन्म

अन्यदा निबिडप्रेमबन्धस्य शान्तनोः पत्नी गङ्गा अन्तर्वत्नी बभूव। निधिगर्भा काश्यपीव सा गङ्गा गर्भानुभावतः सुमेरुं कन्दुक मेने, समुद्रं गोष्पदम्। तथा राज्ञा नैमित्तिकः पृष्टः। नैमित्तिकेनोक्तम्, अनेन लक्षणेन तव महान् पुत्रो भावी। तच्छ्रुत्वा राजा शान्तनुरत्यर्थं तुतोष। सार्द्धसप्तदिनाधिकेषु नवमासेषु सुमुहूर्त्ते सुलग्ने शुभयोगे राज्ञी गङ्गा गाङ्गेयवर्णं पुत्रं सुषुवे। प्रथमे दिवसे तस्य कुलोचितां स्थितिपतिका राजा करोति। तृतीये दिवसे चन्द्रसूर्ययोर्दर्शनं कारयति। षष्ठे दिवसे षष्ठीजागरणं करोति। संप्राप्ते द्वादशे दिवसे निर्वातिते अशुचिजातकर्मकरणे राजा शान्तनुः तस्य पुत्रस्य गङ्गाऽपत्यत्वात् गाङ्गेय इति नाम सार्थकं निर्ममे॥

एकस्मिन् दिने राज्ञी गङ्गा मृगयाऽऽरम्भगाढसंरम्भं भूपालं दृष्ट्वा मूर्द्ध्न बद्धाञ्जलिः सानुराग-

卐 अर्हम् 卐

॥ पूज्याचार्यदेव श्रीमद् विजयदान-प्रेम-रामचन्द्र-भद्रंकरसद्गुरुभ्यो नमः ॥

श्रीदेवविजयगणिविरचितम्

॥ पाण्डवचरित्रम् ॥

卐

मङ्गलाचरणम्

ॐ नमो वृषभस्वामियोगिने परमात्मने । कारिणे शिवसौख्यस्य विश्वस्थितिविधायिने ॥ १ ॥
परब्रह्मस्वरूपाय जगदानन्ददायिने । श्रीयुगादिजिनेशाय पराय परमेष्ठिने ॥ २ ॥ (युग्मम्)
स श्रीशान्तिजिनो जीयाद् भव्यानां भुवि शान्तिकृत् । मत्वा मृगो जगत्त्राणं सेवते लाञ्छनच्छलात् ॥ ३ ॥
श्रीनेमिः श्रेयसे भूयाद्यदुवंशशिरोमणिः । वाञ्छितार्थप्रदो लोके कल्पशाखीव देहिनाम् ॥ ४ ॥
पार्श्वनाथः स वः पायान्नीलवर्णतनुद्युतिः । फणभृन्मणिरुक्शोभी मेघवद्विद्युताश्रितः ॥ ५ ॥
वर्धमानं जिनं नौमि वर्धमानगुणोत्करम् । श्रीसिद्धार्थकुलाकाशविकाशननभोमणिम् ॥ ६ ॥
नत्वा श्रीभारतीं देवीं तथा श्रीमद्गुरु निजम् । चरित्रं पाण्डुपुत्राणामिक्ष्वाकुकुलजन्मनाम् ॥ ७ ॥
उद्धृत्यान्यचरित्रेभ्यो गद्यबन्धेन सुन्दरम् । करोम्यात्मविनोदाय तथा कर्मक्षयाय च ॥ ८ ॥ (युग्मम्)

मेव व्यजिज्ञपत्; हे प्रजाप्रिय ! हे प्रियन्याय ! हे प्राणेश ! हे धैर्यधाम ! हे परोपकारिशिरोमणे ! हे प्रज्ञावान् ! हे निजवाक्पालनसावधान ! त्वादृशः सत्यवाक् अन्यः कश्चित् क्षितौ नास्ति; हे नाथ ! अतः किञ्चिदुच्यते; तव गुणवतोऽपि कलाशालिनोऽपि निष्कलङ्कस्यापि एको महानाखेटकव्यसनरूपः कलङ्को वर्त्तते, चन्द्रस्य मृग इव, अतः प्रोच्यते; स्वामिन् ! व्याधसधर्मं धर्मं त्यज, सत्कर्म समाचर, यतस्त्व मम विज्ञपन नातिक्रमितुमर्हसि । तच्छ्रुत्वा राजा ऊचे, अद्यप्रभृति नाहं गमिष्यामि ॥ कतिपयदिनान्ते पुनरप्याखेटकार्थं गत.। पुनर्वारितो राजा वदति; हे प्रिये ! त्वया सत्यमुक्तं साधूक्तं च, परं किं करोमि, एषोऽहं व्यसनग्रहग्रस्तो मृगयां त्यक्तु न शक्नोमि, यतो व्यसनग्रहो दुरुच्छेद इति कथयित्वा पुनस्तथैव वने गतः। तच्छ्रुत्वा कुपिता गङ्गा बालपुत्रमादाय पितुर्मन्दिरमभ्यगात् । सा गङ्गा वैताढ्यस्य प्रथमे रत्नपुरे नगरे पितृमन्दिरे बन्धुवत्सला तं शिशुं वर्धयामास ॥ अथ मृगयानिवृत्तस्य राज्ञो गृहमागतस्य पत्नीवृत्तं श्रुत्वा मनसि महद् दुःखं जात, अहो व्यसन दुःखदायि;

यतः—"द्यूतं च मांसं च सुरा च वेश्या पापर्द्धिचौर्ये परदारसेवा ।
एतानि सप्त व्यसनानि लोके घोरातिघोरं नरकं नयन्ति" ॥ १ ॥

एव न विचारित; तथैव मृगयामग्नमना नृपो दिनानि निर्गमयामास, पर पुत्रकलत्राभ्यां विप्रयुक्तोऽवनीपतिरग्निनिमग्न इव चतुर्विंशतिवत्सरीं सागरोपमामेवानैषीत् । सा गङ्गाऽपि कदाचित् पितृगृहे कदाचित्तस्मिन् गङ्गोपकण्ठवने श्रऋषभदेवप्रासादे श्रीजिनार्चनपरा दिनान्यत्यवाहयत् ।

यतः—"ते[१] धन्ना जिअलोए जे जिणधम्मं कुणंति पच्चक्खं । धन्नाण वि ते धन्ना कुणंति देसंतरगया वि" ।१।

गङ्गायाः पितृगृह-गमनम्

---

१. ते धन्या जीवलोके ये जिनधर्मं कुर्वन्ति प्रत्यक्षम् । धन्यानामपि ते धन्या. कुर्वन्ति देशान्तरगता अपि ॥ १ ॥

वने हिंस्रोऽपि आत्मविरोधिनं न हिनस्ति; अत्र कान्तारे तव पुत्रभिया कृतान्तोऽपि श्वापदानामल्पमृत्यवे न प्रभवति। हे आर्यपुत्र! अतस्त्वमपि वनेचरान् पशून् मद्गिरा त्रायस्व। राजा प्रोवाच; हे प्रिये! मया त्वद्गिरा अतः परं मृगया त्यक्ता! तदेहि पुत्रेण सह। सांप्रतं तव पुत्रेण त्वं राज्यस्वामिनी भव। तच्छ्रुत्वा गङ्गा उवाच—

हे राजेन्द्र! अधुना मम मानस धर्मकर्मणि संलीनं वर्तते; अतो नाहं राज्ये समेष्यामि; किंतु जिनार्चनपरा स्थास्यामि; त्वं स्वपुत्रमादाय स्वस्थमनाः स्वस्थानं याहि। यतः शून्यं राज्यं मुक्त्वा समागतोऽसि; अतः प्रोच्यते तव पन्थानः कुशलिनः सन्त्विति राजानं प्रत्युक्त्वा पुत्रं प्रत्याह; हे वत्स! गाङ्गेय! पितुर्मनोरथान् समर्थय; पित्रा सह स्वथानं याहि; यथा ते राज्यसंपदो भवन्ति युवयोर्योगः प्रशस्यः।

यतः—"ईदृक्कस्याति जनकः कस्यास्ति त्वादृशः सुतः। तदस्तु युवयोर्योगो बुधचन्द्रमसोरिव ॥ १ ॥
ततो जगाद गाङ्गेयस्त्यक्तु त्वामम्ब! नोत्सहे। त्वं मे पिता च माता च दृष्टपूर्व्यस्मि नापरम्" ॥ २ ॥

एवमुक्तिप्रत्युक्त्या बोधितः पुत्रः पित्रा सह हस्तिनापुरं नगरं समाययौ। ततो महामात्यैः सपौरलोकैः सतोरणमुत्पताकं नगर विदधे। राजाऽपि सुमुहूर्त्ते योग्यं सूतं गाङ्गेयं युवराजपदे स्थापयामास; यतः योग्यं सुतं वा शिष्यं वा गुरवः श्रियं नयन्ति। अथ पितुः शासनात् एकातपत्रां मही कुर्वन् विनीतात्मा पितुः सदृशं विनय तनोति स्म। अन्यदा राजा शान्तनुः स्वेच्छया यमुनातीरे विहरन् नावि निषण्णां मनोहरा काञ्चित् नाविककन्यामालोकयामास। तद्रूपमोहितो राजा तत्समीपमागत्य मदनोत्सुकमनाः तां वारं वारं पप्रच्छ; हे सुन्दरि! त्वं काऽसि, कस्य तनयाऽसि, किंनाम्नी असि। सा जगाद; हे भूपाल! अहं कालिन्दीकूलवासिनो नावधिपतेः पुत्री सत्यवती नाम्नी कन्यास्मि। पित्रादेशाद्धर्मेणाहं नावं वाहयामि; यतः कुलीना कन्या

युवराज-
पद-
स्थापनम्

पित्रादेशवशंवदा भवेत्। तद्वचनं श्रुत्वा नीतिनिपुणो राजा तत्पितुरन्तिके गतः। सोऽपि नाविकः स्वागत-प्रश्नपूर्वक विज्ञापयति; स्वामिन्! किमागमनकारणम्? राजा ऊचे—

भो भद्र! तव पुत्री सत्यवती नाम्नी त्वयार्ऽपिता मम सद्धर्मचारिणी भवतु। विनयावनम्रो नाविकः ऊचे—राजेन्द्र! त्वत्समोऽर्थी गृहमागतः केन लभ्यते; परमेतां कन्यां सत्यवतीं तुभ्यं दातुं मे मनो नोत्सहते; यतस्तव पुत्रो गाङ्गेयो राज्यधुरन्धरः; तस्मिन् सत्यस्याः सत्यवत्याः मम पुत्र्यास्तनयस्य राज्यं नो भावि; ततस्त्वं प्रसन्नो भूत्वाऽन्यत्र दारार्थं व्यवसायं कुरु; यतस्त्वादृशामुदारा बहवो दाराः पदे पदे सपत्स्यन्ते। तद्वचसा दूनो राजा भृशं म्लानाननः स्वगृहमागात्, परं कामवशंगतो राजा क्वाऽपि रतिं न लेभे।

कामवशंगतो राजा

यतः—"कम्पः स्वेदः श्रमो मूर्च्छा भ्रमिर्ग्लानिर्बलक्षयः। राजयक्ष्माऽऽदिरोगाश्च भवेयुर्मैथुनोत्थिताः ।१।

तावन्मौनी यती ज्ञानी सुतपस्वी जितेन्द्रियः। यावन्न योषितां दृष्टिगोचरं याति पूरुषः" ।२।

तस्मिन् समये राजसेवार्थं समागतो गाङ्गेयो राजानं नत्वा पुरो निषण्णो मनसि चिन्तयति। किं मया विनयातिक्रम कृतः, किंवा केनचिदाज्ञा लङ्घिता, किंवा मे मातुः सस्मार; यन्मे पिता साम्प्रतं श्यामाननो दृश्यते, तर्हि तातं पृच्छामि; अथवा पृष्टस्तातः सत्यं न कथयिष्यति, तर्हि मन्त्रिण पृच्छामि। एवं विमृश्य सुधीर्महामन्त्रिणं विजने नीत्वा सर्वं चिन्ताकारणं पप्रच्छ। महामात्येन यथास्थिते उक्ते गाङ्गेयो नौपतेर्गृहं गतः। सोऽपि नृपपुत्रमागत दृष्ट्वा विनयावनम्रोऽवोचत्—हे स्वामिन्! मद्गृहे त्वं किमर्थमागतोऽसि। कुमारेणोक्तम्; मत्पित्रे तव पुत्री सत्यवतीं देहि; तव पुत्री मम माता भवतु। नाविक उवाच; हे नररत्नशिरोमणे! राज्यश्रीः त्वां समुत्सृज्य किं मद्दौहित्र वृणुते। यथा लक्ष्मीः समुद्रं हित्वा किं अखातसर उपसर्पति; तर्हि कथं पुत्रीं ददे। यतो पत्न्या महद्दुःख शास्त्रे उक्तम्।

यतः—"प्राणिस्वेच्छाच्छिदः क्रूराः कारागारनियोगिनः । मृत्वा सत्पात्रदानेन जायन्ते नृपयोषितः" ।१।

एवं नृपयोषितां महद् दुःखं शास्त्रे उक्तम्; अतो मत्पुत्रीं न ददामि। पुनः शान्तनोः सूनुर्जगाद; हे मातामह! तवैष महान् भ्रमः; यतस्त्वं तुच्छोचितं उदाहरः; यतः गाङ्गेयसत्यवतीतनययोः किञ्चिदन्तरं नास्ति। यतः कुरुवंशान्यवंशयोर्महदन्तरं कलहंसबकोटयोरिव। कुरुवंशे विवेकिनि कुले सापत्न्यसंबन्धः कदापि नाभूत्, नैवं कदापि भविष्यति। तथा गङ्गातोऽपि मम सत्यवती माता विशिष्यते। किञ्च मम तातः सत्यवतीस्नेहमोहितो भृशं दूयते, अतः पुनः प्रोच्यते सत्यवतीं देहि, अहं राज्यं न करिष्यामि।

गाङ्गेयस्य प्रतिज्ञा

यथा—"एकां शृणु प्रतिज्ञां मे बाहुमुत्क्षिप्य [1]जल्पतः। सत्यवत्यास्तनूजस्य राज्यं नान्यस्य कस्यचित् ।१।
अहं तु हन्तुमेतस्य प्रत्यूहव्यूहमन्वहम्। चापभृज्जागरिष्यामि सुतोऽस्मि यदि शान्तनोः ।२।
अद्यैवाप्तं मया राज्यं तुष्टाश्च मम देवताः। सत्यवत्या सधर्मिण्या यत्तातः सुमना भवेत्" ।३।

एवंविधां गाङ्गेयगिरमाकर्ण्य विस्मितैः खेचरैः स्थिराणि व्योम्नि विमानानि वितेनिरे। ततः सत्यवतीपिता अत्यन्तलुब्धः पुनरभ्यधात्; हे कुमारेन्द्र! साधु साधु त्वमेव पितृवत्सलोऽसि यदेवंविध राज्यं पित्रर्थमुज्झसि; पुनरपि एकं वचो निशम्यतां यदि त्वं राज्यं न लास्यसि परं तव पुत्राः सिंहशावाः क्रमागतं राज्यं त्वमिव कथं त्यक्ष्यन्ति, इत्यादिविकल्पैः पुनर्मे मनः स्खलति। तच्छ्रुत्वा पुनः शान्तनवोऽवदत्—

---

१. जल्प्यते इत्यपि पाठः।

यथा—श्रृणु त्वं व्योम्नि श्रृण्वन्तु सिद्ध-गन्धर्व-खेचराः । ममैकं मुषिताशेषपापग्रहमभिग्रहम् ॥ १ ॥
स्वर्गश्च सोऽपवर्गश्च यस्य स्याता फलद्वयी । आजन्म तन्मयोपात्तं ब्रह्मचर्यमतः परम् ॥ २ ॥

आजन्म-ब्रह्मव्रत-स्वीकार

यतश्चारणश्रमणैर्व्रतेषु प्रथमं पुनश्चतुर्थमनुपमं मे प्रतिपादितं अतो मया प्राणिनामभयव्रत, प्रथममङ्गीकृत, साम्प्रत ब्रह्मव्रतमप्यङ्गीकृतं, तथा तार्त्तीयीकमपि व्रतं पितृशुश्रूषणं नामाजन्म मया अङ्गीकृतम् । तद्गाङ्गेयवचनं श्रुत्वा दिवि दिवौकसः गाङ्गेयमूर्द्ध्नि बन्धुरं पुष्पवर्षं वितेनुः; देवैरुच्चैर्जयजयारवश्चक्रे । यथा—

उच्चैररिति वाचश्च देवि ! धन्याऽसि जाह्नवि ! ।
त्वं चासि शान्तनो ! श्लाघ्यः सोऽयमीदृक् सुतो ययोः । १ ।

तदा देवैर्विद्याधरैः पौरलोकैः साधुभिश्च सर्वैर्भीष्मव्रतारोपणत्वात् गाङ्गेयतनयस्य भीष्म इति द्वितीयं नाम विदधे । ततः शान्तनोस्तनुजे त्रयो गुणाः अहिंसा १ ब्रह्मचर्य २ पितृभक्ति ३ रूपास्त्रिभुवने श्लाघ्याः संजज्ञिरे । ततो देवा गन्धर्वा विद्याधरा मनुजाः सद्गुणोत्कीर्त्तनैर्गाङ्गेयमभिष्टुत्य स्व स्वं स्थान जग्मुः ॥

अथ नाविकेश्वरः सत्यवतीं निजोत्सङ्गसङ्गिनीं कृत्वा पुत्रीगुणानुदीरयामास । कुमारेन्द्र ! श्रूयतां धन्यस्त्वं, येन पितृकृते दुष्कृतव्रतमङ्गीकृतम्; साम्प्रतमेकं वृत्तान्तमाख्यामि त्वं सावधानीभूय श्रृणु; एकस्मिन् दिने अहं कालिन्दीकूले वृक्षमूले विश्रामाय समागमम्; तदा केनाप्युज्झितामेकां बालिकां जातमात्रामद्राक्षम्; अह तां बालिकामुपादातु चलितः यावद्विजातिर्वा सुजातिर्वेति विकल्पाद्व्यावृत्तः चलितश्च गृहं प्रति तावदम्बरे ईदृशी सरस्वती उल्ललास—

'रत्नपुरे नगरे रत्नाङ्गदो नृपोऽस्ति, तस्य रत्नवती राज्ञी, तयोः कुक्षिसमुद्भवा एषा पुत्री पितृवैरिणा खेचरेणापहृत्यात्र कालिन्दीकूले मुक्ता। पुनश्चाकाशे इति गीरभूत्; एतां प्रेमानुविद्धो हस्तिनापुराधीशः शान्तनुः परिणेष्यति।' तद्वचनं देवोदीरितं श्रुत्वा मया एषा बालिका अग्राहि; क्रमेण वर्द्धिता; सत्यवतीति नाम दत्तम्। मम प्रियया अनपत्यया धर्मपुत्रीति कृत्वा वर्द्धिता। सैषा सत्यवती मम कृत्रिमपुत्री, न पुनरात्मजा। यतः ईदृशानामपत्यानां मादृशः पिता कुतः स्यात्, यथा कल्पवल्ल्याः स्थानं सुमेरुः, न पुनर्मरुः स्याद्। मयाऽपि पितुरुपरि तव भक्तिर्दृष्टा; तदिदानीं मम धर्मसुतां सत्यवतीं रथे आरोप्य स्वस्थानं याहि; राज्ञा शान्तनुना सममस्याः पाणिग्रहणं कारय; अतः परमस्याः सुख-दुःखयोः त्वमेव विश्राम इत्युक्त्वा नौपतिः सत्यवतीं शान्तनवाय समर्पयामास।

गाङ्गेयोऽपि स्वगृहमागत्य सुमुहूर्त्ते द्वयोः पाणिग्रहणमकारयत्। ततः शान्तनुः पुत्रं गाङ्गेयमुत्सङ्गे निवेश्य वारं वारं प्रशंसन्नेवमुवाच, धन्योऽसि त्वं येन व्रतमङ्गीकृत्य पितुरीप्सितं कृतम्। एवं सुखमनुभवतो राज्ञोराज्ञोर्दिनानि यान्ति। ततो नवप्रेमाण पत्नीं सत्यवतीं प्राप्य भूपालः काम कामप्रियोऽभवत्। तया पत्न्या सह सुखमनुभवतो राज्ञः क्रमेण चित्राङ्गदाभिधः पुत्रो जातः; कथभूतः ?

"तेजस्वितिलकः पादैराक्रामन् भूभृतां शिरः। योऽभवज्जातमात्रोऽपि बालाऽर्क इव दुःसहः" ॥ १ ॥

कतिपयवर्षान्ते तस्य राज्ञः सत्यवत्याः कुक्ष्युद्भवो विचित्रवीर्यनामा द्वितीयः पुत्रो बभूव। उभावपि राज्ञो बाहू इव; परं गङ्गासूनोस्तदा तयोः समग्रेषु हितकर्मसु भ्रातृस्नेहो भृशं प्रादुर्बभूव। स गाङ्गेयस्तौ बालकौ स्वाङ्कखेलनैर्भूरिश खेलयामास। तौ लालितौ क्रमेण सप्ताष्टवर्षीयौ जातौ; तस्मिन् समये स्वायुःपर्यन्ते राजा शान्तनुः शुभध्यानेन मानवीं तनुं तत्याज, सुकृतेन स्वर्गं जगाम च।

यत :—

"[1]तित्थयरा गणहारी सुरवइणो चक्किकेसवा रामा । अवहरिआ हयविहिणा अवरजीवाण का वत्ता ।१।

[2]छायामिसेण कालो सयलजिआणं छलं गवेसन्तो । पासं कहवि न मुचइ ता धम्मे उज्जमं कुणह" ।२।

चित्राङ्गदस्य राज्याभिषेकः

एवं ज्ञात्वा गाङ्गेयः शान्तनोरौर्ध्वदेहिक कृत्वा, चित्राङ्गदं शिशुं राज्ये संस्थाप्य, स्वयं धर्मध्यानतत्परो बभूव। यतो महात्मनां प्रतिपन्नं युगान्तेऽपि न हि विस्मृतिमभ्येति। स चित्राङ्गदो राजा क्रमेण वृद्धि प्राप्तो बह्वीः राजकन्यका परिणीय ताभिः सह वैषयिकं सुखमनुभवन्नास्ते। ततश्चित्राङ्गदोऽत्युत्कटः पृथ्वीं साधयन् विरोधिभिः सार्धमेकाक्ययेव युद्धं चक्रे। गाङ्गेयेन वारितोऽपि राज्ञा नीलाङ्गदेन सह युद्धं कुर्वन् नीलाङ्गदेन चित्राङ्गदो महासंग्रामे हतः। हतं चित्राङ्गदं दृष्ट्वा भीष्मो रुष्टो भ्रातृवैरिणं नीलाङ्गदमेकेनैव बाणेनावधीत्। पुनरेव गाङ्गेयः स्वगृहमागत्य बन्धुवत्सलो लघुबान्धवं विचित्रवीर्यं राज्ये न्यवीविशत्। ततो लघुबान्धवमूचे; भो भ्रातः! त्वया केनापि सह विरोधो न विधेयः; युद्धार्थे न गन्तव्यम्, अह तव चिन्तां करिष्ये इत्युक्त्वा स्वय राज्यचिन्तां कुर्वन् विचित्रवीर्यराज्ञः कृते अनुरूपदाराणां गवेषणाय प्रतिदिशं निजान् नरान् प्रैषीत्।

एकस्मिन् दिने प्रेषितनरेभ्यः कश्चिन्नरो धूलिधूसरः शीघ्रमागत्य गाङ्गेयमिति कथयामासिवान्। हे स्वामिन्! काश्यपीतले काशीदेशे वाणारस्यां नगर्यां श्रीकाशिराजोऽस्ति। यस्य राज्ञः अम्बका १ अम्बालिका २ अम्बा चेति तिस्रः सुताः सन्ति। यासां पुरस्त्रिदिवस्त्रियस्तृणवद्विभान्ति। तासामर्थे काशिराज्ञा स्वयवरः

---

१ तीर्थंकरा गणधारिण सुरपतयश्चक्रिकेशवा रामा। अपहृता हतविधिना अपरजीवाना का वार्ता॥ १ ॥

२ छायामिषेण काल सकलजीवाना छल गवेषयन्। पार्श्वं कथमपि न मुञ्चति तस्माद् धर्मे उद्यम कुरुत ॥ २ ॥

प्रारब्धोऽस्ति। तस्मिन् स्वयंवरेऽनेके राजानोऽनेके राजपुत्राश्च संप्रत्युपस्थिताः, तथा केचिदापतन्ति, केचन आपतिष्यन्ति अतस्ताः काशिभूपतेः कन्यकाः रूपेण वयसा कलाकलापेन च विचित्रवीर्यस्य योग्या वर्तन्ते। तच्छ्रुत्वा गाङ्गेयेन चिन्तित, अहो काशिराज्ञा किं कृतं, सर्वे राजान. कुमाराश्च निमन्त्रिताः; परं ममानुजः कलावान् गुणवान् न निमन्त्रितः। अतोऽहं एकोऽपि तत्र गत्वा सर्वान् जित्वा स्वसमीहितं करिष्ये। एव विमृश्य सुजवनैर्वाजिभिर्व्यापृतेन रथेन द्रुतं तत्र स्वयंवरे प्राप्तवान्।

कन्यानाम-
पहरणम्

तत्रोच्चेषु मञ्चेषूपविष्टो गाङ्गेयवर्णो गाङ्गेयो देवेषु देवराज इव विराजमानः तास्तिस्रोऽपि बालिका विचित्रवीर्यार्थे हर्तुं मनः अकरोत्। अथ धात्र्या कीर्त्यमानेषु राजसु मञ्चादुत्तीर्य ताक्ष्यं इवोत्फालो गाङ्गेयस्तं स्वयंवरसमागतं राजचक्रं पयोधिमिव लीलया विलोडयामास। तेभ्यः कन्यारत्नानि आच्छिद्य रथमारोप्य भीष्म-पराक्रमो भीष्मः पथि चचाल। मार्गे रथस्थाः ता विव्लवाः दृष्ट्वा भीष्म एवमुवाच; हे वत्साः! अहं शान्तनोः सूनुरभीष्मो भीष्मोऽस्मि। भवतीनां नानिष्ट करिष्ये किन्तु अभीष्ट करिष्ये। यतो हस्तिनापुरस्वामी शान्तनुपुत्रो विचित्रवीर्यो राजाऽस्ति, तस्याग्रजोऽहं गाङ्गेयो ब्रह्मचारी, परं विचित्रवीर्यार्थमहं युष्मान् हरामि। यूयमद्भुत हस्तिनापुरसाम्राज्यं चिरं निर्विशत इति ताभ्यः कथयित्वा कुण्डलीकृतकोदण्डो गाङ्गेयस्तान् सर्वान् राजन्यान् बाढस्वरेणैवमुवाच; भो भूपाः! गर्वपर्वताः सर्वे मद्वाक्यं शृणुत, अहं भीष्मो युष्माकं पश्यतां कन्या हरामि। यदि युष्माकं दोर्दण्डचण्डिमा कोऽपि जागर्ति, तर्हि कोऽप्यायुधं धत्तां। तच्छ्रुत्वा कुपिता भूपाला आयुधानि गृहीत्वा संग्रामकार्ये गाङ्गेयेन सम डुढौकिरे। गाङ्गेयोऽपि तैः सह संग्रामं चक्रे। तान् जित्वा जयपताकां गृहीत्वा गाङ्गेय. स्वयं जितकाशिन मेने। ततो गाङ्गेयः काशिभूपतिं सुधोपमैर्वाक्यैः सन्तोष्य विचित्रवीर्यार्थं कन्या ययाचे। दत्तास्तेन कन्याः। ताभिः स्फारनेत्राभिर्बालाभिरन्वितो गाङ्गेयो हस्तिनापुरमगात्। तत्र तास्तिस्रः काशिनन्दनीर्महामहेन विचित्रवीर्येण समं प्रमोदादुदवाहयत्! तास्तिस्रो विचित्रवीर्यं राजानं प्राप्य स्वर्गसमं सुखमनुबभूवुः।

यत :—"द्विरष्टवर्षिका योषित् पञ्चविंशतिकः पुमान् ।
अनयोर्निविडा प्रीतिः स्वर्ग इत्यऽभिधीयते" ॥ १ ॥

ताः स्त्रियः कल्पपादप लता इव तं सिषेविरे, न तु मायया। कैतवसुखमसुखमेव ।

यत :—"सीअलभोअण धूअधण रङ्गविहूण घरवास ।
माणस नइं मायाविउं ए चिहुं केही आस" ॥ १ ॥

एवं तस्य राज्ञो राज्ञीभिः समं सुखान्यनुभवतः कामः कामं धर्मार्थौ जग्रसे, राहुः सूर्याचन्द्रमसाविव । तस्य राज्ञ एवं कामासक्तस्य बलक्षयः प्रावर्तत। ततः सरङ्गोऽप्यऽनङ्गः केवल विरङ्ग एव स्यात् ।

यत :—"कम्पः स्वेदः श्रमो मूर्च्छा भ्रमिर्ग्लानिर्बलक्षयः ।
राजयक्ष्माऽऽदिरोगाश्च भवेयुर्मैथुनोत्थिताः" ॥ १ ॥

गाङ्गेयेन ततस्तादृशं वपुर्दृष्ट्वा प्रोक्तं भो बान्धव ! यदि त्वमनङ्गेनापि स्वपुष्पबाणैर्जित., तर्हि त्वमायसान् शत्रुबाणान् कथ सहिष्यसे ? अतः कुरङ्गाक्षीष्वऽत्यासक्ति मा कृथाः ।

यत :—"अत्यासङ्गाद्विनाशाय दूरस्था न फलप्रदाः ।
सेव्या मध्यमभावेन राजवह्निगुरुस्त्रियः" ॥ १ ॥

कामाति-
रेको न
श्रेयार्थम्

एवंविधां बान्धवशिक्षां श्रुत्वा यावत् मनसि हर्षितोऽभूत्, तावत् माता सत्यवत्यपि तत्रागात्, तयापि तथैवोक्तम्। पश्चाल्लज्जितो विचित्रवीर्यो धर्मार्थकामेषु समवृत्तिरजायत।

अथ कतिपयवर्षान्ते विचित्रवीर्यपत्नी अम्बिका गर्भं बभार। क्रमेण वृद्धि गतो गर्भः सम्पूर्णदोहदाऽम्बिका पूर्णे मासि सुलग्ने उद्दीप्रप्रभापूतं जन्मान्धं सुतं असूत। ततः सुदिवसे भीष्मेण सत्यवत्या च महोत्सवपुरस्सरं तस्य पुत्रस्य धृतराष्ट्र इति श्लाघ्यं नाम विनिर्ममे। विचित्रवीर्यस्य द्वितीया पत्नी अम्बालिकापि तस्याऽनुजं द्वितीयतनुजमजीजनत्, तस्याजन्म पाण्डुरोगित्वात् पाण्डुरिति नाम पप्रथे। विचित्रवीर्यराज्ञस्तृतीया पत्नी अम्बापि तृतीयं पुत्रं गुणाम्बुराशिमजीजनत्, तं गुरवो विदुराभिधं विदधिरे। अथ तेषु कुमारेषु कुरोर्वंशमलङ्कुरिष्णुषु शुभैर्भावैरुज्जृम्भितं पुनरशुभैर्भावैः प्रनष्टम्। यथा–तेषां जन्मनि चौरपारदारिकचरटादिशब्दा अभिधेयशून्या जाताः। तथा नय एकच्छत्रं लेभे। तथा तेषां जन्मन्याधिर्व्याधिश्च न बाधते। तथा बलिष्ठेन दुर्बलो नाभ्यभूयत। तथाऽतिवृष्ट्यनावृष्टिस्वचक्रपरचक्रादिभयं च जनं नाभिभवति। तथा कालेऽवश्यं महीरुहः पुष्यन्ति स्म फलन्ति स्म। तेषां कुमाराणामनुभावान्महानुदयोऽभूत्। एवं काले याति सति विचित्रवीर्यो राजा भूयोऽपि तेनैव व्यसनेनालिङ्गितो बभूव। पुनस्तथैव कासश्वासदाघज्वरादिभिः पीडितः परलोकं जगाम। अहो! कामस्य दुरन्तता। तं पुत्र मृतं दृष्ट्वा सत्यवती माता भृशं विलापानकरोत्। हा परिच्छदवत्सल! हा कौरवकुलोत्तंस! हा इक्ष्वाकुवंशतिलक! इत्यादिविलापान् कुर्वती सत्यवती मूर्च्छामगमत्। पुनः शीतलोपचारादिभिर्लब्धचैतन्या पुत्रगुणान् स्मृत्वा भूयो भूयो मुक्तकण्ठं रुरोद। तथैव गलद्बाष्पा अम्बिकाप्रमुखाः स्नुषाः रुदन्ति स्म। तथैव सर्वोऽपि परिजनो बाढ पूत्करोति स्म। परं दैवायत्तं केन लङ्घ्यते। तैः सर्वैर्गाङ्गेयादिभिः परिजनैर्विचित्रवीर्यराज्ञोऽङ्गसंस्कारो विदधे।

कतिपयदिनान्ते गाङ्गेयसत्यवतीभ्यां तेषां कुमाराणां बाल्यचापल्यललितैः कथञ्चन स शोकः स्तोकतां

धृतराष्ट्र-पाण्डु-विदुराणा जन्म तथा नाम-करणम्

निन्ये। पुनस्तेषां कुमाराणां परस्परं बन्धुस्नेहस्तथाऽजनि यथैकतमं विना एकोऽपि क्षणमपि नाऽस्थात्। अथान्यदा भीष्मो धृतराष्ट्रमुवाच; भो वत्स ! इदानीं भवन्तं राज्यश्रीरुपस्थिता अत इदं राज्यं गृहाण। धृतराष्ट्र उवाच; हे पितृव्य ! नाहं राज्ययोग्योऽस्मि; किन्तु राज्यश्रीयोग्यः पाण्डुरस्ति, तस्माद्राज्यश्रीः पाण्डवे दीयताम्।

यत :—"अङ्गं समाश्रित्य भुवस्तलेऽस्मिन्नवातरत् किं पुनरप्यनङ्गः।
इत्यद्भुतं यस्य निरीक्ष्य रूपं भ्रान्तिं विधत्ते सकलोऽपि लोकः" ॥ १ ॥

ततो गाङ्गेयप्रभृतिबन्धुभिः पाण्डू राज्ये स्थापितः। सोऽपि प्रचण्डदोर्दण्डमाहात्म्यः सर्वान् महीपालान् वशीचक्रे। एकस्मिन् दिने गन्धारदेशाधिपः शकुनिनामा भीष्ममभ्येत्य बद्धाञ्जलिरभाषत। हे गाङ्गेय ! एता अष्टावपि मद्भगिन्यः गान्धारीप्रमुखाः कुलदेव्योपदिष्टा धृतराष्ट्राय स्वयंवरास्तिष्ठन्ति, तर्हि एतासां मद्भगिनीनां अन्यूनगुणधारिणा अम्बिकासूनुना धृतराष्ट्रेण सह पाणिग्रहणं कारय। एवं पुनःपुनः प्रार्थितो गाङ्गेय एतासां अष्टानां धृतराष्ट्रं पतिं अतिष्ठिपत्, उद्दामतेजसः पाण्डोः का कलत्रं भवित्री इति भीष्मचेतसि चिन्ताभूत्। एकस्मिन् दिने पाण्डुयुतो भीष्मो राजमार्गे चित्रपटव्यग्रकरं कञ्चिन्नरमैक्षत ! तत्र पटे नारीरूपं दृष्ट्वा पाण्डुरचिन्तयत्—

यथा :—"नह्येषा रूपरेखा स्यान्मानुषीषु पुरन्ध्रिषु।
तदियं किं रतिः किं वा कमला किमु रोहिणी" ॥ १ ॥

तद्रूपं दृष्ट्वा मोहितः पाण्डुः। पश्चात्तमध्वगं सौधमानीय गाङ्गेयः पृच्छति स्म—भोः पान्थ !

एषा पटे लिखिता किं सुरी वा किन्नरी वा विद्याधरी वा राजकन्या वा; यस्याः पटे प्रतिच्छन्दो लिखितोऽस्ति । तच्छ्रुत्वा पान्थः प्रोचे—

मथुरा नाम पुरी अस्ति यां कालिन्दी वोचिबाहुभिरालिङ्गतीव । तस्यां यदुनामा नरेश्वर आसीत् । यतो यादवभूभुजां वंशोऽभूत् । तत्पुत्रः शूरनामा । तस्य द्वौ पुत्रौ शोरिसुवीरनामानौ अभूताम् । तयोर्यथाक्रमं राज्यं युवराज्यं च दत्त्वा तपस्यामङ्गीकृत्य शूरनराधिपो दिवं ययौ ।

शौरिः सुवीराय मथुराराज्यं दत्त्वा स्वयं यदृच्छया कुशावर्तदेशे विजहार । तत्र देशे नवीनं शौर्यपुरं नगरं व्यधात्, तस्य शौरे. राज्यं कुर्वतो अन्धकवृष्णिप्रमुखा बहवस्तनयाः सजज्ञिरे । सुवीरस्यापि मथुराराज्यं कुर्वतो भोजवृष्ण्यादयो बहवः पुत्राः संजज्ञिरे । शौरिरन्धकवृष्णिसुताय शौर्यपुरराज्यं दत्त्वा स्वयं दीक्षां लात्वा शिवश्रियमशिश्रियत् । सुवीरो भोजकवृष्णये मथुरां दत्त्वा सिन्धुदेशे गतः । तत्र सौवीराख्यं पुरं कृत्वा सुखेन राज्यं कुर्वाणस्तत्र तस्थिवान् । मथुराराज्यं भुञ्जतो भोजवृष्णेर्महौजस उग्रसेननामा तनयोऽभवत् । शौर्यपुराधीशस्य अन्धकवृष्णेश्च सुभद्रानाम्न्यां पट्टराज्ञ्यां दिक्पाला इव सुता दशाऽभूवन् । तेषां नामान्यमूनि—

यथा—"समुद्रविजयः पूर्वमक्षोभस्तदनन्तरम् । स्तिमितः सागरश्चैव हिमवानचलस्ततः ॥ १ ॥
धरणः पूरणस्तस्मादभिचन्द्राभिधोऽपि च । वसुदेवश्च दशार्हा दशाप्येते प्रकीर्त्तिताः" ॥ २ ॥ (युग्मम्)

तेषां पुत्राणामुपरि द्वे पुत्र्यौ जाते । एकस्या अभिधानं कुन्ती, द्वितीयं नाम पृथा; द्वितीयस्या अभिधानं माद्रीति पिता निर्ममे । प्रथमा पुत्री कुन्ती क्रमेण यौवनं प्राप्ता । पित्रोर्वरस्यार्थे चिन्ता जाता । ततोऽन्धकवृष्णेर्ज्येष्ठं पुत्रं समुद्रविजयमेवमुवाच—हे पुत्र ! एतस्या मम पुत्र्याः अनुरूपः को वरो भावी इति मे मनसि

कुन्त्याः
परिचय-
प्रदानम्

महती चिन्ता वर्त्तते। ततः समुद्रविजय उवाच—हे तात ! भगिन्याः कुन्त्या रूपं पटे आलिख्य समग्रेषु देशेषु कश्चित् पुरुषो वरपरीक्षाविचक्षणः प्रेष्यताम्।

यथा स योग्यं वर रूपशालिनं शुद्धवंशसमुद्भवमन्वेषते, परं स्वयंवरे क्रियमाणे राजान ईर्ष्यालवः कन्यार्थे कलहायन्ते इति ज्येष्ठपुत्रगिरा कुन्त्या रूपं पटे आलिख्य कोरकनामानं निजं सेवकमित्यादिशत्। भोः कोरक ! इदं चित्रपटं गृहीत्वा दूरदेशेषु गत्वा महीं भ्रान्त्वा कुन्त्यऽनुरूपो यो योग्यवरो भवेत्, तं शीघ्रमागत्य त्वं कथयेः, इत्युक्त्वा राज्ञा प्रेषितोऽहं महीं क्रामन्नत्रागाम्, हे भीष्म ! राजेन्द्र ! एषा शौर्यपुरेशस्याऽन्धकवृष्णिराज्ञः सुतायाः कुन्त्या रूपं ज्ञेयम्। यथाऽसौ कुमारः पाण्डुराट् रूपेण कन्दर्पदर्पहा, तथा सापि कुन्ती रतिरूपानुकारा वर्तते। अनयोर्योगः सतां प्रशस्यो भवतु मालतीद्विरेफयोरिव। अन्यदपि किञ्चित् शृणु। कुन्त्याः सहोदरा माद्रीति नाम्ना द्वितीया लघुभगिनी, सा चेदिनृपाय दमघोषाय दत्ता। सोऽपि तां परिणेष्यति। परं कुन्त्याः प्रथम पाणिग्रहणं भवति तथा कार्यम्। इत्थं तेनार्थितो गाङ्गेयः तत्सर्वं प्रतिपद्य पाण्डुरूपं पटे आलिख्य कोरकहस्ते पटं दत्त्वा कार्यस्थैर्याय कञ्चित् स्वपुरुषं कोरकेण सह शौर्यपुरे प्रेषयामास। कोरकोऽपि गत्वा स्वं राजानं नमस्कृत्य तत्पूर्वोक्तस्वरूपं कथयित्वा पटमदर्शयत्। तत्पटस्थं पाण्डुरूपं दृष्ट्वाऽन्धकवृष्णिः शौर्यपुराधीशश्चिन्तयति धन्यैषा वसुन्धरा यस्यां ईदृशः पुमान् दृश्यते।

यतः—"पात्रं कलाकलापस्य विश्वस्य नयनोत्सवः। असौ योग्यो वरः कुन्त्या रोहिण्या इव चन्द्रमाः" ।१।

तत पुनः कोरक उवाच—हे राजेन्द्र ! तेन गाङ्गेयेनैष स्वपुरुषः प्रेषितः। अथ यत् किञ्चित् कर्तव्यं भवति तत् सर्वमेतस्य स्वयं समादिशतु। राज्ञोक्तं प्रातः कथयिष्यामि। विसृष्टः कोरकः स्वगृहं गतः। सोऽपि कोरकगृहं गतः। एतद्वृत्तान्तो नृपोत्सङ्गस्थितया कुन्त्या श्रुतः, श्रुत्वा सापि कन्यान्तःपुरमाययौ। तत्र

पाण्डो-
रूपा-
लेखनम्

पाण्डोरवनिनाथस्य शुभ्रान् गुणान् धात्र्याः पुरतः कुन्ती निवेदयाञ्चक्रे। भो मातः! विनयेन, पराक्रमेण, रूपेण, नयेन पाण्डुसमः कोऽपि मे न प्रतिभाति। परं न ज्ञायते मम भाग्यानि कीदृशानि भविष्यन्ति, प्रतिकूले विधातरि कार्याणि विघटन्ते।

यतः—"समीहितं यन्न लभामहे वयं प्रभोर्न दोषः स च कर्मणो मम।
दिवाऽप्युलूको यदि नावलोकते तदाऽपराधः कथमंशुमालिनः?" ॥ १ ॥

अथ प्रातःसमये कोरकमाकार्य राज्ञा प्रोक्तम्। भोः कोरक! त्वमेनं गाङ्गेयसेवकमिदमाख्याहि। अहं निजां सुतां कुन्तीं पाण्डुरोगित्वात् पाण्डवे न दातास्मि। तद्राज्ञो वचनं कोरकेण गाङ्गेयसेवकाय निवेदितम्। सेवकेनापि हस्तिनापुरमागत्यैकान्ते गाङ्गेयं नीत्वाऽन्धकवृष्णिराज्ञोक्तं सर्वं निवेदितम्। तच्छ्रुत्वा गाङ्गेयस्तूष्णीको बभूव। अथ पाण्डुराट् त सेवकं पृच्छति। भो भद्र! सा मयि किं रागिणी वर्तते न वा। तेनोक्तं कोरको यदा त्वां क्षितिपाग्रे वर्णयामास, तदा सा कुन्ती पितुरुत्सङ्गे स्थिता रोमाञ्चितशरीरा, स्फारितनेत्रा, त्वद्गुणाकर्णनतत्परा मया दृष्टा। अन्यत् सर्वं देवो वेत्ति। एवमुक्त्वा तूष्णीको बभूव। पाण्डुस्तं सेवकं स्वर्णादिदानेन सन्तोष्य स्वगृहं विससर्ज। अथ पाण्डुराट् भृशं कामातुरः क्वापि रतिं न विवेद।

यथा—"क्षणं तस्थौ नृपः सौधे धारायन्त्रगृहे क्षणम्। क्षणं पल्लवपल्यङ्के कौसुमस्रस्तरे क्षणम्" ॥ १ ॥

एव क्वापि रतिमविन्दन् कुन्तीविरहदाघार्तिप्रतीकारचिकीर्षया वाटिकायां विहरन्नेकं खदिरद्रुममद्राक्षीत्। तस्य नितम्बे लोहकीलकैः कीलितः कश्चित् पुमान् पाण्डुना दृष्टः। तस्याकारं निरीक्ष्य तद्रूपमोहितः पाण्डुराट् तस्य लोहकीलकानाचकर्ष। ततश्चन्दनादिभिश्चेतनामुत्पादयामास। ततस्तं पुमांसं

पाण्डो कुन्त्युपर्यनुरागः

स्वमुद्रिकान्यस्तमणिस्नपनवारिभिस्तद्व्रणश्रेणीं सेचं सेचं स्वयं प्रगुणीकृतवान् । राजा ऊचे—भो भद्र ! त्वं कोऽसि, कस्मात् त्वया ईदृशी दशा प्राप्ता, तत् सर्वं ममाग्रे सत्यमाख्याहि । स विद्याधरो जगाद—भो राजेन्द्र ! श्रूयतां मच्चरित्रं वैताढ्यगिरिमण्डनं हेमपुर नाम नगरमस्ति, तस्याहं स्वामी विशालाक्षनामा विद्याधरोऽस्मि । अहं स्वेच्छया भ्रमन्नत्र वने समागमम्, यावता वनश्रियं पश्यन्नितस्ततो भ्रमामि, तावच्छलं लब्ध्वा वैरिभिर्बद्धोऽस्मि करिणीव्यग्रः करीव करिबन्धकैः । पुनर्विद्याधर ऊचे—भोः पाण्डो ! अवनीपते ! अहं तवोपकारेण तुष्टोऽस्मि यद् रोचते तद्याचस्व । किञ्च त्वमपि सशल्यो लक्ष्यसे, अतः मम पुरो मनीषितं ब्रूहि । यतः सुहृदामावेदिता हि मनोरथाः फलन्त्येव । ततः पाण्डुना सत्ये स्वाभिप्राये प्रोक्ते विद्याधरेण वाञ्छितार्थप्रदायिनीं मुद्रिकां दत्त्वा एवमुक्तम्, एषा मुद्रिका स्मृतमात्रा सर्वं समीहितं दास्यति देवतादत्ता एषा सकलकार्यकरणे समर्था ।

विद्याधरेण मुद्रिका-प्रदानम्

यथा—"अदृश्यीकरणं वश्यीकरणं व्रणरोहणम् ।
विषनिग्रहणं चास्याः प्रथमः कुसुमोद्गमः" ॥ १ ॥

इत्याद्यनेकमहिमानमाख्याय मुद्रिकां दत्त्वा विद्याधरेन्द्रः स्वस्थानं गतः । पाण्डुराडपि तां मुद्रिकां निजाङ्गुलौ पर्यधत्त । ततः स्वगृहमागत्य निशायां मुद्रिकां प्रत्युक्तम्—हे मुद्रिके ! त्वं कामितकल्पलता वर्तसे, अतः प्रार्थ्यते मां कुन्त्याः समीप नय । मुद्रिकया दिव्यानुभावात् पाण्डुः कुन्त्याः समीपं नीतः । यतः अचिन्त्यो हि मणिमन्त्रौषधीनां प्रभावः । अथ कुन्त्याः स्वरूपं कथ्यते । यथा–कुन्ती स्वगृहमागत्य धात्र्या समं विचारं करोति, हे मातः ! यदि तातो मां पाण्डवे न दास्यति तदाहमभाग्या किं करिष्ये इत्यादिविकल्पैर्दिवसो यातः, परं यामिन्यामलभमाना निद्रासुखं चिन्तातुरा धात्र्या समं निजगृहोपवनिकायां इतस्ततो भ्रमन्ती अशोकवृक्षं

दृष्ट्वा चिन्तयति; नूनमत्र अशोक आत्मानमुद्बध्य जन्मान्तरं लब्ध्वा दुःखस्य जलाञ्जलिं ददामि इति चिन्तयित्वा पुष्पानयनाय धात्री प्रेष्य स्वयं पाशबन्धं कृत्वा देवान् गुरून् स्मृत्वा पुनः प्रोचे ।

यथा–"इह सन्निहिताः सर्वाः शृण्वन्तु वनदेवताः । जन्मान्तरेऽपि भूपालः पाण्डुरेवास्तु मे पतिः ।१।
अभिधायेति शाखायाः कण्ठे पाशं न्यधात् पृथा । असौ प्रायः प्रतीकारः स्त्रीणां हि व्यसनोदये" ।२।

कुन्त्या आत्म-हत्या-प्रयासः

एवं पाशबन्धं कृत्वा यावदशोकवृक्षादात्मानं मुञ्चति, तावत् मुद्रिकानुभावतः पाण्डुस्तत्रागत्य तस्याः कण्ठात् पाशमच्छिदत् । मूर्च्छावशां तां निजोत्सङ्गशायिनी कृत्वा निजोत्तरीयपल्लवैस्तामवीजयत् । सा कुन्ती स्वस्थीभूता चिन्तयति, कोऽयं पुमान् यो मामुत्सङ्गे निवेश्य निजोत्तरीयेण वीजयित्वा स्वस्थीकरोति । धिग् विधे ! यो मां पाण्डोरन्यस्योत्सङ्गशायिनीं करोति, एवं यावत्कुन्ती दैवोपालम्भान् ददे तावत्पाण्डुरवोचत्— भो भद्रे ! चिन्तां मा विधेहि । सोऽहं हस्तिनापुरनायकः पाण्डुः, यः कोरकेणोक्तः स एवाऽहं, एवं यावद्वक्ति तावत् तत्र धात्री समागता सापि तैस्तैश्चिह्नैः पाण्डुं निश्चित्य पुत्रीमवोचत्—हे पुत्रि ! स एष पाण्डुर्यः पटे दृष्टः, तच्छ्रुत्वा हर्षिता कुन्ती । पाण्डुसम्भोगार्थिनीं कुन्तीं ज्ञात्वा तस्यां निशायां तत्रैव वने धात्र्या तयोर्गान्धर्व-विवाहो विदधे । ततस्तां पाण्डुः केलिगृहे क्रीडयामास । ताभ्यां स्वैरं क्रीडारसनिमग्नाभ्यां सा निशा गतापि न लक्षिता । प्रातः सूर्योदयादर्वाक् जागरितः पाण्डुराट् सधात्रीकां कुन्तीमापृच्छ्य अङ्गुलीयकमाहात्म्यात् स्वस्थानमागतः, तावद्गाढस्वरेण राजानं कालनिवेदको विज्ञापयामास ।

यथा—"अभूत् पिङ्गा प्राची रसपतिरिव प्राप्य कनकं, न दीपा राजन्ते द्रविणरहितानामिव गुणाः ।

गतच्छायश्चन्द्रो बुधजन इव ग्राम्यसदसि, क्षणात् क्षीणास्तारा नृपतय इवानुद्यमपराः" ॥ १ ॥

एतद्वचनश्रवणानन्तर पाण्डु प्रातःकृत्यं विधाय राज्यकार्यकरणसावधानो बभूव। साऽपि कुन्ती प्रौढकन्या तस्मिन्नेव दिने दैवनियोगात् कृततुस्नानाऽभूत् पाण्डुसंयोगात्। तस्या गर्भो बभूव। गूढगर्भां तां तथाभूतां विज्ञाय धात्री किमपि कैतवं कृत्वा कुन्तीं छन्नामधारयत्। तस्मिन् गर्भे इन्द्रदोहदसूचिते सा कुन्ती प्रकटितशौर्यात् इन्द्रस्यापि बलं तृणाय मन्यते स्म। तथा तस्या औदार्यं चापि बभूव यथा सवस्वदानेऽपि किं दत्तमिति खिद्यते। तस्मिन् गर्भे मातुः स्वर्णमणिकुण्डले दीप्तिमण्डले बभूवतुः। तस्मिन् गर्भस्थे तस्याः सर्वाणि शस्त्राणि प्रियाण्यासन्। एवंविधान् भावान् भावयन्ती सा नवमासान्ते सुदिने सुलग्ने सुतरत्नमसूत, प्राची मार्तण्डमण्डलमिव दिशो द्योतयत्। तत् पुत्ररत्न दृष्ट्वा हर्षविषादाभ्यां सङ्कीर्णमानसा कुन्ती चिन्तयति। एन पुत्र किं करोमि, क्व स्थापयामि, कि वा त्यजामि, एव यावता चिन्तयति तावद्धात्र्या प्रोक्तम्—हे पुत्रि! असौ लोकविरुद्धेन वर्त्मना जातत्वात् त्यज्यते। तयापि सबाष्पया स पुत्रो मणिकुण्डलमण्डितो मणिमण्डितायां पेटायां क्षिप्त्वा अन्तर्गङ्गं प्रवाहयाञ्चक्रे। तस्मिन् सुते त्यक्ते कुन्ती भृशं शोकाकुला बभूव। यतस्तादृशेन पुत्ररत्नेन वियुक्तः को न खिद्यते?।

कुन्त्याः गर्भ-धारणम्

अथाऽन्यस्मिन् दिने सुभद्रया राज्ञ्या धात्री पृष्टा। हे सखि! तव पुत्री कुन्ती सांप्रतं अन्यमिवाकारं धत्ते तत्किम्?। अथ धात्री तदग्रे आदितः सर्वं वृत्तान्तं कथयामास। राज्ञ्यापि तत्सर्वं क्षितीशाय प्रोक्तम्। क्षितीशोऽपि तस्या एवमादिशत्। हे प्रिये! अधुना दुहितुर्वरान्तरेण पर्याप्तम्। इत्यालोच्य अन्धकवृष्णिना निजपुत्रो धरणनामा शिक्षां दत्त्वा हस्तिनापुरे कुन्त्या सम प्रहितः। धरणोऽपि अविच्छिन्नप्रयाणैर्हस्तिनापुर-परिसरं प्राप। तदा गाङ्गेयः सम्मुखमागात्, उभावपि संमिलितौ, गाङ्गेयः पुरीपरिसरे रम्यस्थाने निजावासान्

तस्मै ददौ। ततो रागिणीं कुन्तीं सानुरागेण पाण्डुना समं धरणः पर्यणाययत्। कृते पाणिग्रहणे पाण्डवे यद्दत्तं तदाह—

यथा—"दत्तं दन्तावलशतं शतानि दश वाजिनाम्। वराय पाण्डवे तेन पाणिमोचनपर्वणि" ॥ १ ॥

एवं विवाहकार्याणि कृत्वा धरणः पाण्डोः सत्कारं सम्प्राप्य स्वस्थानमगमत्। अथ देवकराजपुत्रीं कुमुद्वतीनाम्नीं विदुरेण समं गाङ्गेय उदवाहयत्। पुनरपि पाण्डुराट् द्वितीयां पत्नीं मद्रराजसुतां माद्रीनाम्नीमुपायत। पाण्डुः कुन्तीमाद्रीभ्यां सह वैषयिक सुखं भेजे कामो रतिप्रीतिभ्यामिव। एवं राज्यं पालयतोऽपि भीष्मधृतराष्ट्रयोरुपरि पाण्डोरनुत्तरा भक्तिरभवत्। तयोश्च तस्मिन् प्रीतिरभूत्। एवं तेषां त्रयाणां भ्रातॄणां सुखान्यनुभवतां वसन्तर्तुः समागात्। वने गत्वा स्वैरं क्रीडन्ति स्म।

यथा—"प्रेयसीभिः समं ताभिः काननेषु कदाचन। स्वैरं ते विहरन्ति स्म स्मरादेशवशंवदाः ॥ १ ॥
मालाकारोपनीतेषु पुष्पाकल्पेष्वनेकशः। तासां दुर्मनास्थाभून्न ते हि प्रियकर्तृकाः ॥ २ ॥
श्रान्ता वनविहारेण जलकेलिचिकीर्षया। क्रीडावापीषु रम्यासु ते च तेरुः प्रियान्विताः ॥ ३ ॥
सौधे कदाचन कदाचन काननेषु, वाप्यां कदाचन कदाचन केलिशैले।
पञ्चेषुसायकसहाः सह वल्लभाभिः सर्वर्तुचक्रमतिचक्रमुरेवमेते" ॥ ४ ॥

इति श्रीमत्तपागच्छाधिराजभट्टारकश्री५—श्रीहीरविजयसूरिपट्टालङ्कारभट्टारकश्रीविजयसेनसूरिराज्ये पण्डितदेवविजयगणिविरचिते गद्यबन्धबन्धुरे पाण्डवचरिते पाण्डवपूर्वजवर्णनो नाम प्रथमः सर्ग ॥ १ ॥

अर्हम्

अथ द्वितीयः सर्गः



गान्धार्या गर्भ-धारणम्

अथान्येद्युर्गान्धारी पत्यौ प्रीतिपरायणा गर्भं बभार शमी वह्निमिव। तस्मिन् गर्भे राज्ञी गान्धारी औद्धत्यम्, मदोद्रेकम्, वक्षोजयोरापीनभावं, जगदाक्रमणोत्साहं चादधात्। तथा गर्भानुभावत आननेऽप्यधिकमौज्ज्वल्यमावहते। तथा वक्षोजौ अत्यर्थं श्याममुखौ अजायेताम्। तथा सा धृतराष्ट्रस्याप्यतिवल्लभा बभूव। तस्या गर्भानुभावेनाऽत्युग्रैर्दोहदैर्जातं यतो द्रव्यानुरूपा हि सम्पदः। दोहदाः यथा–सा गान्धारी उग्रेण विग्रहेण मोदते, तस्या मनो निगडध्वानेन मोद बबन्ध, तस्या हाहाकारध्वनयो धृतिं ददुः, प्रायस्तया निष्कारणं पूज्येष्वपि तिरस्कारविरसा गिरो व्यसृज्यन्त। यथा यथा तस्या गर्भः प्रौढभारं बभार, तथा तथा क्रूरकर्मसु हेवाकः पाकमागात्। तथा कुन्तीत· प्रथमं मम गर्भोऽभूदित्यपि गर्विता गान्धारी जगत्तृणमिव मन्यमाना विहरन्त्यास्ते। अथ कुन्त्यपि गान्धारीतिरस्कारजागरूकमानसक्लमा अपत्याय स्पृहावती निर्मलं जैनं धर्मं विनिर्ममे॥

यतः–"धर्मोऽयं धनवल्लभेषु धनदः कामार्थिनां कामदः, सौभाग्यादिषु तत्प्रदः किमपरं पुत्रार्थिनां पुत्रदः।
राज्यार्थिष्वपि राज्यदः किमथवा नानाविकल्पैर्नृणां तत्किं यन्न ददाति वाञ्छितफलं स्वर्गापवर्गावपि"॥

तथा सा पृथा भयार्तानां प्राणिनामभयोत्सवं प्रावर्तयत्। तथा सा सार्धमिकाणां वात्सल्यं विधिवत् व्यधत्त। तथा जिनचैत्येषु पूजां प्रावर्तयत्। एवं सकलं धर्मकृत्य कुर्वत्याः कुन्त्याः दिनानि यान्ति।

"अन्येद्यु सागरं मेरुं सूर्याचन्द्रमसौ श्रियम् । दृष्ट्वा स्वप्नानिमान् पञ्च साथ राज्ञे व्यजिज्ञपत् ॥ १ ॥
गाम्भीर्यादिगुणस्तोमसंदानितजगत्त्रयः । सुतस्ते भविता देवि ! तस्यै सोऽप्येवमभ्यधात्" ॥ २ ॥

कुन्त्या-गर्भप्रभावादुत्पन्न-दोहदा.

एतद्वचनं राज्ञः श्रुत्वा हृष्टा राज्ञी गर्भं बभार वसुन्धरा निधानमिव। तस्मिन् गर्भे सा कुन्ती स्तनयोरतिपीनत्वं; श्याममुखत्वं च, तथा गल्लयोः पाण्डुभावं धारयामास। कुन्त्याः तस्मिन् गर्भे प्रवर्धमाने मासत्रयान्ते एते दोहदाः प्रादुर्बभूवुः, यथा-जिनधर्मेषु आसक्तिर्जाता, सकलेऽपि पुरे अमारिप्रवर्तनम्, कारागार-विमोचनम्, श्रीजिनप्रासादे पूजा। राज्ञा पाण्डुना ते सर्वेऽपि मनोरथाः पूरिताः। एवं काले याति सति सप्तदिनाधिकनवमासान्ते ज्येष्ठानक्षत्रयुते चन्द्रे मङ्गलवासरे वृश्चिकराशौ उच्चस्थेषु ग्रहेषु सुमुहूर्त्ते चक्रिजन्मयोगे राज्ञी कुन्ती सुतमसूत। तत्पुत्रं दृष्ट्वा सर्वान्तःपुरवासिनो जना दास्यश्च प्रसन्नास्याः भीष्मं धृतराष्ट्रं पाण्डुं विदुरं च वर्धयामासुः। तथान्तःपुरे अम्बालिकां अम्बिकां अम्बां सत्यवतीं च सत्वरं गत्वा वर्धयामासुः। तैः सर्वैस्तेषां प्रीत्या दानानि दत्तानि, दत्तं क्वापि निष्फलं न भवेत्।

यतः—"पात्रे मुक्तिनिबन्धनं तदितरे प्रोद्यद्दयाख्यापकं मित्रे प्रीतिविवर्धनं नरपतौ संमानदानप्रदम्।
भृत्ये भक्तिभरावहं रिपुजने वैरापहारक्षमं भट्टादौ च यशस्करं वितरणं न क्वाप्यहो! निष्फलम्" ॥

तस्मिन् पुत्रे जातमात्रे एवंविधाऽऽकाशवाणी बभूव।

यथा—"असौ सत्यवतां मुख्यः सतामग्र्यः समग्रधीः। शौण्डीर्यस्थैर्यगाम्भीर्यवसतिर्विनयी नयी ॥ १ ॥
धर्मबद्धरतिर्भूपः सार्वभौमो भविष्यति। वार्द्धके व्रतमादाय निर्वाणं च गमिष्यति" ॥२॥ (युग्मम्)

तामाकाशवाणीं श्रुत्वा सर्वेषां भीष्मादीनां महान् प्रमोदो जातः। तदा तन्नगरवासिभिः पौरलोकैः

स्वयमेव महामहश्चक्रे पाण्डोरादेशः केवलं सिद्धसाधनमभवत् । तथा स्वजनवर्गस्तस्य पुत्रस्य प्रथमे दिवसे कुलोचितां स्थितिपतिकां करोति । तृतीये दिवसे चन्द्रसूर्ययोर्दर्शनं कारयति । षष्ठे दिवसे धर्मजागरिकां करोति ।

पुत्रस्य युधिष्ठिरेति नामकरणम्

सम्प्राप्ते एकादशे दिवसे निर्वर्तिते अशुचिजातकर्मकरणे तस्य सुतस्य भीष्माद्यैः किञ्चिदङ्गलक्षणं वीक्ष्य युधि स्थिरं ज्ञात्वा युधिष्ठिर इति सार्थकं नाम निर्ममे । तथा तपोधर्मैकधुरीणायाः पृथाया जातत्वाद्धर्मपुत्र इत्यपि द्वितीयं नाम दत्तम् । तथा त्रैलोक्यविश्रुतमजातारिरित्यपि तृतीयं नामधेयमजायत । पाण्डोरात्मजजन्मनि महीपालैः प्रहितानि विचित्राणि प्राभृतानि सहस्रशः समाजग्मुः । तथा सूर्यपुरात् कुन्त्याः पितृगृहात् कोरकोऽप्युपायनमुपादाय समाययौ । सोऽप्युपायनं पुरो मुक्त्वा कुशलं पृच्छति । पाण्डुनाऽपि कुशलं पृष्टो महीतलमिलन्मौलिः कोरकोऽन्धकवृष्णेः समुद्रविजयादीनां दशार्हाणां श्रीरामकृष्णनेमिकुमारादीनां कुमाराणां च सर्वं वृत्तान्तं व्याकरोति स्म । यथा श्रूयतां देव ! राज्ञाऽन्धकवृष्णिना समुद्रविजये पुत्रे राज्यं न्यस्य स्वय तपस्या आददे । तथा भोजवृष्णेश्च तनय उग्रसेनो मथुराराज्य करोति । तथा समुद्रविजये स्वैरं राज्यं कुर्वाणे लघुबान्धवो वसुदेवः पूर्वोपार्जितसौभाग्यात् स्वैरं नगरे विहरन्नास्ते । परं तत्सौभाग्यान्नगरनार्यः सर्वाणि कार्याणि मुक्त्वा वसुदेवमनुचरन्ति । एकस्मिन् दिने तत्रत्यः सुभद्रनामा वणिगात्मनः पुत्रं कंसाख्यं महोद्धत वसुदेवायाऽर्पयामास । वसुदेवोऽपि कंसेन सह सकलाः कला अशिक्षत । तथा तेन सार्धं नगरे स्वच्छन्दं रेमे ।

इतश्च राजगृहे पुरे त्रिखण्डमण्डलाधीशो जरासन्धो राजा राज्यं करोति । तेन राज्ञैकस्मिन् दिने दूतमुखेनाकस्मादिदमादिष्टम् । भोः समुद्रविजय ! त्वं सिंहपुराधीशं सिंहरथं जीवग्राहं गृहीत्वा पाप्मानं बद्ध्वा इहानय । सिंहरथे आनीतेऽहं तुभ्यं जीवयशसं सुतां दास्यामि, तथा करमोचने मनोऽभीष्टमेकं नगरं दास्यामि । एतत् दूतवचनं श्रुत्वा हृष्टः समुद्रविजयस्तं दूतं संमान्य धनकनकादिभिः सपूज्य विसृज्य च स्वयं सिंहराज्ञः उपरि

यावत् प्रतस्थे, तावत् वसुदेवो लघुबान्धवो बभाषे। हे राजेन्द्र! सिंहस्य राज्ञ उपरि तव गमनं युक्तं न। अहं तव सेवकः स्वयं तत्र गत्वा तं बद्ध्वा समानेष्ये। ततः सबलसैन्यपरिवृतो वसुदेवः कंसेन सारथिना सह जग्मिवान्। तत्र गत्वा सिंहेन समं युद्धं कृत्वा सिंहं बद्ध्वा जयं लब्ध्वा च क्षेमेण स्वपुरमगमत्। राज्ञा समुद्रविजयेन पुरे महामहोत्सवः कारितः, वसुदेवेन सिंहो राज्ञे समर्पितः। अथ समुद्रविजयं सानुजं राजगृहे यान्तं दृष्ट्वाऽष्टाङ्गनिमित्तज्ञः क्रोष्टुकिनामा नैमित्तिको रहस्येवमभाषिष्ट। एषा जरासन्धराज्ञः सुता पितृश्वशुरयोः कुलक्षयकारिणी। अतो भवता न ग्राह्या, किन्त्वेषा कंसस्य देया। विसृष्टो नैमित्तिकः।

नैमित्तिक कृत भविष्य-वाणी

स वृत्तान्तो राज्ञा वसुदेवाय प्रोक्तः। वसुदेवस्तं श्रुत्वा पाणिग्रहणे मन्दादरो जातः सन् राज्ञ एवं व्यज्ञापयत्। यथेयं कन्याऽन्यं परिणयति तथोपायो मे स्मृतोऽस्ति, तं शृणु। यथा हे स्वामिन्! तवादेशादऽहं सिंहपुरे गतः। एष सिंहरथः पुरान्निर्गतः कन्दरात् केसरीव मत्सैन्यान् गजानिव त्रासयामास। तत् पलायमानं स्वसैन्यं दृष्ट्वाऽहं संमुखं गतः, एषोऽपि मां दृष्ट्वा भृशं युयुधे तावता मत्सेवकेन कंसाख्येन सारथिना रथादुत्तीर्यैष बद्धः, तर्हि प्रभो! त्वत्सुता जीवयशाः कंसायाऽस्तु। समुद्रविजयेनोक्तं कोऽयं कसः?। वसुदेवेनोक्तं वणिजा दत्तः। तर्हि वणिक्पुत्रायाऽस्मै जरासन्धः स्वां पुत्रीं कथं दास्यति?, इति वार्ताव्यतिकरे जायमाने कंसं सेवार्थमागतं दृष्ट्वा वसुदेवो राज्ञे सोऽयं कंस इत्यकथयत्। तमालोक्य समुद्रविजयेनोक्तम्—

"अत्यद्भुतोऽयमाकारः सुलभो न वणिक्कुले। ततोऽस्य पितरं पृष्ट्वा क्रियते कुलनिर्णयः ॥ १ ॥
अथाहूय महीभर्त्रा पृष्टः शपथपूर्वकम्। सुभद्रः सत्यमाचख्यौ सर्वं कंसस्य पश्यतः" ॥ २ ॥

हे राजन्! एकदाऽहं यमुनायां शौचार्थमीयिवान्। तत्राऽहं यमुनायां अनुस्रोतो वहन्तीं कांस्य-मञ्जूषामपश्यम्। तां पेटां समादाय यावताऽहं गृहे समागाम्। तावता मया पेटायामेष सुतो दृष्टः, सुतहस्ते बद्धैषा मुद्रिका उग्रसेननामाङ्किता एषा पत्रिका दृष्टा वाचिता च।

यथा—"उग्रसेनसधर्मिण्या धारिण्या गर्भकर्तृकः। अभवद्दोहदो भर्तृमांसभक्षणलक्षणः ॥ १ ॥
कथञ्चित्पूरिते तस्मिन्नमात्यैर्मतिशालिभिः। पौषे कृष्णचतुर्दश्यां विष्टौ सूनुरजायत" ॥२॥

तद्दोहदानुभावेन जनकवैरिणं ज्ञात्वा कांस्यपेटायां प्रक्षिप्य यमुनाप्रवाहे प्रवाहितः। ततः सोऽयं बालकः उग्रसेनात्मजो ज्ञातव्यः। ततः समुद्रविजयः प्रोचे। अस्मद्गोत्रं विनाऽन्यस्येदृशं बलं कथं स्यात्?। ततः कसेन सह समुद्रविजयो राजगृहं जगाम। तत मगधेशितुः पुरः सिंहरथं मुमोच, अयमनेन कंसेन बद्ध इत्युक्तवांश्च। ततस्तं राजपुत्रं ज्ञात्वा मगधेश्वरः कंसाय स्वां पुत्रीं जीवयशसं ददौ। यतो महात्मनां प्रतिपन्नं युगान्तेऽप्यन्यथा न भवति। उग्रसेनद्वेषात् कंसेन मार्गिता मथुराऽपि दत्ता। राजा सिंहरथोऽप्युत्खातप्रतिरोपित इव कंससेवकीकृतः। सोऽपि कंससेवां कुर्वन्नास्ते। ततः संमान्य प्रेषितः कंसो जरासन्धसैन्यसमेतः मथुरां प्रति चचाल। कंससैन्यं समागतं श्रुत्वा उग्रसेनोऽपि राजा उग्राभिः सेनाभिः परिवृतोऽभिमुखः समागात्। द्वयोरपि सैन्ययोर्महान् संग्रामः संजज्ञे। परं कंसेनोग्रसेनो महानपि जितः। पितरं बद्ध्वा पूर्ववैरात् काष्ठपञ्जरे क्षिप्तः। तथा सुमद्रनामा वणिक् शौर्यपुरादानाय्य महत्या ऋद्ध्या सपूज्य पितृपदे स्थापितः, कृतज्ञत्वात्।

कसस्य जीव-यशसा सह लग्नः

यतः—"प्रथमवयसि पीतं तोयमल्पं स्मरन्तः शिरसि निहितभारा नालिकेरा नराणाम्।
उदकममृततुल्यं दद्युराजीवितान्तं न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति ॥ १ ॥
[1]दो पुरिसे धरउ धरा [2]अहवा दोहिं वि धारिया धरणी। उवयारे जस्स मई उवयरियं जो न पह्मुसेइ"।२।

१. द्वौ पुरुषौ धरतु धराऽथवा द्वाभ्यामपि धारिता धरणी। उपकारे यस्य मतिरुपकृत यो न विस्मरति ॥ २ ॥
२. दोहि वि पुरिसेहि इत्यपि पाठ.।

हारितोऽप्युग्रसेनः पुत्रेण जितत्वात् भृशं मुदमावहते । कंसोऽपि मथुराराज्यं कुर्वन् विहरति स्म । इतश्च वसुदेवः केलिशैलेषु, प्रासादेषु, वनेषु, वापीसरोवरादिषु यदृच्छया विजहार । पौराङ्गनाभिर्विलोक्यमानः स्तूयमानश्चतुरक्षरो मंत्र इव ध्यायमानोऽभूत् ।

वसुदेवोपरि मोहिता नगर-स्त्रियः

एकस्मिन् दिने पौरैरेत्य राजा समुद्रविजय एवं विज्ञापितः । हे राजन् ! त्वय्यपि नाथे वयमत्यन्त-दुःखिताः । राज्ञोक्तं किं दुःखम् ? । लोकेनोक्तं देव ! तव भ्राता वसुदेवो देवरूपः कन्दर्पस्वरूपेण जनान् विस्मापयति । नगरनार्यो यं व्रजन्तं दृष्ट्वा गृहाणि शून्यानि त्यक्त्वाऽनुधावन्ति । ततो निवार्यतां वसुदेवो नगरे भ्रमन् यथा वयं सुखेन तिष्ठामः । स राजा समुद्रविजयस्तान् सर्वान् लोकान् प्रीत्या सान्त्वयित्वा विसृज्य वसुदेवं समाहूय एव समादिशत् । वत्स ! नगरे स्वेच्छया भ्रमन् त्वं दुर्बलो जातः । अतस्त्वं सौधस्थ एव कलाभ्यासं कुरु । सोऽपि राज्ञो वचनं प्रतिपद्य सौधस्थ एव मित्रैः सह रेमे । अथान्यदा काचन दासी विलेपनकरा अन्त पुरादायान्ती वसुदेवेन पृष्टा । हे सुन्दरि ! किं ते हस्ते ? । दास्योक्तं चन्दनम् । केन प्रेषितम् ? । शिवा देव्या राज्ञ्या प्रियसमुद्रविजयकृते प्रेषितम् । वसुदेवो हास्यलीलया तत्कराच्चन्दन गृहीत्वा स्वशरीरे स्वयं विलिलेप । ततः कुपिता दासी वसुदेवमेवं जगाद । सत्यं, राज्ञा सौधमध्ये निरुद्धोऽसि मिष कृत्वा पञ्जरे सिंहशाव इव । सा कुमारेण पृष्टा । हे सुन्दरि ! किं निरोधकारणम् ? । तयाऽपि सर्वः पौरलोकवृत्तान्तो निवेदितः । तच्छ्रुत्वा म्लानमुखो वसुदेवः कथमपि दिवसमतिक्रम्य निशायामेकाक्येव खड्गसहायो निर्गत्य श्मशानं गतः ।

वसुदेवस्य नगर-त्यागः

तत्रानाथमृतकं चितायां प्रक्षिप्याग्निना प्रज्वाल्य तच्चितासमीपे एकं लम्बमानं पत्रं स्वहस्तलिखितं बद्ध्वा स्वयं पूर्वस्यां दिशि प्रचचाल । प्रातस्तूर्यनिर्घोषैर्जागरितो राजा वसुदेवं समाह्वयत् । स च सेवकैः सर्वत्र विलोकितः पर क्वापि न लब्धः । ततः स्वयमेव विलोकनाय निर्गतो राजा यावता प्रतोलीसमीपे श्मशाने गतः, तावत्तत्पत्र लम्बमानं दृष्टम् । तद् गृहीत्वा वाचयामास ।

यथा—"पुंसो यस्य गुरून् यावदुपालम्भः प्रवर्तते । तस्य श्रेयस्करो मृत्युर्जीवितं तु त्रपाकरम् ॥ १ ॥
ततः शौरिः कृतोद्वेगो गुरूणामगुणैकभूः । विरचय्य चितामत्र कृशानुमविशत् स्वयम्" ॥ २ ॥

एवं पत्रं वाचयित्वा राजा मूर्छामगमत् । यतो भ्रातरं विपन्नं दृष्ट्वा को हि मूर्छां नाप्नोति ? । अत्र शोकवर्णनम्—लब्धचैतन्यो राजा इति व्यलपत् । हा वत्स ! गुरुवत्सल ! अस्माकं शोकं दत्त्वा त्वं कुत्र गतः ? । हे भाग्यैकभूः ! माताऽपि रोदिति । हा मातृवत्सल ! हा गुणमणिरोहणेति ।

तस्मिन् समये गीतशालासु गीतम्,लास्यं लास्यशालासु, शौरिवेश्मनि क्वापि तूर्यध्वनिर्वा नास्ति । एवं काले याति कियन्ति वर्षाण्यऽतिचक्रमुः । एकस्मिन् दिने क्रोष्टुकिः किञ्चिन्निमित्तं दृष्ट्वा अष्टाङ्गयोगनिमित्तज्ञः समुद्रविजयं राजानमेवं बभाषे । भो राजन् ! तव सहोदरो वसुदेवोऽद्यापि जीवन् निरामयो वर्तते । एवं नैमित्तिकगिरमाकर्ण्य भूयोऽपि राजकार्येषु राजा प्रावर्तत । इतश्चारिष्टपुराधीशेन रुधिरराज्ञा निजपुत्र्या रोहिण्याः स्वयम्वरः प्रारब्धः । तस्मिन् स्वयंवरेऽनेके राजानो जरासन्धाद्याः समाहूताः । तत्र समुद्रविजयोऽपि निमन्त्रितः, सोऽपि बन्धुभिः सार्धं महत्या ऋद्ध्या तत्राययौ । तत्र स्वयम्वरे सर्वे राजान उच्चेषु मञ्चेषूपविष्टा शोभन्ते, पालके विमाने वैमानिकदेवा इव । तत्र स्वयंवरे धात्र्या सङ्कीर्तितगुणा राजानो गर्वपर्वतोपमाः स्वाङ्गे न ममुः, परं रोहिण्या नैकोऽपि रुरुचे । तत्र तया सर्वान् राज्ञो मुक्त्वैकः पटहवादको वृत. । यतस्तेन पटहे वाद्यमाने प्रकटाक्षरमेव वादितम् ।

रोहिण्या सह वसुदेव-लग्नः

हे सुन्दरि ! तव गुणैः क्रीतोऽहम्, त्वं मां वृणुष्व । तच्छ्रुत्वा रोहिण्या पटहवादको वृतः । तस्य कुब्जाकृतेरपि कण्ठे वरमाला निचिक्षिपे । तस्मिन् पाणविके वृते सर्वे राजानः कृतकोलाहला जरासन्धाज्ञया योद्धुमुपचक्रमिरे । रुधिरो राजा पाणविकपक्षे भूत्वा प्रत्यर्थिभूपालैः सह युद्धं चक्रे । पाणविकोऽपि विद्या-

धरोपनीतं रथं समारुह्य नभश्चरोपनीतेनायुधेन कृत्वा भूपालैः सह युयुधे। राजा जरासन्धस्तमबलं सबलं वीक्ष्य, तथा तमेकमनेकधा संग्रामे दुर्जयं ज्ञात्वा, समुद्रविजयं राजानं समादिशत्। भोः समुद्रविजय! एनं तूर्यवादकं मारय। ततश्शौर्यपुराधीशः सबलवाहनो रणरङ्गतत्परः संग्रामाय स्वयं डुढौके। वसुदेवोऽपि रुधिरराजसैन्य-समावृतो भृशं युयुधे। तस्मिन्नवसरे जयलक्ष्म्या दोलायितं अनयोर्मध्ये कं राजानं वृणोमीति। विस्मितः समुद्रविजयस्तस्य पराक्रमं दृष्ट्वा किमेष देवो वा, दानवो वा। विद्याधरो वा। येन मे सर्वं सैन्यं भग्नम्। तदा वसुदेवेन समुद्रविजयो दृष्टः। पश्चाद् वसुदेवेन नामाङ्कितं बाणं प्रहितम्। तद्बाणं सेवकमिव पादाग्रे पतितं दृष्ट्वा समुद्रविजयस्तं बाणं कौतुकेन गृहीत्वा तामक्षरावलीं वाचयामास।

यथा—"शवदाहमयं छद्म कृत्वाऽगाद्यः पुरात् पुरा। स ते पादाम्बुजं देव! वसुदेवो नमस्यति" ॥१॥

तदक्षरावलीं वाचयित्वा स्यन्दनं मुक्त्वा साश्रुलोचनः समुद्रविजयः संमुखमागात्। वसुदेवोऽपि हर्षाश्रुलोचन-स्तथैव वेगादागत्य समुद्रविजयपादौ ववन्दे। ततो द्वावपि निर्गमनदिनादारभ्य शतवर्षान्ते संमिलितौ। सर्वेऽपि राजानो रुधिरादयः, तथा जरासन्धादयश्च चमत्कारमापन्नाः। ततो रुधिरेण रोहिणीवसुदेवयोर्विवाहश्चक्रे। कृतविवाहो वसुदेवः स्वदेशागमनाय समुद्रविजयेनाहूतः। ततो वसुदेवः समुद्रविजयं प्रोवाच। हे देव! त्वं स्वस्थानं याहि, अहं कतिपय-कालान्ते समेष्यामि। यतो भवतः स्नुषाः शतश. सन्ति नरखेचरकन्यकास्ताः शीघ्रमादाय भवत्क्रमौ प्रणन्ताऽस्मि।

एवमुक्त्वा समुद्रविजयमापृच्छ्य वसुदेवः उत्तरां दिशं जगाम। सपरिवारः समुद्रविजयः स्वां पुरीं समाययौ। तेऽपि सर्वे राजानो जरासन्धाद्या रुधिरेण राज्ञा पूजिता संमानिताः स्वं स्वं स्थानं जग्मु। शौरिः समुद्रविजयः प्रत्यहं वसुदेवगुणान् गायन्, वसुदेवसौभाग्यं वर्णयन्, संमुदा समयं गमयन्,

एकस्मिन् दिने उत्तरस्यां दिशि तूर्यनिःस्वन शुश्राव। दृशो व्यापारयन् विद्याधरविमानश्रेणीं ददर्श। तन्मध्यात् केनचिन्नभश्चरेणागत्य विज्ञप्तम्। देव! विमानैर्वृतो वसुदेवः समायाति, एवं यावत् कथयति तावत् समागतां विमानश्रेणीं विलोक्य समुद्रविजयो मुमुदे। ततो राजा उत्तुङ्गतोरण-श्रेणिशोभितमुत्पताकं नगरं विधाय संमुखमगात्। ततो वसुदेवो विमानादुत्तीर्य पादयो. पतित्वा भृशमालिलिङ्ग। समुद्रविजयोऽपि लघुबान्धवं बहुदिनान्ते मिलितमुत्सङ्गे निवेश्य, दृष्टिदोषापनोदाय मूर्द्ध्नि चुचुम्ब। ततो द्वावपि भ्रातरौ इन्द्रोपेन्द्राविव पुरं प्राविशताम्।

इतो मथुरातः संस्मृतसौहृदः कंस समागत्य अन्यराजन्यकृतमहजित्वरं शौरेर्महामहं चक्रे। तथा समुद्रविजयमनुज्ञाप्य कंसो वसुदेवं शुश्रूषणेच्छया मथुरामनयत्। तत्र गत्वा कानिचिद्दिनानि शुश्रूषां कृत्वा निजपितृव्यस्य देवकस्य पुत्रीं देवकीं सुरूपामनुरूपेण शौरिणा सार्धं कंसः पर्यणाययत्। देवक्याः करमोचने राज्ञा देवकेन गजाः, अश्वाश्च दत्ताः, तथैकलक्षगोसमेत गोकुलं दत्त, तद्रक्षको नन्दगोकुली दत्तः, तस्य भार्या यशोदा। ततो वसुदेवो देवकीं लात्वा गोकुलसमेतः कंसराज्ञा सहितो मथुरां पुरीमागात्। मथुरामागत्य कंसेन वसुदेवदेवक्योरुत्सवे क्रियमाणे कंसबधुरतिमुक्तकनामा मुनिर्भिक्षार्थी मासक्षपणपारणे कंसगृहे समागात्। तदानीं कंसपत्नी जीवयशा यौवनोन्मादमेदुरा मुने संमुखी अभवत्। कथंभूता शिथिलधम्मिल्ला, स्रस्तस्तनांशुका, मदोत्कटा। अत एवं कटीतटात् स्रस्तदुकूला रक्तलोचना काममोहिता जीवयशा दोर्भ्यां मुनेः कण्ठं समालिङ्ग्य एवमवादीत्। एहि देवर! नृत्यावः तव स्वसुर्महोत्सवे आवां क्रीडावः। मुनिनोक्तं आः पापे! किं जल्पसि ?, शृण्वेकं मद्वचः।

यथा—"यद्विवाहोत्सवे मत्ता नृत्यस्यत्यन्तगर्विता।
तस्याः सप्तमगर्भेण तव घातिष्यते पतिः" ॥ १ ॥

एवं मुनिनोक्तं वचः श्रुत्वाऽऽर्त्तध्यानवशंगतया वित्रासितमदया मुनिकण्ठो मुक्तः। मुनिः स्वस्थानं गतः। साऽपि कंससमीपे गता भृशमाकुला मुनिनोक्तं सर्वमाचख्यौ। तच्छ्रुत्वा भीतः कंसः। यतो मरणसमं भयं नास्ति।

यथा—"[१]पंथसमा नत्थि जरा दारिद्दसमो पराभवो नत्थि।
मरणसमं नत्थि भयं खुहा समा वेयणा नत्थि" ॥ १ ॥

मरणभयभीतेन कंसेन भार्या वारिता, त्वं तूष्णीका भव। अहं तथा यतिष्ये यथा मम कुशलं भविष्यति। एवं दिनानि यान्ति। एकस्मिन् दिने वसुदेवकंसौ क्रीडापरायणौ वर्तेते। क्रीडां कृत्वा तोषितो वसुदेव। ततः कंसेनोक्तम्। भो बांधवाहं तव समीपे किञ्चिद् याचे। वसुदेवेनोक्तं याचस्व। कंसेनोक्तं यदि याच्यं लभे तर्हि देवक्याः सप्त पुत्रास्ते मे भवन्तु। वसुदेवेन चिन्तितं बलभद्राद्या मे पुत्रा बहव. सन्ति। कंसोऽपि मम पुत्रैः पुत्रवान् भवतु। एषोऽपि मम पुत्रान् पुत्रवल्लालयिष्यतीति प्रियया सममालोच्य कंसोक्तं प्रतिपन्नवान्। यतो यद्भावि तद्भवत्येव। वसुदेवेन देवक्याः षडपि पुत्रा दत्ता। कंसेन दुरात्मना ते सर्वेऽपि शिलास्फालनेन निपातिता.। तद्वार्तां जनमुखाच्छ्रुत्वा वसुदेवदेवक्योर्महान् खेदोऽभूत्। पुत्रप्रेम्णा के के न मोहिताः ?। वसुदेवेन कंसवचन-प्रतिपत्ति

यतः—"गोभद्रः सगरस्तथा दशरथः श्रीमान् नृपःश्रेणिको नागाख्यो रथिकः प्रसन्ननृपतिर्धात्रीधवःकोणिकः।
ज्ञानाढ्यो हरिभद्रसूरिमुनिपः सूरिश्च शय्यंभवः पुत्रप्रेमणि मोहिता भुवि न के गाम्भीर्यभाजोऽपि हि?"॥१॥

अथान्यदा देवकी अर्द्धरात्रौ सप्तमे गर्भे गते सप्त स्वप्नानद्राक्षीत्, यथा—गजो, वृषभः, सिंहः, लक्ष्मीः,

१ पयसमा नास्ति जरा दारिद्र्यसम पराभवो नास्ति। मरणसम नास्ति भय क्षुत्समा वेदना नास्ति ॥ १ ॥

पुष्पमाला, शशी, दिनकरश्चेति । दृष्ट्वा जागरिता देवकी चिन्तयति । एते स्वप्ना भरतार्द्धपतिपुत्रोत्पादकाः, तर्हि पत्युः शंसयामीति शीघ्रं गत्वा वसुदेवाग्रे प्रोक्तम् । भर्त्रा प्रोक्तं ते वासुदेवः पुत्रो भावी, तद्दिनाद्देवकी गर्भं बभार, परं चिन्ताऽऽतुरा देवकी वसुदेवं जगाद—हे प्राणेश ! एष सप्तमो गर्भः कंसेन व्यापादयिष्यते । शौरिर्वल्लभामभाषत, हे प्रियेऽहं जीवन्नपि मृतप्रायः, यतो मे पश्यतः कंसो मत्सुतान् पशुवज्जघान । असौ तनयः कंसराक्षसात् मया कथं रक्षणीयः? । देवक्या प्रोक्तं—स्वामिन् ! चिन्तां मा विधेहि दैवो बलवान् ।

यतः—"सा सा संपद्यते बुद्धिः सा मतिः सा च भावना । सहायास्तादृशा ज्ञेया यादृशी भवितव्यता ॥१॥
आनयत्यपि दूरस्थं करस्थमपि नाशयेत् । महेन्द्रजालतुल्या हि विचित्रा गतयो विधेः" ॥ २ ॥

वसुदेवो जगाद देवि ! मया पुत्ररक्षोपायो लब्धः । मम गोकुलाधिपो नन्दो यशोदासहितस्तव पुत्ररक्षको भविष्यति । तथा ते पुत्ररत्नं यत्नेन वर्द्धयिष्यति । अत्रार्थे दैवो बलवान् इति पत्याऽऽश्वासिता देवकी संपूरितसुदोहदा गर्भं बभार । कंसोऽथात्मपुरुषैः सप्तमगर्भस्य विशेषतो रक्षां करोति स्म । सम्पूर्णे मासि प्रभाजालमालिनं श्रीवत्साङ्कितवक्षसं श्रावणसिताष्टम्यां लोकोत्तरे लग्ने वहमाने रात्रौ भरतार्द्धपतिदेवताऽधिष्ठितं देवकी पुत्ररत्नं सुषुवे । तत्र कृष्णजन्मगृहे स्थापिता ये कंसपदातयस्ते भरतार्द्धदेवीभिस्तदा निद्रामानिन्यिरे । तान् निद्रागतान् दृष्ट्वा देवकी वसुदेवमाजूहवत् । दत्तो बालकः, सोऽपि बालकमादाय गोकुलं प्रति प्रतस्थे । देवैरुद्योते क्रियमाणे, देवैरातपत्रे ध्रियमाणे, देवैश्चामरे वीज्यमाने, पदे पदे कृष्णशिरसि पुष्पवर्षणे विरच्यमाने, कृष्णं गोपुरद्वारं नयन् उपरितनभूमिस्थितेन उग्रसेनेनाभाणि—भो वसुदेव ! किमेतद् दृश्यते ? । वसुदेवेनोक्तमेष देवक्याः सप्तमो गर्भो यो मुनिनोक्तः, पुनर्यस्त्वां काष्ठपञ्जरान्मोचयिता । सोऽयं बालो नेत्रविशालस्त्वया विज्ञेयः । उग्रसेनेनोक्तं तर्हि शीघ्रं याहि, मा विलम्बस्व ।

देवक्याः पुत्रजन्म

सोऽपि बालमादाय यमुनामागत्य शिशोरनुभावात् शीघ्रं यमुनामुत्तीर्य गोकुलं गतः, तदैव यशोदा नन्दगेहिनी तनयां जनयाञ्चक्रे। स्वतनयं तस्याः समीपे मुक्त्वा तां पुत्रीं समादाय कृतकृत्यस्त्वरितं स्वस्थानमगमत्। तां बालिकां देवक्याः समीपे मुमोच। तदैव ते कंसपदातयो जागरिताः। पुनस्तैः पृष्टं देवक्याः किं जातम् ?, वसुदेवेनोक्तमेषा बालिका जाता। तेऽपि तां बालिकामुपादाय कंसाग्रे निन्युः। कंसोऽपि निरादर ऊचे। एषा वराकिका किं मां हनिष्यतीत्युक्त्वा लूननासिकां तां कृत्वा कंसो देवक्याः पुनरार्पयत्। तद्दिनादारभ्य कंसः स्वस्थमना अस्थात्। अथ तेन बालेन तद्गोकुलं कान्तिमदभूत्। अथ द्वादशे दिने नन्दयशोदाभ्यां बालस्य कृष्णवर्णत्वात् कृष्ण इति नाम विदधे। सर्वा गोपवध्वस्तं बालं विस्मिताः सत्यः लालयन्ति स्म। यशोदया पाल्यमानो बालो गोकुले ववृधे, नन्दने कल्पद्रुरिव। स बालो गोपवधूनां हस्ताद्धस्तं सञ्चरन्नत्यन्तवल्लभोऽभूत्। अथ देवकी तनयाऽऽलोकनोत्सुका किञ्चित् किञ्चिदुत्सवमुद्दिश्यान्तराऽन्तरा कृष्ण-स्नेहाद् गोकुले अगमत्। साऽपि विविधोल्लापपण्डिता प्रस्नुतस्तनी तं बालमुल्लापयाञ्चक्रे। नूनमहमभाग्याऽनेन पुत्रेण त्यक्ता, किं करोमि ?।

हे यशोदे ! त्वं धन्या, त्वं त्रिभुवनस्त्रीणामुपरि वर्त्तसे। यतोऽनेन पुत्रेण तवोत्सङ्गोऽलङ्कृतः। एवं गोकुलं, यशोदां च प्रशस्य देवकी मथुरां ययौ। अथ पूर्ववैरं स्मृत्वा पूतनाशकुनिविद्याधर्यौ उपागत्य विष्णुं भीषयामासतुः, तदा कृष्णाधिष्ठातृदेवतया ते निधनं निन्याते। एवं कृष्णो बाहुभ्यां रिङ्खन् सिंहकिशोरवत् क्रीडन्, दधिदुग्धभाण्डानि लोठयन् गोकुले विचचार। एवं क्रमेण वर्धमानः सप्ताष्टहायनो निजयशोभिर्दिशो व्यानशे, केतक्यामोदेनेव। तैस्तैर्लोकोत्तरैर्गुणैर्नन्दनन्दन इदानीं गोकुले वर्धते इति लोकोक्तकीर्त्तिकोलाहलं श्रुत्वा वसुदेवः कृष्णहिताय बलदेव प्राहिणोत्। कृष्णोऽपि बलदेवान्तिके सकलाः कला अध्यगीष्ट। अतो बलभद्रः कृष्णस्य उपाध्यायो बन्धुश्च द्वयमप्यऽभूत्। अथ ता गोपवध्वः पञ्चबाणेन ताडितास्तं कामरूपिणं ज्ञात्वा कृष्णमेव सिषेविरे।

देवक्या यदाकदा गोकुला-गमनम्

यथा–"काश्चिदत्युच्चरोमाञ्चा सानन्दाश्चन्दनद्रवैः ।
मांसलेंऽसस्थले तस्य लिलिखुः पत्रवल्लरीः" ॥ १ ॥

एवं काश्चन शिखिपिच्छैर्मुकुटं चक्रुः, काश्चन कुसुमदामभिर्वक्षःस्थलमलञ्चक्रुः, काश्चन गोप्यो मण्डलीबन्धबन्धुरं प्रदत्ततालमुन्मीलल्लीलं हल्लीसक जगुः । एवं कृष्णो गोपालबालिकाभिर्लालितो बलदेवेन पालितो गोकुले कालमत्यगात्, इतश्च श्रीशिवादेवी राज्ञः समुद्रविजयस्य पट्टराज्ञी शौर्यपुरे नगरे कार्त्तिके मासि कृष्णद्वादश्यां तिथौ निशाद्वितीयप्रहरसमये चित्रागते चन्द्रे इमांश्चतुर्दश महास्वप्नान् तीर्थकृज्जन्मसूचकान्नद्राक्षीत् । ततो जागरिता राज्ञी प्रीतिमाप । तत उत्थाय देवी राज्ञः समीपमागता एवं जगाद, स्वामिन् ! मयैते स्वप्ना दृष्टाः ।

यथा–"[1]गयवसहसीहअभिसेअदामससिदिणयरं झयं कुम्भं ।
पउमसरसागरविमाणभवणरयणुच्चयसिहिं च" ॥ १ ॥

स्वामिन् ! एतेषां स्वप्नानां मम किं फलं भविष्यति ? । राज्ञोक्तं—तव महान् पुत्रो भावी, इत्युक्त्वा विसृष्टा स्वस्थानमागता देवगुरुकथाभिः शेषरात्रिं गमयामास । अथ प्रभाते जायमाने राजा क्रोष्टुकिप्रमुखान्नैमित्तिकानाहूय स्वप्नफलं पप्रच्छ । ततो विचार्य नैमित्तिकोऽवदत्—राजन् ! तीर्थङ्कराणां जननी एतान् स्वप्नान् निरीक्षते । अतो लोकोत्तरप्रभावस्ते तीर्थङ्करः सुतो भावी इति श्रुत्वा राजा राज्ञी द्वावपि पीवरां

१. गजवृषभसिंहाभिषेकदामशशिदिनकर ध्वज कुम्भम् । पद्मसरस्सागरविमानभवनरत्नोच्चयशिखिन च ॥ १ ॥

प्रीतिमापतुः। तान्नैमित्तिकान् बहुद्रव्यदानेन तोषयित्वा राजा राज्ञी च व्यसृजताम्। तद्गर्भानुभावतो देवी लावण्यं लेभे, तथा सुदोहदान् लेभे, राजा उदयं लेभे, देशो विघ्नध्वंसं लेभे। अथ श्रावणश्वेतपञ्चम्यां चित्रागते चन्द्रे सौम्यग्रहैर्दृष्टे लग्ने शिवाराज्ञी सुतमसूत।

तदानीं षट्पञ्चाशद्दिक्कुमारीभिस्तस्याः सूतिकर्म विनिर्ममे, तथा चतुःषष्टिसुरेश्वरैरपि सुमेरौ स्नात्रं चक्रे, तथा देवैर्यादवेन्द्रस्य समुद्रविजयस्य सौधं धनधान्यैः रत्नौघैश्चापूर्यत, तथा तस्य पुत्रस्य जन्मोत्सवे राजा कारागारमशोधयत्, तथाऽमारिं चाघोषयत् तथा दशदिनानि यावद्राजा तस्य कुलोचितां स्थितिपतिकां करोति स्म। द्वादशे दिवसे मातापितरौ तस्य पुत्रस्याऽरिष्टनेमिरिति नाम चक्राते। शौरिणा, समुद्रविजयेन च कृष्णे जाते तथा नोत्सवश्चक्रे, यथा नेमौ जाते महामहश्चक्रे। एवं सुखेन दिनानि यान्ति। एतत् सर्वं कोरकेणोक्तं कुन्त्यग्रे। हे कुन्ति! एतत् सर्वं मया चक्षुषा दृष्टम्। पुनः कोरकोऽवादीत्, एकस्मिन् दिने कंसो देवकीं द्रष्टुं वसुदेवगृहे गतः, तत्र च्छिन्ननासिकां कन्यां क्रीडन्तीमुदैक्षत। तामालोक्य मुनेर्वाक्यं स्मृत्वा भयातुरोऽभूत्।

यतः—"पंथसमा नत्थि जरा दारिद्दसमो पराभवो नत्थि।
मरणसमं नत्थि भयं खुहा समा वेयणा नत्थि" ॥ १ ॥

स कंसः सौधमेत्य रहः नैमित्तिकं पप्रच्छ—भो नैमित्तिक! मुनिनोक्तं तत् सत्यं वा, असत्यं वा?; यद् भावि, तद् ब्रूहि। नैमित्तिकेनोक्तम्, देवक्याः सप्तमो गर्भस्तवारातिर्जीवति, त्वं ततो मृत्युमवाप्स्यसि, यत् मुनिनोक्तं तत् सत्यमेव। कंसेनोक्तम्, स ममारातिः कथं ज्ञास्यते?! नैमित्तिकः प्राह—भोः कंसराजेन्द्र! यस्तव दुष्टारिष्टनामवृषभहन्ता स ते हन्ता ? यः केशिसंज्ञकशूकलाश्वहन्ता स ते हन्ता २ यस्तव चाणूरमल्ल-हन्ता स ते हन्ता ३ यौ तव पद्मोत्तरचम्पकनामानौ गजौ वर्त्तेते, तयोर्यो हन्ता स ते हन्ता ४ योऽपरैर्जनैर्दु:

नैमित्तिक-
प्रश्न

स्पर्श एवंविधं शाड्‌र्गधनुस्तस्य ज्यारोपणकर्त्ता स ते प्राणहर्ता ५ यः कालिन्द्यां नद्यां कालियो नाम्ना पन्नगस्तस्य वशीकर्ता स तवापि प्राणहर्ता ६। हे राजेन्द्र ! एतत्सर्वं पुरा विशिष्टज्ञानवद्भिर्मुनिवरैराख्यातं तन्मयाप्युक्तम् परमेतत् सर्वं सत्य ज्ञेयम्। तच्छ्रुत्वा भीतः कंसः तं दानैः सन्तोष्य यत् करोति तदाह भो मन्त्रिन् ! अरिष्ट-वृषभप्रमुखान् सुद्रव्यैः स्वैरं पोषय, यथा ते पोषिता सन्तो मदोन्मत्तास्तं विनाशयन्ति।

अथ कृष्णो गोपिकागणमध्यस्थो दिवसे धेनूनां वृन्दं वृन्दावने पालयामास। कथंभूतः कृष्णः, गोपाल-बालकैः परिवृत। अथान्यदा कंसेन मुक्तौ अरिष्टकेशिनौ वृषभतुरगौ स्वेच्छया विचरन्तौ गोष्ठमुपेयतुः तत्र तौ पङ्कादीनां विमर्दनात्, पयसां पानात्, जनविमर्दनाद् गोकुलेऽस्तोकं शोकं चक्रतुः। गोकुलं शोकाकुलं दृष्ट्वा नन्दो गोपानाह—भो गोपाः ! कृष्णं समाह्वयत। गोपैराहूतो वनादागतो नन्दनन्दनो दुर्दमं वृषभ दृष्ट्वा धावितः शृङ्गे धृत्वा मुष्टिना हत्वा तत्कन्धरां मृणालनालवत् मोटयित्वा तं यमातिथिं विदधे।

तथैव केशिनं तुरगं गोकुलोपद्रवकारिणं दृष्ट्वा हरिर्जगाद—भोः केशिन् ! सत्यपि मयि नाथेऽनाथमिव मम गोकुल किं मथ्नासि ?, इत्यादिक्षिप्तः शूकलाश्वः केशी खुरैर्महीं कुद्दालयन् दशनैर्दशनान् पिषन्, संमुखमागात्। विष्णुरपि तस्य मुखे कर प्रक्षिप्य त लीलया जीर्णपटवत् पाटयामास। ततो गोपवध्वस्तं कृष्ण स्वाञ्चलोत्तारणैर्वर्धापयामासुः। ततस्तयोर्वधोदन्तश्चारनरैः शीघ्रमागत्य कंसाय निवेदितः। कंसोऽपि बृहस्पतिमन्त्रिणमूचे—भो मन्त्रिन् ! ममारातिर्नन्दगोकुलेऽस्ति ततस्तद्ग्रहणोपाय विचिन्तय। मन्त्री ऊचे, देव ! शार्ङ्गचापाधिरोपणमिषात् सर्वान् भूपालानाहूय एव कथय। भो भूपालाः ! शृण्वन्तु मद्वच., य इदं शार्ङ्गचापं समारोपयिष्यति, तस्मै अहं स्वां भगिनीं सत्यभामां दास्यामि। ततश्चापारोपणकर्मणि समायातः स तवारातिस्त्वया ग्राह्यः। एवं मन्त्रिणोक्तं कंसेन सर्वं कृतम्। समाहूता राजानः सर्वेऽपि समाजग्मुः।

कंस-
बृहस्पति-
मन्त्रणा

तदा वसुदेवपुत्रो बलाग्रजः अनाधृष्णिनामा शौर्यपुरात् समागत्य मथुरां गन्तुकामः उत्सूरत्वाद्रात्रौ गोकुले अवात्सीत्। स तत्र बलभद्रमनुज्ञाप्य कृष्णसहायो मथुरां चचाल। मार्गे अनाधृष्णे रथो वटद्रुमेऽस्खलत्। तद्वटद्रुमाद्रथं अनाधृष्णिः समाक्रष्टुं न समर्थः, तदा जनार्दनस्तं वटं मूलादुन्मूल्य दूरेऽक्षिपत्। तं दृष्ट्वा रञ्जितः अनाधृष्णिस्तं लघुबान्धवमुत्सङ्गे निवेश्य भूयो भूयश्चुचुम्ब। पुनश्चचाल। ततो मथुरां गतः, तत्र चापमण्डपं विलोक्य उच्चस्थानेषूपविष्टः। ततस्ते सर्वे भूपालास्तं चापं चापसमीपस्थां सत्यभामां च निरीक्ष्य चिन्तयामासुः। अहो क्वेदं चापारोपणम्, क्व चास्याः सत्यभामायाः पाणिग्रहणम्, तथापि सत्यभामापाणिग्रहणकृतमनोरथाः कलिङ्ग-बङ्ग-काश्मीर-कीर-प्रभृतिपृथ्वीशाः धनुःसमीपमागम्य दुरालोक धनुर्विलोक्य नत्वा स्वं स्वं मञ्चं पुनराययुः। अथ अनाधृष्णिस्तं राजन्यं हसित्वा धनुर्जिघृक्षया विसंस्थुलो व्यापृतकरमात्रः पतति स्म, तं दृष्ट्वा सत्यभामया हसितम्, तथाऽन्यैर्भूपादिभिरपि हसितम्। लोकैर्हसितं दृष्ट्वा अच्युतः किं करोति।

यथा–"कोदण्डं चण्डदोर्दण्डः कोपादारोप्य तं तदा।
विष्णुरस्थापयत्तेषां हास्यस्थानेऽद्भुतं रसम्" ॥ १ ॥

यावता सत्यभामा तं सुचिरं निरीक्षते, तावत् कंसभटा निष्ठुरया गिरा एवमूचुः, गृह्यतां गृह्यतां भोः सुभटाः! एष चापारोपणलम्पटः, यदस्मै मथुरापतौ रुष्टोऽस्ति तच्छ्रुत्वा केशरिकिशोर इव विष्णुरनाधृष्णिं पुरस्कृत्य तान् भटान् भित्त्वा मण्डपान्निरगाद्, अभ्रवृन्दाद्भानुमानिव। ततोऽनाधृष्णिर्जनार्दनं गोकुले बलभद्रान्तिके मुक्त्वा स्वयं शौर्यपुरे ययौ। अनुधाविताः सुभटाः प्रत्यावृत्य कंसं जगदुः। हे राजेन्द्र! नैषोऽस्मादृशां साध्यः, किन्त्वेष देवैर्वा दानवैर्वा गृहीतु नो शक्यते। पुनः कंसो मल्लयुद्धमिषात् सर्वान् भूपानाजहवत्। तद्भावं ज्ञात्वा वसुदेवोऽपि समुद्रविजयादीनां सर्वेषामग्रजानां कंसभावं ज्ञापयामास। तथा

मनोगतां शिक्षां रामाय दापयामास। कंसः सर्वान् राज्ञ आगतान् दृष्ट्वा उच्चेषु मञ्चेषु निवेशयामास। कंसोऽप्येकं मनोरममुच्चमञ्चमारुरोह। विमाने वासव इव, ततो दशार्हा दशदिक्पालसमास्तथैव मञ्चेष्वारुरुहुः। ततः कंसो मल्लानाजूहवत्। तेषां मल्लानां चाणूरमौष्टिकनामानौ मल्लनायकौ वर्तते। ते मल्लाः प्रत्यहं मल्लयुद्धेन क्रीडन्तो विहरन्ति स्म। इतश्च गोकुले स्थितो गोविन्दो राजन्यान् गोकुलाग्रे गच्छतो दृष्ट्वा मल्लालोकनकौतुकी बलभद्रमवोचत्। हे आर्य ! आवामपि मथुरां गत्वा मल्लयुद्धं पश्यावः, त्वं मे मनोरथमन्यथा मा कार्षीः। बलभद्रेण चिन्तितमेतस्याऽधुना पितुरादेशमाख्यातुं समयो वर्तते, इति विनिश्चित्य रामो यशोदामभ्यधात्। हे यशोदे ! आवयोर्द्रुतं स्नानं कारय, येनावां मल्लालोकनकृते मथुरां गन्तुमिच्छावः। सा प्रत्यूचे, नाहं सांप्रतं रिक्ता, मम कार्यं वर्तते। तदा साक्षेपं क्रोधारुणाक्षो बलदेवोऽभ्यधात्। रे दासि ! आत्मनि गर्विताऽस्मान् किं न जानासि, इत्युक्त्वा यशोदां निष्ठुरवचनैस्तर्जयित्वा कृष्णं करे धृत्वा स्नानाय कालिन्द्यां बलभद्रः समाययौ। तस्या नद्या आसन्ने वानीरवृक्षतले स्थित्वा बलभद्रः कृष्णमभाषत। भो वत्स ! त्वमिदानीं विच्छायवदनः किं दृश्यसे ?।

हरिः प्रत्याह, भो बान्धव ! त्वया मम मातुस्तिरस्कारः कथं कृतः ?, तथा त्वया मम मातुर्दासीत्युक्त्वा कथं तिरस्कृता ?, मातुस्तिरस्कारकरणं मे दुःखकारणम्। रोहिणीनन्दनः कृष्णं बाहुभ्यां धृत्वोत्सङ्गे निवेश्यैवमवोचत्। यशोदा तव माता नास्ति, नन्दस्तव पिता नास्ति, किन्तु आवयोः पिता सौभाग्यनिधिर्वसुदेवः, ते माता देवकाङ्गभवा देवकी राजपुत्री, मम माता रुधिरात्मजा रोहिणी राजपुत्री, तथा कुशावर्तदेशाधीशाः समुद्रविजयादयस्ते पितृव्याः, सर्वे यादवास्तव ज्ञातयः, त्वमस्माकं ज्ञानिभिर्भरतार्धपतिः प्रोक्तः; त्वादृशां पुरुषाणामीदृशे गोपालकुले किं जन्म भवेत् ? यथा मरुस्थले किं कल्पद्रु-सम्भवो भवेत् ?; किंतु देवकी-वसुदेवाभ्यां कंसभयादिह गोकुलाकुले गोकुले त्वं गोपितोऽसि। कृष्णेनोक्तम्, भो बान्धव ! ईदृशं कुतो भयम्, येनास्मिन् गोपसङ्कुले गोकुले पित्रा क्षिप्तोऽस्मि। ततो बलभद्रो भ्रातृवधादिकं सर्वं वृत्तान्तं हरेर्व्याजहार।

यतस्तद्वचः कर्षकेण काले उप्तं सद्बीजमिव फलेत्। अथ बन्धुवधाद्रुष्टो गोविन्दोऽभ्यधात्। भो भोः सिद्धगन्धर्वाः! भो देवदानवाः! क्षणमात्रं ममैकं वचन शृणुत—

यथा—"सर्वेषां पश्यतां राज्ञां पापं कंसं न हन्मि चेत्।
ध्रुवं तदाहं गृह्णीय तदीयभ्रूणहत्यया" ॥ १ ॥

इत्यादिवचनाकर्णनात् तुष्टो बलभद्रः कृष्णं प्रत्यूचे। भो बान्धव! त्वयाऽऽत्मीयकुले तिलकवदाचरितम्, यत्त्वया ईदृशी प्रतिज्ञा कृता, तदेहि सांप्रतं यमुनाऽम्भसि स्नात्वा मथुरां प्रति व्रजावः। इत्युक्त्वा बलभद्रः कृष्णं यमुनाजले निनाय। तत्र जले दृष्टिविषः कालियनामपन्नगोऽस्ति, स यमुनातीरवासी स्वय क्रीडन् कृष्णं दष्टुमधावत्। धावन्तं दन्दशूकं दृष्ट्वा सर्वलोको हाहारवपरोऽभवत्। सोऽपि श्यामघनवर्णः स्फारस्फटाटोपभीषणो विषोल्काभिर्यावत् केशवं दशति, तावदसौ तं कमलनालवत् गलकन्दलेऽग्रहीत्। तं नागं कमलनालेन नस्तयित्वा केशवो जात्यवाजिवत् समारुह्य वाहयामास। तं दुर्दमं पन्नगं दम्यमानं वीक्ष्य विमानवासिनो नभश्चरा विमानानि धृत्वा विस्मितास्तस्थुः। कृष्णेन यमुनाजले इतस्ततो भ्रमयित्वा तथा कृतो यथा निर्विषो जातः। ततः कृष्णस्तं मृतप्रायमालोक्य दूरादुत्सृज्य नद्यम्भसि स्नात्वा तीरमुपागमत्। ततोऽय यमुनातीरवास्तव्यैस्तपस्विभिर्वीतविघ्नैर्यथार्थाभिराशीर्भिर्मुरिशः अभ्यनन्द्यत।

अथ गोकुलादागतैर्गोपालबालकैः परिवृतौ रामकेशवौ नागरिकजनैर्विस्मयोत्फुल्लनयनैर्वीक्ष्यमाणौ मथुरागोपुरं यावता प्रापतुः, तावता मदाद्धुरौ महोत्कटौ मदोन्नतौ गन्धेभौ अन्यगजमसहमानौ तत्र बद्धौ कंसादिष्टमहामात्रप्रेरितौ पद्मोत्तरचम्पकनामानौ रामकेशवौ हन्तुमधावताम्। तत्र पद्मोत्तरो हरिं हन्तुं दधावे, चम्पको हलायुधं हन्तुं दधावे। केशवो गजशिक्षाविचक्षणो गजं खेलयामास। ततस्तं दुष्टं गजं ज्ञात्वा

निष्ठुरैर्दुष्टमुष्टिभिस्तं कीनाशदासतां निन्ये। रौहिणेयोऽपि चम्पकनामानं द्वितीयं गजेन्द्रं दृष्ट्वा कण्ठीरव इवोत्प्लुत्य कुम्भस्थल भित्त्वा तं हन्ति स्म। ततस्तौ रामकेशवौ मथुरान्तर्गच्छन्तौ उत्पताकं बालुकाकीर्णं पुष्पप्रकरदन्तुरं सश्रीकं मल्लमण्डपं जग्मतुः। रामसहिते गोविन्दे रङ्गमण्डपं विशति लोकस्य दृशो विस्मय-विकस्वरा निपेतुः। ते सर्वे लोकाः कृष्णं दृष्ट्वा परस्परमेवमवोचन्।

यथा-"स एष केशिकीनाशः स एष वृषमर्दकः। नन्दस्य नन्दनः सोऽयं सोऽयं सर्पस्य दर्पहा ॥ १ ॥

गोपालतिलकः सोऽयं सोऽयं सिन्धुरघातकः। श्लाघ्यमानो जनैरेवमदर्श्यत परस्परम्" ।२। (युग्मम्)

जनार्दनस्तत्र मण्डपे गत्वाऽपरं जनमुत्सार्य एकं दुरारोहमुच्चं मञ्चमारुरोह। अथ रामः कृष्णमभ्यधात्। हे वत्स! हे सोदरवत्सल! इतो दृष्टिर्व्यापार्यतां, किरीटकेयूरकुण्डलहारमण्डित उच्चैर्सिंहासने निविष्टस्तव भ्रातृघातक एष कंसस्त्वया ज्ञेयः। इतोऽपि स्वबन्धुवर्गं सान्द्रया दृष्ट्या विलोकय। एष समुद्रविजयस्तव ज्येष्ठः पितृव्यः, अयं च विश्वविख्यातयशा विद्याधरीराजकुमारीप्राणप्रियो वसुदेवस्तव पिता, एते अक्रूराद्याः शौर्यसिन्धवस्ते बन्धवः। हे बान्धव! इतः पश्य समुद्रविजयाद्याः दशार्हास्त्वां सोम्यया दृशा विलोकयन्ति, इति बलभद्रे प्रवदति कृष्णः क्रोधविह्वलया दृशा कंसं विलोक्य तूष्णीको बभूव। कंसो बृहस्पतिमन्त्रिणं प्रोचे। भो मन्त्रिन्! ऋषेर्वचो वृथाऽभवत्, यतोऽस्मिन् मल्लयुद्धमण्डपे नागतस्तर्हि नास्त्येव मद्रिपुः। मन्त्रिणोक्तम्, स्वामिन्! आगतो भविष्यति परं ज्ञातो नास्ति।

चाणूर-मौष्टिक-मल्ल-युद्धार्थमामन्त्रणम्

अथ चाणूरमौष्टिकमल्लयोर्युद्धे प्रकटो भविष्यति। तत कंसेन संज्ञितयोश्चाणूरमौष्टिकयो परस्परं युद्धं कुर्वतो सर्वेषां राजन्यानां पश्यतां सव्येतरभुजमूर्द्ध्वीकृत्य एकश्चाणूरः कृष्णं कटाक्षयन् वाचमुवाच। भो भो राजन्याः! भो भोः क्षत्रियाः! एतेषां सर्वेषां मध्ये यः कोऽपि शूरो वीरो विक्रान्तो मानी पुमान् भवेत्, स मया सह मल्लयुद्धेन युध्यताम्।

यदि सर्वाः स्त्रियो भवन्ति, तर्हि तूष्णीका भवन्तु, इत्याक्षिप्तो हरिर्बलभद्रयुतो गोपवेषसहितो मञ्चादुत्तीर्य चाणूरस्याग्रे भूत्वा प्रगल्भया गिरा इदमभ्यधात्। रे शूरमानिन्! कातर! एषोऽहं तवाखर्वगर्वापहः क्षत्रियोत्तंसो विपक्षक्षयकारकस्तवाग्रे स्थितोऽस्मि। एहि मया सह युध्यस्व यथा शूरत्वं दूरीकरोमि; इति परुषया गिरा तर्जितश्चाणूरः सिन्दूरारुणलोचनः कृष्णं प्रत्यूचे। रे बालगोपाल! तव मुखादद्यापि स्तन्यगन्धो न निवर्तते, तथाऽस्मिन् तव गात्रे पतन्त्यो मम मुष्टयो लज्जन्ते, अतो याहि स्वस्थानं किमर्थमलीकं प्रगल्भसे?; मम मुष्ट्या हतो घटकर्परवत् चूर्णीभविष्यसि। तच्छ्रुत्वा हरिरवोचत्। भो मल्लश्रेष्ठ! प्रौढशरीरेण किम्, लघुनाऽपि किम्?। लघुरपि सिंहो गजेन्द्रं न भिनत्ति?

यतः—"हस्ती स्थूलवपुः स चाङ्कुशवशः किं हस्तिमात्रोऽङ्कुशो,
वज्रेणापि हताः पतन्ति गिरयः किं वज्रमात्रो गिरिः।
दीपे प्रज्वलिते प्रणश्यति तमः किं दीपमात्रं तम-
स्तेजो यस्य विराजते स बलवान् स्थूलेषु कः प्रत्ययः?" ॥ १ ॥

अतः स्थूलत्वलघुत्वयोर्विचारो न विधेयः। एहि मया सह युध्यस्व। पुनश्चाणूर उवाच, अरे रे स्तनन्धय! त्वं मम कक्षाकोटरे क्षिप्तः क्षणमात्रेण विनङ्क्ष्यसि, अतस्त्वं दूरेऽपसर, इतो याहि, मम दृष्ट्या अपसर, मा म्रियस्व। तच्छ्रुत्वा केशवो भुजास्फोटं वितन्वानो मल्लमण्डपं परिभ्रमति। मल्लराजश्चाणूरोऽपि पर्जन्यवद्गर्जन् भुजास्फोटं कुर्वन् मण्डपं बभ्राम। तं दृष्ट्वा हाहाकारपरो लोकः परस्परमेवमभाषत—

यथा—"तरुणः क्व नु चाणूरः क्व वाऽसौ गोकुलार्भकः।
न युक्तमनयोर्युद्धं वृषतर्णकयोरिव" ॥ १ ॥

श्रीकृष्णेन कृता-मन्त्रण-स्वीकार

एवं लोकोक्तिं श्रुत्वा तान् सर्वान् लोकान् कंसोऽवोचत्—भो भो लोकाः ! एतौ गोपालबालकौ केनाहूतौ इह समायातौ ?, दुग्धमत्तौ स्वयं ह्येतौ युध्येते । एतौ को निषेधति, कोऽनुमन्यते ? । एवं कंसोक्तं श्रुत्वा सर्वे राजानो लोकाश्च मौनमशिश्रियन् । कृष्णचाणूरयोः परस्परं नानाप्रकारं मल्लयुद्धं दृष्ट्वा सर्वे राजानश्चित्रार्पिता इव एकताना जाताः । तयोर्युद्धं दृष्ट्वा समुद्रविजयादीनां तनू रोमाञ्चिताऽभवत्, नवीनमेघोद्गमे नवाङ्कुरा धरित्रीव । ततः कृष्णः स्वपाददर्दुरैर्मेदिनीं कम्पयामास कंसमनसा सार्द्धम् । ततः कंसेन मौष्टिकोऽप्यादिष्टः, यावता स श्रीपतिं हन्तुं धावति, तावद्रामो जगाद ।

रे दुराचार ! मौष्टिक ! त्व मया सह संग्रामे सज्जो भव, तव दोष्कण्डूतिं एषोऽहं व्यपनयामि, एहि मया सह युध्यस्व । ततो द्वावपि मल्लौ द्वावपि विष्णुबलभद्रौ प्रतिमल्लौ युयुधाते । तस्मिन्महति संग्रामे जायमाने चाणूरेण च्छलं लब्ध्वा विष्णुर्हृदये मुष्टिना हत्वा भूमौ पातितः, मूर्च्छां गमितश्च । हरिं मूर्च्छां गतमालोक्य जनो हाहारवं चक्रे । ततश्चासनादुच्छ्वसन् कंसः पुनः किलकिलारव चक्रे, तावद्बलः कल्पान्त-कालानलो मुष्टिप्रहारेण मौष्टिकमल्लं हत्वा कृष्णाभ्यर्णमागात् । ततो बलः कृष्णं स्वोत्तरीयवातव्यजनैः, शीतलोपचारैश्चोन्मीलितचैतन्यं विदधे । यादवमनोरथैः सहोत्थित कृष्णश्चाणूरं प्रति बभाषे ।

एहि भोश्चाणूर ! यथाऽहं यमातिथिं कुर्वे । तच्छ्रुत्वा कुपितश्चाणूरो मुष्टिमुद्यम्य कृष्णं प्रति यावद्धावति, तावत् कृष्णो वज्रसन्निभया मुष्टचा चाणूरं वक्षसि ताडयामास । सोऽपि ताडितो मृत्वा भूमौ पतितः । अथ कंसश्चाणूरं यमस्यातिथीयितं दृष्ट्वा चिन्तयति, सोऽयं ममारातिर्यः पुरा मुनिभिरुक्तः; तर्हि एनं हन्मीति चिन्तयित्वा स्वान्नरानादिशत् । "रे रे गृह्णीत गृह्णीत एनं गोपालबालकम्" । तच्छ्रुत्वा हरिर्हरिवदुत्प्लुत्य मञ्चमारुह्य कंसमवोचत्—

"अरे ! स्मरसि निस्त्रिंश ! जातमात्रान् ममाग्रजान् ।
निःशूकहृदय स्फारशिलास्वास्फालयिष्यसि" ॥ १ ॥

भोः कंस ! तवाखर्वगर्वशौण्डीर्यं यद्यस्ति, तर्हि मन आयुधे दीयताम् । इत्युक्त्वांह्रिप्रहारेणोद्भूटं मुकुटं भङ्क्त्वा, केशिजित् कंसं केशे धृत्वा, मञ्चात् क्षितौ चिक्षेप । पुनरपि कृष्णस्तं कंसं तस्मिन् मण्डपे उच्चैर्विडम्ब्य, पादप्रहारेण हृदयं विदार्य, कंसं कीनाशग्रासतां निन्ये । अत्रान्तरे मथुराधिपतेः सुभटा एनं गोपं हिंस्त हिंस्तेतिवादिनो रामेण बलवता ते दूरे निरस्ताः । ततः समुद्रविजयादिभिर्यादवैर्मगधेशितुः सैन्यं विनाशं निन्ये । तस्मिन् समये द्वयमेतदभूत् । एकं जीवयशसा सह, कंससैन्यैः पलायितम् द्वितीयं कृष्णबलभद्रयादवसैन्यैर्मुदितम् । अहो ! संसार एकस्य गृहे हर्षोऽन्यस्य गृहे शोकः ।

यतः—"कुमुदवनमपश्रि श्रीमदम्भोजखण्डं त्यजति मुदमुलूकः प्रीतिमांश्चक्रवाकः ।
उदयमहिमरश्मिर्याति शीतांशुरस्तं हतविधिलसितानां ही ! विचित्रो विपाकः ॥१॥

कृष्णस्य शौरिपुर्यागमनम्

अथ हृष्टोऽनाधृष्णिर्बलेन सहितं केशवं रथे आरोप्यादरात् शौरिमन्दिरं प्रापयामास । ततस्समुद्रविजयाद्या यादवा हरिं पुनः पुनर्नेत्राभ्यां विलोकयन्तो मुदमापुः । गोविन्दोऽपि प्रत्येकं प्रत्येकं पितुः पितृव्यानां च पादारविन्दानि ववन्दे । अथ वसुदेवः केशवं स्वाङ्के निवेश्य दृष्टिदोषापनोदाय मूर्द्ध्नि चुचुम्ब । देवक्यपि कृष्णमुत्सङ्गे निवेश्य पुत्रालिङ्गनपरा चिरेण पुत्रगात्रस्पर्शसौख्यमशिश्रियत् । तथा समुद्रविजय उग्रसेनं मथुराराज्ये न्यवेशयत् । उग्रसेनोऽपि स्वां पुत्रीं सत्यभामां धन्वारोपणपणीकृतां जनार्दनायार्पयत् । जनार्दनस्तां परिणिन्ये । अथ कंसस्य परिजनो मृतं भूमौ पतितं धूलिधूसरं कंसं दृष्ट्वा जीवयशसं विनाऽन्यस्त्रियो

मेदिनीगता उरस्ताडनपूर्वकं रुरुदुः। अथ कंसस्य संस्कारे जातेऽपि मगधाधीशतनया जीवयशाः कंसाय जलाञ्जलिं न ददौ। एवमवोचत्।

यथा—"उच्चैरवोचदेतच्च सरामैः सजनार्दनैः। यादवैः सह दास्यामि प्राणेशाय जलाञ्जलिम्" ॥१॥

इत्युक्त्वा निवापाञ्जलिमकृत्वा ग्रामनगराण्युल्लङ्घ्य पितुरालयं राजगृहं समाययौ। यादवेश्वरो जीवयशसं मगधेश्वरान्तिके गतां ज्ञात्वा सर्वान् यादवानाह्वास्त। तथा क्रोष्टुकिनैमित्तिकमप्याहूय सर्वेषु यादवेषु पश्यत्सु समुद्रविजयो नैमित्तिकं प्रपच्छ। भोः त्रिकालज्ञ! अस्माकं जरासन्धेन सह महान् विरोधो जातः। अथ किं करिष्ये ?, वयमितश्चलिताः कुत्र यामः ?, कुत्रास्माकमुदयो भावी ?; एतत् सर्वं स्वज्ञानेन ज्ञात्वाऽस्माकं सत्यमाख्याहि। नैमित्तिकः प्राह, भो राजन्! भवतः का चिन्ता ?, यस्य कुले अर्हद्बलकेशवानां जन्म जातम्, तथा यस्य देवाः सान्निध्यमध्यासते तस्य का चिन्ता ?; तथापि शरीरिणां भागधेयानि द्रव्यं क्षेत्रं कालं भावं च समाश्रित्य निःसंशयं विविधानि भवन्ति। अतो युष्माभिः सपरिवारैरिदं क्षेत्रं मुक्त्वा पश्चिमसमुद्रतटे गम्यताम्। तथा यत्रैषा सत्यभामा कृष्णपत्नी सुतौ सूते, तत्र स्थाने भवता महानगरी स्थाप्या। तस्यां नगर्यां भवतामुदयो भावी। इति नैमित्तिकोक्तं श्रुत्वा सर्वे यादवाः समुद्रविजयादयो नैमित्तिकं द्रव्यादिभि सत्कृत्य तं विसृज्य च चलनोपक्रमं व्यधुः। समुद्रविजयस्य राज्ञः कुशावर्तमथुरालोकैः सह प्रस्थाने क्रियमाणे प्रथममेते शकुनाः प्रेरयन्ति।

यथा—"कन्या गोपूर्णकुम्भो दधि मधु कुसुमं पावको दीप्यमानो,
यानं वा गोप्रयुक्तं वररथतुरगं छत्रभद्रातिभद्रम्।
उत्खाता चैव भूमी जलचरमिथुनं सिद्धमन्नं मुनिर्वा,
वेश्या स्त्री मद्यमांसं हितमपि वचनं मङ्गलं प्रस्थितानाम्" ॥ १ ॥

नैमित्तिक-
पृच्छा

एवं शुभशकुनैः प्रेर्यमाणा यादवेश्वराः सरिद्भूधरकान्तारादिकमुल्लङ्घ्य क्रमाद्विन्ध्याटवीं प्रापुः। तत्र कानिचिद्दिनानि स्थित्वा यावता पुरतश्चलनोपक्रमं व्यधुः, तावज्जीवयशःपूत्कृतिप्रेरितेन जरासन्धेन प्रेषितः कालककुमारः सबलसैन्यपरिवृतो यादवसैन्यप्रत्यासन्नोऽभवत्। ततोऽच्युतासहाय्यकारिण्या कुलदेवतया तयोः सैन्ययोरन्तराले पर्वतं विकृत्य, तस्य समीपे चितासमूहं च विकृत्य, चितापार्श्ववर्ति रुदत्स्थविरारूपं निर्विकल्पं विधाय मोहितः कालककुमारः; तस्यां चितायां पतित्वा मृतः, अनायकं सैन्यं प्रत्यावृत्य स्वस्थानमगमत्। जरासन्धेन मन्त्रिणः पृष्टाः, भो मन्त्रिणः! किं जातम्?।

यद्यज्जातं तत्तत्सत्यं निवेदयत। मन्त्रिणः प्राहुः, राजेन्द्र! तव सुतभिया सर्वे यादवा वह्निं प्रविष्टाः, तदनु कालककुमारोऽपि कृतप्रतिज्ञो वह्निं प्रविष्टः। वयमत्र समागता। ततो जरासन्धः पुत्रशोकाकुलः कतिपयदिनान्ते विगतशोको बभूव। इतश्च ते रामकेशवास्तथाऽन्येऽपि यादवास्ततश्चलिताः क्रमेण ग्रामाकर-नगरखेटकर्बटादि समुल्लङ्घ्य क्षेमेण पश्चिमाम्भोधिरोधसि क्रोष्टुकिना समादिष्टे स्थाने सैन्यं निवेशयामासुः। तत्र स्थाने सत्यभामाऽपि भानुक-भामरनामानौ जात्यजाम्बूनदद्युती सुतावसूत। ततो नैमित्तिकादेशात् कृष्णो लवणाधिपं सुस्थितं संमुखीकर्तुमष्टमं तपोऽकार्षीत्। तेन तपसाऽऽहूतः सुस्थितो रत्नसंभृत स्थालं प्राभृतमादाय उल्लसत्प्रीतिरागत्य कृष्णमेवमब्रवीत्। भो अच्युत! त्वं ब्रूहि किं करोमि?।

अच्युतेनोक्तम्, पूर्वं केशवपुरीनिवेशस्थानं देहि। सुस्थितो जलमुत्सार्य नगरीभूमिं सज्जीकृत्य ददौ। ततो मुरारये पाञ्चजन्यशङ्खं कौस्तुभरत्नं च, रामाय च सुघोषं शङ्खं दत्त्वा एतत्स्वरूपमिन्द्राय ज्ञापयित्वा च स्वाश्रयं ययौ। इन्द्रोऽप्यवधिज्ञानेन अच्युताभिप्रायं ज्ञात्वा धनदायादिशत्। धनदोऽपि तत्रागत्य तस्यामेवावनौ द्वादशयोजनायामां नवयोजनविस्तीर्णां द्वारकानाम्नीं नगरीं स्वःपुरीसन्निभामहोरात्रेण। चक्रे अत्र द्वारकावर्णनम्—

यथा—"वप्रो वज्रमयस्तस्यां नभःस्पृक्कपिशीर्षकः। अभ्रंलिहानि वेश्मानि नानामणिमयानि च ॥१॥
विचित्रमणिमाणिक्यैश्चत्वरेषु त्रिकेष्वपि। जिनचैत्यानि दिव्यानि तत्राभूवन् सहस्रशः ॥ २ ॥
दि[1]नानर्थचतुर्थांश्च यक्षा वैश्रवणाज्ञया। रत्नैरनर्घ्यैर्ववृषुर्जलैर्वर्षाघना इव ॥ ३ ॥
तत्राभिरामानारामान् नन्दनोद्यानबान्धवान्। किङ्करैः कारयामास कुबेरो वासवाज्ञया" ॥४॥

पुन· सा कीदृशी, पृथ्वीतिलकायमाना, सर्वसौन्दर्यनिधानं, लक्ष्मीजन्मावासः, सरस्वतीनिवासः, उज्ज्वल-देवकुलैर्मण्डिता, परचक्रैरखण्डिता, अतुलधवलगृहैर्विभूषिता, कुकविभिरदूषिता, सुवर्णहट्टमालामालिता, सर्वदैव सुमन्त्रिभिः पालिता, सुवर्णपृथुप्राकारपरिखावलया, सर्वैश्वर्यनिलया, वापीकूपमण्डितपरिसरा, चतुर्दिक्षु विराजमानसरोवरा, उद्यानवाटिकाभिरामा, दृश्यमानविविधारामा, पुरुषरत्नोत्पत्तिरत्नाचला, कुलवधूकल्पलताकनकाचला।

पुनः सा कीदृशी; यस्यां नगर्यां जडता सरस्सु न मनुजमनस्सु, खलस्तैलिकापणेषु न मनुष्येषु, गुप्तिः शुकसारिकापञ्जरेषु, उपसर्गनिपाता व्याकरणेषु, कण्टकाः पद्मनालेषु, बन्धः काव्येषु, दण्डः छत्रेषु, कुटिलता कामिनीनामलकेषु, निम्नता वनितानाभिषु, चपलता लीलावतीलोचनेषु, चिन्ता शास्त्रेषु, व्यसनं दानेषु, मौखर्यं वादेषु पर न तन्नगरनिवासिजनेषु। या नगरी धनकनकैः समृद्धा, पृथ्वीतलप्रसिद्धा, अत्यन्तरमणीया,

१ निर्णयसागरीयपद्यपाण्डवचरित्रे (पृ ८३ पा. ३) अस्मिन्नेव श्लोके "अत्र पु स्त्व चिन्त्यम्" इति सशोधककृताक्षेपश्चि-न्तनीय,—"दनदिनशतमाना" इति हैमलिङ्गानुशासने पु नपु सकप्रकरणे दिनशब्दस्योभयलिङ्गत्वेन पाठात्।

सुरजनस्पृहणीया। एवंविधायां द्वारवत्यां नगर्यां धनपतिमतिनिर्मितायां सर्वे राजानो धनदेन यथास्थाने निवेशिताः। ततः कुबेरो विष्णवे पीतवाससी, नक्षत्रमालां, मुकुटं महारत्नं कौस्तुभमदात्।

पुनः शार्ङ्गं धनुः, अक्षय्यशरौ तूणौ, नन्दकं खड्गं, कौमोदकीं गदां, गरुडध्वजं च रथमदात्। तथा रामाय वनमालाम्, नीलवाससी, तालध्वजरथं, तूणावक्षय्येषू, धनुः, हलमुशले शस्त्रे अदात्। अरिष्टनेमये ग्रीवाभरणम्, बाहुरक्षके त्रैलोक्यविजयं हारम्, चन्द्रसूर्याख्ये कुण्डले, गङ्गातरङ्गविशदे वाससी, सर्वतेजोहरं रत्नं धनदो मुदा अदात्। एवं समुद्रविजयादीनामपि यादवानां शस्त्रवस्त्राभरणानि दत्त्वा सार्धदिनत्रयं स्वर्णरत्नवृष्टिं विधाय धनदाढ्यैः सुरैः, समुद्रविजयादिभिर्यादवैश्च बलभद्रेण संयुत कृष्णो राज्येऽभिषिषिचे। तस्यां द्वारवत्यां समुद्रविजयाज्ञया सरामः कृष्णो राज्यं चकार। एवं द्वावपि रामकेशवौ यादवसहितौ तस्यां द्वारवत्यां सदानन्दौ स्वैरं नन्दतः।

यथा—"लीलावनेषु वापीषु क्रीडाद्रिषु यदृच्छया।
समं नेमिकुमारेण रेमाते रामकेशवौ" ॥ १ ॥

एवं ते यादवाः सुखे निमग्ना गतमपि कालं न जानन्तीति। पुनः कोरकः कुन्तीं प्राह—हे देवि! प्रथमं हस्तिनापुरादागतैस्तव पुरुषैर्यादवेश्वरः समुद्रविजयः जन्ममहेन वर्धितः। ततः समुद्रविजयेन तव भ्रात्रा पुत्रोत्पत्त्याकर्णनादधिकं हर्षमुद्वहता प्राभृतेन सह अहं प्रेषितोऽस्मि। ततः सा कुन्ती तदर्पितं प्राभृतं गृहीत्वा तथा स्वयं बन्धूनां वृद्धिं श्रुत्वा रोमाञ्चकञ्चुकिता कोरकं प्रत्यवोचत्। हे कोरक! त्वं साधुयंत् साधुकथाः अचीकथः। यस्मात् पुत्रमहोत्सवे क्रियमाणे भ्रातृमहोत्सवो जातः। एवं कथयित्वा हस्तिनापुरे कुन्त्या महानुत्सवो विहितः। ततः कुन्त्या कतिपयदिनान्ते कोरकं स्वर्णादिभिः सत्कृत्योक्तम्।

यादवाना
सुखेन
काल-
निर्गमनम्

यथा—"बान्धवा मम जीयासुः जीयासुर्बन्धुसूनवः ।
ममाशिषमिमां तेषां प्रियंवद ! निवेदयेः" ॥१॥

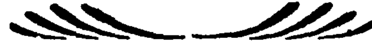
इत्यं पुनःपुनः कोरको बहु संभाष्य सत्कृत्य द्वारकां प्रति व्यसृज्यत । युधिष्ठिरः कुमारोऽपि मातृ-वात्सल्यपीयूषैः पोषितो ववृधे, स्वर्णाचलभूमौ कल्पपादप इव । तं कदाचिद्रिङ्खन्तम्, कदाचिद्धावन्तम्, कदाचिदुद्वलन्तम्, कदाचित् प्रमदाजनैः स्तूयमानम्, कदाचिदङ्कादङ्कं सञ्चरन्तम्, कदाचिदव्यक्तवर्णमुच्चरन्तम्, कदाचित् हास्यं कुर्वन्तम्, प्रतिक्षणं कामरूपं कुमारं दृष्ट्वा गाङ्गेयाद्याः सर्वे सपरिवारा भृशं मुमुदिरे ।

इति श्रीमत्तपागच्छाधिराजभट्टारकश्री५–श्रीहीरविजयसूरिपट्टालङ्कारभट्टारकश्रीविजयसेनसूरिराज्ये पण्डितश्रीदेवविजयगणिविरचिते गद्यबन्धबन्धुरे पाण्डवचरिते कृष्णनेमिजन्मद्वारकास्थापनायुधिष्ठिरजन्मवर्णनो नाम द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥



अर्हम्

अथ तृतीयः सर्गः



अथ धर्मकल्पद्रुमस्य फलार्थिनी कुन्ती नासिक्ये नगरे श्रीचन्द्रप्रभमन्दिरमकारयत्। यत्र प्रासादे मणिप्रभाध्वस्ततमः–स्तोमे प्रदीपाः केवलं मङ्गलायैव भवेयुः। तत्राऽर्हच्चैत्ये सुसाधुप्रतिष्ठिते कुन्ती प्रतिवर्षं गत्वा जिनधर्मप्रभावनां चक्रे। एवं धर्मकर्मैकव्यसनव्यवसायिनी पाण्डुराजसधर्मिणी कुन्ती पुनरेवापन्नसत्त्वाऽभूत् धर्मः फलत्येव।

यतः–"सर्पो हारलता भवत्यसिलता सत्पुष्पमालायते,
संपद्येत रसायनं विषमपि प्रीतिं विधत्ते रिपुः।
देवा यान्ति वशं प्रसन्नमनसः किं वा बहु ब्रूमहे ?,
धर्मो यस्य मतोऽपि तस्य सततं रत्नैः परं वर्षति" ॥ १ ॥

कुन्त्या स्वप्न-दर्शनम्

तस्मिन् पुत्रे गर्भागते पाण्डुपत्नी कुन्ती स्वप्ने नन्दनोद्यानाद्वायुनाऽऽनीय कल्पमहीरुह स्वोत्सङ्गे क्षिप्तमपश्यत्। स्वप्नं दृष्ट्वा जागरिता कुन्ती शीघ्रं गत्वा पत्ये शशंस। पाण्डुराडपि तत्स्वप्नं श्रुत्वा तदर्थं हृदये विचार्यैवमवोचत्। हे देवि! श्रूयतां तव पुत्रो भावी, कथंभूतः, बलवतां श्रेष्ठः, वीराणां ज्येष्ठः, धर्मवता धुर्यः, अकलितवीर्यः; इत्याद्याकर्ण्य कुन्ती हर्षरोमाञ्चकञ्चुका अभवत्। कुन्त्यास्तद्गर्भानुभावत एवंविधा स्फूर्तिः प्रादुरभूत्। यदहं शैलेन्द्रमुत्पाटयामि, अथवा शैलेन्द्रं निर्दलयामि।

पुनः सा कदाचित् वज्रमङ्गुलीमुखैः कर्पूरकणवदचूरयत्। सा गर्भवती कुन्ती मदोद्धता अमन्दसाहसादिना न्यवाहयत्। इतश्च क्रूरगर्भत्वाद् गान्धारी त्रिंशताऽपि हि मासैः प्रसवं न प्राप। नवरं सा गान्धारी अलिञ्जरसहोदरमुदरं बिभ्रती क्लेशावेशपरवशा इदमचिन्तयत्। अहो! मे पापस्य परमोऽवधिः, यतोऽहं नारकदुःखमिहैवाऽनुभवामि। तथाऽन्यदपि दुःखं यदेषा कुन्ती मम पुरस्तादेकसुतमजीजनत्। तथा पुनः सा कुन्ती आधिव्याधिरहिता द्वितीयवारमपि प्रसवाभिमुखी बभूव। इति चिन्तापरा गान्धारी दुःखविक्लवा शीघ्रप्रसवार्थिनी अत्यर्थमुदरं ताडयामास। तया गान्धार्या पुनः पुनस्ताडित उदरेऽपरिपूर्णोऽपि गर्भो बहिः पतितः। तं मांसपिण्डोपमं पुत्र दृष्ट्वा गान्धारी साश्रुलोचना तं बालं पश्यन्ती विषादमाप। तथा दैवोपालम्भान् ददे।

गान्धार्या विषाद

यथा—"त्वं मे मनोरथानित्थं किं निकृन्तसि ? निष्कृप ! ।
इति दैवमुपालब्ध लब्धार्तिः सा मुहुर्मुहुः" ॥ १ ॥

रे दैव ! अनेनातिबीभत्सेन मांसपिण्डेन किं करोमि ?, इत्युक्त्वा यावताऽवकरके सा गान्धारी त्यक्तुं समारेभे, तावता वृद्धाभिः स्त्रीभिः सा भृश मा मेत्युक्त्वा प्रत्यषिध्यत। ततो वृद्धाभिः प्रोक्तम्, हे हले गान्धारि ! एतत्त्वया किं कृतम् ?, यदनिष्पन्नगर्भः पातितः। गान्धार्या प्रोक्तम्, हे मातः ! किं करोमि ?, यदहं पुरा महीपतेः पत्नी नाभवं तर्ह्य तत्प्रभावादहं महीपालमाता भवामि, इति चिन्तयन्त्यां मयि, कुन्ती एकं युधिष्ठिरं तनय जनयति स्म। पुनरपि तां आसन्नप्रसवां श्रुत्वा विषादादहं निजकुक्षिमकुट्टयम्। ततो मदुदरादेषः गर्भोऽपतत्। वृद्धाभिः प्रोक्तम्, हे गान्धारि ! कुन्त्युपरि मात्सर्यं मा कृथाः। यतः पुराकृतकर्माणि दैवैरप्युल्लङ्घयितुं न शक्यन्ते, तर्हि किं पुनर्मानवैः ?।

यतः—"यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम् ।
एवं पूर्वकृतं कर्म कर्तारमनुधावति" ॥ १ ॥

अतस्त्वमपि धर्मं कुरुष्व । ततः सा गान्धारी धर्मपरायणाऽनया रीत्या पुत्रं पालयामास । यथैकां तूलिकां घृतसंचयसंभृतां कृत्वा तया तं बालं प्रावृत्य स्वर्णकुण्ड्यां निधाय एकान्ते व्यवस्थाप्य गान्धारी निधानमिव दध्रे । अथ स गर्भो गान्धार्या मातुः स्तन्यपानेन संपूर्णसर्वाङ्गः षण्मासैः परमां वृद्धिं दधौ, क इव घनाम्भसा बालविटपीव । इतश्च यस्मिन् दिने गान्धारी त तनुजमसूत, तस्मिन्नेव हि दिने त्रिभिर्यामैः पश्चात् कुन्त्यपि सुतमजीजनत् । परमेकदिनजातयोरपि तयोर्भाग्ययोर्महदन्तरम्, यदाद्यो दुर्लग्नेऽजनि, पुनर्द्वितीयः सुलग्ने । अथ पाण्डुपुत्रमुद्दिश्याकाशे एवंविधा भारत्यभूत्—अयं वज्रकायः, तथोद्दामवीर्यो भविष्यति ।

यथा—"भक्तः सहोदरे ज्येष्ठे जगद्विधुरबान्धवः ।
भावी मोहच्छिदाछेकः क्रमात् सिद्धिवधूवरः" ॥ १ ॥

कुन्ती प्रीतिपरायणोत्सवं विदधे, दिवि देवैरुत्सवो विदधे; पाण्डुस्तु द्वयोः सुतयोरुत्सवं चकार । क्रमान्निवृत्ते अशुचिजातकर्मणि संप्राप्ते द्वादशे दिने पिता धृतराष्ट्रः पुत्रस्य दुर्योधन इति नाम विदधे । तथा पाण्डुरपि पुत्रस्य भीम इति नाम विदधे । तथा मरुद्देवेन दत्तत्वात् मरुत्तनय इत्यपि द्वितीयं नाम पप्रथे । तौ दुर्योधनभीमौ पञ्चभिः पञ्चभिर्धात्रीभिर्लालितौ क्रमाद् वृद्धिं जग्मतुः, सिंहबालकाविव । रिङ्खन् दुर्योधनो भीमेन रिङ्खता पश्चादेत्य पादे धृत्वाऽकृष्यत । कदाचिद् दुर्योधनाय दत्तं भक्ष्यं भीमेन हठादाच्छिद्य स्वयं बुभुजे । कदाचित्तौ केलिपरौ जातौ, कदाचित् कलिकरौ जातौ । एवं दिनानि यान्ति स्म । अथाऽन्यदा वसन्तः समागात् । कीदृग् वसन्तः—

पुत्रस्य दुर्योधनेति नामकरणम्

"वसन्तेनोपनीतानि प्राप्य चूताङ्कुरच्छलात् । नवान्यस्त्राणि पुष्पास्त्रस्तृणं जगदजीगणत् ।। १ ।।
जगज्जिगीषोः पञ्चेषोः प्रयाणे जयशंसिनः । ध्वनयोऽदुन्दुभीयन्त मधुराः पिकयोषिताम् ।। २ ।।
गलद्बहलकिंजल्कपङ्किलीभूतभूतलम् । पुष्पडम्बरितं पाण्डुः क्रीडावनमथागमत्" ।। ३ ।।

एवंविधे वसन्ते कुन्ती भीमं पुत्रं षण्मासवर्तिनं गृहीत्वा पत्या सह वसन्तश्रियमीक्षितुं वने ययौ । तस्मिन् मनोरमोद्याने कुन्ती पत्या सह सुखं चिक्रीड । क्वचित्प्रियया सार्धं दोलान्दोलनकौतुकमनुभूय कदाचित् प्रियया सार्धं क्रीडन् महीपालः केलिपर्वतमारुरोह । तत्र पर्वते स्वैरं क्रीडन्ती पाण्डुना सार्धं कुन्ती कङ्केल्लिपादपस्याधो विश्रामं विधत्ते स्म । ततः सा कुन्ती भीममङ्के निवेश्यैवमुल्लापयामास । हे कुरुवंशमण्डन ! हे जगन्नेत्र-सुधाकर !; इत्यालापयन्ती कुन्ती गिरेः शिरसि पुष्पप्रस्तरे सुखं सुष्वाप । कुन्त्या इतस्ततो भ्रमणात्, पाण्डुना सार्धं संक्रीडनात्, प्रेमवशाच्च निद्रा समागता । पाण्डुराडपि कुन्तीं सुखं सुप्तां दृष्ट्वा स्वयं केलिपर्वते विहरन् चम्पकपुष्पाणां स्रजं विधाय प्रियां जागरयित्वा तस्याः कण्ठे व्यलोठयत् । तां कण्ठ स्थितां मालां विलोक्य प्रेमपरायणा सती पाण्डुं लोचनैर्विलोकयन्ती कुन्ती झटित्येवोत्तस्थौ ।

तदा सुप्तो भीमः सहसोत्सङ्गात् पपात, शृङ्गाद्गण्डशैलवत् । बालं पतन्तं दृष्ट्वा कुन्ती हाहाकार-परायणा पुत्रशोकाकुला पुत्रं विलोकयामास । बालोऽपि वज्रकायत्वात् सर्वेषां पश्यतां तटात्तटे लोठं लोठं मार्गपाषाणान् भञ्जन् गिरेरधस्तादुपागमत् । बालानुपदं प्लवङ्गमा इवोत्प्लवमाना नृपपत्तयोऽपि धावन्ति स्म । तदनु पाण्डुसहिता कुन्त्यपि वत्स वत्सेति वादिनी रुदती पक्षिणोऽपि रोदयन्ती शनैः शैलादवातरत् । अग्रे गच्छन्ती राज्ञी उवाच, हे प्राणेश ! एताः शिलाः केन चूर्णिताः ? । पाण्डुनोक्तम्—

"अमूर्भीमद्रुहः कोऽपि दारुणा दारयिष्यति ।
शङ्के स्वेनैव पापेन शीर्णास्तु कणशः स्वयम्" ।। १ ।।

एवं परस्परं वार्त्तां कुर्वाणा राजा, राज्ञी, दास्यश्च यावता शैलादवतेरुः, तावत् क्षितीश्वरो दूरादागच्छतः स्वान् पत्तीन् ददर्श। समागताः पत्तयः। तैरुक्तम्, राजेन्द्र ! वर्धाप्यसे पुत्रकुशलोदन्तेन, तवाङ्गजस्य कुशलं वर्तते। ततश्चलितो राजा राज्ञीसहितस्त्वरितं तत्रागमत्, यत्र भूमौ भीमोऽलुठत्। तत्र शिलाचूर्णमये तल्पेऽक्षताङ्गं शतपत्राक्षं सुतं निरीक्ष्य मातापितरौ हर्षपरायणौ बभूवतुः। ऊर्ध्वबाहुं मातृमिलनोत्सुकं पुत्रं कुन्त्यपि बाहुभ्यां समादाय, वक्षसा चालिङ्ग्य प्रस्नुतस्तनी पुनःपुनः पुत्रं चुचुम्ब। पाण्डुराडपि सानन्दस्तं पुत्रं पत्न्याऽमुच्यमानं बलादाच्छिद्य स्वयं चालिलिङ्ग। तां चूर्णितशिलाभुवं दृष्ट्वा राज्ञी राजानं पप्रच्छ। स्वामिन् ! एषा शिला केन चूर्णिता ?। राज्ञोक्तम्, प्रिये ! एष तव पुत्रो वज्रकायो देवतया प्रोक्तः, तेन गिरिशिखरात् शिलोपरि पतता एताः शिलाश्चूर्णिताः। तत् श्रुत्वा विस्मिता कुन्ती भीममादाय वारं वारं चालिलिङ्ग। पाण्डुराडपि तां भीमस्य प्रपातभूमिं विलोक्य शिलाचूर इति तृतीयं नाम निर्ममे।

अथ राज्ञी पुत्राभ्यां युतः पाण्डुरुत्तम्भितध्वजांशुतोरणालङ्कृतां स्वां राजधानीं समाययौ। ततः स भीमो गिरिकन्दरमध्यस्थितचम्पकपादप इव ववृधे। इतश्चान्यदा कुन्ती पाण्डुपत्नी निशाशेषे ऐरावणारूढमिन्द्रं स्वप्नेऽद्राक्षीत्। ततः सा प्रमोहिनी प्रातः पत्युः कथयामास। राजाऽपि कुन्त्यै शक्रसमप्रभं भाविनं सुतं समाचख्यौ। ततः सा परां प्रीतिं प्राप्ता श्लाघ्यं गर्भं बभार। तद्गर्भानुभावतस्तस्या एते भावाः प्रादुर्बभूवुः। यदहं स्वयं मण्डलीकृतकोदण्डा सागरपर्यन्तां मेदिनीं निरुपद्रवां करोमि। तथा समयेऽपि प्रजाः संहरतो यमस्यापि निग्रहं करोमि। एवं सकलां महीं वशं नयामीति। इत्थं गर्भानुभावतो धीरोदात्तमनोरथा कुन्ती मनोहरे मुहूर्ते तनयं जनयामास।

"तदैव दिवि वाग् दैवी सर्वतः शुश्रुवेतराम्। असावाराधितज्येष्ठो जगदेकधनुर्धरः॥ १ ॥
दुर्धर्षोऽत्यन्तसौम्यास्यः सामर्षो नयवत्सलः। भविष्यति क्रमात्कर्मनिर्मुक्तो मुक्तिवल्लभः" ॥२॥ (युग्मम्)

कुन्त्या स्वप्न-दर्शनम्

तत्पुत्रजन्मन्याकाशे रम्भोर्वशीप्रभृतयोऽप्सरसः सङ्गीतं, नृत्यं च चक्रुः। तथा किन्नरेश्वराः मनोहारि मूर्च्छनासंयुक्तं गानं जगुः। तस्मिन् पुत्रमहे प्रदत्तत्रिदशानन्दे पाण्डुर्महामहं चक्रे। तथैव संप्राप्ते द्वादशे दिवसेऽर्जुनवर्णत्वात् अर्जुन इति प्रथमं नाम राजा निर्ममे। स्वप्ने इन्द्रस्य दर्शनाज्जातोऽत इन्द्रसूरित्यपि द्वितीयं नाम विदधे। एते त्रयोपि कुन्त्यास्तनया ज्ञेयाः। अथ मद्रराजसुता माद्र्यपि पाण्डुपत्नी सुस्वप्नसूचितौ श्रिया निचितौ यमलौ तनयौ जनयांचक्रे।

"तावप्याकाशभारत्या कथितौ यद्भविष्यतः।
सत्त्वशौर्ययुतौ सिद्धिगामिनौ गुरुवत्सलौ ॥ १ ॥"

दुर्योधन-भ्रातॄणा नामानि

क्रमेण वृद्धिं गतौ द्वादशदिनमानौ पाण्डुना दत्तनामानौ नकुल–सहदेव इति ख्यातिमीयतुः। अमी पञ्चापि कुमाराः कल्पपादपा इव प्रसिद्धिं प्रापुः। अथ धृतराष्ट्रस्य गान्धारीप्रमुखा अष्टौ प्रिया अजायन्त। तासां दुर्योधनानुजा नवनवतिः पुत्राणां समभवत्। तेषां नामान्यमूनि। तद्यथा–दुःशासनः, दुःसहः, दुःशलः, रणश्रान्तः, शमाढ्यः, विन्द., सर्वसहः, अनुविन्दः, सुभीमः, सुबाहुः, दुष्प्रधर्षणः, दुर्मर्षणः, सुगात्र , दुष्कर्णः, दुःश्रवाः, वरवंशः, विकीर्ण', दीर्घदर्शी, सुलोचनः, उपचित्रः, विचित्रः, चारुचित्रः, शरासनः, दुर्मदः, दुष्प्रगाहः, युयुत्सुः, विकटः, ऊर्णनाभ', सुनाभः, नन्दः, उपनन्दकः चित्रबाणः, चित्रवर्मा, सुवर्मा, दुर्विमोचनः, अयोबाहुः, महाबाहुः, श्रुतवान्, पद्मलोचनः, भीमबाहुः, भीमबलः, सुषेणः, पण्डितः, श्रुतायुधः, सुवीर्यः, दण्डधारः, महोदरः, चित्रायुधः, निषङ्गी, पाशः, वृन्दारकः, शत्रुञ्जयः, शक्रसहः, सत्यसन्धः, सुदुःसहः, सुदर्शनः, चित्रसेनः, सेनानीः, दुष्पराजयः, पराजितः, कुण्डशायी, विशालाक्षः, जयः, दृढहस्तः, सुहस्तः, वातवेगः, सुवर्चाः, आदित्यकेतुः, बह्वाशी, निर्बन्धः, प्रयायी, कवची, रणशौण्डः, कुण्डधारः, धनुर्धरः, उग्ररथः, भीमरथः, शूरबाहु', अलोलुपः, अभयः, रौद्रकर्मा, दृढरथः, अनाधृष्यः, कुण्डभेदी, विराजो, दोर्घनोचनः, प्रयम', प्रमाथी, दीर्घालापः, वीर्यवान्, दीर्घबाहुः, महावक्षाः,

दृढवक्षाः, सुलक्षणः, कनकः, काञ्चनः, सुध्वजः, सुभजः विराजश्चेति। अमी सर्वे रणकर्मविशारदाः, सर्वे रणशौण्डीराः, सर्वेऽप्येते दोर्दण्डगर्विताः, सर्वेऽप्यहंकृतिपर्वताः, सर्वे सर्वास्त्रकोविदाः। एवं पञ्चोत्तरं शतं भ्रातॄणां गङ्गोपकण्ठे स्वैरं क्रीडां करोति स्म।

एकस्मिन् दिने धृतराष्ट्रो भीष्मादीनासने उपवेश्य मौहूर्तिकान् समाहूय स्वच्छमानसः पप्रच्छ। भो भो नैमित्तिकाः! युधिष्ठिर आकाशभारत्या भुवनश्लाघ्यो राजा कथितः, अत्र कोऽपि संशयो नास्ति। ततोऽन्यदपि पृच्छ्यते, दुर्योधनो मम पुत्रो राजा भविष्यति, किं वा नो भविष्यति?; एवं स्वज्ञानेनालोच्यास्माकं कथयत। एवं यावता धृतराष्ट्रेण पृष्टम्, तावत् किं जातम्; दिगन्तेषु रजोभिः परिजृम्भितम्, वसुन्धरया कम्पितम्, धरायां निर्घातैरुच्छ्रितम्, अशिवकरिण्या शिवया विरसं रटितम्, तथा मार्तण्डमण्डलं परिवेषभीषणं चाभूत्। एतानि दुर्निमित्तानि प्रेक्ष्य पुत्रलक्षणानि च दृष्ट्वा ज्ञानवन्तो नैमित्तिकाः सर्वविदुरं विदुरं प्रति शनैः शनैरचीकथन्।

भो विदुर! अयं दुर्योधनः सकलराजचक्रजित्वरो महाराजो भविष्यति, परं सकलजनस्य, स्वकुलस्य च क्षयकरो भविष्यति; इति नैमित्तिकादिष्टमनिष्टं श्रुत्वा विदुरो धृतराष्ट्रस्य पृच्छतस्तथैव नैमित्तिकाऽऽदिष्टं सर्वं सभासमक्षमाचख्यौ। कर्णविषोपमं तद्वचनमाकर्ण्य धृतराष्ट्रः स्वकुलकुशलं वाञ्छन् पुनर्बभाषे, भो नैमित्तिकाः! अस्मत्कुलकुशलं कथं भविष्यति?। तावद्विदुरः प्रोवाच, भो बान्धव! यदि कुले कुशलं वाञ्छसि, तदेनं दुष्पुत्रं त्यक्तुमर्हसि।

यतः—"तनयेनापि किं तेन कुलप्रलयकारिणा?।
तेन हेम्नाऽपि किं कार्यमार्य! कर्णौ छिनत्ति यत्?" ॥ १ ॥

एकोनशतेनापि सुपुत्रैरस्तु, किमस्ति कुलक्षयकारिणा दुष्पुत्रेण ? ।

यतः—"त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ?" ॥ १ ॥

अत एष कुलस्यार्थे त्यज्यताम् । एतत् श्रुत्वा धृतराष्ट्रो यावत् किंचिन्न प्रत्यभाषत, तावद् विदुरं प्रति पाण्डुरुड्डामरप्रीतिरभ्यधात् । भो बान्धव विदुर ! ईदृशानि पुत्रभाण्डानि पुण्यं विना कुत्र लभ्यन्ते ?, एष दुर्योधनो मयोपयाचितैरेव लब्धः, तर्ह्येष पुत्रः कथं त्यज्यते ? । तथा यदि पुत्रात् कुलक्षयः स्यात्, तर्हि कुलवृद्धिः कुतो भवेत् ?, यद्याकाशे भानोर्ध्वान्त स्यात्, तर्हि प्रकाशः कुतो भवेत् ? ।

अतोऽसौ युधिष्ठिरस्य पश्चात् राजा भवतु । यतोऽसौ पुत्रत्वाद् गोत्रवर्धनः, यथा युधिष्ठिरः, तथा दुर्योधनोऽपि । अनयोर्मध्ये मम किमप्यन्तरं नास्ति । तत् श्रुत्वा सर्वेऽपि विदुरादयस्तूष्णीका बभूवुः । पाण्डुभूपतिना विसृष्टाः सर्वे विदुरादयः स्वस्थानं गताः । नैमित्तिका अपि दानमानैस्तोषिताः स्वस्थानं गताः । इतश्च दुर्योधनस्य दुःशल्या नाम भगिनी बभूव । सा क्रमेण वृद्धिं प्राप्ता यौवनोन्मुखी सिन्धुनाथेन जयद्रथेन परिणीता राज्ञा समं वैषयिकं सुखं भेजे । दुशल्याया जयद्रथेन सह लग्नम्

अथ ते धृतराष्ट्रसुताः शतं क्रमेण वर्धन्ते स्म । ते दोष्मन्तस्त्रिभुवनतोलने समर्थाः । तथैव पाण्डुपुत्रा अपि पञ्चैव । संमिलिताः सर्वेऽपि पञ्चोत्तर शतं हस्तिनापुरसमीपे स्वैरं रेमिरे । ते सर्वेऽपि प्रतिप्रभातमभ्येत्य भीष्मं, धृतराष्ट्रं, पाण्डुं, विदुरं च भक्तितो नमस्यन्ति स्म । तथा सत्यवतीं, अम्बिकां, अम्बालिकां, अम्बां, गान्धारिकां ,कुन्तीं च प्रणमन्ति स्म । ते गुरवोऽपि भीष्माद्याः, सत्यवत्याद्या मातरस्तेषां सर्वेषां पुत्राणामुपरि

वात्सल्यवत्तया निर्विशेषं मनश्चक्रिरे। यतो गुरवः सर्वेषु समाशया भवन्ति। अथ तेषां सर्वेषां कुमाराणां मध्ये पञ्चापि पाण्डवाः शैशवादपि परमार्हता अजायन्त। निश्चितं यस्य यादृक् परलोकस्तस्य तादृशी चेष्टा भवति। तथा दिवा रात्रौ तेषां मनांसि पञ्चापि परमेष्ठिनो न मुञ्चन्ति। एवं धर्मपरायणाः पञ्चापि पाण्डवाः सुखेन कालं निर्गमयन्ति स्म।

अथ ते कुमाराः पञ्चोत्तरं शतं वेगपरीक्षार्थं गङ्गासैकते परस्परं दत्तहस्तताला दधाविरे; तथा गङ्गापुलिने सिकताकणकोमले शश्वत् सर्वे कुमाराः पांशुकेलिभिश्चिक्रीडुः। ते कदाचिज्जलकेलिपरायणाः तुङ्गां तटीं समारुह्य यमुनायां झम्पापातं वितेनिरे। रंहःकेलिषु रजःकेलिषु जलकेलिषु क्रीडां कुर्वन् बलोदारो वृकोदरस्तु सर्वान् बन्धूनधरीचक्रे। तथा धर्मात्मा धर्मनन्दनः शान्तात्मा सर्वेषु बन्धुषु स्नेहं बबन्ध, विशेषतस्तु सुयोधने। भीमस्तु निसर्गेण चञ्चलो दुर्योधनबान्धवान् दुःशासनप्रमुखान् क्रीडया लोलयन्, सुखासिकादीनुद्दालयन्, कदाचित् कक्षायां क्षिपन्, कदाचित् भुजाभ्यां पीडयन्, श्वासावरोधदौस्थ्येन मृतप्रायानिव चक्रे। पुनर्भीमस्तेषां कदाचिदन्योन्यं शिरसा शिरःस्फालनं विदधे, नालिकेरद्वयास्फालनवत्।

कदाचित् पादाग्रे धृत्वा क्रोशमात्रभुवमनयत्। कदाचित्तान् बाहुपाशे बद्ध्वा जले चिरं मज्जयित्वा कलिप्रियो भीमो मृतप्रायान् कृत्वाऽमुञ्चत्। धार्तराष्ट्राः सर्वे कदाचित् क्रीडां कर्तुमेकं महान्तं कपित्थतरुमारुरुहुः, तावत्समागतो भीमस्तान् वृक्षारूढान् दृष्ट्वा पादप्रहारेण वृक्षं चाहत्य सर्वान् कौरवान् फलैः सार्धं भुवस्तलेऽपातयत्। ते कौरवा भीमेन खेदिता अपि भीमाय न किञ्चन चुक्रुधुः। यतस्ते जानन्त्येषोऽस्माकं क्रीडां कारयति; न पुनर्द्रोहेण पीडां करोति; पर दुष्टबुद्धित्वाद् दुर्योधनः सर्वं क्रीडादिकं मात्सर्यमेव व्यलोकयत्।

एकस्मिन् दिने दुर्योधनः स्वान् बन्धून कदर्थ्यमानान् दृष्ट्वा भीमं प्रत्यवोचत, हे बन्धो ! अमी स्तनन्धया

मम बान्धवा निर्नाथप्रजा इव कथं कदर्थ्यन्ते ?, यदि तव दोर्दण्डचण्डिमाऽभिमानोऽस्ति, तर्हि मामुपेहि; यतस्तव दोर्दण्डकण्डूतिहरोऽस्मि। भीमोऽभ्यधात्, हे बन्धो दुर्योधन! अहं तव बन्धुषु दुर्मना नास्मि। किन्त्वेतत् मम स्नेहचापल्यं वर्तते। दुर्योधनेनोक्तम्, हे भीम! वनेषु दन्तिनो दन्तक्रीडाऽपि तरुभञ्जनी स्यात्, अतो मया सह युध्यस्व। भीमेनोक्तम्, यथैरण्डो वृक्षो गजस्य कटकण्डूयनं न क्षमते तथा त्वमपि मम दोःकण्डूयनं न क्षमसे; इत्याक्षिप्तो दुर्योधनो भीमेन सह द्वन्द्वयुद्धेन युयुधे, तदाऽपरे कुमाराः कौतुकपरास्तौ विलोकयन्तः परितः तस्थुः। तावपि कदाचिज्जपराजयपरायणौ वनेभाविव विराजेते स्म।

एवं तयोर्युद्ध्यमानयोर्वृकोदरो वज्राङ्गो दुर्योधन जर्जराङ्गं विधाय दूरं तत्याज। ततः सावधानो भूत्वा दुर्योधनः श्यामाननः शनैः शनैः स्वबन्धुमध्ये समाययौ। धूलिधूसरो भीमोऽपि युधिष्ठिरसमीपे समागात्। धर्मात्मजोऽपि धूलिधूसरं भीमं निरीक्ष्य प्रेम्णा स्ववाससा प्रामार्जयत्। अर्जुनोऽपि भीमं नियुद्धखिन्नं दृष्ट्वा मृदुपाणिभ्यां वारं वारं संवाहयामास। नकुलसहदेवौ समीपे स्थितौ स्वाञ्चलव्यजनैश्चिरं वीजयांचक्रतुः। सुयोधनोऽपि रहःस्थाने स्थित्वा जडोचितानेवंविधान् विकल्पान् चक्रे।

यथा—"अर्धराज्यहरो योऽपि सोऽपि वध्यो महौजसाम्।
किं पुनर्ब्रूमहे तस्य सर्वराज्यहरो हि यः ?" ॥ १ ॥

अतो युधिष्ठिरो मम विरोधी महाशत्रुरुदीयमानो व्याधिवच्छेद्यः, किन्तु भीमादिभिः परिवृतो दुश्छेद्यः; विक्रमेण नयेन च सम्पन्नो भूपाल इव। ततः पूर्वं भीमार्जुनौ कथाशेषतां नयामि, पश्चाद्युधिष्ठिरं व्यापादयिष्यामि; इति चिन्तयित्वा स कूटनाटकनटः पापमण्डपेऽनृत्यत्। प्रथमं दुष्टात्मा दुर्योधनो भीमस्य च्छिद्राण्यवलोकयामास। एकस्मिन् दिने सर्वे पञ्चोत्तरशतं कुमारा गङ्गाकूले क्रीडां कुर्वन्ति स्म। तदा पाण्डुराट्

सर्वान् कुमारान् गङ्गाकूले क्रीडां कुर्वतो विदित्वा सुतवत्सलः कमनीयान् मोदकान् कारयित्वा पुत्रार्थं प्रेषयामास। ते सर्वेऽपि तत्रैवोपविश्य भोजन विदधुः, किन्तु भोजनादिभिः सर्वदाऽप्यधिको भीमोऽभूत्।

भीमस्य विष-प्रदानम्

एकदा गङ्गायाः कूले केलिश्रान्तो वृकोदरः सिकतातल्पे सुखं सुष्वाप। यतः स्निग्धं मधुरं सद्व्यञ्जन-युक्तमाहार भुक्तवतस्तस्य दीर्घनिद्राविजित्वरी सुखनिद्रा बभूव। इदं छिद्रमासाद्य दुष्टबुद्धिः सुयोधनो भीमं लतापाशैः बद्ध्वा स्थलात् जले प्रचिक्षेप। ततो जागरितो भीमः स्वं जलेऽपश्यत्। तत्रैव जले बिसकिशलय-वल्लतापाशांश्छित्त्वा गङ्गायां स्नानं कृत्वा च करीन्द्र इव निर्ययौ। पुनरन्येद्यु र्भीमं निद्रायमाणं प्रेक्ष्य शरीरकोमलाङ्गेषु दुर्योधनो दन्दशूकैरदंशयत्। परं ते सर्पा भीषणफटाटोपास्तीक्ष्णोग्रगरलया दंष्ट्रया भीमत्वचं न बिभिदुः। क्रमाज्जागरितो भीमस्तान्नागान् शिशुनागानिव दूरेणाऽत्याक्षीत्। तथैवाऽन्यस्मिन् दिने सुयोधनो दुर्बुद्धिर्भीमस्य भोजने विषमं विषमक्षिपत्। परं तेन विषेण तस्य किमपि न सञ्जातम्, पुण्यवत्त्वात्।

यतः—"सर्पो हारलता भवत्यसिलता सत्पुष्पमालायते,
सम्पद्येत रसायनं विषमपि प्रीतिं विधत्ते रिपुः।
देवा यान्ति वशं प्रसन्नमनसः किंवा बहु ब्रूमहे,
धर्मो यस्य मतोऽपि तस्य सततं रत्नैः परं वर्षति" ॥ १ ॥

एव भीमेन सह विरोधं कुर्वतो दुर्योधनस्य दिनानि यान्ति स्म, परं, भीष्मस्तेषु सर्वेषु धृतराष्ट्रपुत्रेषु कोपमलिनं मनो मनागपि न विदधे, किन्तु दुर्योधनादिकृतं सर्वं क्रीडामात्रममन्यत। एवं तेषां सर्वेषां कुमाराणां

क्रीडापराणां सुखेन कालो याति स्म, तथापि धृतराष्ट्रपुत्रा दुर्योधनाद्या निष्फलारम्भयत्नाः पाण्डुपुत्राणां तेजोभिः केवलं दन्दह्यन्ते स्म । अथ विदुरस्तेषां कुमाराणामुच्छृङ्खल केलि विदित्वा भीष्मादीनां स्वजनानां पुरस्तादिदमभ्यधात्, अमी सर्वे कुमाराः कवचहराः प्रज्ञाप्रकर्षात् कला नोपेक्षणीयाः, किन्तु कलाचार्यसमीपे पाठनीयाः; तर्ह्य तेषां पाठकः क उपाध्यायो भविष्यति ? ।

एवं तेषां कौरवाणां विचारपराणां मध्ये विदुरः प्रोवाच, अत्रैव नगरे कृपो नाम कलाचार्यः सर्वविद्याब्धिपारगो वर्तते । यत्र कृपे शान्तनोः पुत्रवासनाऽऽसीत् । स कृपो भवत्प्रार्थनया एतान् त्वत्कुमारानध्यापयिष्यति । तद्विदुरवचनं श्रुत्वा गाङ्गेयादिभिः कृपाचार्यः समाहूय बहुमानपुरस्सरं विज्ञप्तः, भो कृप ! एतानस्मत्कुमारानध्यापय । ततः कृप स्वर्णरत्नादिभिः पूजितस्तान् पञ्चोत्तरं शत कुरुपुत्रान् गृहीत्वा स्वगृहे समागतः । कृपाचार्यः सुमुहूर्ते गुरुपुष्यश्वेतपञ्चम्यां तान् सर्वान् पङ्क्त्यां निवेश्य पूर्वं सरस्वतीमन्त्रं शिक्षयित्वा ततः शब्दशास्त्रमध्यापयितुं प्रारेभे । त एवं साहित्यच्छन्दोऽलङ्कारादिकं सकलशास्त्रमध्यगीषत् । ततस्ते कूमाराः सकलशास्त्रपारीणा अनिर्वेदा धनुर्वेदमध्येतुं प्रारेभिरे ।

इतश्च तत्र वास्तव्यो विश्वकर्मणः सधर्मा अतिरथिर्नाम सूत्रधारोऽस्ति । तस्य पत्नी राधा नामन्यऽभूत् । तयोः पुत्रः सत्त्वैकभूमिः कलानां निधिः कर्ण इति नामाऽभूत् । यत्र कर्णे औदार्यं पुनः शौर्यमेतद्द्वयं निःसीमतां गतम् । तथा तस्मिन् पङ्कोपमे कुले परां वृद्धि प्राप्तस्य नलिनस्येव तस्य कर्णस्योत्तमैरेव सङ्गतिरासीत् । स कुमारः कर्णः सकर्णो गुरुसंनिधौ शस्त्रशास्त्राणां शिक्षां वाञ्छन् कृपाचार्यं प्रणिपत्य विनयपूर्वं कुमारैः सम निरन्तरं शस्त्रशास्त्रश्रमं समारेभे । अथ तेषां कुमाराणां मध्ये कृपाचार्योपदेशे सर्वतः स्वातिवर्षं इव वर्षति कर्णकिरीटिभ्यां मुक्ताशुक्तिपुटायितम् । कृपाचार्याद् विद्यासर्वस्वे गृहीतेऽपि किरीटिकर्णयोः प्रज्ञा मनागपि न तृप्यति स्म । अन्यदा पुरीपरिसरे क्रीडाजुषां कुमाराणां तदीयाघातभीत्येव कन्दुकः कूपान्तः पपात । ते सर्वे

कुमाराः कन्दुकाकर्षणं प्रति विविधोपायान् विदधुः, परं ते कुमाराः वृथारम्भाः परां क्लान्ति लेभिरे। तेषु कुमारेष्वेवं कन्दुकार्थं क्लिश्यमानेषु कश्चिद् वृद्धविप्र एकेन यूना विप्रेण समं तत्र कूपोपकण्ठे समागमत्।

तेन वृद्धविप्रेण ते कुमारा एव जगदिरे, हे पुत्रकाः! एतस्य कन्दुकस्यार्थे कथं ताम्येत ?। यत इयं भवतां मनोहरा मूर्तिः, तथेयं भवतां चापचातुरी किणावलीसूचिता, तर्ह्यतस्मिन्नल्पीयसि कार्ये ईदृश आरम्भः किमस्ति ?। यतः करप्राप्ये फले भूरुहं कः समारोहति ?। पुनर्वृद्धविप्रेणोक्तम्, एषोऽहं साम्प्रतं युष्माकं समीहितं करिष्ये, इत्युक्त्वा करस्था मन्त्रपूता ईषिका अदर्शयत्। मया मन्त्रिता ह्येता ईषिकाः कूपस्थं कन्दुकं समानेष्यन्ति; इत्याख्याय स विप्रः कन्दुकं प्रति एकामीषिकामक्षिपत्। सा ईषिका नाराचलीलया कन्दुकं बिभिदे। तदुपरि मुक्ता ईषिकास्तच्छिरांसि तथैव बिभिदुः। ता ईषिकाः स्वहस्तमुक्ता बाणवदाचरिताः, ताभिरीषिकाभिः परम्परयाऽऽकर्षिताभिः कर्षितः कन्दुकः। तेन भुवनाद्भुतकर्मणा विस्मिताः कुमारास्तं वृद्धविप्रं प्रणम्य बद्धाञ्जलय एवं व्यजिज्ञपन्, हे आर्य! अस्माभिश्चापाचार्याः सहस्रशो दृष्टाः, परमस्मिन् नृलोके कस्यापीदृशी प्रौढिरस्माभिर्नालोकि, अतस्त्वमस्माकं गुरुः।

यतः—"गुरुर्वा त्वं पिता वा त्वमस्माकमसि सम्प्रति।
एते स्मः किङ्कराः सर्वे ब्रूहि किं करवाम ते ?" ॥ १ ॥

बाणेन कन्दुकस्य प्राप्ति

इति कुमारेण पुनःपुनः प्रतिपादितो वृद्धविप्र एवं जगाद—हे कुमाराः! हे कुरुवंशविभूषकाः! हे सन्मार्गाध्वनीनाः! युष्मद्विनयेन रञ्जितस्य मे मनोऽत्यर्थमध्वश्रमाविलमपि प्रसन्नतां गतम्, कनकेन वारिवत्। भोः कुमारकाः! ममात्मन उपाध्यायमिदानीं दर्शयध्वम्, युष्माकमातिथ्यमिदमेव मे भवतु। कुमारकैः प्रोक्तम्, अस्माकमुपाध्यायः कृपाख्यो यस्यान्तिके एताः कलाः अध्यगीष्महि। सम्प्रति युष्मान् दृष्ट्वा हृष्टाः

स्मः, इत्युक्तियुक्तिभिस्तोषितो विप्र । तैर्मण्डलीभूतैः परिवृतः पार्थदत्तभुजालम्बो विप्रः पुरे प्रविवेश । गृहाभिमुखमायान्त गुणालयं विप्रं विलोक्य रोमाञ्चसंवर्मितवपुः कृपः प्रत्युज्जगाम । पुनस्तं द्रोणाचार्यं विलोक्य बाष्पवीचिविलोचनः कृपः पञ्चाङ्गप्रणामपूर्वं नमस्यति । द्रोणाचार्योऽपि कृपं विलोक्य प्रसारितभुजद्वयस्तथाऽऽलिलिङ्ग, यथा द्रोणकृपौ वपुषा एकीभूताविव जातौ । ततः कृपो द्रोणाचार्यमुच्चैः सिंहासने भक्त्या निवेश्य तमभाषत, धन्योऽहम्, कृतपुण्योऽहम्, फलितं मे प्राचीनं कर्म, भवच्चरणरेणुभिः पवित्रितं मम मन्दिरम्, फलिता मे मनोरथाः, यत्त्वं मम गृहे सम्प्राप्तोऽतिथिः ।

यतः—"सम्वत्सरे समग्रेऽपि वासरोऽयं सुवासरः ।
अवतारः सरस्वत्यास्त्वं यत्रातिथिरागतः" ॥ १ ॥

द्रोणपुत्रोऽश्वत्थामा कृपाचार्यमादरेणानमस्यत् । कृपोऽप्याशीर्भिस्तमश्वत्थामानमभ्यनन्दत् । एवमन्योन्यं प्रीतिपरायणौ तौ दृष्ट्वा कुमाराः कृपाचार्यमवोचन्, कोऽयं महात्मा सपुत्रः ?, यस्येत्थं यूयं पर्युपासनां कुरुध्वे; इति राजसुतैः पृष्टः कृपोऽवोचत् । हे वत्साः ! सोऽयं द्रोणाचार्यो यः कलानां कुलमन्दिरम्, अयमश्वत्थामा नाम द्रोणपुत्रो धनुर्विद्यारहस्यज्ञः, उभावपि महाप्राज्ञौ, उभावपि महारथौ, उभावपि वेदवेदाङ्गपारज्ञौ, उभावपि कलाकौशलशालिनौ, उभावपि जगन्मान्यौ, अतो वय सेवामहे । तच्छ्रुत्वा हृष्टाः सर्वेऽपि कुमाराः । विसृष्टाश्च स्वगृहं गताः । ततः कृपेण द्रोणः सपुत्रो विविधातिथ्येन पिप्रिये । अन्यदा द्रोणं प्रसन्नं विधाय कृपः प्रोवाच ।

द्रोणाचार्य-परिचय-प्रदानम्

हे द्रोण ! प्रेमतः किञ्चित् प्रार्थ्यसे, तत्त्वमन्यथाकर्तुं नार्हसि । द्रोणेनोक्तम्, ब्रूहि किं प्रार्थयसे ? । कृपेणोक्तम्, शृणु, यथाऽस्मिन् संसारे त्वत्समः कोऽपि कलाचार्यो नास्ति; तथाऽमीभ्यः कुमारेभ्यः

प्रज्ञावान्नान्योऽस्ति। अत एतेभ्यः कुमारेभ्यो निजं चापोपनिषदं व्याकुरुष्व। विद्यायाः स्थानन्यासेन त्रैलोक्यप्रथितो भव।

यथा—"शालिबीजं च विद्यां च वप्तुकामैर्मनीषिभिः।
सुक्षेत्रं च सुपात्रं च विना पुण्यैर्न लभ्यते" ॥ १ ॥

कौरवाणां शिक्षा-रम्भ

एतावन्ति दिनानि मया एते कुमारास्त्वदुपदेशानां योग्यतामुपानीयन्त, चित्रकर्मणां संमार्जितभित्तिवत्। तत्कृपवचन द्रोणाचार्येण प्रतिपन्नम्। ततः कृपो भीष्मान्तिके गतः। तत्र गत्वाऽऽदितो द्रोणवृत्तान्तं सर्वं निवेदयामास। गाङ्गेयोऽपि द्रोणाचार्यं समाकार्य कनकोत्करैः सत्कृत्य स्वान् पौत्रान् कला ग्राहयितुमर्पयामास। तदा तेषु कुमारेषु सुजातिषु गुरोः संस्कारः सुतरां दिदीपे, माणिक्येषु वैकटिकस्येव। तेषां प्रीतिशालिनां स्नेहपराणा सकलसयोगसयुतानां गुरुशिष्याणां संयोगो दिदीपे।

यतः—"आचार्यपुस्तकनिवाससहायवल्भा बाह्यास्तु पञ्च पठनं परिवर्धयन्ति।
आरोग्यबुद्धिविनयोद्यमशास्त्ररागाश्चाभ्यन्तराः पठनसिद्धिकरा भवन्ति" ॥ १ ॥

आचार्यो द्रोणस्तेषां सर्वेषां कुमाराणां मेघवृष्टिरिव समतया शिक्षां ददौ। परं तेषां कुमाराणां प्रज्ञाप्रकर्षतारतम्यवशात् पृथक् पृथक् परिणाम दध्रे। परं तेषु फाल्गुनो गुरूपदिष्टं सर्वं धनुर्वेदं वेत्ति स्म, यतो विनयवान्। विनयो हि मुख्य कारणम्।

यदुक्तम्—"विनयेन विद्या ग्राह्या पुष्कलेन धनेन वा।
अथवा विद्यया विद्या चतुर्थं नास्ति कारणम्" ॥ १ ॥

एवमर्जुनेन गुरोर्विनयं कुर्वता द्रोणाचार्यमन आवर्जितम्, तथैव कर्णोऽपि गुरोर्विनयं कुर्वन् द्रोणाचार्यान्तिके सकलाः कला अशिक्षत, परं स गुणवानप्यर्जुनेन मत्सरं वहन् विहरति स्म। अर्जुनविनयावर्जितो द्रोणोऽर्जुनं बभाषे, भो अर्जुन! अहं त्वां जगत्येकधनुर्धरं कर्तास्मि। तच्छ्रुत्वा हृष्टोऽर्जुनो गुरोर्विनयं विशेषतो वितन्वानो विहरति स्म। अर्जुनस्यैका बाणचातुरी, अपरो गुरोः प्रसादः; एतद् द्वयं सुयोधनं बाढ बाधते स्म। स सुयोधनः सद्गुणैः पाण्डवैः सार्धं मत्सरं वहते। तथा कर्णदुर्योधनौ परस्परं मैत्रीमन्वभूताम्।

एकलव्य-
बाणकला
दर्शनेना-
र्जुनस्य
शोक

एकस्मिन्नऽनध्यायदिने गोधाधारी धनुर्धरोऽर्जुनः पुष्पकरण्डाख्ये वने क्रीडितुं ययौ। तत्रार्जुन एकं सारमेयं बाणैः पूर्णास्यमपश्यत्। तं सारमेयं विलोक्य मनस्येवमचिन्तयत्। अत्र क्वापि प्रदेशे कश्चिद् धनुष्मतां धुर्योऽस्ति, इति विचिन्त्य यावताऽग्रे याति; तावल्लक्ष्यभेदैककोविदमेकं पुंमासमद्राक्षीत्। तस्येषुकलालाघवं सप्रेक्ष्य विस्मितोऽर्जुनस्तमपृच्छत्, त्वं कोऽसि, कश्च ते गुरुः?। तेनोक्तम्, भो महात्मन्! सावधानो भूत्वा मद्वृत्तान्तं शृणु। अस्मिन् प्रदेश इतो नातिदूरे रुद्रपल्ली नाम पल्ल्यस्ति। तस्यां हिरण्यधनुर्नामा पल्लीनायकोऽस्ति। तस्य पुत्रोऽहं एकलव्याभिधानोऽस्मि। त्व मां पुलिन्दकुलसभवं जानीहि। मम गुरुर्द्रोणः, यस्य शिष्यो धनञ्जयः श्रूयते।

ततः पार्थो विच्छायवदनः प्रत्यावृत्तो मार्गे आगच्छन्नतुलोच्छलन्मन्युर्मनस्येवमचिन्तयत्। एष भिल्लो यदि कुन्देन्दुधवलैः स्वैर्गुणैर्मां पराजयते, तर्हि नूनमस्य गुरुणा विद्याप्रदानेन मत्तोऽधिक प्रसादश्चक्रे; इति चिन्ताप्रपन्नोऽर्जुनो मषीलेपश्यामसुख इव साश्रुलोचनो व्यर्थं श्रमं मन्यमानो द्रुतं द्रोणान्तिके समाययौ। गुरुं नत्वा यावताऽग्रे उपविष्टः, तावत् श्यामाननं चिन्ताम्लानमुखं पार्थं विलोक्य गुरुरब्रवीत्, हे वत्स! दिनेन्दुबिम्बवत् म्लानमाननं कथं वहसि?, तवाज्ञा खण्डिता वा केनचित्, तिरस्कारो वा विहितः, अथवा

केनचित्तव विरूपमाचरितम् ?। अहो ! येन तव तिरस्कारः कृतः, तस्य कृतान्तः कुपितः, अथ तस्य मूर्ध्नि अशनिः संनिहितः, अथ तस्य तक्षकनागो मिलितः, येन तवोपरि किञ्चिदपि विरूपमाचरितं भविष्यति; इति श्रुत्वा गुरुं द्रोणं प्रत्यर्जुनोऽवदत्, हे द्रोण ! हे प्रभो ! मां त्वदन्यः कस्तिरस्करोति ?।

यतः केसरिकिशोरः पितरं विना केन परिभूयते ?। गुरुणोक्तम्, तर्हि त्वं श्यामाननः कथं दृश्यसे ?। पार्थेनोक्तम् हे प्रभो ! त्वयाऽहं पुरा प्रोक्तः, अहं तथा करिष्ये यथाऽस्मिन् जगति त्वत्समः कोऽपि धानुष्को न भविष्यति; तत्ते वचो मिथ्याऽभवत्। तद् मे मानस मथ्नाति। द्रोणेनोक्तम्, तत्कथम् ?। अर्जुनेनोक्तम्, अद्याहं सचापतूणभृद्वने गतः, तत्र मयैको वनेचरो दृष्टः सकलकलापारीणः, यस्याग्रेऽहं षोडशीं कलां नाप्नोमि। द्रोणो जगाद, हे वत्स ! त्वत्तुल्यः कोऽपि मम शिष्यो नास्ति, तर्हि त्वदधिकः कथं भवेत् ?। अर्जुनेनोक्तम्, हे स्वामिन् ! एहि मया सार्धं, यथाऽहं तं तव शिष्यं दर्शयामि; इत्युक्त्वा द्रोणं तदन्तिके निन्ये। पादपान्तरितो भूत्वा द्रोणाचार्यस्तत्तादृक् तस्य बाणलाघवमालोक्य पुरो जगाम। एकलव्योऽपि द्रोणमायान्तं विलोक्य दूरादागत्य भूमिलुठनैस्तस्य पादयोर्न्यपतत्। द्रोणस्तं ज्याकठोरप्रकोष्ठाङ्कं शान्तं ब्रह्मचारिणं गुरुसेवातत्परं सान्द्रया दृशा चिरं संभावयामास। तद्दर्शितबाणकलारञ्जितो गुरुर्द्रोणोऽब्रवीच्च।

हे वत्स ! एकलव्य ! त्वयैष बाणशिक्षाक्रमः कुतो लब्धः ?। जगद्गुरोर्द्रोणाचार्यात्। हे वत्स ! असौ विद्योपदेशो मत्तो न लब्धः, तर्हि त्वं किमर्थं मिथ्या भाषसे ?। एवं गुरुणोक्तो विनीतात्मा पल्लीपतिपुत्रो द्रोणपार्थयोरात्मीयकलाचार्यं पद्मासनसंनिविष्टं चम्पककुसुमैरर्चितं पृथुलवेदिनिवेशितं मृण्मयं द्रोणं दर्शयामास। एवंविधं गुरोः प्रतिमारूपं एकलव्येन वारं-वारं वन्द्यमानं दृष्ट्वा पार्थः एकलव्यं पप्रच्छ। भो एकलव्य ! त्वया द्रोणः कदा दृष्टः ?। भिल्लपुत्रेणोक्तम्, एकस्मिन् दिने मया द्रोणो दृष्टो विद्याभ्यासार्थं पृष्टश्च। गुरुणा निराकृतोऽहं हीनजातित्वात्, तदा मयैषा द्रोणमूर्तिः कृता। तदनु पुष्पादिभिरर्चित्वा पुरतः कशायष्टिं मुक्त्वा

गुरुं नत्वा बाणाभ्यासात् स्खलनां लेभे, तदाऽहं स्वहस्तेनैव कशायष्टिं स्वाङ्गे मुञ्चामि। अनया रीत्यैषा विद्या समागता। अत एष मृन्मयो द्रोणो मम गुरुः, विद्यादानात्।

"नमोऽस्तु गुरवे तस्मै प्रसादाद्यस्य पश्यतः।
मादृशो मलिनात्माऽपि विधत्ते चापचापलम्" ॥ १ ॥

इत्युक्त्वा भिल्लकुमारस्तां मूर्तिं वारं वारं नमस्करोति। तदा द्रोण आह, हे पल्लीन्द्रपुत्र! यदि त्वयाऽहं गुरुतयाऽङ्गीकृतः, तर्हि मह्यं गुरवे दक्षिणां देहि। विकसितवदनाम्बुजो भिल्लो बभाषे, हे स्वामिन्! त्वं ब्रूहि, किं ददामि विभवं शिरो वा; यद्रोचते तद्याचस्व। तच्छ्रुत्वा निस्त्रिंशोचितां वाचं गुरुरप्यूचे, तव वामेतरकराङ्गुष्ठो निर्लूय मम दीयताम्। गुरोस्तद्वाचं निशम्य प्रसन्नास्यो भिल्लः स्वं कृतार्थं मन्यमानोऽसिधेनुकया वामेतरकराङ्गुष्ठं छित्त्वाऽऽर्पयत्। तां गुरुभक्तिं दृष्ट्वा तुष्टाः सुरास्तदुपरि पुष्पवृष्टिं वितेनिरे। अद्वितीयभक्त्या सत्त्वेन च देवाः कथं न रज्यन्ते?।

द्रोणोऽपि साश्चर्यस्त्रपानतः प्रीतचेतसा तमाश्लिष्यैवमभ्यधात्, हे वत्स! त्वं दुष्करं कृतवानसि, अतोऽद्यप्रभृति तव कराङ्गुलीभिराकृष्टं कोदण्डं लक्ष्यवेधि भविष्यति; इति प्रीत्या तमाश्वास्य व्यावृत्तो द्रोणो धनञ्जयेन सार्धं स्वस्थानमागात्। एकस्मिन् दिने द्रोणं प्रति फाल्गुनेनोक्तम्, हे प्रभो! ईदृग् गुणवान् पुलिन्दस्त्वया कलाश्रमं कथं न ग्राहितः?। गुरुणोक्तम्, शृणु, पार्थतुल्यः कोऽपि मा भवतु; इति त्वयि स्नेहात् मयैष बाणकलां न शिक्षितः; इति यथार्थं गुरुणोदितं श्रुत्वाऽर्जुनो गुरोः प्रत्युपकाराय स्वान् प्राणान् पणीचक्रे। ततश्चार्जुनो विशेषतो विद्याभ्यासे यत्नं करोति स्म।

यतः–"यद्यपि भवति विरूपो वस्त्रालङ्कारवेषपरिहीनः ।
सज्जनसभां प्रविष्टो विभाति विद्याधिकः पुरुषः ॥ १ ॥
आहारनिद्राभयमैथुनानि तुल्यानि सार्धं पशुभिर्नराणाम् ।
ज्ञानं विशेषः खलु मानवानां ज्ञानेन हीनाः पशवो मनुष्याः" ॥ २ ॥

तथा ते सर्वेऽपि कुमाराः गुर्वन्तिके विद्याभ्यासं विदधिरे । द्रोणोऽपि कुमाराणां विद्याभ्यासमकारयत् । भीमदुर्योधनौ च गदायुद्धे विचक्षणौ जातौ । एवं क्रमादखिलैः कुमारैः सकलकलापारङ्गमैर्जातम् ।

कुमाराणा परीक्षा

तथैकस्मिन् दिने द्रोणो राधावेधशिक्षाकृते सर्वेषां कुमाराणां परीक्षां करोति स्म । यथैकस्मिन् तालमूर्द्धिन शिखिपिच्छं बद्ध्वा द्रोणोऽवोचत्, भोः कुमारकाः ! तालमूर्द्धिन किमपि पश्यथ ? । तेऽप्यभाषन्त, त्वां महीरुहं बान्धवांश्च वयं पश्यामः । अथ पार्थं व्यवस्थाप्य गुरुस्तथैवादिशत् । भोः पार्थ ! अस्मिन् तालमूर्द्धिन किमपि पश्यसि ? । तेनोक्तम्, शिखिपिच्छमध्यस्थं चन्द्रकं प्रेक्षे । तामर्जुनगिरं श्रुत्वा मुदितो गुरुश्चिन्तयति, एषोऽर्जुनो राधावेधोपदेशस्य योग्यो वर्तते, इति निश्चित्य द्रोणः पार्थं बहु मेने । अन्यदा द्रोणः स्नानकरणाय गङ्गां गतः, तत्र जले कश्चिद् ग्राहो द्रोणं जङ्घाकाण्डे जग्राह, तदा स स्वयं मोचयितुं समर्थोऽपि तान् कुमारानादिदेश ।

अथ ते तं हन्तुमक्षमा अगाधजलदुर्गस्थं गुरुं ज्ञात्वोदासीनाः सर्वे कुमारास्तूष्णीका बभूवुः । तेषामकिञ्चित्करतां ज्ञात्वा द्रोणो गुरुः किरीटिनो मुखमालोकयामास । ततः पार्थो धनुर्धरो बाणधोरणीभिर्ग्राहं निजग्राह । ततस्तुष्टो गुरुर्द्रोणः पार्थाय पारितोषिकं राधावेधोपदेशं ददौ । गुरूपदेशेन साधितराधावेधो

धनञ्जयः शुशुभे । अथ सर्वविद्याविशारदान् राजकुमारान् सर्वान् ज्ञात्वा तैः परिवृतो द्रोणाचार्यो भीष्माद्यै रुपेतां पाण्डुसभामभ्यागात्, सदसि गत्वाऽऽशीर्वादं दत्तवान् ।

यथा—"स्वस्त्यस्तु ते कुशलमस्तु चिरायुरस्तु गोहस्तिवाजिधनधान्यसमृद्धिरस्तु ।
ऐश्वर्यमस्तु विजयोऽस्तु रिपुक्षयोऽस्तु कल्याणमस्तु भवतां जिनभक्तिरस्तु" ॥ १ ॥

इत्यादिस्तुतिभी रञ्जितो राजा पाण्डुर्द्रोणं सत्कृत्यासने निवेशयामास । ततो द्रोणो दन्तज्योत्स्नावारिभिः सभां स्नपयन्निव बभाषे, हे महाराज ! तव कुमाराः शस्त्रशास्त्रविचक्षणाः सांप्रतं परीक्ष्यन्ताम् । ततः परमां प्रीतिमापन्नो गुरुं द्रोणमभिनन्द्य विदुरः गाङ्गेयादिगुर्वाज्ञया सौधर्मसभासमप्रभं मणिमयस्तम्भविभूषितं स्थाने स्थाने पाञ्चालीवीजितचामरं पाञ्चालीकरकृतकरकैर्दत्ताचमन स्वर्गादवतीर्णदेवविमानमिव पुरीपरिसरे रङ्गमण्डपमकारयत् । सर्वे नागरिकास्तं रङ्गमण्डपमद्राक्षुः । तत्र मण्डपे विदुरः क्षितीशार्थं प्रेक्षागारमकारयत् । तथाऽवरोधवधूहेतोः गरीयसीर्वेदिका अकरोत् । तथाऽन्येषां राजन्यानामुर्वीशवर्गयोग्यांश्चोच्चमञ्चानचीकरत् । एवं रङ्गमण्डपे सज्जीकृते द्रोणगुरुणा समादिष्टे शुभदिने शुभमुहूर्ते दूताहूता महीभुजः समागत्योच्चान् मञ्चानलचक्रुः । धृतराष्ट्रेण सहितो गाङ्गेयेनान्वितो राजा पाण्डुः प्रेक्षागेहमागात् । पुत्रशिक्षावलोकनार्थं कुन्ती गान्धार्यपि सत्यवत्यादिभिः सहिता तत्रागत्य योग्यं स्थानं चारुरोह । एवं सर्वेऽपि राजानो युवराजादयश्च कुमारपरीक्षाविलोकनपरास्तान् मञ्चानध्यारुरुहुः ।

पाण्डो. सभामध्ये कुमाराणा परीक्षा

द्रोणाचार्यकृपाचार्यौ विविधायुधधारिणौ कुमारकैः सार्धं तदा रङ्गे प्राविशताम् । युधिष्ठिरं भीमं कर्णं दुर्योधनं अर्जुनं च मुक्त्वाऽन्येषां कुमाराणां श्रमदर्शने द्रोणो गुरुरनुज्ञां प्रादात् । केचित् कुमारा गजशिक्षाविचक्षणा गजशिक्षां दर्शयन्ति । एवमश्वशिक्षाम्, रथशिक्षाम्, बाणकौशलम्, गदाश्रमम्, खड्गश्रमम्; एवं

षट्त्रिंशदायुधाभ्यासं सर्वे कुमाराः पृथक् पृथक् प्रदर्शयाञ्चक्रिरे। एवं सर्वे राजपुत्रा. लक्ष्यवेधे साधु साधु इति लोकस्य प्रशंसां लेभिरे। केचिद् गुरुं प्रशंसन्ति, केचिन्मातापितरौ प्रशंसन्ति। एवं पुत्रादिप्रशंसां शृण्वानौ मातापितरौ भृशं मुमुदाते।

इति सर्वेषां कुमाराणां शस्त्राभ्यासं निरीक्ष्य विस्मिताः सर्वे सभालोका द्रोणं प्रशशंसुः। ततो द्रोणो युधिष्ठिरं समुत्थाप्यैवमावोचत्, भो युधिष्ठिर! त्वमपि सर्वेषां राजन्यानां तथा स्वां कलां प्रदर्शय, यथैते लोकास्त्वां प्रशंसन्ति। युधिष्ठिरोऽपि रङ्गमण्डपे समुपतस्थे। तस्मिन् सर्वेषां जनानां दृष्टयो निपेतु। तथा चासौ अचिन्त्यमाहात्म्यः, असौ जगति विख्यातः, असौ सर्वशौण्डीरः, असौ न्यायपथप्रवर्तकः, असौ सत्यवाक्, धन्य एष पाण्डुपुत्रः; इत्थं लोककृतां श्लाघां श्रुत्वा प्रतिचेतसः पाण्डोः पुण्डरीकोपमा दृशो युधिष्ठिरे पेतुः। अथ रथारूढो युधिष्ठिरः शस्त्रकौशलं निःशेषं दर्शयामास।

युधिष्ठिरस्य विविधकलाप्रदर्शनम्

अथ दुर्योधनवृकोदरौ संनद्धौ बद्धपरिकरौ भूत्वा गदायुद्धाय रङ्गोत्सङ्गेऽवतेरतुः। तस्मिन् रङ्गमण्डपे चन्द्रसूर्याविव प्रदक्षिणया भ्रेमतुः, केचित् दुर्योधनप्रशंसां कुर्वन्ति, केचित् वृकोदरप्रशसां कुर्वन्ति। तस्मिन्नवसरे एकाऽपि परिषत् द्वैधीभावमुपाययौ। अहो! भीमस्य धैर्यम्, अहो! दुर्योधनस्य शौर्यम्; इति लोकप्रशंसां श्रुत्वा हृष्टौ दुर्योधनभीमौ। तयोर्मध्ये दुर्योधनो दुष्टात्मा, स च स्वप्राणनाशकं भीमं विभाव्य बद्धमत्सरः स्वीयलोचनयोः क्रोधज्वालामिव पिशङ्गतां प्रकटीचकार। तथा भीमोऽपि स्वेदबिन्दुव्रजव्याजात् मत्सरमुद्वमतो दुर्योधनस्य भावं ज्ञात्वा क्रोधवह्निज्वालाधूमसमूहमिव स्वीयमूर्द्धिन ऊर्ध्वं केशोच्चयं कुर्वन् कोपाटोपादधरपल्लवं दशन् संमुखमागात्। ततो द्रोणः परस्परं बद्धामर्षौ संहारपवनप्रेरितौ विन्ध्यहिमालयाविव तौ दृष्ट्वा स्वीयपुत्रेणाश्वत्थाम्ना निवारयामास। अथ द्रोणस्तूर्यनिर्घोषं निवार्य लोकानां कोलाहलं च निवार्यैवंविधां गिरमवोचन्, भो भो लोकाः! शृण्वन्तु।

यथा—"यो मे पुत्रादपि प्रेयान् प्राणेभ्योऽपि प्रियङ्करः ।
सर्वास्त्राम्भोधिपारीणस्तं पार्थं पश्यताधुना" ॥ १ ॥

ततो गुर्वाज्ञया रङ्गमण्डपे समागात् । स च कीदृशः—

"आनद्धोभयतूणीरः करे विधृतकार्मुकः । बद्धगोधाङ्गुलित्राणः कवचच्छन्नविग्रहः" ॥ १ ॥

अर्जुनस्य विविध-कला-प्रदर्शनम्

एवंविधमर्जुनं विलोक्य धृतराष्ट्रस्य पाण्डोश्च पुलकच्छ्मतः स्नेहाङ्कुरोद्गमा बभूवुः । तथा सुयोधन-शमीतरौ कोपसप्तार्चिर्दिदीपे । अथार्जुनः कोदण्डकलितः साक्षाद् धनुर्वेद इवाङ्गवान् सर्वैर्ददृशे । स फाल्गुनः सर्वेषां राजन्यानां पश्यतामात्मीयमस्त्रकौशलं दर्शयामास । स्थिरे लक्ष्ये, चले लक्ष्ये, स्थूले लक्ष्ये, लघीयसि लक्ष्ये च सव्यसाचिनो बाणा निपेतुः । तान् पश्यन्तः के विस्मयं नापुः ? । तेन जिष्णुनाऽर्जुनेन वेध्यानि वेधितानि दृष्ट्वा वैरिसमूहस्य चेतांस्यप्यभिद्यन्त । ततश्चार्जुनो गुर्वाज्ञया राधावेधं विना सर्वं दुष्करं तदा साधयति स्म, यत् समालोक्य सुरैरपि विसिष्मिये । तस्मिन् समयेऽर्जुनः पार्षद्यै रेवं ददृशे ।

यथा—"क्षणात् प्रांशुः क्षणाद् ह्रस्वः क्षणाद्भूमौ क्षणाद्दिवि ।
क्षणात् क्रीडन्नथ क्रोडे तत्र जिष्णुरदृश्यत" ॥ १ ॥

ततश्चार्जुन आग्नेयवारुणादीनि दिव्यास्त्राणि कुरुराजस्य पाण्डोरदर्शयत् । ततः सर्वे सभासदो विस्मयापन्ना अर्जुनं प्रशंसयामासुः । तामर्जुनप्रशंसामसहमानः कर्णो भुजास्फोटध्वनिभिः संवर्तपुष्करावर्तपर्जन्यवद् गर्जन्नुत्तस्थौ । सर्वेषां जनानां दुर्धृष्यो बभूव । तदानीं कर्णभुजास्फोटशब्दं श्रुत्वा अहो ! एभिः शब्दैः किं

पर्वताः शीर्यन्ते, अथवा किं मेदिनी दीर्यते ?। अथवा किमब्धयः क्षुभ्यन्ति ?, अथवा किमाकाशाद्विद्युतः पतन्ति; इति वितर्कयन्तः सर्वे जनाः सावधानमानसा बभूवुः।

ततश्च पञ्चभिः पाण्डवैर्द्रोणः आवव्रे, महाभूतैः परमात्मेव। अश्वत्थामान्विताः शतं बान्धवाः सुयोधनं परिवव्रुः, शीतांशुं तारका इव। भुजास्फोटादनन्तरं कर्णो मन्दरमन्थक्षुभ्यदम्भोधिभैरवं कातरीकृतविश्वं सिंहनादं विदधे। ततः सिंहनादानुसारेण विस्मयापन्नमानसैः सर्वैर्लोकैर्विलोक्यमानो भीमाकृतिः काञ्चनकवचहरः प्रांशुबाहुः रक्तास्यो गुञ्जारुणदृक् शौर्यमहार्णवः स कर्णो रङ्गमण्डपमध्यास्त। ततः कर्णः कृपाचार्यं तथा द्रोणं नत्वा नीतिज्ञः सर्वेषां जनानां स्वां विद्यामदर्शयत्। यथा पूर्वं पार्थेन विद्या दर्शिता, तथैव राधावेधं विना कर्णेनापि सातिशयं दर्शिता। तां कलां दृष्ट्वा दुर्योधनः कर्णं निबिडमालिङ्ग्य प्रेमभरादित्यवोचत्, हे कर्ण ! इहास्मिन् संसारे विश्वविभूषकस्त्वमेव वीरोऽसि, त्वमेव धनुर्विद्यापारगोऽसि, त्वमेव रिपूत्कटदर्पसंहर्ताऽसि, त्वमेव सर्वधनुर्भृतां धुर्योऽसि, अतः प्रोच्यते हे कर्ण ! त्वं ममैकं वचनं शृणु—

कर्णेन सह दुर्योधन-मैत्री

यथा—"इदं राज्यमिमे प्राणा इमाः कुरुकुलश्रियः।
सर्वं त्वदीयमेवैतद् ब्रूहि येन प्रयोजनम् ?" ॥ १ ॥

कर्णोऽप्युवाच, हे सुयोधन ! त्वयि सुहृदि समस्तमस्त्येव, तथापि केवलं स्थिरं सौहार्दं प्रार्थये। दुर्योधनेनोक्तम्, मम त्वयि स्थिरं सौहार्दमस्त्येव; अत्रार्थे कश्चिद्विकल्पो न विधेयः। ततस्तौ क्षीरनीरवत् संमिलितौ विरेजतुः। अथ कर्णो दुर्योधनमभ्यधात्, हे दुर्योधन ! पार्थस्य दोर्दण्डकण्डूतिज्वरितात्मनो द्वन्द्वयुद्धेन मम भुजौ भिषजितुं इच्छतः, इति कर्णस्य गिरमाकर्ण्य हुतो वह्निरिवार्जुनः क्रोधानलैर्ज्वलितः

इदमभ्यधात्, रे कर्ण ! निर्नाम ! मदीयशरसागरे किमर्थं निमज्जसि ? । तच्छ्रुत्वा कोपारुणनयनः कर्णोऽर्णवध्वनिः पार्थं बभाषे । भो धनञ्जय ! शरत्कालपर्जन्यवन् किं मुधा गर्जितेन ? । यदि शस्त्रकौशलं तवास्ति, तर्हि शस्त्रं गृहाण, यथाधुनैषोऽहं तव सर्वं गर्वं हरामि । ततो द्रोणानुज्ञयाऽर्जुन सशरं धनुः प्रगृह्य युद्धसज्जो भूत्वा कर्णायोदतिष्ठत् । तयोः कर्णाऽर्जुनयोः संग्रामसंरम्भविलोकनागतत्रिदिवौकसां विमानैर्द्यौः कुसुमितेवासीत् । तथा तदीयसमरारम्भविलोकनकुतूहली सूर्योऽपि रथं स्थिरीकृत्य क्षणं तस्थौ । तौ प्रजाभिर्विन्ध्याद्रिवने मत्तौ दन्तावलाविवादृश्येताम् । केचिद्विद्याधराः कर्णं प्रशंसन्ति, केचित् फाल्गुनं प्रशंसन्ति । कुन्ती तु तयोः संग्रामकातरा कस्य जयः कस्य वा पराजयो भविष्यतीति भिया मूर्च्छामगमत् । विदुरेणाश्वासिता च कुन्ती जजागार । ततः स्वस्थचित्ता तयोश्चरित्रं विलोकयन्ती तस्थौ । इतश्च कृपाचार्यः कर्णं बभाषे,

दुर्योधनेन कृत कर्णस्य राज्याभिषेक

भोः कर्ण ! फाल्गुनेन सार्धं का ते प्रतिमल्लता ? । यः कुरुवंशविभूषणं कुन्तीपाण्डुपुत्रो जगति विख्यातः, तेन सार्धं कस्ते संग्रामः ? त्वमप्यात्मनः कुलादिकं ब्रूहि । यथैते लोकाः शृण्वन्ति तवापि कुलादिकम् । तां कृपाणतुल्यां कृपाचार्यभारती श्रुत्वा झगित्युत्थाय सुयोधनोऽभाषत, भोः कृपाचार्याः ! कुलेन किं करिष्यथ ?, विद्या हि प्रधानम् ।

यतः—"किं कुलेन विशालेन विद्याहीनेन देहिनाम् ? ।
अकुलीनोऽपि विद्यावान् सर्वत्रापि हि पूज्यते" ॥ १ ॥

अतः सर्वत्रापि रणशौण्डीरिमा विलोकनीयः, न कुलम् । कुलेन किं क्रियते ?, यदि शौण्डीरिमा नास्ति । सोऽपि किं शौण्डीरः कथ्यते ?, योऽन्यपराभव सहते गर्तशूकरवत् ।

अथ यदि कर्णोऽराजा, कर्णेन सहार्जुनो युद्धं न करोति, तदेष कर्णोऽधुना मयाऽङ्गानां राज्येऽभिषिक्तः; इति धृतराष्ट्रसूः कृपाचार्यप्रभृतीनुक्त्वा कर्णराज्याभिषेकायोपचक्रमे। पुनः पुरोहितं समाहूय कर्णं स्वर्णासने निवेश्य स्वर्णकुम्भाहृतैस्तीर्थवारिभिर्दुर्योधनोऽङ्गराज्येऽभ्यषिञ्चत्। राज्यं दत्त्वा च दुर्योधनः कर्णशिरसि निष्कलङ्कमृगाङ्कमण्डलाभं छत्रमधारयत्, निजदोर्दण्डैरर्जितं स्वयशःपिण्डमिव। वारवधूभिश्चामराणि कर्णस्य वीज्यन्ते। एवं चिरं जय चिरं नन्दत्योशीर्भिः स्तूयमानः सप्राप्तचम्पाराज्यः कर्णो दुर्योधनं ययाचे। ब्रूहि राजेन्द्र! दुर्योधन! तव प्रत्युपकाराय किं करोमि ?। तेनोक्तम्—यावज्जीवं सौहार्दं याचे। कर्णेनोक्तम्—भोः स्वामिन्! कियन्मात्रं सौहार्दं मम प्राणा अपि तवैव, इत्युक्तवन्तं राधेयं सुयोधनो हर्षणालिलिङ्ग।

कर्णस्योपरि भीमस्य तीक्ष्णशब्दबाणवृष्टि

ततः प्राप्ताङ्गराज्यः कर्ण. कार्मुकं करे कृत्वा रणारम्भाय फाल्गुनं दूरादाह्वास्त। इतश्चाङ्गदेशानां साम्राज्य श्रुत्वा कर्णस्य जनकोऽतिरथिसारथिस्तत्रागात्। ततः कर्णः पितरमायान्तं समालोक्य कार्मुकं दूरादुत्सृज्य तस्य पादयोः पपात। सोऽप्यतिरथिसारथिः आनन्दाश्रुवारिभिस्तनूजशिरो राज्याभिषेकायेव पुनः सिषेच। पादयोः पतितं सुतमुत्थाप्य सारथिः सर्वाङ्गमालिङ्गति स्म। उत्फुल्लनयनः सारथिः पुत्रं कर्णं दृग्दोषापनोदाय मूर्ध्नि भूयो भूयश्चुचुम्ब।

अथ विज्ञतिलको भीम कर्णं सारथेः सुतं विज्ञाय तस्य समीपमागत्येत्थं वदति स्म; हे रथिकतनय! त्वं पार्थेन समं कथं युद्धं कर्तुं समोहसे ?, त्वं स्वकुलोचितं समाचर, रथाग्रे चोपविश्य कशायष्टिं करे कुरु, अथवा सूत्रधारोपकरणं करे कुरु, कार्मुकं त्यज, मम सेवां भज, स्वकुलोचितं कृत्वाऽऽत्मानं रक्ष, अकाले मा म्रियस्व, त्वं किं जीविताद्दुद्विग्नोऽसि ?, यदर्जुनेन समं युद्धाय सज्जो भवसि। सुरैरप्यजय्योऽर्जुनः, अतस्तवार्जुनेन समं युद्धं कर्तुं न युक्तम्। भोः कर्ण! तव किं राज्यं, त्वं किं चम्पाराज्ययोग्योऽसि ?, यतो मृगारातिपदे किं गोमायुः सद्भिः प्रशस्यते ?। एवं भीमे स्वैरं व्याहरति भ्रातृमध्याद् दुर्योधनः शीघ्रं तत्रागत्य भीमगिरा भीममवोचत्। हे भीम! त्वं

पुरुषलक्षणानभिज्ञोऽसि। यतः कर्णसदृशः पुमानीदृशे कुले कथमुत्पद्यते ?, परमत्र किञ्चित् कारणं दृश्यते। अथ तदासन्नस्थोऽतिरथिः सारथिः प्रोवाच। साधु साधु भो राजेन्द्र ! नत्वेष ममाङ्गजः, किन्त्वेष मम धर्मपुत्रः। दुर्योधनेनोक्तम्—कथं तव धर्मपुत्रः ? सत्यमाख्याहि।

तेनोक्तम्—हे राजेन्द्र ! सावधानो भूत्वा शृणु। यथा एकस्मिन् दिनेऽहं प्रभातसमये स्नानार्थं गङ्गोपकण्ठे गतः, तत्राऽहं गङ्गाप्रवाहे वहन्तीमेकां रत्नमञ्जूषामपश्यम्, निजां पुण्यलक्ष्मीमिव। तां मञ्जूषां गृहे नीत्वा पत्न्याः पुरो मुक्त्वा द्वारमुद्घाट्य यावद्विलोकयामि, तावद् वचनागोचरश्रियं स्फुरत्कान्ति सकुण्डलं राजपुत्रसदृशं कान्त्या द्योतितदिग्मुखं कर्णस्याद्यः कृतकरमहमेक बालमपश्यम्। तं बालं दृष्ट्वा राधां प्रियां प्रत्यभ्यधाम्—हे प्रिये ! अनपत्यायास्तवैष पुत्रो भवतु, अनेन पुत्रेण त्वं पुत्रवती भव। राधाऽप्यतिप्रीत्या मां प्राह; हे प्राणेश ! अद्य प्रभाते मया स्वप्नो दृष्टः।

यथा—"जानामि भानुमानेत्य सप्रसादं जगाद माम्।
वत्से ! सम्पत्स्यते तेऽद्य शौण्डीरतिलकः सुतः॥ १॥
तं दृष्ट्वा दधती हर्षमुज्जागरमजागरम्।
तदैव च त्वयाऽनेन दिष्ट्या पुत्रेण वर्धिता"॥ २॥

इति शुभे स्वप्ने आख्याते हर्षतोऽहं द्रुतं मञ्जूषातः समाकृष्य तं बालमङ्केऽक्षिपम्। कर्णस्याधःकृतकरं बालं समालोक्य मया कर्ण इति नाम दत्तम्। सोऽयं कर्णः सूर्येण दत्तत्वात् सूर्यपुत्र इति द्वितीयं नाम प्राप्तः। अस्मिन् पुत्रे बाल्यादपि अस्मत्कुलातिगा गुणा भवन्ति स्म। यथा पङ्केरुहस्य वृद्धिः पङ्के भवेत्, परं सौरभं तु

स्वतो भवेत्। अतोऽसौ क्वापि राजकुले लब्धजन्मा, अस्य दर्शनेन मयाऽनुमितम्। केनापि हेतुना एष बालः पितृभ्यां गङ्गाप्रवाहे प्रवाहितः, ततो मया लब्धः, सोऽयं कर्णो मम धर्मपुत्रो नैष ममाङ्गजः; इति अतिरथेर्मुखात् कर्णस्य कथामाकर्ण्य सर्वेऽपि सभासदो विस्मयस्तिमितं मनो दधुः।

कर्णं दृष्ट्वा कुन्ती अपि चिन्तयति, नूनं स एवायं मम पुत्रः, सैवेयं मणिमण्डिता कुण्डलद्वयी। अहो! मम भाग्यम्; यच्चिरकालेन मयैष जीवन् दृष्टः, अस्मिन् संसारे अहमेकैव धन्याऽस्मि; यस्या अमू सुतौ कर्णार्जुनौ। यतः पार्थेन समं सहोदरं विनाऽन्यः कः स्पर्धेत ?। यथा चन्द्रोऽमृतेन सह स्पर्धते सहोदरत्वात्, तथा कर्णार्जुनावपि परस्परं स्पर्धेते। पुनः कुन्ती चिन्तयति, कर्णसम्बन्धं सर्वेषां भ्रातॄणां धर्मजादीनां समये ज्ञापयिष्यामि। एव विचिन्त्य कुन्ती तूष्णीका बभूव। तदा सर्वेषां सभासदां पश्यतां भुजमुत्क्षिप्य दुर्योधनो बभाषे; अयं कर्णो यादृशस्तादृशो वा भवतु, एष मयाऽङ्गदेशाधिपत्वेनाभिषिक्तः यस्य न रोचते स कार्मुकं गृहीत्वा सज्जो भवतु, एतद् दुर्योधनवचनं श्रुत्वा ज्वलितात्मसु पाण्डुपुत्रेषु भयभीतलोकस्य महान् कोलाहलो जज्ञे।

तदसमञ्जसं दृष्ट्वा राजा पाण्डुर्द्रोणमभाषिष्ट; भो द्रोण! पुत्रभाण्डानां कोऽयमकाले कलहः समुपस्थितः ?। एतेऽस्माभिः पुत्रपरीक्षार्थं सर्वे सामाजिकाः सम्मीलिताः, न तु सग्रामार्थम्। अतोऽयं कुमाराणां विरोधो निवार्यताम्, यतस्त्वं कलाचार्यः सर्वेषां कुमाराणां वर्तसे; इति पाण्डुगिरं श्रुत्वा द्रोणाचार्यः स्वं दक्षिण-भुजमुत्क्षिप्य पाण्डवान् कौरवांश्च सिंहपोतानिव युध्यमानान् न्यवारयत्। तस्मिन् समये बन्धूनां मिथो विरोधं द्रष्टुमक्षम इव सूर्योऽस्तमियाय। तदा कुमाराणां कलाः कलहं च दृष्ट्वा पाण्डोरवनिपतेः आनन्दो विषादश्चाभूत्। धृतराष्ट्रकृपद्रोणगाङ्गेयादिभिरन्वितः पाण्डुराट् सायं निजमन्दिरमासदत्। कश्चित् कर्णं

सभाया विसर्जनम्

स्तुवन् कश्चित् पार्थं स्तुवन् कश्चित् दुर्योधनं कश्चिद्भीमं कश्चित् द्रोणगुरुं प्रशसन् सर्वोऽपि जनः स्वं स्वं गृहमुपाययौ। एवं ते पाण्डवकौरवाः परस्परं छिद्रान्वेषणतत्परा विनयाच्छादितमत्सरा मिलिता एव क्रीडां कुर्वन्तो विहरन्ति स्म ॥

इति श्रीमत्तपागच्छभट्टारक-श्री ५ श्रीहीरविजयसूरिपट्टालङ्कारभट्टारक श्रीविजयसेनसूरिराज्ये पण्डितश्रीदेवविजयगणिविरचिते गद्यबन्ध-बन्धुरे श्रीपाण्डवचरिते भीमदुर्योधनादिजन्मकुमारकलारोपणकलादर्शनकर्णराज्याभिषेकवर्णनो नाम तृतीय सर्गः ॥ ३ ॥



अर्हम्

अथ चतुर्थः सर्गः



अथान्यदा श्रीमान् राजा पाण्डुः सभामलंचकार। तस्यां सदसि स्वर्णमयमुच्चं सिंहासनमध्यारुरोह, उदयाद्रिशिरो भानुमानिव। पाण्डुवर्णनं यथा—केयूरमण्डितभुजो मुक्ताहारविराजितवक्षस्थलः शिरसि मुकुटमण्डितः कुण्डलाभ्यां विराजितकपोलः कुङ्कुमघनसारकस्तूर्यादिभिस्सुगन्धियक्षकर्दमैर्विलिप्तसर्वाङ्गो देवदूष्यवस्त्रैराच्छादितशरीरो वारवधूधृतातपत्रो वारवधूभ्यां वीजितचामरो राजा पाण्डू रुचिरसिंहासनस्थः सकलराजमण्डलीसंसेव्यमानचरणो देवराज इव राजते। तस्मिन् समये गाङ्गेयधृतराष्ट्रादिगुरुवर्गोऽप्यानन्दमेदुरस्तदास्थानमलंचक्रे। तदा कवीन्द्रेषु राज्ञः स्तुतिं कुर्वत्सु, गायनेषु मधुरस्वरकिन्नरवद् गीतगानं कुर्वत्सु, नृत्यत्सु नृत्यकारेषु, पठत्सु बन्दिवर्गेषु, अघमर्षिणीभंरतादिकथाः प्रथयत्सु भट्टेषु च कश्चित् प्रतीहारो भूमिन्यस्तैकजानुर्मस्तक उन्न्यस्य मूर्ध्नि बद्धाञ्जलिरेवं राजानं व्यजिज्ञपत्, हे देव! द्रुपदस्य महीपतेर्दूतस्तव द्वारे समागतोऽस्ति। तद्दूतागमनवचन श्रुत्वा गाङ्गेयादीनां चित्ताभिप्रायं ज्ञात्वा राजा पाण्डुर्भ्रूसंज्ञया तं दूतं सदसि प्रावेशयत्। सोऽपि दूतः प्रतीहारेणाहूतस्तमेव प्रतीहारमग्रे कृत्वा नृपास्थानमुपतस्थे। तत्रागत्य विधिवद्राजानं प्रणम्य मौलिबद्धाञ्जलिर्विज्ञ एवं विज्ञापयामास—हे देव! द्रुपदेन राज्ञा द्रौपद्या निजपुत्र्याः स्वयंवरे प्रारब्धे सर्वे राजानः समाहूताः, त्वदन्तिके च अनणुप्रेमप्रणयी द्रुपदो मां प्राहिणोत्। द्रुपदराज्ञो दूतागमनम्

स द्रुपदः सर्वेषां राज्ञां पश्यतामेवं कथयति—भो भो लोकाः! शृण्वन्तु मम वचः, इमां मत्तनयां यस्मै

कस्मैचिद्दातु मे मनो नोत्सहते, किन्तु यः कोऽपि राधावेधं विधास्यति, तस्मै इयं सुताऽस्माभिः पारितोषिकं दास्यते; इति प्रतिज्ञां कृतवता मत्प्रभुणा भवतामिदं विज्ञापितमस्ति—यथा भवतो विश्वानन्दननन्दनाः पञ्चोत्तरं शतं श्रूयन्ते, सर्वे धनुर्विद्याविचक्षणाः सर्वे सकलशास्त्रपारीणाः सर्वे सर्वत्रापि लब्धजयाः, अतस्तेषां तव पुत्राणां मध्येऽन्यतमो राधावेधं विधाय मम मनोरथं पूरयिष्यति।

अतो हे स्वामिन्! जगत्येकधनुर्धरैः स्वपुत्रैः सह समागत्य मम स्वयंवरमण्डपमलङ्कर्तुमर्हसि; इति दूतमुखात् द्रुपदभारतीं श्रुत्वा गाङ्गेयपाण्डवाद्याः कुरुवंशीयाः सर्वे राजानो रत्नकेयूरकुण्डलकङ्कणादिभिस्तं दूतं सत्कृत्य ओमित्युक्त्वा विससृजुः। ततः पाण्डुगाङ्गेयादिभिः कुलवृद्धैः युधिष्ठिरदुर्योधनादिभिः पुत्रैः सुबुद्धि-प्रभृतिभिर्मन्त्रिमुख्यैरन्यैश्च सैनिकैः परिवृतो नृपः काम्पिल्यं प्रति प्रतस्थे। युधिष्ठिरादयः पञ्च, दुर्योधनादयः शतम्, एवं ते सर्वे कुमारा विविधयानारूढाः संग्रामशूराः पाण्डुं परिवव्रुः। तैः परिवृतः पाण्डुर्निस्वाननिस्वनैर्गिरिकन्दरान् दारयन् तन्नादैर्विश्वमापूरयन् मार्गे चचाल। अग्रे गच्छतस्तस्य राज्ञः।

"अनुकूलानिलोद्धूताः स्वयंवरदिदृक्षया।
पुरोगन्तुमिवेच्छन्त्यो वैजयन्त्यो विरेजिरे" ॥ १ ॥

स पाण्डुस्सामन्तैरनुयातैर्देवैः परिवृतो देवराज इव लोकैर्ददृशे। तथाऽसौ यानाऽधिरूढया कुन्त्या माद्र्या च सहितो बभौ, गङ्गापार्वत्यन्वितश्चन्द्रमौलिरिव। एवं धृतराष्ट्रोऽपि स्ववल्लभाभिस्सहितश्चचाल। मार्गे ग्रामीणा गोघृतं समादाय पुरो मुक्त्वा प्रणेमुः, तथैव सामन्तमेदिनीपाला अपि गवाऽश्वादि ढौकयित्वा प्रणेमुः। पाण्डुराडपि तान् समागतान् सर्वान् लोकान् मेदिनीपालांश्च दानमानपुरस्सरं बहु मेने। एवं सा कौरवी सेना ग्रामाद् ग्रामं संचरन्ती कुरुदेशं दूरमतिचक्राम। पुनः सा सेना स्तोकैरेव दिनैः काम्पिल्यपुरसीमानमासदत्। ततः

स्वसेवकैर्वर्धितः पाण्डोरागमनोदन्तैरावर्जितहृदयो द्रुपदः संमुखमागात्। तदोभयोः सैन्ययोर्निस्वाननिनादैर्व्याप्तं दिगन्तः। तया द्वयोः सैन्ययोस्तुरङ्गमखुरोत्खातरजोभिराच्छादिते नभस्तले द्वयोः सैन्ययोर्मिथस्तथा प्रतिशब्दायितं यथाऽन्योन्ययोः शब्दयोरैक्यं जातं क्षीरनीरयोरिव। पाण्डुराज्ञि दृष्टे द्रुपदो जयकुञ्जरादुत्तीर्य पादचारेण संमुखः समागात्। पाण्डुरपि द्रुपद पादातिकं दृष्ट्वा करटिप्रकाण्डमुज्झांचकार। ततस्तौ भुजौ वितत्य प्रेमपरायणौ परस्परमालिलिङ्गतुः।

तस्मिन् प्रस्तावे काम्पिल्यकाश्यपीनाथसारथिः काम्बोजवाजिसंयुक्तं रथं द्रुपदराजान्तिके निनाय। तस्मिन् रथे द्रुपददत्तहस्तावलम्बः पाण्डुरारुरोह। स च स्वयं कुरुनाथस्य पाण्डोः सारथ्यं चकार। ततो द्वावपि रथाधिरूढौ स्वस्वसैन्यपरिवृतौ मूर्द्धिन धृतातपत्रौ चामराभ्यां वीज्यमानौ पठद्भिर्बन्दिभिः स्तूयमानौ भट्टेभ्यो दानं वितरन्तौ पुरीपरिसरोद्याने समागतौ तत्र काम्पिल्यपुरपरिसरे पाण्डुना जाह्नवी ददृशे, तस्यां गङ्गायां क्रीडां विधाय ततश्चापवनेषु द्रुपदगिरा राजा पाण्डुरावासान् जग्राह। अथ राजाद्रुपदः पाण्डुनाऽनुज्ञातः काम्पिल्यपुरमाविशत्। नगरान्तर्गत्वा पाण्डोः चनूचरांस्तथोपचचार, यथा ते सैनिकाः निजस्यापि पुरस्य सौख्य न स्मरन्ति स्म।

ततो द्रुपदः सुमुहूर्ते विश्वकर्मणस्सधर्मभि शिल्पिभिः सुरसभासधर्माणं स्वयंवरमण्डपं कारयामास। यत्र मण्डपतले मेदिनी नीलमणिमयो बभौ, यस्मिन् मण्डपे स्वर्णमयस्तम्भसहस्रं शुशुभे, यस्मिन् हिरण्मयस्तम्भेषु शिल्पिभि कृताः पाञ्चाल्यः सुराङ्गना इव लोकैर्ददृशिरे, यस्मिन् मण्डपे स्थाने-स्थाने अवलम्बिषु मुक्तावचूलेषु पुष्पस्तवकशङ्किनो मधुव्रतव्राता निपेतुः, यस्मिन् मणिस्तूपके स्वयंवरमण्डपे निर्माणनैपुण्यमवलोकयन् विश्वकर्माऽपि जडमतिरभूत्; तस्मिन् मण्डपे द्रुपदः सर्वासु दिक्षु उच्चमञ्चानकारयत्। तं विचित्रमणितोरणालङ्कृतं देवविमानानुकारिस्वयवरमण्डपं दृष्ट्वा लोकाः सलिलनिधिं सलिलावशेषं मेनिरे।

तथा स्वयंवरमण्डपमध्ये मेरुनिश्चलमेकं हैमस्तम्भं निवेशयामास, तस्य हेमस्तम्भस्य मध्यप्रदेशे चत्वारि चक्राणि वामं भ्रमन्ति तथैव चत्वारि चक्राणि दक्षिणं भ्रमन्ति रेजुः। तस्य हेमस्तम्भस्योपरि एका रत्नपाञ्चाली अधोमुखी स्वयंवरकौतुकविलोकनेनेव निश्चालाऽभवत्, तथा तस्य स्तम्भस्याधो राजा देवताऽधिष्ठितं वज्रनिर्मितं क्रमायातं वज्रावर्तं नाम धनुरमुञ्चत्। अथ मौहूर्तिकादिष्टे शुभदिवसे शुभलग्ने द्रुपदराट् प्रति पार्थिवं प्रातराहूतये सार्धं दूतान् प्राहिणोत्, तदा रविद्रुपदनन्दिनीमलङ्कर्तुं रत्नाकराद्रत्नसारमुपादातुमिव शीघ्रं रत्नाकरेऽविशत्, तदा द्रुपदकन्याङ्गसङ्गमोत्सवमिच्छूनां भूपानां भूपकुमाराणां च सा यामिनी शतयामेव बभूव। पाण्डुस्तु आत्मजन्मनां कलाकौशल्यं अन्तर्विचिन्त्य अपास्तचिन्तासंतापः सुखी निर्भरं सुष्वाप।

तदा द्रुपदराट् तेषां कुरुकुमाराणां ललितं विलोक्य स्वकृतं पणं मुहुर्मुहुर्निनिन्द–अहो ! मया अविचार्य पणः कृतः, एते कुमाराः स्वयवरे समागता मत्पुत्री कथं परिणेष्यन्ति ? इति चिन्तां प्रपन्ने राज्ञि निद्रा नायाति, एवं द्रुपदस्याऽन्येषां च भूभुजां नानाविकल्पवतां अल्पनिद्रायमाणानां सा विभावरी विरराम। प्रातः कालेंऽशुमान् राजकलाकौशलविलोकनायेव द्रुपदतनयापाणिग्रहणोत्सवनिरीक्षणायेव वा उदयाद्रिशिखरमलंचकार। मनोज्ञैर्मङ्गलातोद्यैस्तथा बन्दिकोलाहलैस्ते राजानो विकसन्नेत्रा बभूवुः। ते सर्वे राजानो विधिवत्सर्वं प्रातःकृत्यं विधाय सामन्तामात्यमण्डलं मेलयित्वा स्वान् २ कुमारानलङ्कारादिभिः कामरूपान् विधाय स्वयंवरमण्डपं समाययुः। पाण्डुरपि स्वान् पुत्रान् पुरस्कृत्य स्वयंवरमण्डप समाययौ। स तत्र मण्डपे काम्पिल्यपतिदर्शितं उच्चसिंहासनमध्यारुरोह। एवं सर्वेऽपि राजानो यथायोग्यासनानि द्रुपददर्शितान्यारुरुहुः।

तेषां सर्वेषां राज्ञां कुमाराणां च मध्ये साक्षाद्धनुर्वेदमिव दुर्धर्ष्यं, वीररसमिव दुष्प्रेक्ष्यं कामरूपिणं धनञ्जय दृष्ट्वा मोहिताः सर्वे भूमीभुजः स्वात्मानमपि विस्मरन्ति स्म। अथ द्रौपदी स्वयवरागारमानेतुं

प्रसाधिकाः प्रीतिप्रह्वाः प्रसाधयामासुः । तद्यथा-तस्याः पादयोर्निहितोऽलक्तकरसो बभौ, अहं शङ्के जितैः पङ्केरुहैः स्वकान्तिरुपदीकृता । तस्या वपुश्चन्दनैः कर्बुरितं रेजे । तस्या बिम्बोष्ठयोरलक्तकरसच्छलात् कामो रागसर्वस्वनिधानमिवादधे । तस्याः कपोलयोः कस्तूरीपत्रवल्लरी आबभौ । तस्या दृशोर्मञ्जुलं कज्जलं शुशुभे । पुष्पधन्वनः केलिदीर्घिकालावण्यजलजम्बाल इव तस्या भाले मृगनाभिललाटिका भासते स्म । तस्याः प्रसाधिकाभिः कृतो मल्लिकादामाङ्कितो धम्मिल्लो मूर्ध्नि शोभते स्म । तस्याः कौशेयसंवृतं वपुराबभौ । तस्याः माणिक्यमण्डितकिरीटकिरणोत्करश्चकाशे । तस्या गण्डयोः कुण्डले शोभामीयतुः । तस्या वक्षःस्थलाश्रमे एकावली भाति स्म, जगज्जिगीषोः कामस्य तपस्यतोऽक्षमालेव । तस्या बाह्वोर्मरीचिपटलावृते रत्नकेयूरे शोभेते स्म । तस्याः करयोर्मुक्तामये कङ्कणे विरेजतुः । तस्या जघने रसनानिक्वणश्चकाशे, कामसैन्यस्य निवासान् गृह्णतः तुमुल इव तस्याः पादयोर्झङ्कारमुखरौ मणिनूपुरौ विभ्राजेते स्म; इति प्रसाधिता सा नृपात्मजा द्रौपदी नरवाह्यं यानरत्नमारुह्य स्वयंवर समाययौ; विमानारूढा स्वर्गादवतीर्णा अमरकुमारीव ।

तां कन्यां द्रौपदीं दृष्ट्वा कश्चिद्विलासी करकमले कमलं धृत्वा तस्या मुखकमलतुल्यतां निरूपयति; कश्चित् दशनांकुरैर्नागवल्लीखण्डनमिषात् कुपितस्मरस्याग्रे मुखाङ्गुलीः क्षिपतीव; कश्चित् कामी तां दुष्प्रापां ज्ञात्वा मनस्युन्मनाः पादाङ्गुष्ठेन स्वं मनोनष्ट विलोकयितुमिव महीपीठं लिलेख; इत्याद्याविर्भूतभावेषु तेषु सर्वेषु राजसु क्षोणिभृत्कन्यका द्रौपदी पाण्डुपुत्रेषु पञ्चसु स्वयं दृशश्चिक्षेप । तान् पञ्चापि पाण्डोः पुत्रान्मधुराकृतीन् विभाव्य धृतिं बबन्ध; पुनस्तच्चक्षुः प्रणमुद्वीक्ष्याधृतिं दधौ । द्रौपदी तस्माद्यानविमानाद्भुवस्तते अवततार, देवविमानाद्रम्भेव; अथवा राधास्तम्भस्य समीपे मण्डपाधिष्ठायिका देवीव । तस्मिन् देवविमानोपमे स्वयंवरमण्डपे ऊर्ध्वाऽधस्तिर्यक्संक्रान्तप्रतिबिम्बा द्रुपदनन्दिनी अत्यर्थमेकाऽपि बहुरूपतां बभार ।

तदा द्रुपदात्मजो धृष्टद्युम्न ऊर्ध्वीकृतभुजो लोकतुमुलं प्रतिषिध्यैवं वाचमुवाच–भो भो जगतीभृतः ! भोः कुमारकाः ! सर्वे सावधाना मद्वचः शृण्वन्तु ।

यथा–"इदमस्मत्कुलोत्तंसं देवताशतसेवितम् । चापमारोप्य यः कोऽपि राधावेधं विधास्यति ॥ १ ॥
भुवनाद्भुतसौभाग्यभागिनी भगिनी मम । शौण्डीर्यवेतनं तस्मै कृष्णेयं कल्पयिष्यते" ॥ २ ॥

तद् धृष्टद्युम्नकुमारवचनं श्रुत्वा चापारोपणार्थं समुद्यतान् भूपान् प्रतिहारी द्रौपद्यै इति दर्शयामास । हे देवि ! इतः पश्य, अयं हस्तिशीर्षाधिपो दमदन्तश्चापारोपार्थमुत्तस्थौ । स संमुखीनक्षुतेनागच्छन् विनिवारितः सन् सप्राप्ततेजोहानिः पुनरुपाविशत् । तथा धरो नाम राजा मथुराधीशस्तच्चापारोपणाय तथैवोत्तस्थौ, त राजानं समापतन्तं दृष्ट्वा सर्वे सभासदोऽवज्ञया हास्यं कुर्वन्ति, तद्धास्यं समालोक्य मथुराधिपोऽवनावुत्तीर्य पुनरपि मञ्चमारुरोह ।

पुनः प्रतिहार्य्या प्रोक्तम्, हे स्वामिनि ! इतः पश्य, तत्र सङ्गाऽभिलाषुको विराटाधिपः कियतीं भूमिमागत्य धनुर्दृष्ट्वा स्तम्भित इवाबभासे । हे सुमध्यमेऽसौ नन्दिपुरेश्वरः शल्यो नाम राजा धनुर्दृष्ट्वा दूरमुज्जिहीते । हे देवि ! अयं सहदेवस्त्रिखण्डभरताधिपजरासन्धराज्ञः पुत्रो देवसमाकृतिर्धनुःसमीपं गत्वा त्वरितं प्रत्यावृत्तः । हे कृशाङ्गि ! अयं शिशुपालश्चेदीनामधिपो बान्धवैं रुद्धोऽपि राधावेधाय धावति । हे देवि ! अयं कर्णो दुर्योधनमित्रं तेनैव प्रेरितो दुर्योधनसमीपादुत्थाय शनैःशनैर्धनुःसमीपेऽभ्येति, तच्छ्रुत्वा श्यामीभवन्मुखाम्बुजा पाञ्चाली इदमचिन्तयत् ।

असौ कर्णः सूतपुत्रो जगत्येकधनुर्धरो राधावेधं विधाय किमेष मां परिणेष्यति तर्हि किमिदं वेधसाऽस्यार्थे

निष्पादिताऽस्मि ? इति वारं २ स्वं निन्दन्ती कुलदेवतानां सस्मार। भो भोः कुलदेवताः ! पाण्डुपुत्रादन्यो मम भर्ता मा भवतु इति चिन्तां वितन्वतीं द्रौपदीं दृष्ट्वा पुनः श्रोत्रामृतं वचः प्रतीहारी व्याजहार। हे हले ! राधातनयो राधावेधी नास्ति, यतो वज्रावर्तं धनुर्ज्वालाव्याप्तं दृष्ट्वा प्रत्यावृत्तः। हे देवि ! तव कुलदेव्या प्रभावतोऽस्मिन् स्वयंवरे कस्यापि प्रभविष्णुता नास्ति, एतदर्थे त्वं चिन्तां मा विधेहि। हे सखि ! इतः पश्य, एष बलप्रद्युम्नशाम्बाद्यैः प्रवरैः परिवारैः परिवृतः कृष्णः केनापि हेतुनाऽद्यापि आसीन एवास्ते। हे सखि ! इतः पश्य, एष सुयोधन उच्चसिंहासनात् धृतराष्ट्राङ्गजो लक्षयोधी लक्षरक्षको अतिरथिः मातुर्गान्धार्या रोमाञ्चेन सहोत्थितः सन् धनुर्नमस्कृत्यैव स्थितस्तथाऽन्येऽपि धृतराष्ट्रसुता दुःशासनादय एकोनशत दोर्वीर्यगर्वपर्वता राधावेधसाधने विषादिनो निषीदन्ति। हे सखि ! एते भगदत्ताश्वत्थामाभूरिश्रवःशल्यजयद्रथमहासेनचारुदत्तादयस्तव पाणिग्रहणेच्छया त्वां तथा स्तम्भोपरि निषण्णां राधां च विलोकयन्तस्तिष्ठन्ति।

एवं द्रुपदपुत्र्याः प्रतीहारी राजवंशीयवर्णनं कृत्वा पाण्डववर्णनं करोति, हे सखि ! अयं कुरुवंशालङ्कारभूतो वीरशान्तरसमयो युधि स्थिरो युधिष्ठिरो नामेहास्ते। तथा हे सखि ! अयं भीमो युधिष्ठिरानुजो हरिविक्रमो युधि कन्दुकैरिव कुञ्जरैः सह नित्यं क्रीडति, तथाऽयमर्जुनो भीमानुजो भीमपराक्रमः, येन मुक्ता बाणाः कस्य हृदि न विविशुः, यस्य बाणा रणे शत्रुप्राणाऽपहारिणो वैरिवारं मथ्नन्ति, येनार्जुनेन धनुष्मता गुरुद्रोणस्तथा तोषितो यथा गुरुणा राधावेधाधिकारी कृतः। अथायं सज्जो भूत्वा राधावेधार्थमुत्थितो नूनं राधावेधं विधास्यति, इत्यादि श्रुत्वा द्रुपदात्मजा यावता भृशं मोदते, तावताऽर्जुनो बद्धपरिकरस्त्वरितं चापसमीपमागात्, तदा तेषां सभासदामेवंविधा दृष्टयस्तस्मिन् पेतुः।

यथा—"कस्यापि विस्मयस्मेराः कस्याप्युत्प्रासपांशुराः।
क्रोधताम्राश्च कस्यापि दृशः पेतुः किरीटिनि ॥ १ ॥

क्षणात् प्रदक्षिणीकृत्य प्रणिपत्य च कार्मुकम् ।
ज्येष्ठबन्धोरथादेशादुच्चिक्षेप कपिध्वजः" ॥ २ ॥

ततः साहङ्कारो भीम एवं जगाद—भो भो लोकाः ! अर्जुने राधावेधकर्म कुर्वाणे यस्य कस्यापि दोर्भृतः शिरसि शूलमुदेष्यति, तस्यैषा मामकीना गदा तद्गदमपाकरिष्यति, इत्युक्त्वा गदां करे कृत्वाऽर्जुनस्य परितश्चतुर्दिक्षु रक्षार्थं भीमो भीमरूपो बभ्राम । कुन्त्यऽर्जुनं दृष्ट्वोल्लसितहृदयाऽनिमेषेक्षणा पुत्रं सौम्यदृशा सुचिरं निरीक्षमाणाऽतिष्ठत् । गान्धार्यपि धनञ्जयनिरीक्षणात् स्वैरमप्रीतिपरायणाऽभूत् । तदा युधिष्ठिरादीनां भ्रातॄणां दृशः प्रमोदविशदा अभूवन् । दुर्योधनादीनां गान्धारीपुत्राणां दृशो द्वेषकषायिता अभूवन् ।

यतः—"कुमुदवनमपश्रि श्रीमदम्भोजखण्डं त्यजति मुदमुलूकः प्रीतिमांश्चक्रवाकः ।
उदयमहिमरश्मिर्याति शीतांशुरस्तं हतविधिललितानां ही विचित्रो विपाकः" ॥ १ ॥

तदा धनञ्जयं नेत्रानन्दकरं निरीक्ष्य हर्षाकुलितचेतसा तद्रूपमोहिता द्रौपदी कुलदेवीः स्मरन्त्येवमुवाच—हे कुलदेव्यः ! यूयं धनञ्जयस्य प्रसन्ना भवन्तु, यथैष धनञ्जयो राधावेधं विधाय मामुद्वहति । तस्मिन् समये पाण्डुं धृतराष्ट्रं भीष्मं प्रति धनञ्जयगुरुर्द्रोणो जगाद । भो भोः कुरुराजन्याः ! धनञ्जयस्य भुजोर्जितत्वं इतो यूयं पश्यत पश्यत । तच्छ्रुत्वा कौतुकोत्तालभूपाला आसनात् समुत्थाय धनञ्जयं पश्यन्ति स्म । कौतूहलान्मिलन्तीनां सिद्धगन्धर्वयोषितां लक्षैराकाशं कुसुमितमिव शुशुभे । राधावेधस्तम्भस्याऽधस्तैलकुण्डे प्रतिबिम्बितस्य राधारूपस्य वामाक्षिनिरीक्षणपरो धनञ्जय ऊर्ध्वबाहुरधोमुखः सर्वैः सभासद्भिर्दृष्टः । तदाऽर्जुनो धनुराचकर्ष ।

यतः—"कटाक्षैः सह कृष्णायाः कुन्त्याः प्रस्रवनिर्झरैः ।
पितुरानन्दबाष्पैश्च चकर्ष धनुरर्जुनः" ॥ १ ॥

अर्जुनेन कृत-राधावेध

सोऽर्जुनो बाणक्रेङ्कारशब्देनाद्रितटं भिन्दन्, शब्दाद्वैतमयं जगत् कुर्वन्, धरां धुन्वन्, विश्वं बधिरयन्, दिग्गजान् त्रासयन्, मार्गणेनैकेन प्रतिपक्षराज्ञां हृदयैः समं राधाया वामं चक्षुर्बिभेद । ततः संतुष्टैरपि सुरौघैः फाल्गुनोपरि पुष्पवृष्टिर्वितेने । तस्मिन्नवसरे कुन्त्याः पाण्डोश्च सकलं जगदानन्दैकमयं जातम्, तथा यशोमयं संजातम् । पाञ्चाली पाण्डुसुतान् दृशः कोणेन साकाङ्क्षं पश्यन्ती लोकपालानिव पञ्चापि पाण्डवान् वरीतुकामाऽपि लोकापवादशङ्किता किरीटिनः कण्ठपीठे कराभ्यां वरमालां निचिक्षेप । सा वरमाला सर्वेषां पश्यतां दिव्यानुभावत एकाऽपि प्रत्येकं तेषां पञ्चानामपि कण्ठेऽदृश्यत । तदैव चाकाशे वाणी बभूव—

यथा—"उच्चचार ततस्तारा व्योम्नि वागशरीरिणी ।
साधु साधु वृतं राजकन्यया मा स्म शङ्क्यत" ॥ १ ॥

तत् श्रुत्वा द्रुपदश्चिन्तयति । पञ्चानां पाण्डुपुत्राणामेकां तनयां ददानः सर्वेषां साधुजनानामुपहास्यतां गमिष्यामि, तर्हि किं करोमि ?, इति चिन्तां प्रपन्नो द्रुपदो यावदभूत्; तावद् गगनाध्वना प्रवरप्रवर्धमानाऽसम-शमदमसमाकुलं विमलं देहद्युतिद्योतितदिग्मुखं चारणश्रमणमुनिपुङ्गवं समागतं दृष्ट्वा ते सर्वेऽपि राजानस्तं मुनिपुङ्गवमुच्चैसिंहासने निवेश्य धात्रीलुठितमूर्धानः प्रणमन्ति स्म । मुनीश्वरोऽपि सर्वेषां राजन्यानां देशनां ददाति स्म ।

यथा—"सुकुलजन्म विभूतिरनेकधा प्रियसमागमसौख्यपरम्परा ।
नृपकुले गुरुता विमलं यशो भवति पुण्यतरोः फलमीदृशम् ॥ १ ॥

नरकान्तं तदा राज्यं यदि राजा न धार्मिकः ।
धार्मिके तु परं तत्र सौख्यमत्र परत्र च" ॥ २ ॥

मणिसिंहासनस्थो मुनिः सर्वेषां सभासदामेवंविधां देशनां दत्वा यावता स्थितस्तावता जनार्दनेनोक्तम्–हे मुने ! पाञ्चाल्या एते पञ्च धवाः कथं संजाताः ? । मुनिनोक्तम्–राजन् ! पूर्वकृतनिदानत एते पञ्च धवाः सजाता । एषा पञ्चभर्तृका द्रौपदी भविष्यति, अत्र काचिच्चिन्ता न विधेया ।

यतः–"भवितव्यं भवत्येव नालिकेरफलाम्बुवत् ।
गच्छत्येव हि गन्तव्यं गजभुक्तकपित्थवत्" ॥ १ ॥

अतो यद्भावि तद्भवत्येव । अनया पूर्वजन्मनि निदानं कृतम्; कृतनिदानैषा पञ्चभर्तृका भविष्यति । अथ मुनिः पाञ्चाल्याः पूर्वभवानाह–पुरा हि चम्पायां नगर्यां त्रयो ब्राह्मणा अभवन्; सोमदेवः, सोमभूतिः, सोमदत्तश्चेति । तेषां त्रयाणां तिस्रो भार्या अभवन्; यथाऽनुक्रमेण नागश्रीः, भूतश्रीः, यक्षश्रीश्चेति नाम्ना । तेषा त्रयाणां धनाढ्यानां प्रेमपराणां विप्राणां परस्परमेषा व्यवस्थितिरासीत्–यथाऽनुक्रमेण सवरेकस्य वेश्मनि भोक्तव्यम् । अथान्यदा नागश्रीभुक्तिवारकवासरे समायाते नागश्रियाऽनेकरसा रसवती व्यधीयत । तस्यां रसवत्यां व्यञ्जने संस्क्रियमाणे तयैक कटुतुम्बं बहुद्रव्यसंस्कृतं सज्जीकृत्य तस्यांश करतले कृत्वा किञ्चिदास्वाद्य तत्कटुकमखाद्यममनोज्ञं ज्ञात्वा चिन्तितम्–हा ! हा ! मयाऽज्ञानतयाऽस्मिन् व्यञ्जने बहुस्नेहव्ययः कृतः, तर्हि साम्प्रतमेकान्ते संस्थाप्य कस्यचिद् भिक्षोर्दास्यामि । इति विचिन्त्य तया नागश्रिया तदेकान्ते मुक्त्वाऽन्यत् मिष्टं तुम्बं संस्कृत्य सर्वेषां विप्राणां भोजनावसरे तया रसवत्या सन्तोष्य सर्वेऽपि विसर्जिताः स्वस्थान गताः ।

मुनेरागमन तथा द्रौपद्या पूर्वभवकृत-निदान-कथनम्

तदा सुभूमिभागाऽऽख्ये उद्याने धर्मघोषाभिधः सूरिश्चतुर्ज्ञानवान् समागात्। तस्य धर्मरुचिः शिष्यो मासक्षपणपारणे किरातया गृहे कल्पद्रुरिव नागश्रीगृहे समाययौ। तया नागश्रिया पापिन्या तत् कटुतुम्बं स्नेहद्रव्यसंस्कृतं तस्मै मुनये सर्वं व्यसृज्यत। मुनिरपि प्रासुकमशनं ज्ञात्वा तस्या अनुग्रहेच्छया सर्वं गृहीत्वा वसतिमागत्य गुरूणामदर्शयत्। गुरवोऽपि तद्गन्धमाघ्राय धर्मस्नेहादिदमूचिरे—हे वत्स ! यदि त्वमेतद्विषतुम्बकं भोक्ष्यसे, तदा शीघ्रं मृत्युमवाप्स्यसि, अत्रार्थे सन्देहो नास्ति। अतस्त्वं विशुद्धे स्थण्डिले गत्वा परिष्ठापय, इति गुरोरादेशान्नगराद्बहिर्गतो मुनिः। तत्र शुद्धे स्थण्डिले कथञ्चित् पात्रादेको बिन्दुर्निपतितः। तदासक्ताः पिपीलिका म्रियमाणा विलोक्य मुनिना चिन्तितम्—अहो ! एकेनापि बिन्दुना एतावत्यः पिपीलिकाः मृतास्तर्हि सर्वस्मिन् परिष्ठाप्यमाने कियन्तो जीवा निधनं यास्यन्ति ?; ततो वर ममैकस्य मृत्युः, परं कोटिशो देहिनां मृत्युर्वरं न, इत्यालोच्य स धर्मरुचिर्मुनिस्तत्कटुतुम्बं सर्वं बुभुजे। तमाहारं भुक्त्वा कृतानशनो नमस्कारस्मरणं विधाय सर्वान् जीवान् क्षमयित्वा समाधिना स मुनिः प्राणान् विहाय सर्वार्थसिद्धिविमानमगमत्। ततो धर्मघोषगुरुस्तं धर्मरुचिं मुनिं चिरगतं ज्ञात्वा तद्विलोकनायान्यान् मुनीन् प्रेषयामास। तेऽपि मुनयो निरीक्षमाणास्तत्र गता यत्र स्थण्डिले स मुनिः पतितोऽस्ति। तं मृतं पतितं दृष्ट्वा ते साधवो दुःखभराक्रान्तास्तद्रजोहरणादिकं धर्मोपकरणमादाय गुरुपादान्ते समागत्य सर्वं निवेदयामासुः।

ते चतुर्ज्ञानधरा गुरवोऽवधिना नागश्रीविलसितं सर्वं ज्ञात्वा स्वान् सर्वान् मुनीनाकार्यैवं कथयामासुः—भोः साधवः ! यूयं नगरे गत्वा सर्वत्र त्रिकचतुष्कादिषु बाढस्वरेणेत्याघोषयत। ततस्ते तत्र नगरे गत्वा गुरुकथितं कथयामासु.—भो भो लोकाः ! एषा नागश्रीः सोमदेवपत्नी, यया साधुर्मारितो विषतुम्बेन; अतो धिगस्त्वेनां पापिनीमित्यादि। तत् श्रुत्वा सोमदेवादिविप्रैः नागश्रीः गृहान्निर्वासिता, लोकैस्तिरस्कृता, लेष्टुयष्ट्यादिभिस्ताडिता सर्वतो बभ्राम।

तथा—"कासश्वासज्वरोत्कम्पकुष्ठाद्यैः क्रान्तविग्रहा ।
रोगैः षोडशभिर्लेभे साऽत्रैव नरकव्यथाम् ॥ १ ॥
क्षुत्पिपासार्ऽदिता लोके निन्द्यमाना पदे पदे ।
दुःखं भ्रमन्ती सा मृत्वा षष्ठं नरकमासदत्" ॥ २ ॥

नरकादुद्धृत्य मत्स्येषूत्पन्ना, ततः सप्तमं नरकं ययौ। पुनर्मीनत्वे, ततः पुनः सप्तमे नरके। एवं द्विर्द्विर्वारान् सर्वान् नरकान् सिषेवे। ततः पृथ्वीकायादिषु पञ्चसु वारं वारमुत्पेदे। विशेषतो वनस्पतिषु कटुवृक्षेषु विषवृक्षेषु कण्टकिवृक्षेषु कुत्सितवृक्षेषु भूयो भूयो मृत्वा तत्रैवोत्पन्ना। एवमनन्तकायिकेऽष्वपि; एवं द्वित्रिचतुरिन्द्रियेषु पञ्चेन्द्रियेष्वपि मत्स्यादिजलचरेषु व्याघ्रसिंहचित्रकादिदुष्टचतुष्पदेषु गृध्रघूकादिदुष्टपक्षिजातिषु गृहगोधासरटकादिभुजपरिसर्पेषु कृष्णसर्पादिषु सर्वेषूरः परिसर्पेषु वारं वारमुत्पन्ना। एवमनन्तं कालं संसारे भ्रान्त्वा कथमपि कर्मलाघवाच्चम्पानगर्यां सागरदत्तगृहे सुभद्राभार्याकुक्षौ सुकुमालिका नाम्ना पुत्रीत्वेनोत्पन्ना, क्रमेण वृद्धिं गता सकललक्षणसंपूर्णा कन्या बभूव ।

नागश्रिया. संसार-परि-भ्रमणम्

यतः—"श्यामा यौवनशालिनी मधुरवाक् सौभाग्यभाग्योदया,
कर्णान्तायतलोचनाऽतिचतुरा प्रागल्भ्यगर्वान्विता ।
रम्या बालमरालमन्थरगतिर्मत्तेभकुम्भस्तनी,
बिम्बोष्ठी परिपूर्णचन्द्रवदना भृङ्गालिनीलालका" ॥१ ॥

सा सुकुमालिका ईदृशी संजाता। इतस्तस्यामेव नगर्यां जिनदत्तनामा श्रेष्ठी परिवसति स्म, भद्रा भार्या,

तयोः पुत्रः सागरनामा। सोऽपि संप्राप्तयौवनो द्वात्रिंशद्गुणोपेतोऽस्ति। यथा—सत्त्ववान्, कुलीनः, वशीकर्ता, बलवान, सततजयः, प्रीतिमान्, सत्यरङ्गः, सावयवः, प्रियंवदः, कीर्तिमान्, दानव्यसनी, विवेकी, शृङ्गारवान्, अभिमानी, श्लाघ्यः, समुज्ज्वलगुणः, सकलकलाकुशलः, सत्यवाक्, सर्वजनप्रियः; सर्वदाता, सुगन्धिप्रियः, संवृतमन्त्रः, क्लेशसहः, अनुगतप्रियः, वाक्यपण्डित उत्तमसत्त्वः, धर्मिष्ठः, महोत्साही, गुणग्राही, सुपात्रसंग्रही, क्षमी, प्रभावकश्चेति। एकस्मिन् दिने सागरपिता जिनदत्तः सुकुमालिकागृहसमीपे व्रजन् कनककन्दुकैः क्रीडन्तीं सुकुमालिकां वेश्मस्थां ददर्श। तद्रूपमोहितो जिनदत्तो मनसि चिन्तयति–एषा कन्या मत्तनययोग्या, अनयोर्मणि-स्वर्णमुद्रिकयोरिव संयोगो यदि भवेत्, तदा सृष्टिकर्तुर्विधेः प्रयासः प्रशस्यो भवेत्; न मुधा स्यात्।

यतः–"कनकभूषणसंग्रहणोचितो यदि मणिस्त्रपुणि प्रतिबध्यते।
न च विरौति न चाप्यवभासते भवति योजयितुर्वचनीयता" ॥ १ ॥

अतोऽनयोः संयोगं करोमि। इति विचिन्त्य जिनदत्तः स्वजनपरिवृतः सागरदत्तगृहे गत्वा तत्पुत्रीं सुकुमालिकां सागरार्थेऽयाचत। ततः सागरदत्तोऽप्यूचे–भो जिनदत्त! तवाङ्गजः सागरो यदि मम गृहजामाता भवति, तदैषा मम पुत्री सुकुमालिका दीयते नान्यथा। यत एषा मम पुत्री प्राणप्रिया, अस्या विरहं क्षणमपि सोढुं न समर्थः। तच्छ्रुत्वा जिनदत्तश्रेष्ठी गृहमागात्। ततः पुत्रमपृच्छत्–भोः सागर! त्वं सागरदत्तस्य गृहजामाता भविष्यसि?। सोऽपि सुकुमालिकारूपमोहितो मौनमाधाय स्थितः। 'अनिषिद्धं ह्यनुमतं' इति न्यायात् तदभिप्राय ज्ञात्वा सागरदत्ताग्रे प्रोक्तम्–मम पुत्रः सागरस्तव गृहजामाता भविष्यति, त्वं सुकुमालिकां पुत्रीं मत्पुत्राय सागराय देहि। सागरदत्तेन मानितम्। ततस्तयोः सागरसुकुमालिकयोराश्चर्यकृत् पाणिग्रहण-महोत्सवः संजज्ञे। पाणिमेलापकावसरे तस्याः करस्पर्शं सागरोऽङ्गारतुल्यं विवेद। तथा कृतपाणिग्रहणौ तौ

दम्पती रात्रौ वासवेश्मन्येकं पल्यङ्कं शिश्रियतुः तथैव पुनः सागरस्तस्या अङ्गस्पर्शं ज्वलदङ्गारतुल्यं विवेद । तस्याः शेषकर्मवशादङ्गस्पर्शोऽङ्गारसोदरः समभवत् । अहो ! कर्मवैचित्र्यम् ।

यथा—"सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता परो ददातीह कुबुद्धिरेषा ।
पुरातनं कर्म तदेव भुज्यते शरीर ! हे निस्तर यत्त्वया कृतम्" ॥ १ ॥

तत्र पल्यङ्के महता कष्टेन क्षण स्थित्वा तस्यां सुखसुप्तायां स नंष्ट्वा स्वगृहमागात् । निद्राऽत्यये सा जागरिता कान्तमपश्यन्ती भृशं रुरोद । प्रातः सुभद्रया तस्या मात्रा दन्तशौचहेतवे दन्तकाष्ठं जलभृतभाजनं च दास्या हस्ते प्रेषितम् । तया दास्या सुकुमालिका रुदती दृष्टा पृष्टा च । हे स्वामिनि ! किं रोदिषि ? । तयोक्तम्—सागरो गतस्तेन रोदिमि । दास्या तत् शीघ्रं गत्वा सुभद्रायै प्रोक्तम् । सुभद्रयाऽपि स्वप्रियः सागरदत्त उपालब्धः । ततः सागरदत्त उपालम्भं दातुं जिनदत्तगृहे गतः । तत्र गत्वा जामातुरुपालम्भं ददौ । तदुपालम्भं श्रुत्वा जिनदत्त उपरितनभूम्यां पुत्रसमीपे गतः । तत्र गत्वा पुत्रं प्रत्याह हे वत्स ! त्वया युक्तं न कृतं, यद् मद्वचोऽन्यथा कृतं गृहजामातृत्वमङ्गीकृत्य, त्वरितमेवाद्य समागतः, तर्हि साम्प्रतं त्वरितं याहि, मद्वचो मन्यस्व ।

तेनोक्तम्, हे तात ! तस्या अङ्गसङ्गो ज्वलदङ्गारवत् सोढुं न शक्यते, अतस्तत्र न यामीत्यधः स्थितः सागरदत्तः तच्छ्रुत्वा विषण्णचित्तः स्वगृहं गतः । ततः स्वोत्सङ्गे सुकुमारिकां सुतां निधाय कोमलया गिरा सागरदत्तः पुत्रीमेवमुवाच—हे वत्से ! केनापि हेतुना सागरस्तव भर्ता त्वयि विरक्तः । अथ त्वं कामपि चिन्तां मा विधेहि, मया तवान्यः कोऽपि प्रेमपरो भर्ता विधास्यते । अथान्यदा गवाक्षस्थः सागरदत्तः कौपीनाम्बरधर-मात्तकर्परं मक्षिकापरिवृतं कञ्चिद् भिक्षुकमद्राक्षीत् । सागरदत्तस्तं भिक्षुकं समाहूय सुगन्ध्यम्भोभिः स्नपयित्वा सुगन्धिभिश्चन्दनैर्विलिप्य दिव्यवासांसि परिधाप्य सुकुमालिकान्ते नीत्वैवमवोचत् ।

यथा—"ऊचे तुभ्यं मया दत्ता पुत्रीयं सुकुमारिका ।
मदीयां विलसन् लक्ष्मीं सुखमास्स्व सहाऽनया" ॥ १ ॥

तच्छ्रुत्वा स द्रमकस्तया सह वासवेश्मन्यागात्, यावत्तया सह पल्यङ्के निविष्टस्तस्या अङ्गसङ्गं करोति, तावत्तस्या अङ्गं ज्वलदङ्गारतुल्यं विवेद। सोऽपि तथैव सहसोत्थाय स्वं घटकर्परादि भिक्षुकवेषं समादाय पलायितः। तथैव निद्रान्ते गतं द्रमकं ज्ञात्वा रुदतीं तां विलोक्य जनको जगाद—हे पुत्रिके! त्वं मा रोदीस्तवायं प्राक्कर्मविपाकः समुपस्थितः, तत्त्वं स्वकृतं कर्म भुङ्क्ष्व।

यतः—"यथा भूमीगतं बीजमङ्कुरादनुमीयते। सुखदुःखात्तथा प्राच्यधर्माधर्मविनिश्चयः ॥ १ ॥
व्रजत्यधोऽधो यात्युच्चैर्नरः स्वैरेव कर्मभिः। खनितेव हि कूपस्य प्रासादस्येव कारकः" ॥ २ ॥

सुकुमालिकाया: दीक्षा-ग्रहणम्

एवं कर्मविपाकं विरसं विज्ञाय शान्तात्मा सुकुमालिका धर्मपरायणा दानं ददाना पितुर्गृहे तिष्ठति स्म। अथैकस्मिन् दिने तस्या गृहे गोपालिकानाम्न्यः साध्व्यो भिक्षार्थं भ्रमन्त्यः संप्रापुः। सा सुकुमालिका शुद्धान्नपानैस्ता गोपालिकाः प्रत्यलाभयत्। ततस्तदन्तिके धर्मं श्रुत्वा संजातवैराग्या व्रतमग्रहीत्। सा गृहीतव्रता षष्ठाष्टमादितपःसंयुक्ता आर्यिकाभिः सह विहारमकरोत्। एवं दिनानि यान्ति स्म। एकदा सुकुमालिका गोपालिकाः प्रत्यूचे—हे स्वामिन्यः! भवदाज्ञयाऽहं सुभूमिभागोद्याने गत्वोर्ध्वस्थिता रविबिम्बनिविष्टदृष्टिरातापनां तनोमि। ततो गोपालिकाः सुकुमालिकां प्रत्यूचुः—हे वत्से! हे विनीते! आगमे कुत्रापि साध्वीनामातापना वसतेर्बहिर्नोक्ता। अतस्त्वमपि वसत्यन्तरातापनां विधेहि।

ततः सा गोपालिकानां तद्वचोऽनाकर्ण्यैव तस्मिन् वने गता। तत्र गत्वा यावता सूर्याभिमुखी आतापनां

करोति, तावत्तत्र वने एका देवदत्ता गणिका दिव्यरूपा परिहितदिव्यांशुका दिव्यनेपथ्या चतुःषष्टिगणिकागुणोपेता एकेन पुंसा निजोत्सङ्गे धृता, अपरस्याङ्के मण्डनार्थं निवेशितांह्रियुग्मा, एकेन पुंसा शिरसि धृतातपत्रा, द्वाभ्यां वीजितचामरा, एवं पञ्चपुरुषैः सेविता तैः सह देवीव सुखमनुभवन्ती दृष्टा। तां वेश्यां सुखमनुभवन्तीं दृष्ट्वाऽपूर्णभोगेच्छा सुकुमालिकैवं निदानमकरोत्–यद्यस्य मे तपसः फलं भवेत्, तर्हि भवान्तरेऽहं पञ्चपतिका भवेयम्। इति निदानं कृत्वा स्वाश्रयमागात्। ततः शरीरवातकुशिका जाता। हस्तपादमुखकक्षास्तनान्तरोरुधावनानि वारं वारं कुर्वती आर्याभिर्वारिताऽपि न न्यवर्तत। केवलमार्याणामुपरि द्वेषमुद्वहन्तीत्यचिन्तयत्।

यथा–"पुरा बहुमताऽभूवमार्यिकाणामगारिणी।
तिरस्कुर्वन्ति मामेता भिक्षुकीमधुना पुनः" ॥ १ ॥

इत्यालोच्य विभिन्नवसतिस्थिता स्वच्छन्दवर्तिनी सा सुकुमालिका व्रत चिरं पालयामास। प्रान्ते चाऽष्टौ मासान् संलेखनां कृत्वाऽन्ते समाधिना मृत्वा तत्कृतनिदानमनालोच्य सौधर्मदेवलोके नवपल्योपमायुष्का साधारणदेवीत्वेनोत्पन्ना। ततश्च्युत्वा सैषा द्रौपदी जाता। प्राचीननिदानतोऽस्या ह्येते पञ्च पतयः सञ्जज्ञिरे। अत्र कश्चिद् विस्मयो नास्ति। यतः सिद्धान्ते नव पापनिदानान्युक्तानि।

यथा–"निवसिड्ढिइत्थिपुरिसे परपविआरे अ सपविआरे अ।
अप्परयसुरदरिद्दे सड्ढे हुज्जा नव निआणा" ॥ १ ॥

अस्य व्याख्या—कश्चित् साध्वादिर्निदानं कुर्यात्—देवाः केन साक्षात् दृष्टाः ?, इमे राजान एव देवाः; ततो यद्यस्ति तपोऽनुष्ठानादीनां फलं, तदाऽहं राजा भवेयम्। स स्वर्गं गतश्च्युत्वा राज्यं लभते, न तु सम्यक्त्वादिधर्मम्। एव दुर्लभबोधिः स्यात् ॥ १ ॥

एवं बहुचिन्ता बहुव्यापारा राजानः, ततः श्रेष्ठ्यादिकुले भवेयम् ॥ २ ॥

पुमान् बहुव्यापारः संग्रामादिदुष्करकारी चेति स्त्रीत्वम् ॥ ३ ॥

एवं स्त्री नित्यं पराधीना पराभवपदं चेति पुंस्त्वम् ॥ ४ ॥

अशुभा नृभोगास्ततो ये देवा अन्यं देवं देवीं वाऽऽत्मानं वा देवदेवीरूपं विकृत्य प्रविचरन्ति तथाहमपि स्याम् ॥ ५ ॥

आत्मानमेव देवदेवीरूपं विकृत्य ये प्रविचरन्ति तथा स्याम् ॥ ६ ॥

निर्विण्णकामभोगत्वात् यत्र न प्रविचारणा तत्र स्याम्। स ततश्च्युतः सम्यग्दर्शनं लभते, न तु देशविरत्यादि ॥ ७ ॥

तत एवात्मा मे सुनिस्तारः स्यात्, इति दरिद्रः स्याम्। स स्वर्गादागतो दरिद्रीभूय प्रव्रजत्यपि, न तु सिध्यति ॥ ८ ॥

एवं श्राद्धत्वं साधु इति श्राद्धः स्याम्। स सर्वविरतिं नाप्नोति ॥ ९ ॥

एवं नव निदानान्युक्त्वा, द्रौपद्याः पूर्वभवांश्च कथयित्वा, कृतनिदानत्वादेषा द्रौपदी पञ्चभर्तृका भविष्यतीति कथयित्वा च मुनिपुङ्गवो यथैवागतस्तथैव नभसा जगाम। यतः साधवो नैकत्रस्थायिनो भवन्ति। ततः पाण्डवानां स्वजनभूभृतो वधूलाभे विकाशं दधुः, रवेरुदयेऽरविन्दाकरा इव। अथ पाञ्चालभूपो द्रौपद्याः पुत्र्याः वैवाहिकं कर्म प्रारेभे। यथा–प्रथमं सा स्नानमण्डपं गत्वा स्नानं विधाय कृतमङ्गलकर्मा शुद्धवस्त्राणि

नव
निदानानि

४ सर्ग

परिधाय मज्जनगृहात् प्रतिनिस्सरति स्म। ततो यत्राऽस्ति जिनगृहं तत्रानुप्रविश्य जिनं प्रणमति स्म। ततो लोमहस्तकं गृहीत्वा जिनं प्रमार्जयति स्म। ततः सूर्याभदेववत् पूजां कृत्वा धूपं दहति स्म। ततो वामजानुमूर्ध्वीकृत्य दक्षिणजानु महीपीठे निधाय शक्रस्तवं पठति स्म। ततो जिनगृहाद् निष्क्रम्यान्तःपुरे समागच्छति स्म। ततः प्रसाधिकाभिः प्रसाधिता यथा पुनः स्नानं कारयित्वा शरीरं संमार्ज्य सच्चन्दनादिभिर्विलिप्य स्वर्णखचितदिव्यवासः परिधापनपूर्वं सा स्वर्णमणिरत्नाभरणैर्भूषयामासे। पाण्डुराडपि तथैव भासुरं वैवाहिकोत्सवं स्वपुत्राणां प्रारेभे।

यथा ते प्रथमं स्वजनैर्मङ्गलस्नानपूर्वक वस्त्राद्यैरलङ्कृताः पृथक् पृथक् वारणेन्द्रसमारूढाश्छत्रचामरैः शोभिता सकलराजमण्डलीपरिवृता नागरिकलोकैः सवीक्षिताः पाञ्चाली परिणेतुं मङ्गलतूर्यपूर्वकं द्रुपदावासं प्रति प्रतस्थिरे। तदा कुन्तीमाद्रीगान्धारीप्रमुखाः स्त्रियो धवलमङ्गलानि गायन्ति स्म। एवं सकलसामग्र्या सहिताः पाण्डवाः क्रमाद् दान ददानाद्रौपद्या मण्डपद्वारि समाजग्मुः। ततस्ते गजेभ्योऽवतीर्य मण्डपान्तः समागताः। तत्रोपविश्य दैवज्ञकोपदिष्टवेलायां स्वदक्षिणकरैः पाञ्चाल्या दक्षिणपाणि जगृहुः। पाञ्चाल्यपि त्रपाऽवनतकन्धरा वस्त्रावृतवदना वृद्धावचोभिः पाण्डवैः समं वह्नि प्रदक्षिणीचक्रे। द्रुपदोऽपि पाण्डुपुत्राणां द्रौपद्याः पाणिमोचनकर्मणि दारान् विनाऽन्यत् आत्मनः सर्वं गृहसारमुपदीचक्रे। अथ पाण्डवा द्रौपदीं पाणिग्रहणानन्तर रथे समारोप्य निजावासमुपागमन्। द्वितीयेऽह्नि पाण्डुराट् कृष्णादिभिर्नृपैः परिवृतो वध्वा समं सबलवाहनो द्रुपदान्वितः स्वपुर प्रति प्रतस्थे। द्रुपदराडपि कियतीं मेदिनीमतिक्रम्य पश्चात् पाण्डुना विसृष्टः स्वपुरमाविशत्। पाण्डुराट् स्वपुरमागत्य कृष्णं विना सर्वं राजचक्रं गजाश्वादिभिः सत्कृत्य विससर्ज।

अथ ते पाण्डवाः क्रीडाशैलादिषूद्यानकाननादिषु वापीसरोवरादिषु द्रौपद्याः समं क्रीडन्तो यामवत्

नारदकृत-व्यवस्था-स्वीकार

वर्षाण्यतीयुः। एवं सुखमनुभवतां तेषां काले यात्येकस्मिन् दिने देहद्युतिद्योतितदिग्मुखो नेत्रपीयूषनीरदो नारदो नाम देवमुनिर्व्योम्नि संचरन् पाण्डवगृहेऽवततार। तस्मिन्नवसरे केनचित् कारणेन कृष्णोऽपि तत्रागात्। ततः कृष्णो द्रौपदीं पाण्डवांश्च दृष्ट्वा मनसि किंचिद् विचिन्त्य नारदं प्रत्याह—भो नारद! एतेषां द्रौपदी-पाण्डवानां काचिद् व्यवस्था भवेत्, तदा वरम्। पश्चान्नारदः पाण्डवानाकार्य व्यवस्थां करोति स्म। यथा हे पाण्डवाः! हे वत्साः! कर्णपीयूषं युष्मद्विवाहमङ्गलमाकर्ण्य व्यवस्थां कर्तुं समागतोऽस्मि। यत एका द्रौपदी अनेकबान्धवपरिभोग्या बान्धवचेतसां द्विधाभावकरी मा भवतु।

यतः—"भवस्य बीजं नरकद्वारमार्गस्य दीपिका। शुचां कन्दः कलेर्मूलं दुःखानां खानिरङ्गना॥ १॥
वत्साः! कुटुम्बसंहारकारणं हरिणेक्षणा। यथा समभवत् पूर्वमाकर्णयत तां कथाम्"॥ २॥

यथा—रत्नपुरे नगरे श्रीषेणनामा न्यायवान् सम्यक्त्वधारको जनवत्सलः सकलगुणालङ्कारधारको महाराजोऽभूत्। तस्य राज्ञोऽभिनन्दिताशिखिनन्दितानाम्न्यौ द्वे प्रिये बभूवतुः, कामस्य रतिप्रीती इव। तयोराद्याऽभिनन्दिता जगदुद्द्योतकारकौ द्वौ नन्दनौ सूते स्म। तयोराद्य इन्दुषेणः, द्वितीयो बिन्दुषेणः। क्रमेण तौ वृद्धिं गतौ शस्त्रशास्त्रविचक्षणौ यौवनं प्रापतुः। तयोस्तातेन बह्व्यः कन्यका राजपुत्र्यः परिणायिताः। एवं सुखेन सुखमनुभवतोः दिनानि यान्ति स्म। अथ तस्मिन्नेव पुरे सर्वकलानां पारदृश्वरी अनङ्गसेनाभिधा गणिकाऽभूत्। लावण्यरसनिम्नगायास्तस्या रूपमोहितौ द्वावपि राजनन्दनौ मिथो वने गत्वा संनद्धबद्धावकलहोयताम्, करिण्याः करिणाविव। ततो द्वावपि पुत्रौ राज्ञा निवारितौ, परं तथापि कामक्रोधाद् न विरेमतुः। ततो राजाऽचिन्तयत्—धिक्कामचेष्टितम्, यतः—सुवंशजावप्येतौ मत्तनयौ वेश्यार्थं परस्परं युद्धयेते। धिग् वेश्याविलसितम्।

यतः—"मनस्यन्यद् वचस्यन्यद् क्रियायामन्यदेव हि ।
यासां साधारणस्त्रीणां ताः कथं सुखहेतवः?" ॥ १ ॥

ततस्तयोः पिता राजा श्रीषेणः पुत्रविलसितेन विषम विषमास्वाद्य परलोकं ययौ । पत्युर्वियोगेन तस्य द्वे अपि पत्न्यौ अभिनन्दिताशिखिनन्दिते तथैव विपेदाते । तावपीन्दुषेणबिन्दुषेणौ वेश्यार्थं युद्धं कृत्वा क्रोधोद्धतौ मृत्युमापतुः । भोः पाण्डवाः ! स्त्रीनिमित्तमित्थं कुटुम्बसंहारः पूर्वमभवत् । साम्प्रतमप्येकस्त्रीरिरंसूनां भवतां निश्चितं क्षेमं न पश्यामि । अत एवाऽहं मर्यादां कर्तुं समागतोऽस्मि । तस्मात् सर्वैरपि बन्धुभिरहर्निशमनया मर्यादया वर्तितव्यम् ।

यथा—"यदा युष्माकमेकः स्याद् द्रौपदीवासवेश्मनि । कार्यतोऽपि तदाऽन्येन न गन्तव्यं कथञ्चन ॥१॥
कथञ्चिदथ यः कोऽपि भिनत्ति समयं यदि । वनवासाय गन्तव्यं तेन द्वादशवत्सरीम्" ॥२॥

सुखेन काल-निर्गमनम्

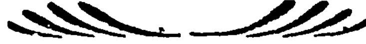
इति नारदगिरमायतिक्षेमकारिणीं श्रुत्वा हृष्टाः कौन्तेयाः मुनिनाऽऽदिष्टं सर्वमनुमेनिरे । एवंविधां मर्यादां कृत्वा नारदर्षिः स्वेच्छयाऽम्बरे उत्पपात । हृषीकेशोऽपि पाण्डुपुत्राननेकैरुपचारैः संभाष्य स्वां पुरीं द्वारकां समाययौ ।

"इति समयनिरुद्धकामचाराः प्रणयप्रह्वधियः परस्परेण ।
सहविहितसमस्तकेलिरम्यं गमयन्ति स्म दिनानि पाण्डवेयाः" ॥ १ ॥

इति श्रीमत्तपागच्छभट्टारक—श्री ५ हीरविजयसूरिपट्टालङ्कारभट्टारकश्रीविजयसेनसूरिराज्ये पण्डितश्रीदेवविजयगणीविरचिते गद्यबन्धबन्धुरे श्रीपाण्डवचरिते द्रौपदीस्वयंवरवर्णनो नाम चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

अर्हम्

अथ पञ्चमः सर्गः



अथ तेषां पाण्डुपुत्राणामन्वहं मुनेः समयमनुजग्मुषां परस्परमखण्डा प्रीतिरभूत्। सा पाञ्चाली वारं वारं वारकेण पाण्डवैः सह विलसन्ती तेभ्यः पाण्डवेभ्यः पृथक् पृथक् पुत्रान् प्राप। ते पुत्राः पञ्च पञ्चधात्रीभिर्वर्धितास्त्रिजगत्प्रिया लोकपालोपमा भिन्नाभिधानाः पञ्चाऽपि पाञ्चालापराभिधाः पृथिव्यां पप्रथिरे। पाण्डुपुत्राणां सौभ्रात्रं द्रौपद्याश्च सतीव्रतमवलोकयितुकाम इव शरदृतुरुपागमत्। ततस्ते पाण्डवेया द्रौपद्या सममुद्यानकेलिभिः क्रीडन्ति स्म। एकस्मिन् दिने धनञ्जयेन धनुर्विद्यानिपुणेन विद्यागुरुपुरत एषा प्रतिज्ञा जगृहे—यदहं चौरापहृतं पुरधेनुकं श्रुत्वा यावत् प्रत्यावर्त्य नानयामि, तावदऽन्नपानादिकं न करोमि। एवं दिनानि यान्ति स्म।

गोधनापहरणम्

एकस्मिन् दिने सर्वं तत्पुरधेनुकं तस्करैरपाहारि। ततस्ते वल्लवास्तैः सह किञ्चिद् युद्धं कृत्वा तस्करैस्तिरस्कृता नगरद्वारे समागत्य हृता गाव इत्युक्त्वा बाढं पूच्चक्रुः। तच्छ्रुत्वा धाविता लोकाः। शौण्डीरचूडामणिः फाल्गुनोऽपि गोग्रहं श्रुत्वा क्रोधाग्निनाऽन्तर्जज्वाल। तदाऽर्जुनेन प्रजाकृते प्राणानपि त्यक्तुमिच्छता नारदकृतसमयभेदोऽप्यकारि। यतो युधिष्ठिराधिष्ठिते द्रौपदीक्रीडावासवेश्मनि गाण्डीवं धनुरक्षयतूणीरमादातुं फाल्गुनोऽविशत्। ततः स वीरमुख्यो धनञ्जयः सधनुस्तूणीरो रथमारुह्य तद्धेतुरनुधावितः, तस्करान्निर्जित्य हेलया पौरैरभिनन्दितः पुरस्कृत्य धेनूर्नगरं निनाय। ता दृष्ट्वा हृष्टैर्नागरिकैः स्तुतो धनञ्जयो गोपैः परिवृतो नारायणोपमः पुरद्वारे समागात्। ता धेनवो वत्सोत्सुकाः पार्थस्य यश इवोज्ज्वलं

क्षीरं क्षरन्त्यः स्वस्वधामन्युपतस्थिरे। अथाऽर्जुनो नगरगोपुरस्थितो नारदर्षिकृतस्वप्रतिज्ञाभङ्गं ज्ञात्वा कुन्तीपाण्डुयुधिष्ठिराणां च प्रष्टुं कुटुम्बं च प्रष्टुं कञ्चित् पुरुषं प्रेषयामास। स पुरुषः मातापित्रोरन्तिके गत्वा संयोजितकरकमलयासल एवमवोचत्।

यथा—"अभिद्यत मुनेरद्य प्रजार्थे समयो मया। विवेचयन्ति नो किञ्चित् कुरुवंश्या हि तत्कृते ॥ १ ॥

करिष्ये तीर्थयात्रां तद् वने द्वादशहायनीम्। ताः प्रमाणीभवन्त्यद्य गरीयस्यो मुनेर्गिरः ॥ २ ॥

तन्मे तीर्थाद्रिकान्तारविहाराय प्रसीदत। अविघ्नं च करिष्यन्ति युष्मत्पादाः स्थिता हृदि" ॥३॥

इत्यर्जुनवाचिकं सेवकमुखात् श्रुत्वा जननीजनकौ सपरिवारौ धनञ्जयान्तिके समागत्य करे धृत्वैवमवोचताम्—हे वत्स! बाले वयसि कोऽयं तव तीर्थारण्यमनोरथः?, यतः कुरवो हि सुतोपहितभारा वनवासिनो भवन्ति। अतस्त्वमपि पुत्रे राज्यभारधुरन्धरे जाते तीर्थारण्यमनोरथं विधेहि, यतो महोक्षवाह्ये भारे तर्णकः किं योज्यते?। त्वमपि तर्णकप्रायो राज्यलीलया गृहे तिष्ठ। पुनर्मात्रोक्तम्—हे पुत्र! त्वां विना वासरो मम वत्सरायते। तथा दधिदुग्धादिभिः पोषितमेतत्तव वपुर्वनफलाहारैः कथं वर्धिष्यते?। तथा पुरा छत्रैः रुद्धप्रतापो भानुः सेर्ष्य इवाधुना पथि त्वां स्वकरैर्व्यथयिष्यति। तथैतां त्वय्यासक्तां भर्तृभक्तामिन्दुमुखीं तव विरहे साश्रुलोचनां स्नुषां द्रौपदीं विहातु कथमीहसे?। इति जनन्यां वदन्त्यां युधिष्ठिरो ज्येष्ठबन्धुरस्तोकशोकसमाकुलो लघुबान्धवमर्जुनमेवमभाषत—हे बन्धो! मातापितरावतिक्रम्य यत् कार्यं क्रियते, तत् सफलं नो भवति। भवतापि कोऽयं मुनेर्वाक्यस्य भेदोऽकारि?, अत्र किञ्चित्तव दूषणं नास्ति, त्वया तु परोपकृतये एतद्विहितम्; परार्थे कृतस्य कार्यस्य दूषणं न भवति, अतो विदेशगमनं मा विधेहि।

अथ भीमोऽर्जुनं जगाद—भो बान्धव! धनञ्जय! भवद्विरहे कातरमिदं मम मानसं स्फुटतीव।

अन्यत् त्वयि कान्ताराय गतेऽस्माकं विविधकेलिभिः कः क्रीडां कारयिष्यति ?। अथार्जुनो धैर्यमवलम्ब्य स्वप्रतिज्ञानिर्वाहणाय स्वबान्धवान् प्रति जगाद—भो बान्धवाः ! युष्माकं केयं स्नेहकातरता ?, यत् स्वप्रतिज्ञा-पूरणाय मम विदेशं जिगमिषोर्निषेधकरणम्। अतो मां विदेशगमनाय यूयमनुमन्यध्वं, यथा ममाङ्गीकृतव्रतस्य निर्वाहो भवेत्। तथा मुनेर्वाचोऽपि सत्या भवन्तु। एवमुक्तियुक्त्या युधिष्ठिराज्ञां लात्वा मातापितरावनुज्ञाप्य भीमादिभ्रातॄन् संबोध्य चलनोपक्रमं व्यधात्। ततोऽमङ्गलभिया बाष्पबिन्दून्निरुन्धती द्रुपदात्मजा प्रस्थित पार्थमेवं जगाद।

यतः—"तव वर्त्मनि वर्ततां शिवं पुनरस्तु त्वरितं समागमः।
अयि ! साधय साधयेप्सितं स्मरणीयाः समये वयं वयम् !" ॥ १ ॥

द्रुपदात्मजा धनञ्जयं पुनरुवाच—हे प्राणेश ! देशान्तरं गत्वा नूतनाः काश्चिद्विद्याः काश्चिल्लक्ष्मीरर्जयित्वा शीघ्रं समागच्छेः। इति ब्रुवाणां प्रेमपरायणां प्रह्वीभूतान्तराशयां प्राणप्रियां द्रौपदीमनुव्रजन्तीं चालिङ्ग्य प्रियवाक्यैः संस्थाप्य सतूणचापभृदेकाकी पौरान्निवर्त्याऽग्रे चचाल। धनञ्जयं मार्गे गच्छन्तं दृष्ट्वा द्रौपदी प्रेम्णा दृशा पपौ। धनञ्जयोऽपि वारं वारं वलितकन्धरो द्रौपदीमालोकयन् मार्गे सचचार। एवं मार्गे संचरतस्तस्य धनञ्जयस्यैकं महत् सरः समागात्। तस्मिन् सरसि जलक्रीडां कृत्वाऽङ्गशौच विधाय जिनेश्वरं प्रणिधाय च वन्यफलैः फाल्गुनो देहाधारमाहारमतनोत्। तस्मिन् सरस्तीरे कृताहारो धनञ्जयः स्वकृतवन्यपुष्पतल्पे सुखसुप्तो मध्यन्दिनमत्यगात्। ततश्चलितो धनञ्जयः कौतुकाकुलां महीमतिक्रामन्नेकां भैरवीं संचरत्प्रचुरचौरसमाकुलां रौद्रां घोरां भयंकरां मानुषोज्झितां अनेकारण्यजन्तुसहितां शिवाफूत्कारघोरां सिंहव्याघ्रशूकरवानरचित्रकवेतालव्याप्तां गिरिनदीनिर्झरवल्लीवितानवनराजिविराजितां एवंविधां महाटवीं विवेश।

अर्जुनस्य
वन प्रति
प्रयाणम्

ततस्तस्यामटव्यां संचरन् मृगारिरिव पार्थ एकं गिरिरत्नशिखरं धरित्र्याः शिरोरत्नं ददर्श। तं गिरिशिखरं दृष्ट्वा तद्द्रुमकुसुमासवलुब्धः सव्यसाची कुतूहलात्तस्मिन् गिरावारुरोह। तस्य गिरेः शिखर एकं जिनचैत्यमद्राक्षीत्। चैत्यवर्णनम्—चन्द्रकान्तमणिमयं प्रभाजालैर्द्योतितदिग्मुखमिन्द्रनीलाङ्कितद्वारं रक्तसोपान-श्रेणिशोभितं स्वर्णस्तम्भकुम्भैरलंकृतम्। भूगतदेवविमानमिवाऽर्जुनो जिनमन्दिरं दृष्ट्वा मुमुदे। सोऽर्जुन-स्तदुद्यानदीर्घिकाऽम्भसि स्नात्वा प्रमोदमेदुरो वापीकमलोत्करं समादाय जिनमन्दिरं प्रविवेश। तत्र गत्वा प्रदक्षिणां दत्त्वा श्रीयुगादिजिनेश्वरं नत्वा पूजां विधाय स्तोतुं प्रचक्रमे।

यथा—"जय नाभिकुलक्षीरनीराकरनिशाकर!। जयाऽशेषजगद्दुःखनिदाघजलदागम! ॥ १ ॥
देव! संसारकान्तारपर्यन्तपुरपादपाः। पादास्तव भवक्लान्तिविच्छेदाय भवन्तु मे" ॥ २ ॥

इत्यादिस्तुतिं विधाय धनञ्जयो यावता जिनालयमवलोकयन् बहिः संचचार, तावद्गिरिशिखरान्तरे कश्चित् पुरुषं मरणोद्यमं कुर्वन्तं, तथा हे प्राणेश! मा म्रियस्वेत्युक्तवतीं भर्तृपादाम्बुजे मौलिं घर्षयन्तीं स्ववदनाम्बुजेऽङ्गुलीं प्रक्षिपन्तीं भर्तुरुत्तरीयप्रान्तं चाकर्षयन्तीं मुहुर्मुहुर्विलापं कुर्वतीं काञ्चिन्नायिकां तं निषेधयन्तीं धनञ्जयो ददर्श। तत्स्वरूपं दृष्ट्वा तत्र शीघ्रं गत्वाऽऽदरात् तमभाषिष्ट—हे महाभाग! हे गुणज्ञ! त्वया निर्गुणोचित एष कथमारब्धो मरणोद्यमः?। यदि गोप्यं न स्यात् तर्हि सर्वं सत्यं ममाख्याहि, यथा त्वां दुःखस्याऽन्तं नयामि। सोऽपि पाणिसंपुटमाबध्य धनञ्जयं जगाद—हे परोपकारिशिरोमणे! तवाग्रे किं गोप्यमस्ति?, यदि तवाग्रे गोप्यते तर्हि कस्याग्रे प्रोच्यते। ततश्चार्जुनोऽभ्यधात्—हे पुरुषशिरोमणे! विश्वत्राणैकदीक्षितान् कुरून् परिज्ञाय त्वं मां सर्वं सत्यं समाख्याहि, यथा ते दुःखस्यान्तं करोमि।

तच्छ्रुत्वा हर्षितो विद्याधर एवमवोचत्—वैताढ्ये दक्षिणश्रेण्यां रत्नपुरं नाम नगरमस्ति। तत्र

चन्द्रावतंसको नाम राजाऽभूत्। तस्य पट्टराज्ञी कनकसुन्दरीनाम्नी, तयोः पुत्रो मणिचूडो नाम सोऽहम्, तयोः पुत्री प्रभावतीनाम्नी मम भगिनी। सोऽहं मणिचूडनामा बाल्ये वयसि केलिलीलाभिरतिक्रान्तशैशवः पितृभ्यां गुरुभ्यः सकलाः कला ग्राहितः। क्रमेण यौवनस्थोऽहं पित्रा चन्द्रापीडराज्ञः सुतां चन्द्राननां परिणायितः। मद्भगिनी प्रभावती हिरण्यपुरनाथाय हेमाङ्गदमहीभुजे दत्ता। तथा कुलक्रमायाता विद्याऽपि तातेन मम दत्ता। यावदहं विद्यां तातर्पिता साधयामि, तावन्मम पिता मृत्वा परलोकं ययौ। अहो! विधिविलसितम्, अहो! सकलभयजित्वरं मरणभयम्, परं केनाऽप्युल्लङ्घयितुं न शक्यते; इति भावयद्भिस्ततः सकलसामन्तमन्त्रिभिरहं राज्ये निवेशितः। कतिपयदिनान्ते मम दायादो विद्युद्वेगनामा विद्याधरः खेचरानीकपरिवृतो युद्ध विधाय मां नगरान्निरवासयत्। दायादहृतसाम्राज्यो दुःखभारभराक्रान्त एकाकी यावदहमत्राऽऽगाम्, तावदेषा मम प्रिया चन्द्राननाऽपि पितृगृहादत्रागता, युक्तमेतत्, कुलस्त्रीणां व्रतं ह्यदः। सोऽहं मणिचूडः, एषा मम प्रिया चन्द्रानना प्रेमपरा राज्यभ्रंशात् प्राणत्यागाय गच्छन्तं मां निवारयति।

मणिचूडेन स्वव्यथा-कथनम्

अथ गाण्डीवो मणिचूडं जगाद–भो मणिचूड! मयि बान्धवे सत्यपि ते कोऽयं मरणनिर्बन्धः?, त्वं चिन्तां मा विधेहि, अहं तवाऽरातिं निहत्य पुनस्तव राज्यश्रियं दास्ये। तद्वचनं श्रुत्वा मणिचूडो बभाषे–हे भ्रातः! अहं जानामि त्वयि सर्वं भविष्यत्येव, परं ते विद्याधरा विद्यया बलवन्तः परैर्विद्यारहितैः पुरुषैरजेयाः। अतस्त्वमपि मत्कुलक्रमायाता विद्याधरयोग्याः विद्याः साधय। ततस्त्वमपि विद्यावान् परैरजेयो भविष्यसि। धनञ्जयेनोक्तम्–तर्हि मह्यं विद्या देहि। ततो निजवल्लभां चन्द्राननां पितृगृहे प्रेष्य मणिचूडेन विद्या दत्ताः, धनञ्जयस्ताः साधयामास। योगाऽऽसक्तयोगीन्द्रवद् बद्धपद्मासनो नासाऽग्रन्यस्तदृग्द्वन्द्वो मेषोन्मेषरहितः प्रारब्धषाण्मासिकजापसहितो धैर्यान्वितोऽर्जुनो मन्त्रं जजाप। तस्मिन् बद्धपद्मासने ध्यानतत्परे धनञ्जये क्रव्यादादयो देवा धनञ्जयं चालयितुं प्रारेभिरे। यथा–केऽपि कर्तिकाभिः शवोदरं दारं दारं मांसखण्डानि

कृत्वा चिक्षिपुः, केचिन्नरमुण्डमालाभिर्हारं वितेनिरे, केचिन्मातङ्गरूपधारिणो देवाः कोपान्धचेतसो धनञ्जयं तीक्ष्णैर्दन्तमुशलैस्ताडयामासुः, केचित्सिंहरूपेण भाययामासुः, केचिद्भुजङ्गमदेहभृतः शिरस्यारुह्य वपुषा वपुर्वेष्टयामासुः, केचित्कुन्तीरूपं विकृत्य हे धनञ्जय! मां रक्ष रक्षेतिवादिनीं दीनाननां दर्शयामासुः, केचित् कृष्णां कृष्णाननां विटपुरुषैः केशे धृत्वाऽऽकृष्यमाणां रुदतीं दर्शयामासुः, तथाप्यर्जुनो मनागपि ध्यानान्न चचाल। एवं षण्मासान् यावद् ध्यानस्थो धनञ्जयो मणिचूडविद्याधरेणोत्तरसाधकेनाऽष्टौ महाविद्याः प्रज्ञप्त्याद्याः साधयामास। ता अष्टौ देव्यो विद्याधिष्ठायिन्यो धनञ्जयं प्रत्यागत्य विज्ञापयामासुः—भो धनञ्जय! ब्रूहि यत्ते प्रियं तत् कुर्मः। धनञ्जयेनोक्तम्—यूयं स्मृतमात्राः समये समागमिष्यथ। सांप्रतमेष मणिचूडो मम बान्धवो विद्यागुरुश्चाऽनुगृह्यताम्। ता देव्यो विहस्य प्रोचुः—अस्य मणिचूडस्य कार्यं करिष्यते, परमस्माकमयं क्रमः—योऽस्मानाराध्यति कामं वयं तस्यैव तुष्यामः, अपरस्य कदापि न तुष्यामः, परं तवाऽस्मिन्नुपकारतरङ्गितं चेतस्तदाऽस्य सकृदाराधने तोषमेष्यामः। इत्युक्त्वा जयजयाराव कुर्वाणाः स्वस्थानं जग्मुः। धनञ्जयोऽपि सिद्धविद्यो बभूव।

अथ मणिचूडः पितृदत्तां स्वां विद्यां पार्थानुज्ञया तस्मिन्नुत्तरसाधके स्वल्पैरेव दिनैः साधयामास। उभावपि मणिचूडधनञ्जयौ साधितविद्यौ चन्द्रसूर्याविव गिरेरुपरितनभूम्यामुपविष्टौ यावत् शुशुभाते, तावदाकाशे किङ्किणीक्वाणझणत्कारिदिगन्तरं पताकाशतभूषितं विद्युदुद्द्योतवद् मरीचिकवचमम्बरादवतरद् विमानद्वयमद्राक्षीत्। ततो विमानादवतीर्य पार्थं मणिचूडं च व्योमचारिणो विद्याधराः प्रणेमुः। ततो द्वावपि शुभे स्नानपीठे निधाय स्नानं कारयामासुः। ततस्तयोः कवोष्णैः सुगन्धिवारिभिः स्नानं कारयित्वा गन्धकाषायिकाभिः शाटिकाभिरङ्गं संमार्ज्य ततश्चन्दनानुलिप्तगात्रौ विधाय देवदूष्यवासांसि परिधाप्य भूषणैर्भूषयामासुः। केचिद्विद्याधरास्तयोरुपरि चन्द्रमण्डलसमप्रभं श्वेतातपत्रमधारयन्। तयोर्द्वयोः पार्श्वयोः केचन विद्याधरवरा-

श्रामराण्यवीजयन्। तथा तयोर्द्वयोः पुरः काश्चन विद्याधर्यस्तालवंशवीणाद्यातोद्यबन्धुरं सङ्गीतकमकार्षुः, तयोः पुरः केचनाऽकठोरगिरो मङ्गलपाठकास्तद्यशः पेठुः। एवं प्रवर्तमाने महामहे तौ चिन्तयतः—एतत् कि दृश्यते ?। एवं तयोश्चिन्तयतोः सहसाकारेण विमानान्निर्गत्य चन्द्रानना मणिचूडविद्याधरपत्नी पुरो बभूव। तां यथोचितं संभाषयन्तौ तयाऽऽशीभिरभिनन्दितौ चन्द्राननासहितौ विमाने श्रारुह्य भेरीभाङ्कारडम्बरैर्दश दिशो बधिरयन्तौ तावुभौ शीघ्रं विजयाय वैताढ्यगिरिं प्रति प्रतस्थाते।

एवं क्रमेण मार्गे संचरन्तौ लघुविमानैः परिवृतौ वैताढ्यगिरिमूर्धनि रत्नपुरनगरद्वारमुपेयतुः। तत्रावस्थितिं विधाय धनञ्जयो विद्युद्वेगाय दूतं प्राहिणोत्। स दूतो विद्युद्वेगमभ्येत्य सोत्साहमेवमभ्यधात्—भो विद्युद्वेग ! महाबाहुर्मध्यमपाण्डवोऽर्जुनो मन्मुखेन त्वामिदमाह—मदीयसुहृदोऽस्य मणिचूडस्य राज्यं त्वया बलाद् गृहीतं प्रत्यर्पय, यदि जीवितेच्छा भवति तर्हि शीघ्रं राज्यं मुक्त्वा त्वं स्वस्थानं याहि, यदि जीवितव्यादुद्विग्नोऽसि तर्हि संग्रामे सज्जो भव, यथैते मे बाणाः प्रथमं भवदीयं शिरो ग्रहीष्यन्ति, ततः सुहृदः श्रियो ग्रहीष्यन्ति। तद् विद्युद्वेगाय धनञ्जयोक्तं सर्वं श्रावयामास। ततो विद्युद्वेगोऽभ्यधात्—रे दूत ! कोऽसौ धनञ्जयो भूमिगोचरकीटो मर्तुकामः ?, यो मां सुप्तसिंहं पादघातेन बोधयति। भो दूतपांशन ! तव स्वामी धनञ्जयो मम दोर्वीर्यानले प्रथमेन्धनं भविष्यति, ततो मणिचूडं धक्ष्यामि। ततः प्रतिनिवृत्तो दूतोऽर्जुनान्तिके गतो विद्युद्वेगोक्तं सर्वं समाचख्यौ। कुपितोऽर्जुनो मणिचूडसैन्यसमावृतः संग्रामसज्जो बभूव। विद्युद्वेगोऽपि नगरान्निर्गत्य सेनासमन्वितः करधृतकार्मुको विद्याबलगर्वितः संमुखमागात्। ततो द्वावपि परस्परं संग्रामं चक्राते। तस्मिन् महति संग्रामे जायमाने मणिचूडविद्याधरभटैर्विद्युद्वेगभटा वित्रासिता दिशोदिशं पलायिताः। ततश्चार्जुनबाणैर्विद्धो विद्युद्वेगो वीरव्रतविपर्यासात् संप्राप्तलाघवः प्राणत्राणाय पलायामास। ततो विद्युद्वेगचमूचराः संभूय तमर्जुनं प्रणेमुः। स च तान् बहु मेने। पश्चाद् धनञ्जयो विमानारूढो मणिचूडं

पुरस्कृत्य विजयसंयुक्तो रत्नपुरं नगरं विवेश। महामहेन नगरं प्रविष्टो धनञ्जयः सकलनागरिकैरभिनन्दितो मणिचूडविद्याधरं पैतृके पदेऽभ्यषिञ्चत्। ततो मणिचूडोऽपि पैतृकं राज्यमपालयत्। धनञ्जयस्तत्र स्थितः कतिपयदिनान्यत्यवाहयत्।

पुनरपि कतिपयदिनान्ते तीर्थदिदृक्षया मणिचूडमपृच्छत्। ततो मणिचूडेनाऽनुज्ञातः सव्यसाची विमानमारुह्याऽष्टापदं गिरिं ययौ। तत्र गत्वा सपरिवारो धनञ्जयो वाप्यम्भसि स्नानमाततान। कृतस्नानो विद्याधरपरिवृतो धनञ्जयो जिनमन्दिरं विवेश। स च तत्र प्रथमं प्रदक्षिणां दत्त्वा ततः पूजोपस्कर पुरो मुक्त्वा कृताष्टपुटमुखकोशोऽष्टप्रकारेण जिनं पूजयामास।

यतः–"[1]वरपुप्फगन्धअक्खयपईवफलधूवनीरपत्तेहिं। नेवज्जविहाणेण य जिणपूआ अट्ठहा भणिआ ॥१॥
[2]जो पूएइ तिसंझं जिणंदरायं तहा विगयदोसं। सो तइयभवे सिज्झइ अहवा सत्तट्ठमे जम्मे ॥ २ ॥
फलं पूजाविधातुः स्यात् सौभाग्यं जनमान्यता। ऐश्वर्यं रूपमारोग्यं स्वर्गमोक्षसुखान्यपि" ॥ ३ ॥

एवंविधां मोक्षसुखदायिनीं पूजां विधाय नभश्चराः स्वच्छन्दमातोद्यानि वादयामासु.। अथाऽर्जुनश्चतुर्विंशतिजिनानां मध्ये प्रथमं प्रथमजिनस्य स्तुतिं चक्रे–जय त्रिभुवनैकनाथ! कृतमनाथजगत्त्रय! जय कामितकल्पवृक्ष! जय जगदाधार! जय जगत्त्रयस्थितिकर्तः! जय अनाथनाथ! जय युगादिनाथ!।

---

१. वरपुष्पगन्धाक्षतप्रदीपफलधूपनीरपात्रैः। नैवेद्यविधानेन च जिनपूजा अष्टधा भणिता ॥ १ ॥
२. यः पूजयति त्रिसन्ध्यं जिनेन्द्रराज तथा विगतदोषम्। स तृतीयभवे सिद्धचति अथवा सप्तमाष्टमे जन्मनि ॥ २ ॥

एवंविधां स्तुतिं कृत्वा त्रयोविंशतिजिनान् स्वस्वसंस्थानमानवर्णसहितान्नमश्चक्रे । ततः प्रासादान्निर्गत्य चतुर्दिक्षु प्रासादकमनीयतामवलोकयन् भरतयशोराशिमिव प्रासादं प्रशंसन् यावत्तस्थौ, तावत्तत्रैकं चारणश्रमणं ददर्श । तद्दर्शनात् संजातरोमाञ्चो मूर्तिमन्तं धर्ममिव दृष्ट्वा तमानम्य तदन्तिक उपविश्य भवाम्भोधितरीकल्पां तन्मुखाद्धर्मदेशनामश्रौषीत् ।

यथा—"अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः । सदा सन्निहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसंग्रहः ॥१॥
याति कालो गलत्यायुः क्षीयन्ते च मनोरथाः । सुकृतं न कृतं किञ्चित् सतां संस्मरणोचितम् ॥२॥
धर्मो जगतः सारः सर्वसुखानां प्रधानहेतुत्वात् तस्योत्पत्तिर्मनुजात् सारं तेनैव मानुष्यम्" ॥३॥

भो भविकाः ! एवंविधं मानुष्यभवं दुष्प्रापमवाप्य धर्मे यत्नो विधेयः । इत्यादिकर्णपीयूषवर्षिणीं मुनिदेशनां श्रुत्वाऽऽनन्दाम्भोधिनिमग्नो धनञ्जयस्तं मुनिमानम्य विमानारूढो गगनमार्गेण संमेतशत्रुञ्जयादितीर्थेषु देवान् नत्वा स्तुत्वा पूजयित्वा तीर्थसेवां कृत्वा द्वादशवत्सरीमतिक्रम्य स्वजनाय मिलनोत्सुको यावत् हस्तिनापुरं प्रत्यचालीत्, तावद् मार्गे शोकार्तलोकसंकुलमेकं वनमद्राक्षीत् । तत्स्वरूपावलोकनाय केसरं नाम खेचरं प्राहिणोत् । स तत्र गत्वा तत्स्वरूपं विज्ञाय धनञ्जयं प्रत्युवाच । श्रूयतां राजन् ! हिरण्यपुरं नाम नगरमस्ति । तस्मिन्नगरे इन्द्रोपमो हेमाङ्गदो नाम राजाऽस्ति । तस्य राज्ञः प्रभावती नाम पट्टराज्ञ्यस्ति । तामद्य यामिनीशेषे चन्द्रशालाऽधिशायिनीं कोऽप्यकस्मात् सुखसुप्तामपाहरत्, श्येनश्चटिकामिव । साऽपह्रियमाणा रक्ष रक्षेतिवादिनी राजानमजागरयत् । जागरितो राजा भ्रकुटीभीषणः कृपाणमाकृष्य रे चौर ! तिष्ठ तिष्ठेति ब्रुवन् दधावे । कियतीं भुवं गत्वा तां वल्लभामलब्ध्वा फालच्युतद्वीपीव प्रत्यावृत्तः । ततः शत्रुमपाकर्तुं वल्लभां च निवर्तयितुं सैन्यं संवर्मयांचक्रे । तस्या धम्मिल्लमाल्यश्रेणीं भूमिपतितां पदपङ्क्तिमिवालोक्य तया कुसुमलेखया

दर्शितमार्गो हेमाङ्गदो राजा इयतीं भुवमायातः। तां पतितकुसुमश्रेणीमनालोक्य ससैन्यो राजा इतस्ततो भ्राम्यति।

इति केसरविद्याधरस्य वाचं सुदुःश्रवां श्रुत्वा धनञ्जय इदमब्रवीत्—हे केसर! एषा हेमाङ्गदपत्नी प्रभावती, तर्हि एषा मणिचूडभगिनी, ममाऽप्येषा भगिन्येव, तर्हि एनां मोचयामीत्युक्त्वा केसरो राजानं प्रति प्रेषितः। तत्र गत्वा हेमाङ्गदं राजानं प्रत्याह—भो हेमाङ्गद! धनञ्जयो मध्यमपाण्डवो मन्मुखेनेदमाह—भो हेमाङ्गद! त्वं स्वस्थचित्तो भव, अहं तव प्रियां प्रभावतीमखण्डितशीलां समानेष्यामि। ततः स केसरो हेमाङ्गदाय इत्यर्जुनवाचिकमुक्त्वा प्रत्यागतः। ततश्चार्जुनोऽवलोकिन्या विद्यया प्रभावतीतस्करं विज्ञाय क्रोधारुणलोचनः कपिध्वजो व्योमाध्वना दधावे। राजाऽपि इतस्ततो भ्राम्यन् यावत्तिष्ठति, तावत् केनाप्यागत्य हेमाङ्गदो वर्धितः। हे देव! वर्धाप्यसे, प्रभावती देवी कुसुमोच्चयं कुर्वाणा वर्तते। तच्छ्रुत्वा धावितो राजा प्रभावतीसमीपमागत्य यावदानन्दरसनिमग्नोऽभूत्, तावत् प्रभावती अकस्माद् दन्दशूकेन दष्टा पूत्कुर्वती मूर्च्छिता भूमौ पपात। तद् दृष्ट्वा राज्ञः शोकः शतगुणोऽभवत्। यतः 'कृतनिर्वातदीपस्य तमो हि बहुलायते', तथैवास्य राज्ञः सा प्रभावती प्राणप्रिया लब्धाऽपि नष्टा दुःखायाऽभवत्।

यथा—"ततो विस्रस्तधम्मिल्लः क्षिप्तक्षौमो लुलद्भुजः।
निमीलिताक्षो मूर्च्छालः क्ष्मापालः क्ष्मातलेऽपतत्" ॥ १ ॥

तथाविधं क्ष्मापालं विरहविधुरं भूमौ लुठन्तं समालोक्य लोकानामाक्रन्दध्वनय उत्तस्थुः। तदा कदलीदलवातैर्वीजितः तथा चन्दनादिभिः शीतलोपचारैरुपचरितो राजा सावधानो बभूव। ततः सावधानो राजा हेमाङ्गदः प्रियां प्रभावतीमुत्सङ्गशायिनीं कृत्वाऽटवीसत्त्वानपि रोदयन् एवं विललाप—हे विधे! त्वं हेमाङ्गदे यदि

कुपितोऽसि, तर्हि प्रथमं हेमाङ्गदप्राणान् कथं न हरसि ?; मम प्रियायाः प्राणाः कथं हृताः ?। अहो ! त्वया विरूपमाचरितं, यत् स्त्रीपातकं कृतम्। हे देवि ! बुध्यस्व मौनमाधाय सुखसुप्ता इव किं तिष्ठसि ?; त्वं मां विलपन्तं दृष्ट्वा किं न लज्जसे ?; अहं तव विरहे निजप्राणान् तवाऽऽयत्तान् विधास्ये, त्वद्वियोगमलीमसैरमीभिर्मम प्राणैः किम् ?। एवं विलापं कृत्वा यावता मरणायोद्यतो भवति, तावता पौरामात्यादयः पादपीठलुठितमौलयो राजानं साश्रुनेत्रं मृत्युसाहसाद् मुहुर्मुहुर्निवारयामासुः। तैर्लोकैर्निवारितोऽपि भूशक्रः प्रियाविरहव्यथां जीवितान्तकारिणीं ज्ञात्वा चितामासूत्रयामास। ततः सकलोऽपि राजलोको महीपालमनुगन्तुकामो देहत्यागोचितां बह्वीं चितां निर्ममे।

राज्ञश्चिताप्रवेशप्रयत्न

अथ राजा हाहाकारमुखरे लोके प्रियामुत्सङ्गमारोप्य यावता चितां विशति, तथैव सकलोऽपि राजलोकः स्वां स्वां चितां प्रवेष्टुमुपचक्रमे। तथा राजादयो लोकाः स्वां स्वां चितां सप्तार्चिर्ज्वालया यावद् ज्वालयामासुः, तावद् नभोमार्गात् प्रभावत्या सह पार्थोऽभ्यागात्। तत्रागतोऽर्जुनो धूमस्तोमव्याप्तनभोङ्गणं चिताशतसहस्रैः सङ्कुलं, दुःश्रवलोकाक्रन्दाक्रान्तं च वनखण्डं दृष्ट्वा शोकाकुलान् सकललोकान् पप्रच्छ–भो भो लोकाः ! किमेताश्चिताः सज्जिताः ?, यूयं प्रवेष्टुकामा इव दृश्यध्वे, राजापि मरणोद्यतस्तथैव दृश्यते ह्येतत् किम् ?।

लोकैरुक्तम्—स्वामिन् ! राज्ञी प्रभावती पुष्पोच्चयं कुर्वाणा राज्ञा लब्धा, तदनु सर्पदष्टा मृता, राजापि तां मृतां ज्ञात्वा स्वयं मरणोद्यतो जातः, राजानमनु एष सर्वोऽपि राजलोक आनृण्यमिच्छन् ज्वलनं प्रवेष्टुकामश्चितावह्निं सज्जीकृत्य यावता प्रविशति, तावत् त्व परोपकृतिकर्मठो नीरदनिभः काले जगज्जीवन इव समागाः। तच्छ्रुत्वा विस्मितो धनञ्जयः प्रभावतीं राज्ञे समर्प्य राजानं निर्वापयामास। तथा सर्वान् लोकान् गतशोकान् कृत्वा स्ववागमृतैः सिञ्चन्निर्वापयामास। ताश्चिता जलैः प्लावयामास। धनञ्जयो राजचितासमीपं

कृत्रिमां प्रभावतीं विलोकनाय यावता याति, तावता चितामध्यात् समुत्थाय विमुक्तस्फारफेत्कारा सर्वेषां पश्यतां कृत्रिमा प्रभावती पलायांचक्रे। ततो राजा स्वस्थो जातः। प्रभावत्याः सङ्गादात्मानं पीयूषनिमग्नममन्यत। ततः केसरविद्याधरो हेमाङ्गदपुरोभूय एवं व्यजिज्ञपत्—राजन्! एष पाण्डुपुत्रो धनञ्जयो तां विद्याधरापहृतां तव प्रियामानिनाय। तच्छ्रुत्वा सहसोत्थाय हेमाङ्गदो धनञ्जयं बन्धुप्रीत्या समालिलिङ्ग। ततो राजा धनञ्जयमुच्चे सिंहासने निवेश्य प्रियापहारवृत्तान्तं पप्रच्छ।

अथ पार्थादेशात् केसरविद्याधरो हेमाङ्गदाय प्रभावतीवृत्तान्तं सर्वं विद्यया विज्ञाय तस्मै कथयामास। यथा—हे राजन्! तव प्रियां तव समीपे क्रीडन्तीं वैडूर्यपुरनाथो मेघनादो हृत्वा हेमकूटं गिरिं गतः। तत्रेन्द्रनाम्नि उद्याने गत्वा तव प्रियां प्रति मेघनाद एवं वक्ति स्म—हे सुभ्रु! मर्त्यकीटेन हेमाङ्गदेन त्वं किं करिष्यसि? तव किं सुखं भविष्यति?, मां पतिं विधाय वैडूर्यपुरस्वामिनी भव, यथा तत्र स्थिता विद्याधरविद्याधर्यस्तव सेवां करिष्यन्ति। अथाऽऽवामिन्द्रेन्द्राण्याविवाऽहर्निशं सुखमनुभवावः। तथाऽहं तव गगनगामिन्यादिका बह्वीर्विद्याः शिक्षयामि। तया विद्यया त्वं विद्याधरी भूत्वा विमानारूढा व्योमगामिन्यनेकशो द्वीपशैलान् विलोकयन्ती देवीव स्वेच्छया सुखं क्रीड। इत्याद्यनेकवचनैर्यावत् प्रभावती प्रलोभयन् विहरति स्म, तावत् प्रभावती तं मेघनादं प्रत्याह—हे पाप! चापलं मुञ्च, किमर्थं जीवितं विजहासि? यतो मम पत्युः पुरः कस्त्वम्?, केऽन्ये विद्याधरादयः?, पुरुहूतोऽपि कातरः संग्रामे।

अतः प्रोच्यते—भो विद्याधरेश! मम प्राणेशखड्गदीपे त्वं शलभत्वं मा लभस्व। एवं वारं वारं तर्जयन्ती यावत्तिष्ठति, तावदवलोकिन्या विद्यया ज्ञात्वा धनञ्जयो विमानारूढो हत हतेति ब्रुवाणस्तत्रागात्। पार्थस्तं विद्याधरं जगाद—भो विद्याधराधम! एतां हेमाङ्गदराज्ञ. पत्नीं मणिचूडविद्याधरेशभगिनीं कपिध्वजस्यापि धर्मभगिनीं महासतीं प्रभावतीं पाणिना मा स्पृश, यतस्त्वमेनां बलात्कारेण संस्पृशन् विद्यारहितो भविष्यसि,

परस्त्रीसङ्गात् भस्मसाच्च भविष्यसि; अतस्त्वं दूरतो भव इत्येवं वदन्तं धनञ्जयं मणिचूडमित्रं दृष्ट्वा प्रभावती प्रोत्फुल्लवदना एवं जगाद—धन्याऽहं यद् समानुगो मम भ्राता धनञ्जयः समागात्। पुनस्तयोक्तम्—भोः कुलदेवताः! यदि प्रभावत्याः शीलप्रभावोऽस्ति, तर्हि सर्वाः कुलदेव्यो धनञ्जयशरीरमधितिष्ठन्तु, यथाऽर्जुनो युधि विजयी भवेत्; इति पतिव्रताव्रतश्रवणात् संतुष्टो धनञ्जयो नभश्चरं कर्कशया गिरा सततर्ज—रे विद्याधराधम! सज्जो भव, कृपाणं करे कुरु, ममाप्येष खड्गस्त्वामन्यस्त्रीसङ्गकारिणं दुष्टं शिक्षयिष्यति; इत्युक्त्वा धनञ्जयो विद्याधरं हन्तुं दधावे। विद्याधरोऽप्यर्जुनं तर्जयन् युद्धसज्जो दधावे। एवं तावुभावपि पूर्वं विद्यया युद्धं विधाय, ततः खड्गाखड्गि युद्धं कुरुतः स्म। एवं युद्धे जायमाने लब्धजयेन धनञ्जयेन मेघनादः स्कन्धे खड्गेन तथाऽऽहतो यथा मूर्छया भुवस्तले पपात।

ततश्चाऽर्जुनो दयार्द्रान्तरात्मा मूर्छालं विद्याधरं वस्त्राञ्चलेन संवीज्य चेतनामुपानीय एवमुवाच—हंहो विद्याधराधीश! सज्जो भव, पौरुषं मा कलङ्कय, एहि मया सह युद्धस्व; इत्यर्जुनगिरं श्रुत्वा भयविह्वलो मेघनादविद्याधरोऽर्जुनं पाण्डुपुत्रं विज्ञाय सोत्साहं बभाषे—भो अर्जुन! भूर्भुवः स्वस्त्रयीलोके त्राणशूराः पाण्डवा एव सन्ति, त्वयाऽहं जितः, तथा पुनस्त्वयाऽहं परस्त्रीसङ्गान्निवारितो नरकादुद्धृतश्च। अहो! धनञ्जय! अद्यप्रभृति परस्त्रीसङ्गं न करोमि।

यत—"शीलं नाम नृणां कुलोन्नतिकरं शीलं परं भूषणं,
शीलं ह्यप्रतिपाति वित्तमनघं शीलं सुगत्यावहम्।
शीलं दुर्गतिनाशनं सुविपुलं शीलं यशः पावनं,
शीलं निर्वृतिहेतुरेव परमं शीलं तु कल्पद्रुमः" ॥ १ ॥

प्रभावत्या शील-प्रभाव

एवंविधं शीलं मयाऽङ्गीकृतम्। अथैतां प्रभावतीं गृहाण, इत्युक्त्वा प्रभावती धनञ्जयाय दत्ता। पुनर्विद्याधरेणोक्तम्-भो धनञ्जय! त्वं हेमाङ्गदराज्ञः समीपे शीघ्रं याहि, यतो मया तत्र प्रतारिणी विद्या प्रेषिताऽस्ति, तया विद्यया प्रभावतीरूपं विधाय राजा मोहितोऽस्ति, तया मोहितो राजा यावच्चितां न प्रविशति, तावत्त्वमिमां सत्यां प्रभावतीं लात्वा शीघ्रं याहि। तद्विद्याधरोक्तं श्रुत्वा धनञ्जयः प्रभावतीं विमानमारोप्य स्वयं विमाने आरुह्य त्वरितं त्वत्समीपं समागात्। विद्याधरो मेघनादोऽपि तव स्वमुखं दर्शयितुमक्षमोऽर्जुनमापृच्छ्य स्वस्थानं गतः। एवं प्रभावतीपूर्वगतचरित्रं केसरविद्याधरमुखात् श्रुत्वा हर्षितो हेमाङ्गदो राजा सप्रियः ससैन्यो धनञ्जयसहितो हिरण्यपुरनगरं महामहेन समागात्। तत्रागत्य धनञ्जयमुच्चे सिंहासने निवेश्यैवमवादीत्—हे धनञ्जय! मम प्राणदायकस्य तवाहं किं प्रत्युपकरोमि?, अथाऽहं याचे—इदं राज्यं गृहाण, त्वं मम नायको भव, अहं तव सेवकोऽस्मि।

यतः–"प्रीतिक्रीतानिमान् प्राणान् भुजक्रीतीरिमाः श्रियः।
गुणक्रीतमिदं राज्यं कृतार्थय यथारुचि" ॥ १ ॥

तच्छ्रुत्वा पार्थोऽब्रवीत्—भो हेमाङ्गद! यदि स्वर्गतुल्यं तव राज्यं भवति, तथापि ते राज्येन मे कार्यं नास्ति, त्वं स्वस्थचित्तः स्वं राज्यं परिपालय। एवं धनञ्जयो हेमाङ्गदं प्रति यावद् वक्ति, तावद् भगिनीहरणोदन्तं श्रुत्वा मणिचूडविद्याधरः ससैन्यो धनञ्जयान्तिके समागात्। तत्रागतो मणिचूडो धनञ्जयं मिलित्वा प्रभावतीसमीपे गतः। प्रभावतीं कुशलोदन्तैः संभाष्य हेमाङ्गदं संभाष्य च धनञ्जयान्तिके समुपाविशत्। तत्र हेमाङ्गदराज्ये मणिचूडसहितो धनञ्जयो भगिनीपत्याऽऽग्रहात् कतिचिद् दिनान्यस्थात्। अथाऽन्यदा हस्तिनापुरात् कश्चित् पुमान् हर्षोत्फुल्लनयनः फाल्गुनमभ्येत्यैवं व्यजिज्ञपत्—हे कुमार! चारचक्रेभ्यस्त्वामिहागतं

श्रुत्वा त्वामाह्वातुमहं प्रेषितोऽस्मि। यतः उर्वीशः पाण्डुर्वार्धकार्हाः क्रियाः कर्तुं धर्मपुत्रं राज्येऽभिषेक्तुमनास्त्वामाह्वयति। तथा तव विरहे कुन्ती माता निरन्तरं साश्रुलोचने वहति, तथा तव बान्धवा युधिष्ठिराद्या मिलनायोत्सुका बभूवुः; अतस्त्वं शीघ्रं समागच्छ। अथार्जुनस्तं बभाषे—भो महापुरुष! त्वं पुरो याहि, ममागमनेन मातापितरौ वर्धापय, एषोऽहं शत्रुञ्जयतीर्थे जिनं नत्वा त्वरितमेव समागमिष्यामि; इत्युक्त्वा दूतं विसर्ज्य स्वयं विमानमारुह्य मणिचूडसहितो विहायसा शत्रुञ्जयं प्रति चलति स्म। शत्रुञ्जये गत्वा भक्त्याऽऽदिमं जिनं नत्वा कृष्णदर्शनोत्कण्ठितोऽर्जुनो द्वारकामागमत्। द्वारकां समागतो धनञ्जयः। सम्मुखमागतेन कृष्णेन समालिङ्गितोऽर्जुनः। शरीरद्वययुक्तौ द्वावप्येकतामगाताम्। कृष्णेन धनञ्जयस्य स्वागतं विधाय निजा भगिनी सुभद्रा ददे। शुभमुहूर्ते द्वयोः पाणिग्रहणमकारयत्। तथा कृष्णेन तयोः पाणिमोचनकर्मणि बहुस्वर्णरत्नमणिमाणिक्यगजाश्वादिकं दत्त्वाऽर्जुनो बहु मेने। पित्रोर्मिलनायोत्कण्ठितोऽप्यर्जुनस्तत्र कृष्णानुरोधत उत्सवमयान् कांश्चिद् वासरानतीयाय।

अन्यदा कपिकेतनः कृष्णमापृच्छ्य सुभद्रया पत्न्या समं विमानमारुह्य गगनाध्वना हस्तिनापुरं प्रतस्थे। ततः खेचरानीकैः परिवृतो मणिचूडहेमाङ्गदादिसहितो धनञ्जयो नगरग्रामसरित्सरोवराद्यलङ्कृतां महीं विलोकयन् खेचरनरेन्द्रैः समं वार्तां कुर्वन् वादित्रैर्दिशो बधिरयन् भट्टानां जयजयारवैर्विश्वमेकनादमयं कुर्वन् हस्तिनापुरपरिसरे समागात्। भ्रातृपित्रोरागमनं दृष्ट्वा विमानादवतीर्य महीतले लुठन् पित्रोः क्रमकजं मूर्ध्नाऽस्पृशत्। पाण्डुराडपि धनञ्जयं क्रमकजान्ते लुठन्तं बाहुना समादाय वक्षःस्थले चालिलिङ्ग, तथा मूर्ध्नि चुचुम्ब। बहुदिनैः समागतं पुत्रं दृष्ट्वा हर्षाश्रुवारिधाराभिर्धनञ्जयमूर्धानं राज्याभिषेकमिषादिवाऽश्रुधाराभिः सिषेच। तथा जाह्नवेयादिसमस्तगुरुवर्गे यथौचित्यमाचारः सव्यसाचिना प्रतिपेदे, मातृवर्गेऽपि तथैव भक्तिर्वितेने। एवं युधिष्ठिरादयोऽपि बान्धवाः प्रणमन्तं धनञ्जयं भृशमालिलिङ्गुः।

अर्जुनस्य हस्तिना-पुर-प्रवेश

ततो धनञ्जयः सर्वान् स्वजनान् विमानमारोप्य देवराज इव देवसमूहैः परिवृतो नागरिकैः सस्तुतो ध्वजव्रजमण्डितं हस्तिनापुरमाविशत्। नगरे विशन्तं धनञ्जयं दृष्ट्वा सर्वे नागरिका विस्मयस्मेराननाः केचिद्धनञ्जयं प्रशशंसुः, केचित् कुलं प्रशशंसुः, केचिन्मातापित्रोः पुण्यं प्रशशंसुः। एवं जनताप्रशंसां शृण्वानो धनञ्जयो दानं ददानः पथि नर्तयन्तीं नर्तकीमवलोकयन् स्वगृहमाविशत्। तत्रातिस्नेहेन कुन्त्या गृहप्रवेशमङ्गलं कृतम्। तन्मङ्गलं प्रतिगृह्य प्रतीहारैर्दूरमुत्सारितप्रजः सौधस्य मध्यं धनञ्जयो विशति स्म। राज्ञः पाण्डोरादेशात् सर्वे लोकाः स्वस्थानं जग्मुः। अथाऽर्जुनो गृहान्तःप्रविष्टो द्रौपद्या पूर्वं प्रणतः, ततः कुशलोदन्तं पृष्टः सर्वं स्ववृत्तान्तं समाचख्यौ। ततो द्रौपद्याऽऽवासे धनञ्जयः स्नानं विधाय जिनपूजां कृत्वा भुक्त्यनन्तरं सुखशय्यायां प्रियया सार्धं विषयक्रीडादिभिश्चिरविरहजदुःखस्यान्तं लेभे। तथा तया सार्धं कपिध्वजः प्रेमवार्तां कुर्वाणस्तां रात्रिमशेषां क्षणमात्रमिवागमयत्। मणिचूडविद्याधरो हेमाङ्गदश्चान्येऽपि विद्याधरा धनञ्जयप्रीत्या चिरं तत्राऽतिष्ठन्।

एकस्मिन् दिने राजा पाण्डुः स्वकर्णान्तपलितं पुत्रेभ्योऽदर्शयत्। भोः पुत्राः! एषा जरा मां धर्मकर्मणि बलात् प्रवर्तयति, जरया ग्रस्तस्य किं मे वैषयिकसुखेन ?।

यतः—"गात्रं संकुचितं गतिर्विगलिता दन्ताश्च नाशं गता,
दृष्टिर्भ्रश्यति रूपमेव ह्रसते वक्त्रं च लालायते।
वाक्यं नैव करोति बान्धवजनः पत्नी न शुश्रूषते,
हा! कष्टं जरयाऽभिभूतपुरुषं पुत्रोऽप्यवज्ञापरः॥ १॥

पटु रटति पलितदूतो मस्तकमासाद्य सर्वलोकस्य ।
परिभवति जरा मरणं कुरु धर्मं विरम पापेभ्यः ॥ २ ॥
इयत्यामपि सामग्र्यां सुकृतं न कृतं त्वया । इतीव कुपितो दन्तानन्तकः पातयत्यलम् ॥ ३ ॥
वृद्धस्य मृतभार्यस्य पुत्राधीनधनस्य च । स्नुषावचनदग्धस्य जीविताद् मरणं वरम्" ॥ ४ ॥

हे सुताः ! श्यामलैः कुन्तलैः सह विषया वास्तव्याः, पुनः सितीभूतैः कुन्तलैः सह धर्मः कार्यः । अतो गुणज्येष्ठे ज्येष्ठपुत्रे युधिष्ठिरे क्ष्माभारं निक्षिप्य मे मनो धर्मं कर्तुमिच्छति । पाण्डुराज्ञ एतद्वचनं श्रुत्वा गाङ्गेयधृतराष्ट्रविदुरप्रभृतिभिः सकलस्वजनवर्गैः सर्वं प्रतिपन्नम् । हे राजन् ! युधिष्ठिरे राज्यभारे न्यस्ते पृथ्वी राजन्वती भविष्यति । तत् श्रुत्वा भीमान्वितोऽर्जुनोऽभ्यधात्—हे तात ! त्वया सत्यमुक्तम्, धर्मयुक्ते धर्मपुत्रे राज्यं न्यस्तं सकलजनसुखदं स्यात् । य एतां तातगिरं न हि प्रमाणयिता स्यात्, तस्यैते मामकाः सायकाः मूर्धानं शिक्षयिष्यन्ति । तत् श्रुत्वा पाण्डुराट् धर्मात्मजाभिषेकाय पुत्रानाकार्य सकलसामग्रीं सज्जीकर्तुमुपचक्रमे । तथा हस्तिनापुरस्य परतश्चतुर्दिक्षु क्ष्माभृतां वासयोग्या निवासा विहिता हिमकरस्य पुरतः तारका इव शुशुभिरे । तथा कृष्णादीनामवनिपालानामाहूत्यै पृथक् पृथग् दूतान् प्राहिणोत् । पाण्डुराट् स्वगृहे सकलतूर्यधवलमङ्गलगीतानि प्रावर्तयत् । तस्मिन्नगरे जनाः स्वस्वमन्दिरेषु तोरणानि चाकार्षुः । जनैः प्रतिमन्दिरं कदलीस्तम्भकान्तिभिर्विराजितं तन्नगरं विदधे । नानाग्रामसमागतैर्जनैः सनेपथ्यैः पौराणां नेत्रकौतुकमपूर्यत । समागतैः सकलभूपालवाजिगजादिभिः क्षोणितलादुत्थापितरजोभिरभिषेकजलप्लावभियेव गगनमण्डले गतम् । कुन्तीमाद्रिकादिभिर्मातृवर्गैर्युधिष्ठिरस्य माङ्गल्यकारि मज्जनमारेभे । गाङ्गेयादयः स्वजनवर्गास्तपस्सुताभिषेकाय माणिक्यमयमद्भुतं विमानमिव मनोहरं सौधर्मसभानुकारिणं शिल्पिभिरेकमभिषेकमण्डपं कारयामासुः । तत्र

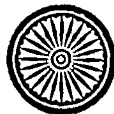
मण्डपे धात्रीपतिरेकं भद्रपीठं निवेश्य तत्र युधिष्ठिरं निधाय विप्रैर्नीराजनाविधिः कारयाञ्चक्रे। पश्चात् पुरोहितं पुरस्कृत्य सर्वे राजानः स्वर्णकलशावर्जितैस्तीर्थोदकैस्तपस्सुतं राज्येऽभ्यषिञ्चन्। पाण्डुराडपि तथैव युधिष्ठिरं मन्त्रपूतेन वारिणाऽभ्यषिञ्चत्। एवं गाङ्गेयविदुरदुर्योधनभीमार्ज्जुनादयः स्वजना अभिषेकं विदधुः। ततो धर्मात्मजं बन्दिनो याचकाः सद्दानमानैस्तोषितास्तुष्टुवुः। धर्मनन्दनोऽर्थिकृतप्रशंसां शृण्वानस्तेभ्यो दानं ददाति स्म।

यतः—"पात्रे धर्मनिबन्धनं तदितरे प्रोद्यद्दयाख्यापकं,
मित्रे प्रीतिविवर्धकं रिपुजने वैरापहारक्षमम्।
भृत्ये भक्तिभरावहं नरपतौ स्याद् मानपूजाप्रदं,
भट्टादौ च यशस्करं वितरणं न क्वाप्यहो! निष्फलम् ॥ १ ॥
इयं मोक्षफले दाने पात्रापात्रविचारणा।
दयादानं तु सर्वज्ञैः कुत्रापि न निषिध्यते" ॥ २ ॥

इत्यादि विचार्य नवजलधरवत् सुवर्णरत्नमणिमाणिक्यादिभिर्धर्मपुत्रो याचकेभ्यो ववर्ष। सामन्तैर्युधिष्ठिरादेशात् देशे देशे पुरे पुरेऽमारिपटहो दीयते स्म। धर्मपुत्रादेशात् श्रीजिनप्रासादे पूजामहोत्सवाद्यनेकमहामहिमानं जनश्चक्रे। तदा युधिष्ठिरद्वारवेश्मनि भूभुजानामुपायनानि प्रविशन्ति स्म। ततोऽभिषेकान्ते युधिष्ठिरं सिंहासने निवेश्य प्रसाधिकास्तैस्तैर्नेपथ्यैः प्रसाधयामासुः। यथा—तस्य मूर्ध्नि भ्रमरनिकरसदृशं धम्मिल्लं मल्लिकादामगर्भितं विधाय मुकुटं निदधुः। ततस्तस्य राज्ञश्चन्द्रमण्डलवन्निर्मले कर्णयोः कुण्डले

परिधाप्य हृदये हारं परिधापयन्ति स्म। एवमर्धहारं एकावलीं कनकावलीं बाह्वोरङ्गदे मुद्रिकाकटिसूत्र-प्रभृतीन्याभरणानि परिधाप्य ततो दिव्यं देवदूष्यवस्त्रयुगलं परिधाप्य दिव्यैश्चन्दनैश्चर्चयन्ति स्म। अथ प्रसाधिकाभिः प्रसाधितो युधिष्ठिरः सकलराजमण्डलीसंसेव्यमानचरणः सभासमागमनावसरं विज्ञाय धनञ्जयादेशात् मणिचूडविद्याधरेण तत्क्षणनिर्मितां स्फटिकरचितां मणिरत्नैः खचितां नीलमाणिक्यतेजोभिर-लङ्कृतभूतलां नानारत्नस्तम्भश्रेणिपाञ्चालिकाकृतविचित्रशोभां सुवर्णशिखरां मणिरत्नसभामध्यतिष्ठत्। यस्यां स्तम्भनिविष्टाः पाञ्चालीर्दृष्ट्वा आगन्तुजना नवनवा वारविलासिनीतुलना दधुः। स नूतनभूपतिर्धर्मपुत्रस्तस्यां सभायां छत्रचामरयुत उच्चे सिंहासने निविष्टः सौधर्मसभायां सुनासीर इवाऽऽबभासे। ततश्च जानपदाः पौराः सचिवसामन्ताश्च तं राजानमुपायनैरुपतस्थुः। स युधिष्ठिरो बन्धुप्रीत्या तथा गुरूणां पर्यालोचनेन च दुर्योधनमिन्द्रप्रस्थराज्ये तत्क्षणादेवाऽभ्यषिञ्चत्। अन्येषां स्वबन्धूनां धृतराष्ट्रपुत्राणां च यथौचित्यं राजा युधिष्ठिरः पृथक् पृथग् देशान् ददौ। एवं युधिष्ठिरराज्याभिषेकमहोत्सवं विधाय कृष्णाद्याः सर्वे राजानो गजवाजिरथादिभिः संमानिताः स्वस्थानं जग्मुः॥

इति श्रीमत्तपागच्छभट्टारक-श्री ५ श्रीहीरविजयसूरिपट्टालङ्कारभट्टारकश्रीविजयसेनसूरिराज्ये पण्डितश्रीदेवविजयगणिविरचिते गद्यबन्धबन्धुरे श्रीपाण्डवचरिते पार्थतीर्थयुधिष्ठिरराज्याभिषेकवर्णनो नाम पञ्चमः सर्गः॥ ५॥



अर्हम्

अथ षष्ठः सर्गः



अथ राजा पाण्डुर्ज्येष्ठाङ्गजदत्तराज्यश्रीर्मुक्तादुत्कण्ठितो दीक्षां ग्रहीतुकामः सुताऽऽग्रहात् तत्रैव राज्ये तस्थौ। सुयोधनो भक्तमानी मातापितराविन्द्रप्रस्थपुरमात्मना सह निनाय। युधिष्ठिरगुणग्राममोहिता गाङ्गेयविदुरद्रोणप्रमुखाः कुलवृद्धाः, कुलवृद्धाः स्त्रियोऽपि युधिष्ठिरमशिश्रियन्। एव युधिष्ठिरे राज्यं कुर्वाण एकस्मिन् दिने भीमाद्याश्चत्वारो भ्रातरः स्वयं दिग्विजिगीषया यियासवो युधिष्ठिरमेवमवोचन्—हे भ्रातः! त्वदाज्ञया चत्वारोऽपि चतुर्दिक्षु देशान् साधयित्वा शीघ्रं समागच्छामः। युधिष्ठिरेणोक्तम्—एवं भवतु। ततः सकलसामग्रीसंयुक्तः सुमुहूर्ते भीमपराक्रमो भीमः पूर्वां दिशं साधयितुं जगाम। एवमर्जुनो दक्षिणस्यां दिशि देशसाधनाय ययौ। एवं नकुलोऽपि सकलकुलसहिताभिः कुलवृद्धाभिः कृतमङ्गलः पश्चिमाशां चचाल। एवं नरदेवसेवितः सहदेवः सेनापरिवृतः सकलसंप्राप्तजयउत्तराशामशिश्रियत्। एवं चतुर्भिः समसैन्यैः समभारत्वात् फणीश्वरः शेषनागः क्षितिं सुखं बभार। अथ भीमः पूर्वदिग्मुखमण्डनानि अङ्गवङ्गकलिङ्गपश्चालडाहलप्रभृतीन् देशान् साधयित्वा तद्देशाधिपान् विमुक्तराज्यचिह्नान् विधाय गङ्गासागरसंगमे जयस्तम्भान् समारोप्य भीमो भीमपराक्रमो लब्धजयो न्यवर्तत। दिग्विजयार्थ-गमनम्

एवमर्जुनो दक्षिणाशां प्रविश्य द्रमिलमहाराष्ट्रकर्णाटलाटतिलङ्गादीन् देशान् साधयन् तद्देशाधिपान् वशीकुर्वन् करलीदेशान् लुम्पन् दक्षिणाम्भोधिरोधसि ससैन्यः समाययौ। तत्र गत्वा ताम्रपर्णीसरित्तीरे

कीर्तिस्तम्भानारोप्य सकलसैन्यपरिवृतः संप्राप्तजयो व्यावर्तत । अथ सकलकुलनतक्रमकमलो नकुलः पश्चिमाशां संचरन् सौराष्ट्रं ययौ । तत्र सौराष्ट्रे सकलग्रामाकरपुरनगराणि साधयन् महार्णवसरस्वत्योः समीपे प्रियमेलकं प्रभासक्षेत्रं समाययौ । तत्र कृतस्नानश्चन्द्रप्रभं जिनवरमष्टप्रकारैः सप्तदशभेदैश्च संपूज्य महारम्भो जयस्तम्भानारोप्य सकलसंप्राप्तजयो न्यवर्तत । सहदेवोऽपि देवेन्द्रतुल्यपराक्रमः कुबेरचरितां दिशमुत्तरां व्यगाहत । तस्यां दिशि काम्बोजान् नेपालप्रभृतींश्च देशान् साधयामास । ततो हिमालयं समारुह्य पार्वतीयान् राज्ञो विजित्य जयस्तम्भं समारोपयन् उत्खातप्रतिरोपितान् भूपान् सहमानीय प्रत्याववृते । एवं स्वर्णरत्नमणिमाणिक्यवाजिगजाद्यनेकर्धिसंपन्नास्ते चत्वारोऽपि पाण्डवा यमकसमकं समाजग्मुः । अथ युधिष्ठिरोऽपि तेषां चतुर्णां बन्धूनां संमुखसमागमनेन परस्परालिङ्गनेन च बहु मेने । एवं ते पञ्चापि भ्रातरः पृथिव्यां मेरव इव बभासिरे । ते चत्वारोऽपि भीमाद्या भ्रातरो युधिष्ठिरं प्रत्यहं प्रीतिप्रह्वाः प्रणेमुः । युधिष्ठिरोऽपि तान् भ्रातॄनासनदानादिभिः संमान्य सिंहासने निवेशयामास । एवं ते पञ्चापि भ्रातरो राजलीलया गजाश्वसुखासनारूढाः स्वैरमारामादिषु क्रीडन्तो विचरन्ति स्म ।

एकस्मिन् दिने पार्थपत्नी सुभद्रानाम्नी सार्धसप्तदिनाधिकनवमासे सुमुहूर्ते सुलग्ने च सुतरत्नमजीजनत् । तस्मिन् पुत्रजन्मन्यर्थिनोऽर्थैः कृतार्थान् कृत्वाऽशुचिजातकर्मणि निर्वर्तिते संप्राप्ते द्वादशे दिवसे काश्यपीपतिर्धर्मपुत्रोऽस्य नाम अभिमन्युरिति व्यधात् । अभिमन्युजन्मनि राजा दानं ददाति स्म । सप्तक्षेत्र्यां धनबीजं वपति स्म । (सुभद्रायाः पुत्रजन्म)

यतः—"व्याजे स्याद् द्विगुणं वित्तं व्यवसाये चतुर्गुणम् ।
क्षेत्रे शतगुणं प्रोक्तं पात्रेऽनन्तगुणं भवेत्" ॥ १ ॥

तथाऽस्मिन् महे युधिष्ठिरेण स्वर्णमण्डितो मणिमाणिक्यप्रतिमाभिरलंकृतः श्रीशान्तिनाथजिनेशितुर्विहारः

कारयांचक्रे। प्रासादवर्णनं यथा—स्वर्णमयो मणिशिखरः स्फाटिकसोपानपद्धतिरिन्द्रनीलाश्मतोरणैर्विराजितः इन्द्रनीलाश्मकुट्टिमो मुक्ताजालैरलंकृतः। किं बहूक्तेन ?, क्षितिवध्वाः कर्णताडङ्क इवाऽऽबभासे। तस्योपमानं स्वर्गे, अवनौ, रसातले च नास्ति, येनोपमीयते। विश्वाद्भुतश्रीकस्य तस्य प्रासादस्य ध्वजारोपणपर्वणि युधिष्ठिरः सर्वं राजसमूहं दूतैराह्वाययामास। युधिष्ठिरो द्वारकां प्रति केशवनिमन्त्रणाय नकुलं प्रेषयामास। तथा बन्धुवात्सल्यो युधिष्ठिरो दुर्योधनं सबान्धवं निमन्त्रणाय सहदेवं प्राहिणोत्। एवमन्येऽपि राजानो दूतैराहूता उपायनान्युपादाय सर्वे समाजग्मुः। पूर्वदिक्पालका राजानो युधिष्ठिरं करीन्द्रान् प्राभृतीकृत्य सिषेविरे। दाक्षिणात्या भूभुजो वज्रवैडूर्यमणिमाणिक्यभृतैः स्वर्णस्थालैः पुरोमुक्तैः सिषेविरे। पश्चिमाशाधिपा जलस्थलसमुद्भूतसैन्धवानुपदीकृत्य सिषेविरे।

एवमुत्तराशाधिपैर्युधिष्ठिरस्तत्तद्देशोद्भूवं विशिष्टं वस्तु पुरो मुक्त्वा सिषेवे। एवं सर्वेऽपि राजानो युधिष्ठिरसद्मनि संमिलिताः सन्तो यद्यत् कुर्वन्ति स्म, तत्तदाह—केचिद् राजानः श्रीशान्तिनाथप्रतिष्ठाकृते पुण्यं तीर्थोदकमाहरन्ति स्म। केचिद् राजानः सन्नद्धबद्धाः कर्षितायुधाः श्रीशान्तिनाथप्रासादपरितश्चतुर्दिक्षु रक्षाकृते परिभ्रमन्ति स्म। केचिद् राजानः स्नात्रौषधीजलादिकृते जात्याश्वारूढा इतस्ततो धावन्ति स्म। तथा चतुःषष्टी राजानो ध्वजदण्ड हिरण्मयमष्टादशवारान् स्वैरं स्नपयाञ्चक्रिरे। केचिद् राजानस्तेषां जनानां कुङ्कुमच्छटां विधाय तिलकानि चक्रुः। केचिद् राजानो धौतिकान् कृत्वा मुखकोशं विधाय धूपधूपितहस्ताः करधृतजलभृतहेमकुम्भाः स्नात्रं कुर्वन्ति स्म। केचिद् राजानः सुवर्णलेखिन्या यक्षकर्दमैः मणिमयपट्टके नन्द्यावर्तमालिखन्ति स्म। केचिद् राजानः श्रीशान्तिनाथपार्श्वतश्चामराणि वीजयन्ति स्म। केचिद् राजानो जिनवरपुरतो दर्पणं दधुः। केचिद् राजानः सर्पिर्दध्यादिभाजनं करे कृत्वा तस्थुः। केचिद् राजानो जिनवरपुरतः फलादिकं ढौकयामासुः। केचिद् राजानः सुगन्धिद्रव्यसंमिश्रसंपुटकं करे कृत्वा ऋद्धिवृद्ध्याद्यौषधीर्दधिरे, इति यत् किञ्चित् जिनप्रतिष्ठाकार्यं तत्सर्वं राजान एव कुर्वन्ति स्म।

युधिष्ठिर-राज्याभिषेक-महोत्सव

अतः परतीर्थिका राजसूययज्ञं केचित् कथयन्ति, परमेष यज्ञो नास्ति, किन्तु जिनप्रतिष्ठाकार्यम् । एतत्सर्वगृहस्थकार्यानन्तरं बुद्धिसागराचार्यः शलाकाञ्जनं विधाय वासक्षेपं विधाय चाऽष्टस्तुत्या जिनं नमस्करोति स्म । ततः शान्तिवेश्मनः कलशध्वजारोपणपूर्वं प्रतिष्ठानन्तरं शान्तिस्तवं राजानः पठन्ति स्म । एवं तत्र युधिष्ठिरो दशाह्निकोत्सवं चक्रे । अथोत्पताकं जिनमन्दिरमालोक्य सर्वे राजानो युधिष्ठिरं राजानं प्रशशसुः । अथ ते सर्वे राजानः स्वर्णमणिमाणिक्यगजाश्वादिभिः संमानिता युधिष्ठिरेण विसृष्टाश्च निजं निजं देशं जग्मुः । तदनु धर्मनन्दनः समुद्रविजयादीन् यादवान् सत्कृत्य विससर्ज । तथा दुर्योधनं विना सर्वैः स्वस्थाने गतम् । दुर्योधनं तु बन्धुप्रीत्या धात्रीपतिरधारयत् । तत्र स्थितो दुर्योधनः पाण्डवस्फातिदर्शनात् संजातेर्ष्यो मातुलेन समं गूढकोपश्चिरं वसति स्म ।

यथा—"लीलाशिलोच्चयक्रीडावापीकेलिवनादिषु ।
चिक्रीड पाण्डवैः सार्धं सुमनोभिः स दुर्मनाः" ॥ १ ॥

अन्येद्युर्मणिचूडविद्याधरनिर्मितां मणिरत्नकोट्टिमां दिव्यां सभां दृष्टुं स्वल्पपरिवारो दुर्योधनः सपाण्डवस्तां विवेश । तस्यां सभायां मणिकोट्टिममविज्ञाय जलभृतभूभागं ज्ञात्वा दुकूलाञ्चलमूर्ध्वीकुर्वति सर्वैः सेवकैः पाण्डवैश्च हसितम् ।

यतः—"संवृण्वन् वसनं नीलं कुट्टिमे जलशङ्कया ।
स्फाटिके व्योमबुद्धया तु कुर्वन्नुत्प्लुतिसङ्गतिम् ॥ १ ॥
आस्फलद् मणिभित्तौ तु मुख्यकृत्रिममूर्तिषु ।
भ्रान्तिमान् स तदा सर्वैरहस्यत सुयोधनः" ॥ २ ॥ (युग्मम्)

तद् दृष्ट्वा दुर्योधनो मनसि खेदमुद्वहन् सभां विलोक्य शीघ्रं बहिराययौ। दुर्योधनं विलक्षवदनं निरीक्ष्य पाण्डवाः पप्रच्छुः—हे बान्धव! किं निष्कारणेन विलक्षवदनो दृश्यसे?। सुयोधनेनोक्तम्—भवद्हास्येन। धर्मपुत्रेणोक्तम्—किं बान्धवहास्येन?, त्वं स्वस्थो भव, खेदं मुञ्च, प्रेमप्रकर्षं मनसि मानय। एवं बहूक्तोऽपि दुर्योधनः खेदं नाऽमुञ्चत्। अहो! दुर्जनस्वभावोऽयम्, हास्यमात्रेऽपि दुर्जने मत्सरो भृशमुज्जजागार। पाण्डुपुत्रेण युधिष्ठिरेण गजवाजिरथादिदानेन संमानितोऽपि दुर्योधनः पाण्डुपुत्रे समत्सर इन्द्रप्रस्थं नगरं प्रतस्थे। मार्गे मातुलेन पृष्टो दुर्योधनः—भो भागिनेय! तव चेतसि किं दुःखं वर्तते?, यत्त्वं शून्यचित्त इव मुहुर्मुहुर्निःश्वसन् भाषितोऽपि किमप्युत्तरं न ददासि। एवं बलेन मातुलेन वारं वारं भाषितो यावद् न बभाषे, तावद् मातुलो दुर्योधनसमीपे गत्वा पथि यानारूढं गच्छन्तं करे धृत्वा जगाद—भो भागिनेय! किं तव दुःखस्य कारणम्?, यदि किमपि गोप्यं न भवति, तर्हि मम सत्यं समाख्याहि।

दुर्योधनेनोक्तम्—भो मातुल! सावधानो भूत्वा शृणु—एते पाण्डवा मम शत्रवः इन्द्रसभातुल्यसभां निर्माय सुखं क्रीडन्ति। तथा येन धर्मपुत्रेण सर्वे राजानो वशीकृताः सन्तः कर्मकरा इव प्रतिष्ठामहे गृहकार्याणि कुर्वन्ति स्म। तथा येन सकलराजानो दानमानैस्तोषिताः सेवका इव सेवां कुर्वन्ति। एतत् सर्वं युधिष्ठिरे पश्यतो ममान्तरात्मा भृशं हुताशने क्षिप्त इव दहति, परं किं करोमि?, एते पुण्यभाजः, एतैः सह पौरुषेण किमपि न चलति, एतदेव शोचयामि। हे मातुल! अनया चिन्तया दुर्बलोऽस्म्यहम्। तथैतेषां पाण्डवानां शत्रूणामुच्छेत्तुं कञ्चिदद्भुतं सहायमुत्पश्यामि, यः सहाय एतानुच्छेद्य मां तोषयति। यद्येवं न भविष्यति तर्ह्यहमत्रैवात्मानमुद्बध्य निःसंशयं मरिष्यामि। भो मातुल! त्वं याहि, मम पितुरग्रे एतन्मम वाचिकं निवेदय। एतद् दुर्योधनोक्तं श्रुत्वा शकुनिमातुलो बभाषे भो धृतराष्ट्रतनय! तवैतद् वक्तुं युक्तं न। यत एते तव बान्धवास्तवैव शोभां कुर्वन्ति, एते वशीकृतराजानस्तवाऽऽनन्दाय किं न स्युः?, येन त्वमेवं व्याकुरुषे

असहायोऽहं किं करोमि ?। एते तव बान्धवाश्चतुर्दिक्षु प्रसृताः पृथिवीप्लावनक्षमा उद्वेलाः पयोधय इव तवैव शोभाकारिणः। अतस्त्वं खेदं मुञ्च, प्रेमोद्रेकं भजस्व, गजवत् स्वाश्रयं मा भाङ्क्षीः।

यथा—"यथा गजपतिः श्रान्तश्छायार्थी वृक्षमाश्रितः।
विश्रम्य तं द्रुमं हन्ति तथा नीचः स्वमाश्रयम्" ॥ १ ॥

त्वमप्येवं मा कृथाः। एवमुक्तयुक्त्या वारितोऽपि सुयोधनो दुष्टकदाग्रहाद् यावद् न न्यवर्तत, तावद् मातुलः पुनर्बभाषे—हे भागिनेय ! एते तव बान्धवा एकोनशतं दुःशासनादयो रणकर्मणि पाकशासनेनाऽपि दुःसाध्याः, तथाप्येकोऽयं कर्णः सर्वशत्रुक्षयङ्करस्तव सहायोऽस्ति, अहमेकधुरीणस्ते समरेषु ससोदरः। अथ एतैः सहायैः परिवृतस्त्वमपि सकलां महीं साधय पाण्डवानपि वशमानय। अथ दुर्योधनो मातुलं प्रत्येवं जगाद—भो मातुल ! पाण्डवैः साधिता पृथ्वी पुनः कथं साध्यते ?। पुनर्मातुलेनोक्तम्—तर्हि पाण्डवान् साधयित्वा पृथ्वीं स्वायत्तां विधेहि। दुर्योधनेनोक्तम्—एते पाण्डवा रणे देवैरपि दुःसाध्याः, तर्हि मानवैः पुनः किं साध्यन्ते ?। भो मातुल ! अन्येन केनचिदुपायेन द्यूतादिना युधिष्ठिरं वशीकरिष्ये। इत्युक्त्वा द्वावपि मार्गे संचलितौ इन्द्रप्रस्थं नगरमीयतुः।

शकुन्या दत्तदुष्ट-परामर्श

पित्रा धृतराष्ट्रेण दुर्योधनस्य नगरे प्रवेशमहः कारितः। दुर्योधनोऽपि समातुलो मातापितरौ पश्चाद्गमानम्य पुरतः समुपाविशत्। स्वोपान्ते स्थितं मुखमारुतेन निश्वसन्तं दुर्योधनं पुत्रं दृष्ट्वा धरित्रीपतिरब्रवीत्—हे पुत्र दुर्योधन ! त्वमुष्णान् दीर्घोच्छ्वासान् वारं वारं किं मुञ्चसि ?, तव केनाऽपि पराभवः कृतः?, अथवा केनापि तवाज्ञा खण्डिता ?। अथवा त्वयि केनापि किंचिद् विरूपमाचरितम्, येन त्वं निःश्वासान् मुञ्चन् दुर्मना दृश्यसे। एते तव बान्धवा दुःशासनादयस्तवाज्ञां नातिक्रामन्ति। तथैते राजानस्तव सेवकाः

पादपीठलुठन्मौलयः सेवां कुर्वन्ति । तथा धनदपुरजित्वरं तवेन्द्रप्रस्थं नाम नगरमस्ति । तथा जुगुप्सिताप्सरोरूपं तवाऽन्तःपुरमस्ति । दिग्गजानुकारी तव गजसमूहोऽस्ति । सूर्याश्वानुकारी तवाश्वसमूहोऽस्ति । कुबेरभाण्डागाराऽनुकारी रत्नस्वर्णराशिमयस्तव भाण्डागारोऽस्ति । देवविमानानुकारि तव सौधमस्ति । सुरेन्द्ररूपानुहारि तव रूपमस्ति । एवंविधस्य ते सकलसुखभाण्डागारस्य किमन्तश्चिन्ताकारणम् ? । यदि किमपि कथ्यं भवति, तर्हि कथ्यताम् । हे तात ! त्वया यत्प्रोक्तं तत् सर्वं सत्यमेव ममाऽस्ति, परं तपःसूनोः पुरः केयं मर्मधिः ?, नदी तावन्मोदयते यावदर्णवो नालोक्यते, आलोककृद् दीपस्तावद् यावद् भानुमान् नोदेति । एवं बहून् दृष्टान्तान् दत्त्वा दुर्योधनः पुनर्बभाषे—हे तात ! सर्वे राजानो युधिष्ठिराज्ञामेव ध्यायन्ति, योगिनः परमात्मानमिव । यस्याङ्गणे भूपा मण्डलीबन्धशालिनो धर्मपुत्रगुणानुद्गिरन्ति स्म । यस्य गृहाङ्गणं गजदानवारिभिः पङ्किलीभूतमिव दृश्यते । सूर्याश्वानुकारिणो यस्याऽश्वा हेषन्ते, यस्य गृहाङ्गणे रोहणभूधरानुकारिरत्नराशयो वर्तन्ते । एव सर्वसंपदो दृष्ट्वा मत्सरेण मम हृदयं द्विधा भवति ।

तत् श्रुत्वा तातेनोक्तम्—भो वत्स ! धिगस्तु तव मत्सरम्, त्वं तस्योपरि मत्सरं कुर्वन् किं न लज्जसे ?, यैस्तव राज्यं दत्त, यैस्तव लक्ष्मीर्दत्ता, सर्वत्र विख्यातो विहितः, तैः सह विरोधस्तव सुखाय न भविष्यति । तदा दुर्योधनेनोक्तम्—भोः तात ! एते पाण्डवा मम शत्रवः, यैः सभाऽवलोकनसमये मम हसितम् । यथा तैः पाण्डवैर्हसितं, तथा मम मातुलस्तवाग्रे सर्वं सत्यं कथयिष्यति । भो मातुल ! सर्वं सत्यं कथय । तेनापि सर्वं कथितम् । भूयोऽपि दुर्योधनो बभाषे—भोः तात ! यदि द्रौपद्या समं तस्य राज्यश्रियं न हरामि तर्हि वह्नौ प्रविशामि ।

यतः—"वरं मृत्युर्मृगारातेर्न करिभ्यः पराभवः ॥

इति व्याहरति क्रोधात् तस्मिन्नीर्ष्यामलीमसे ।
धृतराष्ट्रः पुनर्वाचमुवाच गरिमोचिताम्" ॥ १ ॥

भोः पुत्र ! तव पाण्डवैः सह विरोधः कुशलाय न भविष्यति, किन्तु केवलं भ्रातृभिः सह संग्रामे कृते कौलीनं न स्यात्, पाण्डवा अपि लक्षयोधिनो वीरलक्षक्षयकारिणः । अतो यत् कर्तव्यं तद्विचार्य कर्तव्यम् ।

यतः—"अपरीक्षितं न कर्तव्यं कर्तव्यं सुपरीक्षितम् ।
पश्चाद् भवति संतापो ब्राह्मणी नकुलं यथा" ॥ १ ॥

इति धृतराष्ट्रोक्तं श्रुत्वा शकुनिर्मातुलो बभाषे—अहं पाण्डवश्रियः स्वीकारे एकमुपायं वेद्मि, येनोपायेन कस्यापि शरीरे बाणा न लगन्ति, अकीर्तिश्च जगति न प्रसरति । दुर्योधनेनोक्तम्—केनोपायेन ? । शकुनिनोक्तम्—द्यूतक्रीडालक्षणेन तमहं वेद्मि न पुनस्तपसःसुतो वेत्ति, तेन द्यूतेन तल्लक्ष्मीं हरामि । दुर्योधनो धृतराष्ट्रमभ्यधात्—हे तात ! त्व मम मातुलभारतीमनुमन्यस्व, युधिष्ठिरराज्यहरणे एष सुकरोपायः, एवं क्रियमाणे जने लोकापवादो न स्यात्, यथैते इक्ष्वाकुवंशिनो राज्यार्थं परस्परं संग्रामं कुर्वन्ति इति द्यूते लोकापवादो न स्यात् । धृतराष्ट्रेणोक्तम्—यद्येवं तर्हि विदुरः पृच्छ्यते । दुर्योधनेनोक्तम्—विदुरः पुण्यवानेतच्छिक्षां न दास्यति, 'यदा शिक्षां न दास्यति' तदा मम मृत्युर्भविष्यत्येव, मयि मृते तव राज्यं यास्यति, गते राज्ये त्वमेकाकी किं करिष्यसि ? । अतस्त्वं द्यूतक्रीडामनुमन्यस्व । तदा दुर्योधनोक्तं सर्वं धृतराष्ट्रेणाङ्गीकृतम् । पुनः प्रोक्तम्—वत्स ! त्वं किं खिद्यसे ? धर्मनन्दनात् तव किं न्यूनमस्ति ? । दुर्योधनेनोक्तम्—मम तादृशी सभा नास्ति, यादृशी युधिष्ठिरस्यास्ति । धृतराष्ट्रेणोक्तम्—भोः पुत्र ! त्वं शान्तो भव, अहं त्वदर्थे सोधर्मसभातुल्यां

सभां कारयामि, इत्युक्त्वा सभां निर्मातुं सूत्रधारेश्वरानादिशत्—भोः स्थपतीश्वराः ! एकां दिव्यसभां निर्मापयन्तु । स्तोकैरेव दिनैस्तैः सभा निर्मिता ।

यथा—"निर्ममे तैस्तपःसूनुसभासब्रह्मचारिणी ।
शतद्वारा मणिस्तम्भसहस्रसुभगा सभा" ॥ १ ॥

विदुरस्य शुभप्रेरणा

ततः सपुत्रो धृतराष्ट्र एवंविधां सभां निर्माय हस्तिनापुरादाप्तपुरुषैर्विदुरमाकारयामास । आगतो विदुरो भोजनादिभिः सत्कृतो धृतराष्ट्रं प्रत्याह—भो बान्धव ! किमर्थमाकारितोऽस्म्यहम् ? । धृतराष्ट्रेणात्मजालोचं सर्वं कथितम्, तच्छ्रुत्वा विदुरस्तीव्रविषादभागभूत् । अहो ! कुलाङ्गारेण दुर्योधनेन किमारब्धं कुलक्षयकारि द्यूतम् ?, यतो भवितव्यं कदापि नान्यथा भवति, एष सुयोधनः कुलाऽऽरामैकदावाग्निरुत्थितः । न ज्ञायते एष सुयोधनः कलहं विधाय किं कर्तास्ति ?, भो बान्धवधृतराष्ट्र ! तव पुत्रं सुयोधनं द्यूताद् निवारय । धृतराष्ट्रेणोक्तम्—एष दुरात्मा ममोक्तं न करोति, अह किं करोमि ? । ततो विदुरो दुर्योधनं समाकार्य एवं बभाषे, भोः सुयोधन ! द्यूताद् विरम ।

यतः—"द्यूतं सर्वापदां धाम द्यूतं दीव्यन्ति दुर्धियः । द्यूतेन कुलमालिन्यं द्यूताय श्लाघतेऽधमः ॥ १ ॥
कर घट्टा नह पंडुरा सज्जण दुज्जण हूअ । सूना देउल सेवीइ तुज्झ पसाई जूअ" ॥ २ ॥

विदुरेणोक्तम्—भो बान्धव ! भो दुर्योधन ! त्वया किं न श्रुतम् ? पूर्वं द्यूताद् राज्यविनाशः प्राप्तो नलनृपेण । तत् किं विस्मृतं ? यदि विस्मृतं तर्हि सांप्रतं सावधानीभूय श्रूयतां नलकूबरयोः कथानकमहं कथयामि ।

यथा—"अत्रैव भरतक्षेत्रे भरतान्वयभूषणम् ।
अभूत् कालेऽवसर्पिण्यां निषधेषु नलो नृपः" ॥ १ ॥

कोशलदेशे अयोध्या नाम नगर्यस्ति। तस्यां नगर्यां श्रीधर्मशान्तिजिनान्तरालोत्पन्नो निषधो नाम राजाऽभूत्, तस्य राज्ञो वीरसेन इति द्वितीयं नाम। तस्य राज्ञी रूपवती। तयोः पुत्रौ नलकूबरनामानौ स्तः। एकस्मिन् दिने नलकूबरसहितो वीरसेनो राजा सभायामुपविष्टो देवराज इव समलङ्कृतो यावता तिष्ठति, तावता शीघ्रमागत्य वेत्रिणा विज्ञप्तः-भो राजेन्द्र ! युष्माकं राजद्वारे कश्चिद् दूतः समागतोऽस्ति, स युष्माकं मिलनोत्सुको भवदाज्ञया संसदि प्रवेशं लभते। राज्ञोक्तम् शीघ्रं—तस्य प्रवेशं देहि। ततः संसदि प्रवेशितो दूतो राजानं नत्वा विनयाञ्जलिरेवमवोचत्—स्वामिन् ! दक्षिणस्यां दिशि विदर्भनामा देशोऽस्ति। तस्मिन् देशे कुण्डिनपुरं नाम नगरमस्ति। तस्मिन् नगरे निस्सीमपराक्रमो भीमराजा राज्यं करोति, स कीदृगस्ति।

यथा—"किं वर्ण्यते स षट्त्रिंशत्खड्गकोटिमहार्णवः ।
प्रभुः सप्ततिलक्षाणां दक्षिणापथनायकः" ॥ १ ॥

तस्य राज्ञः प्रियङ्गुमञ्जरी नाम पट्टदेव्यस्ति, महादेवस्य गौरीव, नारायणस्य लक्ष्मीरिव, इन्द्रस्य इन्द्राणीव।

यथा—"भामिनी कामिनी दानामानिनी दानिनी शुभा ।
शुद्धा स्निग्धा विदग्धा च मुग्धा च मृगलोचना ॥ १ ॥

दाक्षिण्यपुण्यलावण्यशीललीलादिभिर्गुणैः ।
सधर्मचारिणी रेजे तादृशी तादृशस्य सा" ॥ २ ॥

तया पत्न्या सह तस्य राज्ञो वैषयिकं सुखं भुञ्जानस्य कियान् कालो व्यतीतवान् । एकस्मिन् दिने तया साक वसन्ते वनस्थलीषु विजहार । तत्र राज्ञा सार्धं क्रीडां कुर्वती पट्टराज्ञी प्रियङ्गुमञ्जरी अपत्यसहितानि मृगद्वन्द्वानि पश्यन्ती सुचिरं निरीक्ष्यैवं चिन्तयति स्म—धन्यैषा मृगपत्नी, या स्वबालकान् स्वेच्छयैवं लालयन्ती वने विचरति, अहमधन्याऽपत्यविहीना; किमनेन राज्येन, किमनेन सौख्येन ?। एवं विषण्णचित्तां राज्ञीं दृष्ट्वा तच्चिन्तया राजाऽपि चिन्ताऽऽतुरो जातः। ततस्तौ दम्पती भृशं संतानार्थं स्वयं चिरकालं चक्रेश्वरीं देवीमुपासयामासतुः। ताभ्यामुपासिता देवी चक्रेश्वरी शङ्खचक्रगदाशार्ङ्गभृङ्गारितचतुर्भुजा मृगराजस्था पक्षान्ते प्रकटीबभूव । ततस्तौ तां देवीं समालोक्य प्रणेमतुः, एवंविधां स्तुतिं चक्रतुः ।

यथा—"देवि ! सेवासमायातदेवासुरनरस्तुते ! ।
त्रासितारिचमूचक्रे ! चक्रेश्वरि ! नमोस्तु ते" ॥ १ ॥

एतां स्तुतिं श्रुत्वा कल्पवल्लरी जगतां माता चक्रेश्वरी तयोर्जगाद—हे वत्सौ ! युवयोरहं प्रीताऽस्मि, किं करोमि ?। ताभ्यामुक्तम्—आवयोरनपत्यदोषं निवारय । देव्योक्तम्—प्रातश्चारणर्षिर्दमनकाभिधो मयैव प्रेरितः समागमिष्यति, स भक्त्या नुतो युवयोः स्वशक्त्याऽनुग्रहीष्यति । इत्युक्त्वा देवी अदृश्यीबभूव । ततस्तौ निद्रामुद्रितलोचनौ तां रात्रिं गमयित्वा प्रभाते जागरितौ प्रातःकृत्यं विधाय यावता सुखासनस्थौ तिष्ठतः, तावत् कमलकिञ्जल्कगर्भगौराङ्गो दमनकाभिधोऽन्तरिक्षाद् महामुनिः समायातः, अम्बरादवतरन्तं तं महामुनिं

देव्या स्तुति

दृष्ट्वा हर्षितौ तावभ्युत्तस्थतुः। ततस्तं काञ्चने पीठे निवेश्य प्रणिपत्य प्रियासखो योजितकरकमलयामलो विनयावनम्रदेह एवमुवाच।

यतः—"अद्य चिन्तामणिः पाणावद्य कल्पद्रुरङ्गणे।
यदयं मम संजातो यौष्माकीणः समागमः" ॥ १ ॥

इति स्तुतिं कृत्वा तावूचतुः—भो मुने! ममापत्यं कदा भविष्यति?, तत् श्रुत्वा दमनको मुनिर्वाचमुवाच भो राजन्! मुक्तसङ्गा अपि मुनय. श्राद्धबान्धवभक्तिं दृष्ट्वा तुष्यन्ति, अतः प्रोच्यते—हे राजन्! हे प्रियङ्गुमञ्जरि! मम धर्मलाभाशीष्टो युवयोस्त्रिजगन्मान्या कन्याऽपत्यं भविष्यति, ततः परं पुनस्त्रयः पुत्रा भविष्यन्ति। इति श्रुत्वा हर्षितो राजा मुनिं प्रत्याह—भो मुने! यदस्माभिः सन्ततिप्रश्नः कृतस्तत् क्षमस्व, अस्माकं मिथ्या दुष्कृतमस्तु, त्वमपि स्वेप्सितं साधय, ते पन्थानः शिवाय सन्तु। एवं विसृष्टो मुनिर्विहायसा उत्पपात। इतश्च सा देवी आपन्नसत्त्वतां दधौ। तद्गर्भानुभावतः सा राज्ञी उपचितसर्वाङ्गी बहलच्छविर्वल्लीव ववृधे। तृतीयमासान्ते सा राज्ञी गङ्गामिश्रेण क्षीरसागरवारिणा मज्जनदोहदं बबन्ध। ततः संपूरितदोहदा राज्ञी। एवं क्रमेण सपूर्णे मासे शोभनदिवसे राज्ञी प्रियङ्गुमञ्जरी तनयामसूत। तस्या ललाटे नवोदितरविप्रायं स्वाभाविकं तिलकं सर्वैरदृश्यत। तथा तस्मिन् समये व्योम्नि एवंविधा वागभूत्—एषा त्रिखण्डभरतेशितुः पत्नी भविष्यति। क्रमेण वर्धमानायाः स्वजनैस्तस्या अभिधानं दत्तम्।

पुत्र्या जन्म

यथा—"सर्वस्त्रीगर्वसर्वस्वं दमयन्ती यदुत्थिता। सा ततो दमयन्तीति स्वजनैरभिधीयते ॥ १ ॥
यत्तज्जन्मदिने प्राप्तः पुरं दन्ती दवार्दितः। दवदन्तीति तत् तस्याः पित्रा नाम कृतं ततः" ॥२॥

सा क्रमेणाऽष्टवार्षिकी जाता। तत कलाचार्यसमीपे पितृभ्यां मुक्ता वेदान्तपुराणव्याकरणच्छन्दो-ज्योतिष्कसंगीतसाहित्यतर्काद्यनेकशास्त्रनिपुणां कृत्वा गीतनृत्याद्यनेककलाकुशलां ज्ञात्वाऽध्यापको भीमराज्ञोऽग्रे समानाय्य तस्याः कलाकौशलं दर्शयामास। ततस्तां पुत्रीकलां दृष्ट्वा हृष्टो राजा एतद् दानं ददौ।

यथा—"सहस्राधिकलक्षेण दीनाराणां नरेश्वरः।
कलाचार्यं स्वदुहितुः पूजयित्वा विसृष्टवान्" ॥ १ ॥

ततः क्रमेण यौवनोन्मुखीं तां निरीक्ष्य भीमराट् चिन्तयति स्म—कोऽस्या अनुरूपो वरो भावी?। इति चिन्तया स्वयंवरं प्रारब्धवान्। तस्मिन् स्वयंवरे सर्वराज्ञो राजपुत्रांश्चाऽऽकारयितुं गौडचौडकर्णाटलाट-द्रविडप्रभृतिदेशेषु पृथक् पृथग् दूतान् प्राहिणोत्। अहं तु देवपादानां समीपे भीमनरेश्वरेण स्वयंवरमहे त्वामाह्वातुं प्रेषितोऽस्मि। अतः शीघ्रं देव! चतुरङ्गचमूवृतो दक्षिणाभिमुखीं यात्रां कर्तुं सांप्रतं मा विलम्बं विधेहि। यतः—वैशाखपूर्णिमायां दमयन्त्याः स्वयवरमहोत्सवो भविष्यति, साम्प्रतं विलम्बावसरो नास्ति। तत् श्रुत्वा हर्षितो निषधस्तस्मै सहस्रतुरगान्वितां स्वर्णकोटि पारितोषिकं ददौ। स दूतो बहुमानपुरस्सरं विसृष्टः स्वपुरमागत्य निषधोक्तं निषधदत्त च सर्वं भीमभूभुजे निवेदयामास। भीमेन विसृष्टो दूतः स्वगृहं व्रजन् पुनर्दवदन्तीसमीपे समागतो दूतो नलरूपमवर्णयत्। तत् श्रुत्वा भैमी तस्मै पारितोषिकं हेमभूषण ददौ। सोऽपि संतुष्टः स्वगृहं गतः।

इतश्च निषधाधिपो नलकूबरसहितश्चतुरङ्गिण्या सेनया समन्वितो निःस्वानिनादैः पूरितदिगन्तो दक्षिणाशाभिमुखश्चचाल। तस्मिन् सैन्ये चलिते सति किं जातम्?—पथि शैलसंघाः गजवाजिरथ-पादघातैश्चूर्णीबभूवुः। पथि संचरतां सैन्यानां समग्रा नद्यः पङ्कावशेषा बभूवुः। पथि संचरतां सैन्यानां

सर्वाणि सरांसि ऊषरक्षेत्रप्रायाणि बभूवुः। पथि संचरतां सैन्यानां महावनानि गृहाङ्गणसन्निभानि बभूवुः। एवं पथि संचरन् कुण्डिनपुरपरिसरं प्राप। एवमन्येऽपि राजानो यानारूढाः सैन्यपरिवृताः सर्वाऽभिसारेण समाजग्मुः। सर्वान् समागतान् राज्ञो दृष्ट्वा भीमराट् स्वपौरलोकान् समाहूय इत्यादिदेश।

यथा–"भो भोः पौरजनाः! समग्रनगरे पुष्पोत्करः कीर्यतां,
बध्यन्तां मणितोरणानि रभसादूर्ध्वीक्रियन्तां ध्वजाः।
सिच्यन्तां घुसृणच्छटाभिरभितो मार्गा वितानावृताः,
प्राप्तो येन किलाऽद्य मूर्तमदनो देवः स्वयं नैषधः" ॥ १ ॥

इत्यादिनगरशोभां कृत्वा भीमराड् निषधस्य समुखमागात्। मार्गे द्वावपि संमिलितौ सूर्याचन्द्रमसोः श्रियं जगृहतुः। परस्परं दृष्ट्वा द्वावप्याह्लादपरावश्वादवतेरतुः, द्वावप्यालिङ्गनपरायणौ आलिङ्गनं दत्त्वा सिंहासने सुस्थितौ। क्षेमकुशलवार्तां कुर्वाणौ अश्वारूढौ मार्गे संचरन्तौ षट्खण्डमण्डनं कुण्डिनपुरं प्रत्यागतौ। ततो भीमराड्निदेशेन निषधवाहिनी सर्वा केलिकानने निवासानग्रहीत्। निषधो नगरान्तो राजवेश्मन्युत्ततार। एवं सर्वेऽपि राजानश्चतुर्दिक्षु पृथक् पृथक् पूर्वादिवनेषूत्तेरुः। ततो भीमराजा कुण्डिनपुरतः पूर्वस्यां दिशि नगराद् बहिरेकं मणिस्तम्भविराजित सुवर्णशिखरं नीलमणितोरणरम्यं स्वयंवरमण्डपमकार्षीत्। तस्मिन् मण्डपे वैशाखीपूर्णिमायां सर्वे राजानः संमिलिता उच्चमञ्चेषूपविष्टाः शोभन्ते स्म।

स्वयवर-प्रसगे अनेक-राजाना-मागमनम्

अथ दमयन्ती कृतस्नाना चन्दनादिभिर्श्चर्चितवक्षःस्थला परिहितदेवदूष्यपट्टकूला स्वर्णरत्नाभरणभूषित-शरीरा नरविमानारूढा सखोपरिवारपरिवृता लक्ष्मीर्मूर्तेव स्वयंवरमण्डपं विवेश। करधृतपुष्पस्रजं

सकलाभरणभूषितां रतिरूपानुकारां तां दृष्ट्वा सर्वे राजानश्चिन्तयन्ति स्म—धन्यैषा बालिका, या एवंविधा दृश्यते, धन्यः स पुमान्, य एनां कन्यां परिणेष्यति । एवं सकलराजलोकैः सविकल्पैर्विलोक्यमाना स्वयंवरमण्डपे परिभ्रमति स्म । तस्याः पुरतः एका प्रतीहारी सर्वेषां राज्ञां वंशज्ञा सर्वान् महीपालान् वर्णयन्ती पुरतश्चचाल । तदेव दर्शयति यथा—हे दमयन्ति ! एष मगधाधिपो वपुर्लावण्यकल्लोलैर्जितानङ्गः, अकृतशृङ्गारः कलिङ्गराट् तवाभिमुखो वारं वारं निरीक्षते, असौ भग्नरिपुव्रातःकुङ्कुणदेशाधिपतिः, असौ लाटनायकः, असौ कर्णाटाधिपतिः, असौ सौराष्ट्रपतिः, हे सुन्दरि ! एष कोशलदेशाधिपतिः राजा निषधस्तस्यैतौ नलकूबरनामानौ तनयौ सकलशास्त्रपारीणौ शास्त्रकोविदौ, तयोर्मध्ये एष नलः षोडशवर्षीयोऽभिनवमन्मथानुकारी, यदि तवेच्छाऽस्ति तर्हि एनं वरं वृणु, याचकजनकल्पपादपो नलस्तव भर्ता भवतु । तद्वचनं श्रुत्वा कुमारिका दमयन्ती नलकण्ठकन्दले वरमालां निचिक्षेप । तद् दृष्ट्वा हर्षितो भीमराट् प्रियङ्गुमञ्जरीं राज्ञीं प्रत्याह—हे प्रिये ! दमयन्त्या नले वृते मम वंशो विभूषितः । ततो भीमेन नलो यानमारोप्य स्वपुरे नीतः । ततोऽन्तःपुरनारीभिरुभावपि स्नानविभूषणादिभिर्भूषयित्वा सुवर्णसिंहासने निधाय नलवैदर्भ्योर्विवाहमहोत्सवः प्रारेभे । प्रथमं समदनफलहस्तौ परस्परं बद्धवस्त्राञ्चलौ द्वावपि वह्नेः प्रदक्षिणां चक्रतुः, ततो होमं विधाय वधूवरयोः पाणिग्रहणं विधाय च द्विजो वेदवाचा वह्नौ लाजमोक्षणं चकार । एवं तयोर्विवाहे जाते भीमराड् नलाय पाणिमुक्तौ एतद् धनं ददाति स्म ।

नलेन सह दमयन्त्या पाणि-ग्रहणम्

यथा—"नलस्य वीवाहमहे वृत्ते स्वविभवोचितम् ।
हस्त्यश्वादि ददौ हस्तमोचने भीमभूपतिः" ॥ १ ॥

एवं नलभैम्योः पाणिग्रहणं विधाय करमोचने भीमो दानं दत्त्वा निषधनलयोः स्वर्णादिभिः पूजां विधाय

स्वयंवरसमागतानां भूपतीनां सुमहतीं पूजां विदधे। ततो विधिज्ञो तथैव याचकानपि स्वर्णादिदानेना-नृणीचकार। निषधनलावपि याचकजनानां मनसेप्सितं दानं दत्त्वा विससर्जतुः। ततो निषधो नलसहितो भीमाग्रहात् प्रतिदिनं कृतमहोत्सवो मासमेकं तत्र स्थित्वा पश्चान्निषधं स्वीयं देशं प्रति गन्तुं सज्जोऽभूत्। ततः साश्रुदृक् भीमभूपः सबाष्पां दमयन्तीं प्रत्याह—

"व्यसनेऽपि भवेर्वत्से ! पतिवर्त्मानुवर्तिनी ।
पतिमेव परं प्राहुर्दैवतं हि मृगीदृशाम्" ॥ १ ॥

भीमराज्ञ इमां शिक्षामनुगृह्य नलस्य रथमारुह्य दमयन्ती श्वशुरनगरं प्रति प्रतस्थे। भीमराडपि पुत्रीप्रेमानुबद्धः प्रयाणत्रयं सह गत्वा ततो निषधानुज्ञया स्वदेशं प्रत्याजगाम। अथ दमयन्ती नलस्य रथमारूढा मार्गे गच्छति स्म। एवं गच्छतः सैन्यस्य सन्ध्या समागता। रथस्थदमयन्त्या नवोढया नवस्नेहया सह क्रीडन्नलो मार्गे संचचार। सन्ध्यासमयेऽपि संजाते निषधाधिपतिः स्वपुराभिमुखश्चलन्न विशश्राम, यतः स्वपुर प्रति गच्छतां जनानामुत्कण्ठा बलीयसी। मार्गे नलदमयन्तीभ्यां गच्छद्भ्यां कर्णामृतमिव भ्रमरतुमुल-ध्वनिरश्रावि। भैमी बभाषे—हे नाथ ! अत्र काचिद् द्रुमावलिर्नास्ति तर्हि अलीनां कोलाहलः किमस्ति ?। नलेनोक्तम्—हे रम्भोरु ! अत्र तिमिरनिकरैः किञ्चित् कारणं नावगम्यते। तत् श्रुत्वा भैमी तिमिरनिराकरणार्थं स्वभालमामृशत्, तया भाले आमृष्टे सहस्रांशुकिरणा इव किरणास्तदैवाविर्भूवन्; तत्किरणैस्तिलकोद्भवैस्तत्तमः प्रनष्टम्; तत्क्षणादेवोद्द्योतो जातः। नलेनोक्तम्—हे भैमि ! एतत्तेजः कुतः प्रादुरभूत् ?।

दमयन्त्या प्रोक्तम्—हे स्वामिन् ! असौ तिलको मम जन्मसब्रह्मचारी, तस्यानुभावतो रात्रिभवं तमो

दमयन्त्या
तिलक-
चमत्कार

नष्टम्। अग्रे गच्छन्तौ दम्पती अलिकुलपरिवेष्टितं कायोत्सर्गस्थितमेकं महामुनिं ददृशतुः। तं मुनिं दृष्ट्वा राजा कथयति स्म—हे प्रिये! नूनमेष साधुः केनचिद्वनदन्तिना स्थाणुभ्रान्त्या गण्डकण्डूमपाकर्तुं घृष्टः, तत्कपोलमदगन्धलोलुपैर्भ्रमरसमूहैरेष महामुनिर्वेष्टितो दृश्यते। ताभ्यामिति विचिन्त्य तत्क्षणादेव स महामुनिर्निरुपद्रवीकृतः। इतः प्रभातसमयो जातः। प्रतिमामुपसंहृत्य स ज्ञानी महामुनिस्तयोर्नलदमयन्त्योः पुरतो धर्मक्षेमकरिण्या गिरा जगाद।

यतः—"धर्मो जगतः सारः सर्वसुखानां प्रधानहेतुत्वात्।
तस्योत्पत्तिर्मनुजात् सारं तेनैव मानुष्यम्" ॥ १ ॥

भो भविकाः! एवंविधं मानुष्यमवाप्य धर्मे यत्नो विधेयः विशेषतो जिनपूजाविषये। भो नलनरेश! अनया तव पत्न्या दमयन्त्या पूर्वभवे चतुर्विंशतिजिनतपः कृत्वा तदुद्यापने चतुर्विंशतिजिनभालेषु स्वर्णमयास्तिलकाः आरोपयाचक्रिरे; तेनास्या अस्मिन् जन्मनि भालस्थलालङ्करणो मार्तण्डविडम्बी तिलकोऽभवत्। हे कुमार! भवताऽपि धर्मद्रुमस्तथा सिक्तो यथा तैस्तैः फलैः पूर्वं फलितः पुनः साम्प्रतं फलिष्यति; इति निशम्य पुनस्ताभ्यां सर्वज्ञप्रणीतो धर्मोऽङ्गीचक्रे। ततस्तावुभावपि प्रह्लादमेदुरौ पुनरपि रथारूढौ प्रतस्थाते। ततः क्रमेण मार्गे संचरन्निषधो नलसहितः पुरीपरिसरे समागात्; स्वां पुरीं दृष्ट्वा नल प्रेयसीमित्यवोचत्—हे प्रिये! एषा निषधराज्ञो निषधा नगरी तव श्वशुरसन्तानराजधानी; या निजश्रीभिरमरावती जयन्ती वर्तते। हे देवि! इतः क्रीडातडागानि पश्य, इतः केलिवनानि विलोकय, इतः प्रमददीर्घिकाः पश्य; इत्यादि दर्शयन्नलो दमयन्तीं कौतुकेन रमयमाणो नगरं प्रति चचाल। निषधोऽपि वधूवरं पुरस्कृत्य विविधोत्सवपूर्वकं कोशलां पुरीं प्रविवेश। दमयन्ती नलेन सार्धं क्रीडन्ती स्वं धर्मार्थकामरूपपुरुषार्थत्रयशालिनं मेने।

नल-दमयन्त्या. सुखेन काल-निर्गमनम्

तदा नलस्य तया दमयन्त्या दयितया सार्धं क्रीडां कुर्वतो दिनैर्यामायितं, क्षणदाभिः क्षणायितं, कदाचित्तौ क्रीडाद्रिषु क्रीडन्तौ, विचरतः कदाचित्काननेषु, कदाचिद्दोलाकेलिभिः, कदाचिज्जलक्रीडादिभिः, कदाचित् कुसुमावचयैः, कदाचित् कुसुममालाऽभिगुम्फनैः, कदाचित्पुष्पावतंसरचनैः; एवं तौ दम्पती दिनानि निर्गमयतः स्म। एवंविधं नलं राज्यभारधुरन्धरं षोडशवार्षिकं सकलराज्यधुराधरणधौरेयं विज्ञाय राजा निषधो वीरसेनाऽपरनामा नले राज्यं न्यस्य कूबरे यौवराज्यं च न्यस्य स्वयं पुरुषसमूहैः सह दीक्षामुपाददे। वीरसेनो दीक्षां लात्वा दुस्तपं तपस्तप्त्वा मासमेकमनशनं विधाय पञ्चमे सुरलोके सुरोऽभवत्। अथ नलो राज्यं पालयति स्म, कथंभूतो नलः—

"समग्रगुणसम्पूर्णः सर्वावयसुन्दरः। निःशेषपुरुषार्थज्ञो निखिलागमपारगः ॥ १ ॥
धनुर्धरगुणोत्तंसो राजर्षिकुलदीपकः। पृथ्वीतिलकश्रृङ्गारो दुर्जनौघदवानलः ॥ २ ॥
पयोधिर्गुणरत्नानां पर्जन्यः सूक्तविप्रुषाम्। पवनः शत्रुवृक्षाणां पतङ्गः शस्त्ररोचिषाम् ॥ ३ ॥
मनोभूरिव सौभाग्ये मघवानिव शासने। मृगाङ्क इव सौम्यत्वे मार्तण्ड इव तेजसि ॥ ४ ॥
सुमेरुरिव शैलानां चिन्तामणिरिवाऽश्मनाम्। कल्पद्रुरिव वृक्षाणां प्रधानः पृथिवीभुजाम् ॥ ५ ॥
सूर्यपाका रसवती नलाख्यं च दुरोदरम्। स चाऽश्वहृदयो मन्त्रो यस्याद्यापि हि विश्रुतः ॥ ६ ॥
मध्ये धर्मस्य शान्तेश्च चतुर्थे च तथाऽरके। वीरसेनसुतो राजा नलो राज्यमपालयत् ॥ ७ ॥
वहन् विदितविश्वासं वयः षोडशवार्षिकम्। वपुषा वृषभस्कन्धः स प्रजानां प्रियोऽभवत् ॥ ८ ॥

एवंविधे नले राज्यं शासति प्रजा मनोरथातीतं सौख्यं प्रपेदिरे। एवं नले राज्यं कुर्वाणे आर्यावर्तो देशः

नलस्य न्यायेन राज्य-पालनम्

सर्वदेशेषु सौख्येन, स्वास्थ्येन, शिवेन, समृद्धया च परां कोटिं लब्धवान्। तथा नले राज्यं शासति तन्नगरवासिजनाः वापीकूपतडागमठप्रासादादिषु क्रीडन्तोऽपि धर्मार्थकामैरेव वासरान्निर्गमयन्ति स्म। तथा च नले राज्यं शासति वारिदा वारिधाराभिः काले ववृषुः। तथा स्वचक्रपरचक्रोत्थभयं स्वप्नेऽपि नाभवत्। तथा वसुधा क्षेत्रैः सस्यं असूत; खानिभिः रत्नान्यसूत, आकरेषु सारभाण्डान्यभूवन्, कानने करिपोतका अभूवन्, देवा आसन्नप्रत्यया अभूवन्, तपस्विनः सप्रभावाः अभूवन्। तस्मिन् राज्ञि प्रायो गृहमेधिनः सधनाः, तथा धेनवः सदुग्धाः, शाखिनः सदाफलाः, अक्षीणसलिला नद्यश्चाभूवन्, जीवत्पुत्रा योषितोऽपि स्युः। तथा नले राज्यं शासति तडागकूपवाप्यादीनां बन्धः स्यात् नान्यजनस्य; कटीनां बन्धः, तालानां ताडनं, कनकरजतादीनां धातूनां कुट्टनं, छत्रेषु दण्डः, पुनः केशेषु बन्ध, कुचेषु काठिन्यं, स्त्रीणां नेत्रेषु चञ्चलत्वं नान्यजनेषु; तथा पुनर्नले राज्य कुर्वति ईदृशा लोका नाभूवन्।

यथा—"कलुषः कुटिलः कुण्ठः कितवः क्रोधनः कुधीः।
कृतघ्नः कृपणः क्रूरः कठोरः कोऽपि नाभवत्" ॥ १ ॥

यं नलं दृष्ट्वा पण्डिता दानशूरत्वात् एव वर्णयन्ति—

यतः—"नाक्षराणि पठता किमपाठि प्रस्मृतः किमथ वा पठितोऽपि ?।
इत्थमर्थिचयसंशयदोलाखेलनं खलु चकार नकारः" ॥ १ ॥

नलस्य
कीर्ति-
विस्तार

यो नलो दानेन कल्पवृक्षादधिकः कामधेन्वा अधिको वा, अतो लोकेष्वेवं वर्ण्यते। स नलः षोडश-वर्षीयोऽपि दिग्विजयं विधायाक्षयं कोषं विदधे। अथ क्रीडां कर्तुं कदाचिदुपवनादिषु सुचिरं वारनारीवृतो

नलनृपः क्रीडां करोति स्म, कदाचित्पुष्पावचयम् । इत्थं वीरवृत्त्या विचरतस्तस्य साम्राज्यं भुञ्जानस्य कियान् कालो जातः । तस्मिन् राज्ञि सर्वाः प्रजाः परां लक्ष्मीं अध्यारोहन् । स वीरसेनात्मजो नलनरेश्वरः प्रतापाक्रान्तविश्वः सकलसैन्यपरिवृतो भरतार्धमहीं स्तोकैरेव वर्षैः साधयामास गगनार्धमंशुमालीव । त्रिखण्डां महीं साधितां ज्ञात्वा सर्वे राजानः सकलसैन्यपरिवृताः संभूय नलस्य हरेरिव राज्याभिषेकं वितेनिरे । नलः एवंविधं राज्यं करोति स्म । अथ नललघुभ्राता कूबरः क्रूरचेता नलराज्याभिलाषुकस्तस्य च्छिद्राण्यन्वेषयामास मृगारेर्जम्बुक इव । अहो ! जना निष्कारणवैरिणः ।

यतः—"मृगमीनसज्जनानां तृणजलसन्तोषविहितवृत्तीनाम् ।
लुब्धकधीवरपिशुनाः निष्कारणवैरिणो जगति" ॥ १ ॥

कूबरस्य दौर्जन्यं पश्यत । आः पापात्मा कूबर एकहस्तेन तालिकां दित्सति स्म यो नलस्य राज्यं हर्तुमिच्छति स्म । यतः कीदृशो नलः—

"स हि शीलकुलोपेतः पुण्यश्लोकः प्रजापतिः । शासिता दुर्विनीतानां गोप्ता विनयवर्तिनाम् ॥ १ ॥
नित्यमभ्यर्चिता देवा गुरवो नित्यपूजिताः । नित्यसंपन्मयं राष्ट्रं तस्य नित्योत्सवं मनः ॥ २ ॥
रथाऽश्वगजसंकीर्णं भूपालकुलसंकुलम् । दृश्यते तत्सभाद्वारि छत्रच्छन्नं नभस्तलम्" ॥ ३ ॥

स राजा नलो निर्विकारं, निरायासं, निःसपत्नं, निरामयं, निरातङ्कं राज्य विनिर्ममे । विशेषेण तस्य नलस्य राज्ये भैमी दानशीलतपोभावैर्विभूषिता । शङ्करगौर्योरिव तयोर्नलदमयन्त्योः प्रेम ववृधे । सा दमयन्ती

अहर्निशं नलेन समं पुष्पावचयं संगीतदोलाललितकेलिभिश्चिक्रीड । नलो भैमीकृते प्रत्यहं सूर्यपाकां रसवतीं चक्रे । एवं तयोर्नलदमयन्त्योः सुखसागरे निमज्जतोर्दिनानि यान्ति स्म ।

बन्धो सह नलस्य द्यूत-क्रीडनम्

अथैकस्मिन् दिने कर्मणा प्रेरितो नलश्चिन्तयति स्म—यदहं कूबरेण बन्धुना समं द्यूतं क्रीडयामि । एवं विचिन्त्यमानस्य नलस्य दक्षिणः पाणिः पोस्फुरीति स्म । तस्यानुभावतो नलनृपो द्यूतवार्तायां द्यूतक्रीडायां द्यूतदर्शनात् सुखं लेभे, नान्यत्र मुहूर्तमात्रमपि क्वचिद्रतिं प्राप । अथाऽन्यदा भ्रातरं कूबरं नाम्ना निजानुजं स्नेहात् सरलाशयो नलो द्वन्द्वद्यूताय न्यमन्त्रयत् । सभायामुभयोस्तयोः प्रीतिवर्धनं संशयदोलारूढजयाजयरूपं द्यूतमभवत् । उभयोर्नलकूबरयोः करे सशब्दाः पाशका नदन्ति स्म । एवं द्यूतबन्दीकृतो नलो दानध्यान-स्नानज्ञानजपतप प्रभृतिपुण्य किमपि कर्तुं न शशाक । अहो व्यसनं सर्वत्र दुःखदायि ।

यतः—"द्यूतं च मांसं च सुरा च वेश्या पापर्धिचौर्ये परदारसेवा ।
एतानि सप्त व्यसनानि लोके घोरातिघोरं नरकं नयन्ति" ॥ १ ॥

नलस्य द्यूत-व्यसनम्

द्यूताद्राज्यविनाशनं नलनृपः प्राप्तोऽथवा पाण्डवाः, मद्यात्कृष्णनृपश्च राघवपिता पापर्धितो दूषितः ।
मांसात् श्रेणिकभूपतिश्च नरके चौर्याद् विनष्टा न के ? वेश्यातः कृतपुण्यको गतधनोऽन्यस्त्रीमृतोरावणः" ।१।

एवं द्यूतभराक्रान्ते राज्ञि नले सर्वाण्यपि राजकार्याणि सीदन्ति स्म । अहो ! दिवानिशं नलं क्रीडन्तं दृष्ट्वा महामात्या वारं २ सुखोपायैरवारयन्, तथापि स नलो ग्रहग्रस्त इव द्यूतान्न विरराम । तस्य मनो गीतगाननृत्यतानवाद्यनाट्यकौतुकेषु कथाप्रबन्धगाथाग्रन्थश्रवणेषु निद्रामुद्राराज्यकार्यस्वशरीरसुखादिषु च नास्ति स्म, किन्तु केवलं दुरोदरे एवाऽस्ति स्म । एवं द्यूतपिशाचिकया ग्रस्तो नलः क्वापि रतिं न लेभे । मन्त्रिणा

प्रेषिता दमयन्ती विवर्णवदना समीपे समागत्य नलं प्रत्येवं जगाद—हे स्वामिन् ! तव कीर्त्या चराचरं विश्वं धवलितं, तदेव विश्वं द्यूतव्यसनेन मा मलिनं कुरुष्व । इमां क्रीडां सज्जनविद्वेष्यां त्यज । यतः—अयशस्करी सर्वेषां देहिनां, विशेषतो भवादृशां नरेन्द्रशिरश्चूडामणीनामियं क्रीडा । हे प्राणेश ! द्यूतकारः काले भोजनास्वादं निद्रासुखं देवतार्चनं सुखस्नानं दानादिकृत्यं च नानुभवति ।

तथा—"प्रभवन्ति भृशं रोगाः शीघ्रं कुप्यन्ति देवताः । भ्रश्यन्ति सर्वकार्याणि द्यूतासक्तस्य देहिनः ॥१॥
स्वजना दूरतो यान्ति न विश्वसिति कोऽपि हि । लक्ष्मीर्विलीयते शीघ्रं द्यूतव्यसनशालिनः ॥२॥
वरं हालाहलं भुक्तं भृगुपातः कृतो वरम् । वरं वह्निप्रवेशो वा न तु द्यूतं निषेवितुम्" ॥३॥

इत्यादिभैमीमुखात् श्रुत्वा नलश्चिन्तयति स्म—हंहो ! महत् कष्टं दृश्यते । मदर्थमेषां मत्प्रिया भृशं दूयते । यस्मान्मम द्यूतत एषा भैमी दुःखिता स्यादतो द्यूतं दूरीकरोमि इति चिन्तयित्वा नलो द्यूतं विसृज्यतां रजनीं दमयन्त्या समं रेमे । अथ प्रभातसमये वैतालिकोक्तिभिर्जागरितो नलभूपः पूर्ववत् प्रातःकृत्यं विधाय सकल-राजसमन्वितः ससदि समाजगाम; मिलिताः श्रुतशीलादयो महामात्यास्ते हर्षिता दमयन्तीं प्रशंसन्ति स्म—धन्यैषा नलप्रिया यया नलनृपो मार्गे समानीतः । अथ कतिपयवासरे पुनरपि द्यूतव्यसनप्रेरितो नलो दमयन्त्योक्तं सर्वं विसस्मार । त्यक्तलज्जो नलः सभायां कूबरं समाकार्य द्यूतक्रीडां कर्तुमारेभे । यत् यत् पणीकृत्य करोति स्म, तत्तत्सर्वं हारयति स्म । पुण्ये गते सर्वं याति ।

यतः—"हस्त्यश्वरथवारस्त्री-ग्रामाकरपुरादिकम् । यत् यत्पणं नलश्चक्रे तत्तत्सर्वमहारयत् ॥ १ ॥
हीयमानः श्रिया नित्यं स त्यक्तः सेवकैरपि । अन्वगच्छज्जनः सर्वः कूबरं जितकाशिनम् ॥ २ ॥
पद्मतः कुमुदं यान्ति संध्यायां मधुपव्रजाः । धिक् ततश्चापलं लक्ष्म्याः तदासक्तं धनं च धिक्" ॥३॥

द्यूतेन ग्रस्तो नल

द्यूतेन ग्रस्तोऽपि नलः किमपि कार्याकार्यं न जानाति स्म। तं नलं द्वाररोधेन द्यूताज्जना निवारयन्ति स्म, सामन्ता भोजनत्यागेन निवारयन्ति स्म, हट्टगृहाद्यनुद्घाटनेन वणिग्वरास्तं निवारयन्ति स्म, दायादा लङ्घनसमूहैस्त निवारयन्ति स्म। तथापि द्यूतग्रहग्रस्तो नलो द्यूतान्न विरराम। ततो भैमी नलं द्यूतान्निवारयितुं सामन्तमन्त्रिचक्रसंकीर्णां सभां स्वयमाययौ। ततस्ते सभालोका दमयन्तीं दृष्ट्वा दूरे अपसारिताः। सा नलकूबरान्तिके दुःखाक्रान्ता कञ्चुकिपुरुषैः परिक्षिप्ता स्वयमाययौ। एवमुवाच—भो देवर! कूबर! द्यूतं मुञ्च, स्वधर्मे मतिं कुरु, कुलोचितं समाचर, यदि महाराजस्तावन्नावधारयति तर्हि तवापि किं मतिभ्रंशो बभूव?। देवरेणोक्तम्—किमहं करोमि नलबान्धवो मां बलात् खेलयति। देव्योक्तम्—

"त्वं यद्यधिकराज्याय द्यूतं देवर! दीव्यसि। मालवेन्द्रमहाराष्ट्रं गृहाण मम पैतृकम् ॥ १ ॥
मणिमाणिक्यरत्नानि स्वर्णमुक्ताफलानि च। तानि स्वीकुरु सर्वाणि गृहे तिष्ठन्ति यानि मे" ॥ २ ॥

एवं यद्दमयन्त्या प्रोक्तं श्रुतशीलादयोऽपि मन्त्रिणस्तथैवाऽन्वभाषन्त। राजा जगाद—भोः कूबर! अहं सर्वं राज्यादिकं पणीकृत्य तव दास्यामि; त्वं मया सह सुचिरं रमस्व; इमामपि भैमीं पणीकृत्य दास्यामि। भैम्योक्तम्—प्राणेश! एवं मा ब्रवीषि। पुनर्नलेनोक्तम्—भो मन्त्रिणः! यूयं सर्वेऽपि स्वस्थानं गच्छन्तु; हे देवि! त्वमपि गृहाभ्यन्तरे याहि, अहं तव पश्यन्त्याः कूबरजितां सकलां महीं स्वायत्तां करिष्ये, त्वं काञ्चिच्चिन्तां मा विधेहि इत्युक्त्वा विसृष्टा दमयन्ती गृहाभ्यन्तरे गता। नियोगिनोऽपि सर्वे खिन्नाः सन्तः स्वाश्रयं ययुः। यतो दृष्टिकटुभिर्मन्त्रिभिस्तत्र स्थितैः किम्? अतो निवर्त्य सर्वे स्वगृहं गताः। अहो! नलदशा!

यतः—"न समा वासराः सर्वे नैकरूपमिदं जगत्।
भवन्ति विविधैर्भावैः प्रायशः प्राणिनां दशाः" ॥ १ ॥

दमयन्त्या पणी-करणम्

नलं दृष्ट्वा सर्वे लोका मन्त्रिणो महामात्याः परस्परं मन्त्रयन्ति स्म—नूनमेष नलो भूतेन वा, पिशाचेन वा, ग्रहेण वा, कलिना वा ग्रस्तोऽधिष्ठितो वा भविष्यति; अन्यथा ईदृशः कथं भवेत् ? ।

यतः—"अतिक्रामति किं सत्यं विनयं वाऽतिवर्तते ।
परित्यजति वा प्रीतिं कल्पान्तेऽपि कथं नलः" ? ॥ १ ॥

तर्हि नूनं ग्रहग्रस्त इव लक्ष्यते । इति सर्वेऽपि सामन्तादयो विचारयन्ति स्म । अथ किं कर्तव्यम् ? तदा केनचिद् महामन्त्रिणा प्रोक्तम्—नलो विकलः सर्वं राज्यं हारयिष्यति तर्हि दमयन्ती पट्टराज्ञी पितृगृहे प्रेष्यते । तदा दमयन्त्योक्तम्—मम स्वामिसेवनां कुर्वत्या यद्भावि तद्भवतु, अहं तु प्राणप्रियनलस्य सेवां न त्यक्ष्यामि । तदा बाहुकः प्राह—

"धिग् शस्त्रभारवाहित्वं धिग् बुद्धिं धिग् बलं मम । यस्य मे त्याज्यते राज्यं भर्ता भृत्यस्य पश्यतः ॥१॥
तथा किं न जयी राजा यथा जयति कूबरः ? । नूनं मायाप्रपञ्चोऽयं दैवस्यैवं दुरात्मनः ॥ २ ॥

तदा बाहुकसेनानीरात्मानं निनिन्द । हे मातः ! दमयन्ति ! अथाऽहं तीर्थयात्रार्थं यास्यामि, सम्प्रति मम सौख्याय स्वस्त्यस्तु । यतोऽहं शक्तिमानपि द्यूतहारितराज्यं नलं कमललोचनं द्रष्टुं न शक्नोमि, इति जल्पन् स सेनानीः दमयन्त्या समाश्वासितो तीर्थयात्राकरणार्थं सकलां भुवं बभ्राम । एव तीर्थयात्रां कुर्वाणो बाहुकसेनानीरचलपुरे शक्रावतारतीर्थस्य महिमानं श्रुत्वा तद्दिदृक्षया तत्र जगाम । तत्र तीर्थयात्रां कृत्वा यावता सुखेन तिष्ठति तावता बन्दिवृन्देभ्यस्तं तथाविधं ज्ञात्वा तन्नगराधीश ऋतुपर्णनृपो नलप्रेम्णा तं सेनान्यं आत्मसनिधौ स्थापयामास । एवं बहवः सुभटाः नलभक्ता महात्मानो राज्यं त्यक्त्वा नगराद्बहिर्निर्ययुः ।

द्यूते नलस्य पराजय.

अथ स नलः कूबरेण समं दिवा नक्तं निर्लज्जो द्यूतसज्जश्चिरं चिक्रीड; परं द्यूते कदाचिज्जयं बहुशः पराजयं लभते स्म। एवं दिनानि यान्ति स्म। मान्त्रिकवैद्यैर्मुक्तोऽसाध्यो ग्रहग्रस्तो रोगीव नलः सकल-सेवकैर्मुक्तः सुखं चिक्रीड। भैम्यपि नलं तथाविधं ज्ञात्वा भवितव्यतां संभाव्य मनसि काञ्चिद् व्यथां न बभार। तदादि सा भैमी षोढा २ विभक्तानि बाह्याऽभ्यन्तराणि तपांसि विदधे; तथा तया सप्तसु क्षेत्रेषु सुद्रव्यमुप्तम्, यथा तदग्रे सहस्रगुणं भविष्यति। तयाऽतिचतुरया भैम्या सुक्षेत्रवपनेन कोशस्तथा रिक्तचिक्रे यथा कुबरेण जितेऽपि राज्ये स्वमनसि काचिच्चिन्ता न भवेत्। नलोऽपि द्यूतसंज्ञेन परचक्रेण गृहीतराज्यसर्वस्वो दुर्गशेषोऽभवत्। तदैताः कमलिनी, कल्लोलिनी, करली, कलिकाश्चतस्रो दासीः देवकन्यासमाः कुलशीलवतीः केशिन्या सख्या सह रत्नमौक्तिकमाणिक्यस्वर्णादिकं सर्वं भाण्डागारं समादाय भैमी भीमराज्ञोऽन्तिके प्रेषयामास। अहो! धन्या नीतिज्ञा निपुणा भैमी, यया स्वगृहं रक्षितम्; इति सर्वेऽपि लोकाः परस्पर वार्तां कुर्वन्ति स्म। तस्मिन् गृहे कतिपयपरिवारपरिवृता भैम्येव केवलं तस्थौ। एकस्मिन् दिने प्रभातसमयादारभ्य सन्ध्यां यावत् क्रीडां कुर्वतोस्तयोर्नलेन ग्रामाकरनगरपुरादि सर्वं हारितम्। तदा तस्मिन्नगरे हाहाकारोऽभवत्।

यथा—"सायाह्ने क्वचिदन्यदा सरभसं तस्मिन् सभामण्डपे,
सर्वं राज्यमहो! जितं जितमिति स्पष्टो महानिष्ठुरः।
क्रूरैः कूबरसेवकैर्विरचितो बुम्बारवः कोऽप्यभूत्,
सद्यः क्षोभमवाप येन नगरं भीता च भीमात्मजा" ॥ १ ॥

नलस्य राज्य-त्याग

जितं कूबरेणेत्युक्तवन्तः सेवकाः कोषेषु गजशालासु तुरङ्गशालासु पुरेषु ग्रामाकरेषु मण्डपिकासु सर्वत्र राज्यनियोगेसु कूबरेण प्रेषिताः राज्याधिष्ठायकत्वेन नियुक्ता नलराज्याधिकारिणः सर्वे राज्यान्निष्कासिताः

सन्तो दूरदेशं गताः। लज्जया नलः पृथ्वीं प्रवेष्टुकाम इवाऽधोमुखस्तस्थौ। तं तथाविधं नलं ज्ञात्वा पुनः कूबरोऽवादीत्—भो नरेन्द्र ! खेदं मा उद्वह, सज्जो भव, भूयः किञ्चित् पणं कुरुष्व, विना पणं हारितं राज्यं नोपलभ्यते। नलेनोक्तम्—किं पणं करोमि ? मम किमपि नास्ति। कूबरेणोक्तम्—भैम्या पणं विधेहि। तदा गतत्रपेण नलेन भैमी पणीकृता। यत्–मयि हारिते भैमी याति, अथवा मयि जिते मम सकलं गतं राज्यं समायाति। एतद्वचः कूबरेणापि प्रतिपन्नम्; लोकैर्निवारितौ नलकूबरौ क्रीडतः स्म। अथ नलो दमयन्तीं पुरस्कृत्य सर्वेषां क्षोणीभृतां हाहेतिजल्पतां कूबरेण समं द्यूतक्रीडां कुर्वन् राज्ञीमहारयत्। इत्थं हारितसर्वस्वो राजा नलो मनसाऽपि किञ्चिन्मात्रं दुःखं न लेभे। अथ कूबरः पञ्चशब्दनिर्घोषपूर्वं सर्वसामन्तैस्तत्क्षणं नले पश्यत्येव राज्येऽभिषिक्तः। ततः कूबरस्याज्ञा प्रववृते। गलिततेजा नलोऽभवत्।

यतः–"अघटितघटितानि घटयति सुघटितघटितानि जर्जरीकुरुते।
विधिरेव तानि जनयति यानि पुमान्नैव चिन्तयति" ॥ १ ॥

राज्यभ्रष्टं महात्मानं मनसाऽपि निर्मलं, एवंविधमपि नलं कूबरः स्वदेशान्निरवासयत्। कठोरभाषिणः कूबरनराः शस्त्रपाणयो नलं यान्तं दृष्ट्वा नलानुगामिनं लोकं निवारयामासुः। नलानुगामिनीं भैमीं प्रति दुरात्मा कूबरो बभाषे। भो दमयन्ति ! त्वं मया जिताऽसि, नलेन द्यूतकारेण समं मा याहि, मम गृहे सुखं विचर, त्वं मया पणेन गृहीता, अतो नलं त्यक्त्वा मां भजस्व। तत् श्रुत्वा भैमी अभ्यधात्—भो देवर ! योऽनले झम्पां दातुमिच्छति, यः सिंहीं दोग्धुमिच्छति, यस्य मरणेच्छा वर्तते, सो मां नलानुगामिनीं रक्षतु। भोः कूबर ! कुलोचितं समाचर, मां भर्तारमनुगामिनीमनुमन्यस्व, त्वं निष्कण्टकं राज्यं कुरु, स्वां पृथ्वीं पालय; यतस्त्वमपि भर्तृलघुबान्धवोऽतस्त्वयि राज्यं युक्तम्, परं कान्तानुगमनं मम तव निषेद्धुं युक्तं न।

दमयन्त्या प्रकोप

यतः-पत्या मम वपुर्हारितं, न तु प्रणयः पणीकृतः; इति तस्या वचनं श्रुत्वा भीतः कूबरो बभाषे—हे आर्ये ! कोपं विसृज्य त्वं हृदयं प्रसन्नं कुरु, त्वं नलानुगामिनी भव, अहं नलस्य निजमण्डले स्थानं न दास्यामि, यस्मान्नह्येकस्मिन् वने क्वापि केसरिद्वयं घटते, अतोऽहमेनं मम भ्रातरं राज्यान्निष्कासयिष्यामि। निर्धनो निष्परिच्छदो मया गृहीतसकललक्ष्मीको देशाद्देशं व्रजन् न ज्ञायते कुत्र यास्यति कुत्र भ्रमिष्यति त्वमपि तेन सह गच्छन्ती दुःखमवाप्स्यसि; अतः एव त्वं मया रुद्धा, पत्या सह यान्ती निषिद्धा; अन्यत् किमपि कारणान्तरं मनसि मा जानीहि, त्वं मम गुणवती मातृतोऽप्यधिका; अतस्त्वमिहैव तिष्ठ, अहं तव सेनानीरस्मि, त्वं राज्ञो वीरसेनवत् राज्यं कुरुष्व। एतत् श्रुत्वा दमयन्ती उवाच—भो देवर ! कूबर ! त्वयोक्तं सर्वं सत्यमेव। सत्कुलीना ईदृशा एव भवन्ति, परं तव राज्येन मम किम् ?।

यतः-"यत्र नास्ति मनःप्रीतिर्यत्र न प्रियदर्शनम्। यत्रास्ति परतन्त्रत्वं तद्राज्यं नरकं विदुः" ॥१॥

नलेन सह दमयन्त्या वने निर्गमनम्

भोः कूबर ! यदि मम राज्येन कार्यं भविष्यति तर्हि मत्पितृसत्कं राज्यं ममैवास्ति। अतस्तावकः कोऽपि दोषो नास्ति, त्वं तु भक्तिमानसि परमेतत्त्वद्वाक्यं मम नैव रोचते, अथ मौनं विधेहि, एषाऽहं नलेन सार्धं यामि, त्वं निश्चिन्तो निष्कण्टकं राज्यं कुरुष्व; इत्युक्त्वा पत्या समं निर्गता दमयन्ती मार्गे संचचार। नगरलोकोऽपि सर्वो नलमनुगच्छन् क्रूरैः कूबरभृत्यवर्गैर्दूरीकृतः। अहो ! विधिविलसितम्।

यथा-"हा ! हन्त ! हन्त ! हत ! दैव ! दुरन्तता ते, पृथ्वीभुजामपि यदेष दशाविवर्तः।
धिग् २ विगीतमथवा भुवि राज्यलोभं, ज्येष्ठे यदर्थमनुजोऽपि विमुक्तभक्तिः" ॥ १ ॥

अहो ! धन्य एषो नलः सत्यव्रतो यः कितवे कूबरे राज्यं ददाति स्म; एवं पौरवचांसि शृण्वन् पुरीपरिसरं

प्राप। तत्र पुरीपरिसरे सरसि तटस्थमेकं महान्तं स्तम्भं हस्तशतपरिणाहं समचतुरस्रं क्रोशषष्ठाङ्गतुङ्गं निरीक्ष्य नलश्चिन्तयति स्म। अहो! विधेर्विलसितम्; यत्राऽहं पृतनासहस्रैः परिवृतः शिरसि विधृतातपत्रः उद्धूयमानचामरो भीमतनयया सह विहितविवाहमङ्गलो गजारूढो राजमार्गे समागतोऽभवम्, सम्प्रति भैम्या समं एकाकिनं चरणचारेण राजमार्गे विचरन्तं जना मां पश्यन्ति। धिग् विधिं, मम लक्ष्मीर्गता; अथ बलपरीक्षां करोमि; इति विचिन्त्यैनं स्तम्भं साम्प्रतं तथैव सर्वेषां जनानां पश्यतां बलपरीक्षार्थमुत्खातप्रतिरोपितं करोमि।

यथा—"इति समचतुरस्रं क्रोशषष्ठाङ्गतुङ्गं शतकरपरिणाहं स्तम्भमुन्मूलयन् यः।
स वियति युगमात्रं शीघ्रमुत्क्षिप्यमाणः पुनरपि हि तथैव न्यस्तवान् वज्रहस्तः" ॥ १ ॥

अथ प्रजास्तन्नलबलं समुद्वीक्ष्य विस्मिताः परस्परमेवमवोचत्—नूनमेष नलः स्तम्भोत्खातप्रतिरोपणत्वात् पुनस्त्रिखण्डाधिपतिर्भावी। यतः—स्तम्भे प्रशस्तिर्लिखिताऽस्ति—यस्त्वेनं स्तम्भमुत्खातप्रतिरोपितं करोति स त्रिखण्डभरताधिपतिर्भविष्यति; तर्हि एष नलः पुनर्भरतार्धभोक्ता भावी। इति विचिन्त्य दुःखभारभराक्रान्ताः सर्वे लोकाः स्वं स्वं स्थानं समाजग्मुः। अथ राजा नलः श्रिया परित्यक्तो भैम्या द्वितीयो नगराद् बहिर्निर्गत्य वेतसतरोस्तलमध्युवास। तस्मिन् वृक्षतले समुपविष्टो दीर्घोष्णं निश्वसन्नलः आत्मानं मनसि सापराधमिव मेने। दुःखार्तो नलो भैम्या सार्धमपि किंकर्तव्यतामूढः सर्वोपायपराङ्मुखः किमपि न जल्पति स्म।

नलस्य किंकर्तव्य-मूढता

यतः—"शय्याऽऽसनपरित्यक्तः पानाशनविवर्जितः। व्रतीव स बभौ राजा निरगारं वने वसन्" ॥१॥

नलः किं करोति स्म ?। क्व याति स्म, कुत्रापि स्थानं न लभते स्म पुनस्ततोऽपि चलितः। सूर्यो नलं

समालोकयितुमिव मस्तकमारुरोह। तदानीं स्वकिरणैः सूर्योऽपि नलं क्लेशयामास। मार्गे सञ्चरन्नलो गङ्गाकूलं पश्यन् दमयन्तीं प्रत्यवोचत्। हे प्रिये! एषा गङ्गा सुरनिम्नगा तुष्टा सती चक्रवर्तिनां नव निधानानि दत्ते; इत्युक्त्वा एकस्य तरोस्तले फलैः प्राणवृत्तिं विधाय सुरापगायाः सलिलं पीत्वा खेदापनोदाय स्नात्वा वटवृक्षस्याधो विशश्राम। तत्र वालुकातल्पं विधाय नलो भैम्या समं सुखं सुष्वाप। एवं दिनत्रयं तत्र निर्गमितम्। इतश्च तदा मन्त्रिणः कूबराज्ञया एकं रथं वस्त्रशस्त्रवसूपेतं खाद्यस्वाद्यादिसंभृत काञ्चनमयं तुरङ्गवाह्यं प्राहिण्वन्। ततो नलो दमयन्त्या समं रथारूढः काञ्चिद्दिशं समुद्दिश्य स्वयं सारथिमार्गे प्रतस्थे। ततो राजा राजन्वतीं भुवमतिक्रम्य भिल्लपल्लीवनाकुलं पर्वतोद्देशं चचाल। तदीयरथनिर्घोषं श्रुत्वा कृत्तिवाससः किराताः सहसा रोद्धुमधावन्त। भिल्लानां भटाः रथारूढां नलपार्श्ववर्तिनीं भैमीं दृष्ट्वा मोहिताः सन्तो नलं हन्तुं प्रवृत्ताः। ततो नलो बाणदुर्दिनं वितन्वन् हत हतेत्युच्चरन् भिल्लसेनया सह डुढौके। भिल्लाधिपोऽप्येकाकिनं नलं ज्ञात्वा दमयन्त्या मोहितो भृशं युयुधे। नलस्य पूर्वसाधितानि संमोहनास्त्रमुख्यानि दिव्यास्त्राणि देहं त्यक्त्वा स्वं स्वं स्थानं संचेलुः। भयाद् नलो भैमीं रथादुत्तार्य पृष्ठे कृत्वा स्थितस्तावत्केचित्किराताः शस्त्ररत्नादिसम्भृतं रथमादाय ययुः। ते भिल्ला भैमीभाग्यान्नलं सप्रियमवीक्षमाणा निजस्थानं समाजग्मुः।

भिल्लैः सह नलस्य युद्धम्

अथ नलश्चरणचारेण प्रियान्वितः संचरन् श्वापदसङ्कीर्णामेकामटवीं प्राप। तामटवीमतिक्रामन् प्रबलसाहसो मार्गेऽनेकान् पक्षिसमूहान् दिव्यरूपान् कनकच्छदान् विद्रुमपादद्वन्द्वान् इन्द्रनीलपक्षान् मरकतचञ्चून् दृष्ट्वा प्रियां प्रत्याह—हे प्रिये! अहमेकं पक्षिराजं ग्रहिष्ये। यतोऽमी पक्षिणो बहुमूल्या भवन्ति। भैमी जगाद—हे प्राणेश! एते देवा मायाविनश्छलनार्थमश्रद्धेयपक्षिरूपाणि विधाय स्वेच्छया क्रीडन्ति, नैते गृह्यन्ते। आवयोरेभिः सह किं प्रयोजनम्?। यदि कर्मवशतः तव पैतृकं द्रव्यं स्थावरं जङ्गमं च करस्थं

सर्वमपि गत तर्ह्यभिः पक्षिभिः किं करिष्यसि ? । एवमुक्तवत्यामपि देव्यां लोभावेशवशतः एकस्य पक्षिणः उपरि राजा नलः स्वमुत्तरीयमक्षिपत् । ततः स चान्येऽपि पक्षिणस्तदुत्तरीयमादाय गगनाध्वना समुड्डीय जग्मुः । राजा चिन्तयति स्म—अहो ! विधेर्विलसितं पश्य ।

यथा—"हृत्वा पटमपि प्राप्तान् तान् दुष्टान् तस्करानिव ।
राजा वीक्ष्य सवैलक्ष्यं दध्यौ विधिविजृम्भितम्" ॥ १ ॥

नलो वक्ति स्म । भो भो देवाः ! दानवाः ! वा मम भाग्यविपर्यासं पश्यत । एते पक्षिणोऽपि चौरवत् मदुत्तरीयं समादाय गगने गच्छन्ति । किं क्रियते ?, कस्य कथ्यते ?; धिक् कर्मविलसितम् । इत्थं चिन्ताप्रपन्नं नलं पश्यन्तः आकाशस्थास्त एव पक्षिण एवमवोचन्—भो राजन् ! ये मूढा भवत्सदृशा द्यूतक्रीडातो धनमाकाङ्क्षन्ति तेषां निष्पुण्यकानां भवत्सदृशी गतिर्भविष्यति । यदि तव हस्तपादादिकं वर्तते तदेव लाभान्तरं मन्यस्व । श्रूयताम्—भो मूर्ख ! वालुकाभ्यो यदा तैलं स्यात्, जलादपि यदाऽग्निः स्यात्, तदा द्यूतेभ्यो जने धनं स्यात् । इत्युक्त्वा क्रीडां कुर्वन्तोऽन्यत्र ययुः ।

अथैकवस्त्रसंवृतो नलो भैम्या समं मार्गे संचरन् तीव्रतृष्णार्तिवेगेन शुष्कताल्वोष्ठपुटो विवृतवदनो देवीमुवाच—हे देवि ! वज्रकठिनोऽप्यहं मार्गे चरणचारेण ग्रीष्मार्तिपीडितः शुष्कनिगरणः पदमपि गन्तुं न शक्नोमि, तर्हि त्वं शिरीषकुसुमसुकुमाला मार्गे मया सार्धं कथं समागमिष्यसि ? । भैम्या प्रोक्तम्—भोः प्राणेश ! प्रियतमसङ्गमसौख्यसुस्थितायाः मम किमस्ति दुःखम् ? । तव संगमे मम किमपि दुःखं नास्ति ? । एवं तस्या वचनानि श्रुत्वा हर्षितो नलः स्वपटप्रान्तं छित्त्वा दमयन्त्याः पादे पट्टबन्धं व्यधात् । अहो ! महदाश्चर्यम् ।

यथा—"पट्टबन्धः पुरा मूर्धन्यभूद् भैम्यास्तदा पुनः । नलेन पादयोश्चक्रे दारं दारं स्वमंशुकम्" ॥ १ ॥

एवं तावुभावपि वार्तां कुर्वन्तौ मार्गे संचेरतुः । अग्रे एकं महत् सरो दृष्टम् । तत्रोभावपि स्नात्वा शीतलं पयः पीत्वा एकस्य तरोस्तले पथश्रान्तौ सुषुपतुः । तत्र सुखसुप्ता भैमी नलं बभाषे—हे आर्यपुत्र ! यावत्ते ग्रहबलं साऽनुकूलं न, इदं च व्यसनं दुनोति, तावत्त्वं श्वशुरकुलमलङ्कुरुष्व । यदि मयि प्रसादं विधातुमिच्छसि, तर्हि भीमभूपालगृहाभिमुखो भव, इति कथमपि भीमपुत्र्या रतिसमये प्रार्थ्यमानो नलो विमलकुलोत्पन्नो नृपतिलकः सपदि त्रपामवाप । स नलो दमयन्त्या समं तन्निशामुखे कुशपत्रस्रस्तरमशिश्रियत् । अथाऽस्ताचलशिरःसीम्नि कमलिनीपतिरर्धबिम्बतां प्राप । ततस्तिमिरनिकरेण प्लाविते सकले विश्वे पक्षिगणो महीरुहां शिखराण्यारोहन्ति स्म । लोका अचक्षुर्विषयाऽऽलोकाश्चतुरिन्द्रिया इव बभूवुः । भैम्या सह सुप्तो नलश्चिन्तयति—अहो ! मया संप्रति क्व गन्तव्यम् ?, मया दिनाः कथं निर्गमनीयाः ? । निश्चितं धनहीनानां नृणां न साध्यम्, न च साधनं किमप्यस्ति ।

नलस्य चिन्ता

यतः—"हसन्ति दुर्जनाः स्वैरमङ्गीकुर्वन्ति वैरिणः । सहायाश्च विमुञ्चन्ति नरं धनविवर्जितम्" ॥१॥

अथ किं मम जीवितेन ? । सांप्रतं छलज्ञा मम शत्रवो मामेकाकिनं हत्वा भैमीं समादाय स्वस्थानं यास्यन्ति, तदा मम लोकापवादो भविष्यति । अहो ! शत्रुभिर्नलं हत्वा भैमी समानीता इति हास्यं लोके स्यात् । अतो भैमी कुत्रापि मुक्त्वाऽहं देशान्तरं यामि, अथवा शत्रुसंघातं विनाऽपि भीमजा मार्गे मम दुःसहा । अस्याः सुकुमाराङ्गया दुःखमीक्षितुमहं क्षमो न भवामि । यत इयं पथि श्रान्ताऽपि मम शुश्रूषां न मुञ्चति, पुनरेषा मां त्यक्त्वा पितृगृहं प्रहिताऽपि न याति, अस्याः पितृगृहे गन्तुं स्पृहाऽपि नास्ति । पूर्वं चतुरङ्गिण्या

सेनया सहितो भैमीं परिणेतुं गतोऽभवम्, अथात्मानमीदृशावस्थं संप्रति कथं दर्शयिष्यामि ?। कदर्याणां नृणां श्वशुरावासवासिनां पितृनाम्ना समं महत्त्वं याति।

यतः–"उत्तमोऽमुक इत्युक्तोऽमुकसूरिति मध्यमः। जामेय इत्यप्यधमो जामात्रेयोऽधमाधमः" ॥ १ ॥

इयं कदाचित् पितृगृहं याति तदा मम किमपि चिन्ता न स्यात्, तर्हि एनां कुत्रापि मुक्त्वा पश्चात् स्वस्थचित्तो यत्र कुत्रापि यस्य कस्यचित् सन्निधौ यथा तथा कालं निर्गमयाम्यहम्। यद्येषा स्वस्थानं प्राप्ता भवति, तदा मम कश्चिदपि शत्रुभ्यः पराभवो न स्यात्, तर्हि एनां केनाप्युपायेन वने त्यजामि; यथैषा एकाकिनी पितृगृहं यास्यति। इयं सर्वथैव मया अनिर्वाह्या, मम समीपे न घटते, क्लीबस्य करेऽसिपत्रिकेव। तत् कपटेन वञ्चयित्वा परिहरामि।

दमयन्त्याश्चिन्ता

अथ सुप्ता दमयन्ती समीपस्था चलच्चित्तं त दृष्ट्वा विरहविधुरा इङ्गितज्ञा इङ्गितैर्ज्ञात्वा चिन्तयति—नूनमेष नलो मां हित्वा यास्यति। तथा मे दक्षिणं चक्षुर्वारं वारं प्रस्फुरति, तेनाहं जानामि मम सर्वथा दयितविरहो भावी। हा हा! हतास्मि, किं करिष्यामि दयितं विना ?। एवं सापि चलच्चित्ता शयने सुष्वाप। तां व्याकुलां दयितां दृष्ट्वा नलो बभाषे—हे प्रिये! अहं नलस्त्वां सुखसुप्तां मुक्त्वा कुत्रापि न यास्यामि, त्वं विश्वस्ता भव, शुचं मुञ्च, निद्रां भज, जागरूकोऽहं तव रक्षां करिष्ये; इत्यादिवचनानि श्रुत्वा नलपरिधानांशुकमधो विस्तार्य तदुपरि सुप्तां निद्रां चकार। नलोऽपि तस्याः समीपे सुखं सुष्वाप। उभावपि तत्रस्थौ शुशुभाते।

यथा–"अथ तन्मिथुनं रेजे दुकूलवलयस्थितम्। एकशम्बासमुत्पन्नमिव मुक्ताफलद्वयम्" ॥ १ ॥

तयोः सुखसुप्तयोर्भैमीभालस्थलविशेषकशिखित्विषस्तिमिरं जर्जरीचक्रुः। पुनर्नलश्चिन्तयति—भैमीं परिहरामि, अहं कथं परिहरामि ?। एनां पथश्रान्तां सुखसुप्तां दीनाननां विश्वस्तां सुकुलोत्पन्नां चन्द्राननां भीमतनयां परित्यजतो मम लोकापवादो भविष्यति। पुनश्चिन्तयति—लोकापवादाद् भीतेन किम् ?। द्यूतावेशवशेन यथा राज्यं गत, लक्ष्मीर्गता, रथोऽपि गतः, तथा भैम्यपि गतेति निश्चित्य कटितटात् क्षुरिकां समाकृष्याऽधस्तनपटं प्रेमपाशेन साकं छित्त्वा दमयन्त्याः पटप्रान्ते निजरुधिरेणेमामक्षरावलीं लिलेख।

यथा—वामतोऽयं बटेनाऽध्वा विदर्भामुपतिष्ठते। दक्षिणेन पुनः स्मेरैः किंशुकैः कोशलां पुरीम् ॥१॥
देवि ! तत्र व्रजेर्यत्र कुत्रापि प्रतिभाति ते। अहं तु न खलु क्वापि मुखं दर्शयितुं क्षमः ॥२॥

दमयन्त्या-स्त्याग

इति वर्णावलीं लिखित्वा सुप्तां भैमीं पश्यन् मन्दं मन्दं रुदन् वलिताननश्चचाल। दूरे गत्वा पुनः प्रत्यावृत्तो नलः सुखसुप्तां भैमीमालोक्य निर्भरं जगाद—रे ! दैव यदि त्वयेयं विहिता, तर्हि एतावतीं दीनामवस्थां कथं प्रापिता ?, अन्योऽपि स्वयमारोपितां बदरीमपि न छिनत्ति, तर्हि वाञ्छितार्थप्रदायिनीं पुनः कल्पवल्लरीं को विद्वान् छिनत्ति ?। एषा तु कल्पवल्लीतुल्या, ईदृशानि सुखानि दत्त्वा पुनरीदृगवस्थां कथं प्रापिता ?। इत्युक्त्वा नलस्तावद् गच्छति, यावद् दमयन्ती अदृश्यतामगात्। अहो ! मया किं कृतम् ? विश्वस्ता वने मुक्ता, अस्यां सुप्तायां वन्यसत्त्वोद्भवः कोऽप्युपद्रवो मा भूदित्यालोच्य पुनः प्रत्यावृत्तो वृक्षवल्ल्यन्तरितः सुखसुप्तां दयितां रक्षति, तां भूमिशायिनीं निरीक्ष्य नलश्चिन्तयति—

यथा—"हा ! दुरात्मन् ! नल ! क्षिप्रं कथं यासि न भस्मसात् ?।
इत्याद्यालोचयत्यस्मिन् विरराम विभावरी" ॥ १ ॥

विभातायां विभावर्यां तमो दिगन्तेषु तुच्छत्वमगमत्। अथ स किं करोति ?, यावद् रविर्नोदेति, यावत् प्रिया न जागर्ति, तावद् नलः साश्रुनेत्रस्तं प्रदेशमुल्लङ्घयामास। अग्रे गच्छन् मार्गे धूमस्तोमसमन्वितं वनपावकमपश्यत्। तस्मिन् पावके दह्यमानेष्वनेकेषु जन्तुषु कश्चिद् मानुषभाषया गच्छन्तं नलं समभिलोक्य एवमवोचत्—

यथाः—"ऐक्ष्वाक ! नलभूपाल ! जगत्यार्तैक-बान्धव ! ।
दावाग्निदह्यमानाङ्गं महात्मन् ! रक्ष रक्ष माम्" ॥ १ ॥

तां मनुष्यवाचां श्रुत्वा तदनुसारेण इतस्ततो विलोकयन् नलो वन्यवल्लीमध्यस्थं ज्वालापरिवेष्टितमेकं भुजङ्गमं ददर्श। नलराट् तं भुजङ्गेन्द्रं जगाद—भो भुजङ्गेन्द्र ! त्वं मनुजभाषया इत्थं कथं ब्रूषे ?। अहिर्बभाषे—अहं पूर्वजन्मनि मनुष्योऽभवम्, तत्संस्कारादस्मिन्नपि भवे मम सरस्वती मानुषी। तथा ममावधिज्ञानमप्यस्ति, हे भूपते ! तेन ज्ञानेन विश्वं चराचरं करस्थमिव पश्यामि, तत् त्रायस्व महाराज ! महाऽग्निना वेष्टितोऽहम्, ममाऽस्मिन् वने अन्यः कोऽपि त्वां विना रक्षको नास्ति, अतस्त्वं मां रक्ष रक्ष। अहमपि त्वां किमप्युपकारं करिष्ये। तदा नलेन करुणासागरेण स्वमुत्तरीयं वल्लिनिकुञ्जे क्षिप्तम्, स भोगी तदुत्तरीयं वपुषा संवेष्टच स्थितः, नलस्तदुत्तरीयं भुजगवेष्टितं समाचकर्ष। ततस्तं पन्नगेन्द्रं नीत्वा निरुपद्रवस्थाने कस्मिंश्चिद् वने यावद् मुमोच, तावत् तेन भुजगेन्द्रेण नलकरे दश्यते स्म। नलोऽपि तं सर्पं करमाच्छोटच भूमितलेऽपातयत्। ततश्चोक्तम्—भो भुजगेन्द्र ! त्वयोक्तमहमप्युपकारं करिष्ये, भवता महोपकारः कृतो यदहं पाणौ दष्टः। यस्त्वज्जातीयेभ्यः क्षीरं पाययेत्, तैः स एव दश्यते। एषा तवोपकारिता। इत्याद्युक्ते सति तदीयविषवैभवतो राजा नलः कुब्जो जातः। तेन कुब्जत्वेन वामनवेषेण विडम्बितो नलो वैराग्यमापन्नो

नल सर्पेण दश्यते

जीवितव्यादुद्विग्नो यावदभूत्, तावत् स पन्नगो दिव्यं देवरूपं विधायैवमवोचत्—हे भूपाल ! विषादं मा विधेहि, अहं तव पिता वीरसेननामा । तदा तपस्यामादायाऽत्युग्रं तपस्तप्त्वाऽन्तेऽनशनेन मासान्ते मृत्वा पञ्चमदेवलोके महर्धिकोऽहं देवोऽभवम् । अवधिज्ञानेन तवेदं व्यसनोदयं परिज्ञाय अहमत्र समागतः । एतत्सर्वं मम मायाविजृम्भितं तव विरूपादिविहितं तव रक्षार्थं । यतस्तव शत्रवोऽनेके वर्तन्ते, अनेन नलरूपेण त्वामुपलक्ष्य उपद्रवं करिष्यन्तीति भिया मया तव दिव्यानुभावतो विरूपं रूपं विहितम् । त्वं चिन्तां मा विधेहि, वैराग्याद् मरणाभिमुखः परिव्रज्याभिमुखो वा साम्प्रतं मा भव ।

हे वत्स ! यदा ते परिव्रज्यासमयो भविष्यति, तदाहं ज्ञापयिष्यामि, निमितज्ञ इव । अतस्त्वं स्वस्थो भव, इदं करण्डकं एकं च बिल्वफलं मदर्पितं गृहाण । एतद्द्वयं त्वं प्रयत्नतो रक्षेः, यदा तवात्मीयरूपकरणेच्छा भवेत्, तदा बिल्वफलं भित्त्वा दिव्यदुकूलानि समाकृषेः । तथाऽस्मात्करण्डकाद् हाराऽर्धहाराद्याभरणोत्करं समाकृष्य परिधेयाः । तव तत्क्षणादेव दिव्यं नलरूपं भविष्यति । इत्युक्त्वा देवस्तद्द्वयं समर्प्य पुनः प्रोवाच—त्वं किमितस्ततो वने भ्राम्यसि ? यत्र तवेच्छा वर्तते, तत्र क्षणेन त्वां नयामि, ब्रूहि ।

नलेनोक्तम्—हे तात ! तर्हि त्वं मां सुंसुमारपुरे नय । देवेनोक्तम्—अहं त्वां राज्यादिकं ददामि, परं किं करोमि ?, तव पूर्वकृतं कर्म केनाप्युल्लङ्घयितुं न क्षमम्; इत्युक्त्वा देवेन तदोत्पाट्य नलः सुंसुमारपुरद्वारे मुक्तः । स्वयं देवः स्वर्गं गतः ।

ततो नलो यावद् नगरीं प्रविशेत्, तावत्तस्यां नगर्यां कश्चिद् बहलः कोलाहलः समभवत् । पलायध्वं पलायध्वं इति सर्वे लोकाः प्रासादशिखरगवाक्षस्था बाढं पूत्कुर्वन्ति स्म । नलश्चिन्तयति—किमेते लोकाः पूत्कुर्वन्ति ? । एवं यावता चिन्तयति, तावदेकं गजमन्यगजभ्रान्त्या स्वच्छायायां प्रहारं कुर्वन्तम्, गगनगामिनं

नलस्य रूप-परावर्तनम्

पक्षिसमूहं कराग्रेण गृह्णन्तम्, मठाट्टालशालाट्टमन्दिरादीनि पातयन्तम्, उद्यानकाननपादपान् भञ्जयन्तम्, प्राकारगोपुराद्यारूढपुरुषैर्वीक्षितम्, चकितैर्निरीक्षितं यमस्य सहोदरम्, द्रुमेभ्यो दत्तझम्पान् हस्तिपकान् हिंसन्तम्, बालस्त्रीवृद्धादीन् त्रासयन्तम्, फूत्कारसीकरासारकृतझञ्झासमीरणम्, सिन्दूरपूरपूरितशिरःकम्पनेन पिञ्जरीकृतदिगन्तरम्, सप्तस्रोतस्स्रवन्मदेन पङ्किलीकृतभूतलम्, सप्तकरोन्नतमेवंविधं गजेन्द्रं दृष्ट्वा नलेन चिन्तितम्—नूनमेतस्य भयात् सर्वे लोका इतस्ततः प्रणश्यन्ति, गजानुपदिकस्तन्नगराधीशो राजा दधिपर्णस्तुरङ्गारूढः सैन्यपरिवृतो बाढस्वरेणैवं भारतीं व्याजहार—भो लोकाः ! कोऽप्येनं गजेन्द्रं वशमानयति तस्याऽहं मनोभीष्टां ग्रामपञ्चशतीं ददामि । एवं वारं-वारं पूत्कुर्वन्तं भूपालं दृष्ट्वा गजेन्द्राभिमुखं कोऽपि गजं वशमानेतुं मरणभयाद् भीतो नायाति ।

यतः—"मरणसमं नत्थि भयं दारिद्दसमो य परिभवो नत्थि ।
पन्थसमा नत्थि जरा खुहासमा वेअणा नत्थि" ॥ १ ॥

एवं वदति भूपाले यावत् कोऽपि नायाति, तावद् नलः कल्लोलितविक्रमः पादाभ्यां भुवमस्पृशन्निव गजाभिमुखो वेगादधावत् । तावल्लोको बभाषे—भोः कुब्जक ! गजाभिमुखो मा याहि, एष गजस्तवान्तं करिष्यति । एवं बहुशो निषिद्धोऽपि नलः सिंहवद् गजाभिमुखो ययौ । तत्र गजसमीपे गत्वा गजं तर्जयन्नेवं बभाषे—रे रे मातङ्ग ! मातङ्गवद् किं बालवृद्धग्लानतपस्विदुर्बलहिंसां करिष्यसि ? । यदि तव पराक्रमं भवति, तर्ह्येतान् सर्वान् लोकानुत्सृज्य ममाऽभिमुखो भव । तत् श्रुत्वा नलं प्रति धावितो गजः । नलेनापि लेष्टुयष्टयादिभिस्ताडितो भृशं चुकोप ।

अथ धावितो गजः क्रोधारुणलोचनः साक्षाद् विन्ध्याद्रिरिव महाकायो वातोद्धूतो नलसमं युयुधे ।

गज-वशी-करणम्

नलोऽपि कदाचिद् धावति, कदाचिद् परितो भ्रमति, कदाचिद् लेष्टुभिस्ताडयति, कदाचिल्लुठति, कदाचित्स्वपिति, कदाचित् कठोरवचोभिस्तर्जयति, कदाचित् कराभ्यां दृढं पुच्छमादाय चक्रवद् भ्रमति। एवं नलो गजेन्द्रं खेदयित्वा जनानां कोलाहलेऽपि सुदृढमना निजोत्तरीयं कुण्डलीकृत्य गजपुरतः क्षिपति स्म। ततो गजः पुरुषभ्रान्त्या दन्ताभ्यां प्रहारं दातुं शिरोऽनामयत्, तावत् कुब्जस्तद्दन्तयोः पादौ दत्त्वा कुम्भिकुम्भस्थले समारुरोह। ततो नलो गजकण्ठवरत्रायां चरणौ प्रक्षिप्य करैः कुञ्जरकुम्भस्थलमास्फालयत्। तं गजेन्द्रं सान्त्वयामास। पश्चाद् गजरक्षाकारकैर्मेण्ठपुरुषैरुल्लोलितां शृणिं नलः समादाय गजेन्द्रमालानस्तम्भे समानयत्। तत्रालानस्तम्भे गजं बन्धता नलेन नगरलोकः सर्वोऽपि स्वस्थचित्तः कृतः। तं कुब्जरूपं नलं दृष्ट्वा सर्वोऽपि नागरिकलोको विस्मयविस्मेरमुखश्चिन्तयति।

कुब्जस्य सर्वत्र प्रशंसा

यथा—"मायाकुब्जसुरः कोऽपि किमेष भुवमागतः?।
यश्चक्रे हस्तिमल्लस्य प्रतिमल्लमिमं वशे" ॥ १ ॥

राजाऽपि एतच्चरित्रं कुब्जस्य दृष्ट्वा मोहितो निजकण्ठाद् महामूल्य रत्नावलीहारं समादाय कुब्जकण्ठे स्वयं निचिक्षेप। कुब्जपराक्रम समालोक्य लोका वारं वारं प्रशंसन्ति स्म। राज्ञा दधिपर्णेनाऽऽहूतः कुब्जो राज्ञः समीपे वयस्यवदुपाविशत्। ततस्तुष्टो राट् तस्मै अलङ्कारान् दुकूलानि च परिधापयति स्म। ततो गरीयसा गौरवेण स्वान्तिके स्थापयामास, गुणवान् सर्वत्र पूज्यते।

यतः—"गुणेष्वनादरं भ्रातः! पूर्णश्रीरपि मा कृथाः। संपूर्णोऽपि घटः कूपे गुणच्छेदात् पतत्यधः ॥ १ ॥
गुणेष्वेवादरः कार्यः किमाटोपैः प्रयोजनम्?। विक्रीयन्ते न घण्टाभिर्गावः क्षीरविवर्जिताः ॥२॥

संधयेत् सरला सूची वक्रा छेदाय कर्तरी । अतो विमुच्य वक्रत्वं गुणानेव समाश्रय" ॥३॥

अथ राजा दधिपर्णो गुणवन्तं गुणज्ञं कुब्जं ज्ञात्वा आत्मना सह गृहे निनाय । तं स्नापयित्वा सह भोजनं कारयित्वा ततः सर्वं राजा पृच्छति—भोः कुब्जक ! तव विकलाङ्गस्यापि महापुरुषस्येव गजशिक्षाकलाकौशल्यं त्वयि अन्याऽपि काचित्कला संभाव्यते । कुतः समागतम् ?, त्वं कोऽसि ?, कुत्र वास्तव्योऽसि ?, कुब्जको बभाषे—अहं नलस्य राज्ञो हुण्डिकनामा सूपकारोऽस्मि । मम जन्मभूः कोशला । मम स्वजनवर्गोऽपि सर्वस्तत्रैवाऽस्ति । नलस्याहं प्रेमपात्रमात्मतुल्यस्तेन कारणेन राज्ञा नलेन एषा गजशिक्षा ममाऽध्यापिता, तथाऽन्याऽपि सर्वा कला मयि न्यस्ता । पुनः राज्ञा प्रोक्तम्—भोः कुब्जक ! नलः सूर्यपाकां रसवतीं वेत्ति, त्वमपि तां रसवतीं जानासि ? । तेनोक्तम् सूर्यपाकां रसवतीमहमपि तस्यानुभावतो जानामि । दधिपर्णेन राज्ञा प्रोक्तम्—स नलः कुत्रास्ति ? । तेनोक्तम्—नलकूबरौ सर्वैर्वार्यमाणावपि दुरोदरं रेमाते । ततः सकलं पृथिव्यादिकं जित्वा कूबरेण निष्कासितो नलो दमयन्त्या समं निर्गत्य वने गतः । ततो न ज्ञायते मृतो वा, जीवति वा । अहमपि नलस्य प्रेमपात्रं मित्रम्, अतोऽहं मायिनं कूबरं त्यक्त्वा तव कीर्तिं श्रुत्वाऽत्राऽऽगतोऽस्मि । दधिपर्णो राजा तां नलकथां श्रुत्वा भृशं रुदंस्तस्य प्रेतकृत्यं चकार । ततस्त्रिदिनं गीतनृत्यवाद्यादि निषिध्य पुनरपि राजा तथैव नलमित्रकुब्जेन सम सुखं बुभुजे ।

नलस्यात्मस्वरूपविगोपनम्

अन्यदा दधिपर्णो राट् सूर्यपाकायां रसवत्यां कुतूहली हुण्डिकसूपकाराय शालिप्रमुखं भोज्यं सर्वं समार्पयत् । कुब्जोऽपि तद्भोज्यं स्थाल्यां निधाय आतपे धृत्वा सूर्यमन्त्रं सस्मार । तस्यानुभावतोऽशेषरसपेशलां दिव्यां रसवतीं कुब्जस्तत्क्षणादेव निर्ममे । तया रसवत्या कुब्जो राजानं सपरिकरं भोजयामास । ततस्तुष्टेन राज्ञा हुण्डिकाय पारितोषिकं वस्त्राभरणादिकं दत्त्वा तदुपरि लक्षमेकं सौवर्णस्य पञ्चशती ग्रामाणामपि दत्ता ।

हुण्डिकेन ग्रामान् विना स्वर्णादिकं सर्वमप्याददे। भूयोऽपि भूपेनोक्तम्—भोः कुब्जक! यत्त्व वाञ्छसि, तत्सर्वं ददामि।

कुब्जकेनोक्तम्—राजेन्द्र! यावतीं भुवं ते भुजादण्डः प्रशास्ति, तावत्यां भुवि द्यूतं मांसं मद्यं तथा चाऽऽखेटको निषिध्यताम्, एतदेव प्रार्थयामि। कुब्जप्रार्थितं राज्ञा सर्वं कृतं स्वदेशेषु। एवं तत्र दिनानि यान्ति कुब्जस्य। अथ दमयन्त्या वृत्तान्तो यथा—इतश्च यत्र रात्रौ नलेन दमयन्ती त्यक्ता तत्रस्थां प्रभातेऽपि दमयन्ती सखीव निद्रा न तत्याज। अथ रात्रिपर्यन्ते दमयन्ती स्वप्नं ददर्श—यदहमेकं सहकारतरुं पत्रलं बद्धमञ्जरीकं सषट्पदं फलितमारूढा, तस्य फलानि यावद् गृह्णामि तावत्तत्र कश्चित् करीन्द्रः समागात्; तेन सहकारतरुर्मूलादुन्मूलितः, अहं ततो भुवस्तले पतिता। एवंविधं स्वप्नं लब्ध्वा दमयन्ती जागरिता प्रियमदृष्ट्वा चिन्तयति स्म—कुत्र गतो मे प्राणेशः? नूनं मदर्थं सलिलमानेतुं जलाश्रये गतः, अथवा शरीरशौचार्थं वनान्तरे गतः। एवं बहुविलोकितोऽपि नलो यदा नायाति स्म, तदा दमयन्त्या पुनश्चिन्तितम्—नूनमेष नलो रूपाहृतचित्तया कयाऽपि विद्याधर्या हृतः, अथवाऽन्याभिर्देवीभिर्हृतः।

यतः—"रन्तुं विद्याधरी काचित् क्वापि वा वनदेवता।
सुभगं तमथाऽहार्षीत् सोऽन्यथा न जहाति माम्" ॥ १ ॥

अथवा हास्येन क्वापि वल्ल्यन्तरितो भविष्यति, तर्हि इत उत्थाय पश्यामि, ममाग्रे क्व यास्यति?। इति विचिन्त्य समुत्थिता दमयन्ती इतस्ततो विलोकयन्ती प्रेमग्रथिला मार्गमहीरुहान् पृच्छति—भो महीमण्डना वृक्षसमूहाः! भवद्भिर्दृष्टः कुत्रापि मम प्राणप्रियो नलः?। इत्यादि वारं वारं महीरुहान् पृच्छन्ती वनं बभ्राम। तत एकं महावृक्षं समारुह्य बाढस्वरेण पूत्करोति स्म। "हे प्राणेश! एहि, तव विरहे मम हृदयं द्विधा

भविष्यति, बहु हास्यं कुत्रापि शर्मदं न भवति। एवं बहून् वारान् कथयन्ती इतस्ततो भ्रान्त्वा पुनस्तत्राऽऽगता यत्र पूर्वं सुप्ताऽभूत्। तत्र स्थित्वा स्वप्नार्थो विचारितः।

स्वप्नफल-चिन्ता

यथा—यश्चूतो मत्प्रियः सोऽयं राज्यं पुष्पफलादिकम्। तद्भोगश्च फलास्वादः षट्पदाश्च परिच्छदः ॥१॥
मूलादुन्मूलनं यच्च चूतस्य वनदन्तिना। मदीयप्रेयसो राज्याद् भ्रंशनं कूबरेण तत् ॥ २ ॥
यच्चाहं पतिता चूतात् प्रियेण विरहः स मे। तत्स्वप्नेनाऽमुना नूनं वल्लभो दुर्लभोऽधुना ॥ ३ ॥

इत्याद्यालोच्य दुःखभारभराक्रान्ता नलप्रिया मूर्छामगमत्। क्षणं स्थित्वा वनमारुतेन प्राप्तचैतन्या सा दमयन्ती भृशं रुरोद। हा नाथ! तवाहं किं भारहेतवेऽभूवम्?, यतः स्थूले अपि निजे शृङ्गे वृषभस्य किं भाराय भवतः?। हा नाथ! हा निषधकुलोत्तंस! विवेकिनां सात्त्विकानामयं क्वापि पन्थाः केनापि दृष्टः? यदीदृशे वने पाणिगृहीती प्रिया त्यज्यते। अथवा मम कर्मविलसितं ह्येतत्, येन त्वं सुकुलोत्पन्न ईदृशे भयङ्करे वने एकाकिनीं दीनामनाथां मां मुक्त्वा गतः, यद्वा ज्ञातं द्यूतग्रहग्रस्तानां साहसिकशिरोमणीनां भवतां मतिविपर्यासोऽभूत्? एवं वारं-वारं पूत्कुर्वती दमयन्ती वने पादपान् श्वापदानप्यरोदयत्। तदैवं विरहव्याकुला कथयति स्म।

यथा—"राज्यभ्रंशस्य नो दुःखं प्रवासोऽपि न दुस्सहः। अयं प्रियवियोगस्तु विधत्ते हृदयं द्विधा ॥१॥
सायं वल्लभयुक्ताऽहं प्रातः प्रियविवर्जिता। अहो! तादात्विकः कोऽपि विपाको दुष्टकर्मणाम्" ॥२॥

एवं विलपन्ती दमयन्ती पट्टकूलाञ्चलेन यावता नयनजलमपाकरोति, तावता पट्टकूलाञ्चले शोणितेन

नलनृपलिखितां वर्णपङ्क्तिं ददर्श। तां दृष्ट्वा दमयन्ती चिन्तयति स्म—नूनं नलो मां मुक्त्वा कुत्रापि देशान्तरे गतः, तर्हि नलशिक्षयाऽहमपि न्यग्रोधाध्वना पितुर्वेश्मनि व्रजामि, यतो नारीणां पतिं विना पितैव शरणम्। अतो पितुर्गृहे यामि।

साऽपि प्रियादेशं कर्तुं दमयन्ती वटमार्गेण कुण्डिनं प्रति चचाल। हृदये दुःखाक्रान्ता पतिविरहाज्जीवितनिरपेक्षा मार्गे निःशङ्केव ययौ। अग्रे गच्छन्त्यास्तस्या मार्गे सहसा पुरतः केशरी समागात् तद्भालस्थलतिलकज्वालातडित्ताण्डवडम्बरनिर्घाटितः केसरी निष्फलतामगात्। तस्या दमयन्त्या अनुभावतो मार्गे कोऽपि दुष्ट. श्वापदजीवः पीडां कर्तुं न शशाक। यथा—जाङ्गुलीमिव भोगीन्द्रा जानन्ति, वनद्विपास्तां सिंहीमिव मानयन्ति, व्याघ्रास्तां वह्निज्वालामिव दुरालोकां वीक्ष्य दुद्रुवुः। मार्गे सा चिन्तयति स्म—अहो! मे प्रियस्यादेशं वहन्त्या जीवितं तिष्ठति, अथवा आशापाशनिबद्धं मे वक्षो द्विधा न भवति। एवं मार्गे वहन्त्यास्तस्याः सकलमपि दिनं गतम्। सायं पुष्पफलाहारान् विधाय रात्रावेकस्यां गिरेर्गुहायां निद्रां चकार।

अथ तस्यां प्रसुप्तायां रविस्तद्दुःखमसहमानोऽस्तमियाय। पुनः सूर्यो दमयन्त्याः पन्थानं दर्शयितुकाम इवोदयाचलचूलामध्यास्ते स्म। ततोऽपि जागरिता देवान् गुरूनमस्कृत्य पुनः कुण्डिनपुरमार्गे चचाल। एवं मार्गे यान्ती भैमी पुनः कस्यचिद् गिरेर्गुहायां रात्रौ सुष्वाप। एकदा रात्रौ सुखसुप्ता दमयन्ती अजगरेण ग्रस्ता जागरिता भृशं विह्वलाऽपि अजगरमुखमध्यस्था आनाभि यावद् ग्रस्ता चिन्तयति स्म-धिग् विधिम्, हे विधे! राज्यं हृत्वा राज्याधिष्ठायिनं नलं च हृत्वा न सन्तुष्टः, अथ मां दीनामबलां हर्तुमिच्छसि?। तदा तत्तुण्डकुहरात् सा तु तन्वी निर्गमं न लेभे, पङ्काद् गजवधूरिव। तस्मिन्नरकोपमे तस्य जठरे पतिता वक्त्रशेषाऽभवत्। ततः कण्ठगतप्राणा मृत्युमागतं ज्ञात्वा धर्मस्य शरणं विधायोच्चैश्चक्रन्द, तावत्तस्याः कण्ठगतप्राणाया आक्रन्दं श्रुत्वा कश्चिद् भिल्लनायकोऽतुलकरुणातरलितचेताः शीघ्रमागत्य प्राप्तराहुशरीरावस्थामिव मुखशेषां तां दृष्ट्वा तस्याः

एवाकर्षणाय पर्शुना तस्य पुच्छं चिच्छेद, यतो मर्मावित् पुच्छे बलं हि अजगराणाम्, पुच्छच्छेदे बलं याति। ततो भिल्लेनाऽजगरमुखाद् निष्कासिता तामक्षताङ्गीं समादाय जलाश्रये गत्वा स्नपयित्वा तस्या वपुः शुचीचकार। एवं तां स्वस्थां विधाय खर्जूरनालिकेरबीजपूरादिभिः सत्फलैर्भोजयित्वा विहिताचमनां तां ज्ञात्वा तस्याः पादौ कोमलकमलोपमौ करतलाभ्यां संवाहयामास। ततस्तस्या अङ्गचङ्गिमानं निरीक्ष्य भिल्लनायकः स्वकुलोचितां वाचमुवाच—हे सुभ्रु ! त्वमस्यामटव्यां कं शरणं करिष्यसि ?, अतस्तवोपकारिणं मां भजस्व।

यथा–"विविक्तोऽयं वनोद्देशः पद्मशय्या च कोमला। न विलम्बक्षमः कालः किं मन्दाक्षं निषेव्यते? ॥१॥

न चुकोप निजिह्माय न च प्रत्युत्तरं ददौ। श्रुत्वा तद्वचनं देवी हृदि त्वेवमचिन्तयत् ॥२॥

अहह ! नलकलत्रं वीरसेनस्नुषाऽहं जगति दमनजामिर्भीमभूपालपुत्री।

किमपरमयि ! जाता पात्रमेवंविधानां जयति तदिह कालः क्रूरता कर्मणां च" ॥ ३ ॥

अहो ! कर्मणां वैचित्र्यम्, यदनेन मदर्थमजगरो हतः, तन्मुखादहं रिरंसया कर्षिता। ततोऽसौ लम्पटः शबरः सर्वथा शोभनो नास्ति। अथ मौनावलम्बिनीं तां विलोक्य स्मरबाणव्यथापीडिताङ्गः शबरो बभाषे—हे मुग्धे ! त्वं किं मौनमालम्ब्य स्थिता निःश्वासैरेवोत्तरं विदधासि ?। अत्रैव वने त्वं मया सह निःशङ्कं रमस्व, मया सह क्रीडन्त्यास्तव किमपि दुःखावहं न भविष्यति। अथ भीमजाऽवोचत्—अहो महाभाग ! अस्मिन् महारौद्रे भीषणेभ्योऽपि भीषणेऽरण्ये भिल्लेष्वपि त्वमेव दयालुर्वर्तसे, येन त्वया ममेदं जीवितं दत्तम्, जीवितव्यादप्यधिकं किमस्ति ? यदहं तव ददामि। अहं तव परोपकारैकशिरोमणेः किं प्रत्युपकरोमि ? किमिव कथयामि ?।

यथा—"पितरं वा पितृव्यं वा भ्रातरं वा सहोदरम् ।
कमिव व्याहरामि त्वामेकयैव हि जिह्वया ?" ॥ १ ॥

हे महाभाग ! धन्येभ्योऽपि ते धन्याः, ये त्वमिव परोपकारं कुर्वन्ति स्वार्थं विनैव धर्मबान्धवाः परदार-पराङ्मुखाः, परं तान् धिक् ये परदारानभिलषन्ति ।

यतः—"निन्दामूलं घृणाहेतुर्मृत्युद्वारं त्रपास्पदम् ।
तथापि मूढचित्तानां प्रीतये पारदारिकम्" ॥ १ ॥

भिल्लस्य मृत्युः

अतो हे महन् ! रक्ता वा विरक्ता वा महापुरुषैः परस्त्री सर्वथा त्याज्या । यतो "रक्ता हरति सर्वस्वं विरक्ता विषवल्लरी" हे महाभाग ! इति हेतोः परस्त्री सर्वथा त्याज्या । इत्यादीनि दमयन्तीवचनानि निशम्य वनेचरो धाष्टर्यमालम्ब्य तां प्रत्युवाच—हे सुभ्रु ! पापिनि पुरुषे कोऽयं धर्मोपदेशः ?, वृक्षमूले सिक्तं जलं कियत् स्थिरं तिष्ठति ?, तथैवैष तव धर्मोपदेशलेशो मम हृदये कियत्तिष्ठति ? । मम हृदये इदं नरकादपि महद् दुःखम्, यत् त्वादृशं स्त्रीरत्नं मया कदापि नोपभुक्तम् । हे बाले ! त्वं किं मह्यं पाप्मने नरकादिविभीषिकां दर्शयसि ? इह मम त्वयि बलात्कारं कुर्वतः को निवारयितुं समर्थः ? । एव कामातुरो भिल्लनायको यावत् तदध्यवसायाद् न विरराम, किन्तु तां दमयन्तीं बलात्कारेण रन्तुं पाणिना करग्राहमकरोत्, तावद् दमयन्त्याः स्मृतमात्रोपगतेन पूर्वाराधितहरिदेवेन विद्युत्पाताद् भस्मराशीकृतः पल्लीशो नरकस्याऽतिथिर्जातः । स देवो पल्लीपतिं शिक्षयित्वा स्वस्थानं गतः । सा दमयन्ती चिन्तयति—अहो ! मम कर्मवैचित्र्यम्, यः कोऽपि संप्रति ममोपकारं करोति, सोऽपि वराको देवतया हन्यते । एवं शोकं कुर्वती दमयन्ती पुनरपि मार्गे संचचार । सा

मार्गे संचरन्ती रात्रौ पथश्रान्ताऽपि निद्रां न करोति, यतो निद्रातो मम पत्युर्वियोगोऽभूत्, तथा निद्रातोऽजगरेणापि गिलिता, तस्माद् रात्रौ गिरेर्गुहायां स्थिता पञ्चानां परमेष्ठिनां मन्त्रं हृदये वारं वारं सस्मार। नमस्कारमन्त्रानुभावतः शीलानुभावतश्च तस्याः कोऽपि किमपि कर्तुं न शक्नोति स्म। व्याघ्रसिंहश्वापदादयो विरूपं नाचरन्ति स्म। तस्या हृद्येकं महद् दुःखं वर्तते—यद् मदर्थं मृतो वराको वनेचरः।

इत्थं पथि गच्छन्त्याः कियत्यपि काले धनपूर्णस्य वणिक्सार्थवाहस्य संगमो बभूव। सा दमयन्ती तेन सार्थवाहेन समं मार्गे विचरन्ती रात्रौ दुरारोहे विकटतटोद्देशे संतस्थे। तस्यां च रात्रौ सुप्तेषु सकलसार्थलोकेषु जनतागन्धात् क्रोधान्धो वनसिन्धुरो न्यपतत्। तेन गजेन्द्रेण गजयूथसहितेन चूर्णितानि वस्तुभाण्डानि, भग्नानि भाजनानि, तदा त्रस्ताः केऽपि मनुष्याः, मृताः केऽपि मनुष्याः। एवं वृषा अपि सर्वे नंष्ट्वा दिशोदिशं जग्मुः। पुनस्तथैव एकाकिनी वनदेवतेवेतस्ततो भ्रान्त्वा एकस्य तरोरधो विशश्राम। ततः सा दमयन्ती खेदखिन्ना चिन्तयति स्म—अहो! भाग्यविपर्यासः, येन समं मार्गे गच्छामि तस्यापि कुशलं नास्त्येव। एवं चिन्तयन्ती भैमी समुत्थाय खिन्नापि सत्त्वमवलम्ब्य शनैः शनैर्गिरिश्शृङ्गमयं मार्गमारुरोह। मार्गखिन्ना निराशा व्यग्रा कर्मवशा श्रान्ता भीता त्रस्ताङ्गी, एवंविधा सा सुन्दरी क्वापि रतिं न लेभे। अग्रे यान्ती भैमी मार्गेऽशोकवृक्षतले मुनीनां चारणश्रमणानां वृन्दं ददर्श।

तेषां मुनीनां श्लक्ष्णसूक्ष्मप्रावरणानां समीपे गता दमयन्ती अनुजानीहि मां भगवन्! इत्युक्त्वा सा तन्मध्यगतं धीरं महौजसं धर्मघोषाभिधानं महामुनिं प्रणनाम। मुनिनोक्तम्—भो भद्रे! तव धर्मलाभोऽस्तु, हे कल्याणि! इतः पश्य—एते चारणश्रमणाः साधवो वैताढ्यपर्वतादेत्य तीर्थं वन्दितुं समागताः। एतत्तीर्थं भाविश्रीशान्तिनाथषोडशजिनस्य देवासुरैर्नमस्कृतं मुक्तिद्वारं नाम्ना महातीर्थम्। त्वं एकाकिनी अत्र वने कथं समागता?, इदं तीर्थं प्रायो भूगोचराणामगम्यम्, अज्ञातः कोऽप्यत्रागन्तुं न शक्नोति।

सार्थवाहेन सह सङ्गमः

हे सुकुमाराङ्गि ! हे मुग्धे ! त्वामविधवामेकाकिनीं वीक्ष्य मम महान् विस्मयो जातः, त्वं देवकन्या न, नैव लक्ष्मीः, नैव सावित्री, नैवेन्द्राणी, नैव पार्वती, मेषोन्मेषस्तव चक्षुषि यतो वर्तते। त्वं काऽसि ?, कस्याऽसि प्रिया ?, केन हेतुना वने एकाकिनी दीनानना विचरसि ?, एतत् सर्वं मम समाख्याहि। भगवन् ! अहं दुर्दशापतिताऽपि भाग्यवत्यस्मि, यद् मयाऽस्मिन् भीषणे वने भवतो दर्शनं प्राप्तम्। तथापि मम वृत्तान्तं शृणु—अयोध्यायां नगर्यां वीरसेनो नरेश्वरोऽस्ति। तत्पुत्रः शत्रुकालानलो नलो नाम राजा द्यूते हारितसर्वस्वो भ्रात्रा कूबरेण समं क्रीडंस्ततः कूबरेण निर्विषयीकृतो दमयन्त्यभिधानया पत्न्या मया समं देशान्तरे गतः। एकस्यामटव्यां मां सुप्तां मुक्त्वा निष्करुणो न ज्ञायते कुत्र गतः ?, मां अनाथां परित्यज्य तथा गतो यथा भूयो न वीक्षितः। ततोऽहं नलमार्गं विलोकयन्ती क्वापि वनगिरिगह्वरे सुप्ता, तत्राऽप्यजगरेण गिलिता एकेन भिल्लेन मोचिता। ततोऽहं सार्थेन सह मिलिता, सोऽपि सार्थो वनदन्तिना पीडितः। ततोऽप्यहं निर्गता दक्षिणाधिपतेर्भीमराज्ञो मम पितुर्गृहे यान्त्यस्मि। अत्र श्रीशान्तिनाथप्रासादे समागता यूयं मिलिताः। मया यूयं वन्दिताः। एष मे वृत्तान्तः।

दमयन्त्या आत्म-कथा-निवेदनम्

मुनिनोक्तम्—हे धर्मशीले ! तव शीलमाहात्म्यतः सर्वे उपद्रवाः दूरे यास्यन्ति। इत्युक्त्वा सः तैश्चारणमुनिभिर्युतस्तपोलब्ध्या गगनमार्गेण स्वस्थानं गतः। अथ दमयन्ती मार्गे संचरन्ती यावता कतिपयभुवं गता, तावन्मार्गे पुनरपि कश्चित् सार्थो मिलितः, तत्र सार्थेन साकं संतुष्टमना यावत् कतिपयभुवं गता, तावत् सः सार्थो भिल्लसेनयाऽरोधि। ततः सार्थाधिपतेः सुभटाः भिल्लसेनया समं द्वन्द्वयुद्धेन युयुधिरे। एवं परस्परं युद्धं दृष्ट्वा भैमी सार्थपतिसेवकान् भग्नप्रायानालोक्याऽग्रे भूत्वा सिंहीव हुङ्कारानकरोत्। तस्य शीलानुभावतो मुनिवचनाच्च ते भिल्लनायकाः सर्वे पलाय्य स्वस्थानं जग्मुः। तं भैम्याः पराक्रमं विलोक्य सार्थपतिस्तां दमयन्तीं प्रोचे—हे कल्याणि ! त्वं महिमैकभूः काऽसि ?, अस्मिन्निर्जने वने एकाकिनी त्वं किमितस्ततो भ्राम्यसि ?।

तथा दमयन्त्या सार्थपत्यग्रे यथार्थमुक्तम्—अथाहं कुण्डिनपुरं प्रति मार्गे यामि, तत्र मे जनको भीमराड् भीमपराक्रमो वर्तते, तस्याहं पुत्री, अतस्तत्र यामि; मार्गे त्वं मां मिलितो मया शीलमाहात्म्याद् हुङ्कारमात्रेण तव सार्थो रक्षितः। तेनोक्तम्—अहं वसन्तसार्थवाहोऽस्मि, तव भर्तुर्नलभूपतेः सेवकोऽहम्; अथाहं तव रक्षां करिष्ये, यतस्त्वं ममोपकारिणी सार्थरक्षणाद्, नलपत्नीत्वाच्च त्वं मम पूज्या मान्या च, इत्युक्त्वा वसन्तसार्थवाहेन भैमी निजां पटकुटीं निन्ये, सार्थवाहो भैम्या भक्ति करोति स्म।

यथा—"स्नानभुक्त्यादिना तत्र गतश्रान्तिमधारयत्।
स तैस्तैरुपचारैस्तामाराध्यन् देवतामिव" ॥ १ ॥

अथ तत्र स्थिता कतिचिद्दिनानि, तदा वने-वने जनेभ्यः शिखण्डिनां नृत्यं दर्शयन्ती प्रावृट् प्रववृते। त्रिरात्रिं यावत् मुशलधाराभिर्विरामरहितो मेघो पुष्करावर्तकोपमो वर्षितुं प्रवृत्तः। तद्वर्षाप्रान्ते दिनत्रयानन्तरं भैमी मार्गभङ्गभयात् कालक्षेपं ज्ञात्वा केनाऽप्यविज्ञाता वृष्टिपर्यन्ते निर्ययौ। मार्गे यान्ती नलप्रिया महाश्याममञ्जनगिरिसोदरं नरास्थिभूषणं दंष्ट्राकराल कर्तिकाकरं कञ्चित् राक्षसमैक्षिष्ट। स राक्षसो भीतितरलेक्षणां भैमीं बभाषे—हे बालिके ! त्वं क्व यासि ?, तिष्ठ तिष्ठ सप्तदिनबुभुक्षितेन मया त्वं लब्धा, अथाऽहं त्वां भक्षयिष्यामि। तत् श्रुत्वा भीता दमयन्ती सत्त्वमालम्ब्य राक्षसं प्रति जगाद—भो भद्र ! त्वं मां मा स्पृश, त्वं मां स्पृशन्नेव भस्मसाद् भविष्यसि, सतीशापात् क्षयं यास्यसि; यदि कल्याणं काङ्क्षसि तर्हि इतो याहि। तां सतीं ज्ञात्वा भीतः पलादो भैमीं बभाषे—हे भद्रे ! तव शीलेन सत्त्वेन च तुष्टोऽहम्, यद् रोचते तद् याचस्व।

राक्षस-मिलनम्

"यदि तुष्टोऽसि भद्र ! त्वं राक्षस ! व्यन्तरेश्वर !। तदा ब्रूहि कदा भावी पत्या मम समागमः ? ॥१॥

विलोक्याऽवधिना सद्यस्तामवोचद् निशाचरः । अतिक्रम्य परित्यागदिनाद् द्वादशहायनीम्" ॥२॥

तथा तव पितृगृहे पत्या सह समागमो भविष्यति । यदि त्वमादिशसि तर्हि क्षणेन तत्राहं त्वां नयामि । देवी भैम्यूचे भो देवराज ! इह जगति तव किमसाध्यमस्ति ?, परमहं परपुरुषैः सार्धं क्वचिद् नैव व्रजामि । तद्भैम्या वचनं श्रुत्वा देवो दिव्यरूपं विधाय भैम्याः शिरस्युपरि पुष्पवृष्टिं विरचय्य भैमीं स्तुत्वा नत्वा च स्वस्थानमगमत् । द्वादशवर्षान्ते पतिसंगमं विज्ञाय भैमी सतीव्रतोत्तंसा इमानभिग्रहानग्रहीत् । तद्यथा—रक्तवासांसि, ताम्बूलं, कुसुमानि, आभरणानि, विकृतीश्च प्रियदर्शनादर्वागह न ग्रहीष्ये । ततश्चलिता दमयन्ती एकाकिनी पुण्यसहाया कस्यचिद् गिरेश्चेतः–स्वास्थ्यकरीं कन्दरां प्राप । तस्यां गुहायां वर्षाकालं निर्गमयितुं दमयन्ती अवस्थानं चकार ।

दमयन्त्या अभिग्रह-ग्रहणम्

तत्रस्था दमयन्ती पुण्योपदेशस्मृत्या मृण्मयीमेकां श्रीशान्तेः भाविषोडशजिनस्य प्रतिमां कृत्वा नमस्कार-त्रयेण संस्थाप्य गुहायाः कोणे न्यवीविशत् । ततः सा दमयन्ती प्रतिवासरं वर्यपुष्पैस्तां जिनप्रतिमां स्वयमार्चयत् । एवं धर्मध्यानपरायणा तस्यां गुहायां वासरान् निर्गमयामास । यावदहं स्वदृष्ट्या नलं न विलोकयामि, तावदहं चतुर्थान्तःपारणं न करोमि, इत्यभिग्रहं गृहीत्वा चतुर्थषष्ठाष्टमाद्यनेकतपः कुर्वाणा गलितपतितपुष्पफलाहारैः पारणं वितन्वानैकाकिनी निर्भीका परमेष्ठिमहामन्त्रस्मरणपरायणा कालमत्यगात् । अथ वसन्तसार्थपतिस्तां भैमी तत्राऽपश्यन्नितस्ततः सार्थमध्ये सर्वत्र विलोकयन् तस्या अनुपदिकस्तां कन्दरां समागात् । तत्र कन्दरान्तः समभिलोकयन् श्रीमच्छान्तिजिनमूर्तेः पूजां कुर्वती नलदयितां ददर्श । नलदयिताऽपि सार्थपतेः कुसुमादि समर्प्य शान्तिजिनपतेः पूजां कारयति स्म । ततः स्वागतप्रश्नपूर्वकं सार्थपतिमवार्तयत् । वसन्तः प्रोचे—हे दमयन्ति ! कस्य देवस्यैषा मूर्तिस्त्वयाऽर्च्यते ? । साऽपि भाविश्रीशान्तिजिनपतेः

षोडशस्येत्यचीकथत्। तयोर्वाचं समाकर्ण्य तद्गिरेः समीपस्थास्तापसास्तत्र समाजग्मुः। ततः सा दमयन्ती तेषां तापसानां वसन्तसार्थपतेश्च विचित्रमार्हत धर्मं समाख्यत्।

यथा-त्रैकाल्यं जिनवन्दनं प्रतिदिनं सङ्घस्य संमाननं, स्वाध्यायो गुरुसेवनं च विधिना दानं तथाऽऽवश्यकम्।
शक्त्या च व्रतपालनं वरतपो ज्ञानस्य पाठस्तथा, सैष श्रावकपुङ्गवस्य कथितो धर्मो जिनेन्द्रागमे ॥१॥
जन्तूनामवनं जिनेशमहनं भक्त्याऽऽगमाऽऽकर्णनं, साधूनां नमनं मदापनयनं सम्यग् गुरोर्माननम्।
मायाया हननं क्रुधश्च शमनं लोभद्रुमोन्मूलनं, चेतःशोधनमिन्द्रियाश्वदमनमेतच्छिवोपायनम् ॥२॥
देवोऽर्हन् सद्गुरुः साधुर्धर्मः श्रीजिनभाषित। सर्वजीवदयामूलः सैष धर्मः सनातनः ॥ ३ ॥
धर्मो जगतः सारः सर्वसुखानां प्रधानहेतुत्वात्। तस्योत्पत्तिर्मनुजात् सारं तेनैव मानुष्यम् ॥४॥

भो भविकाः! एवंविधं सारं मानुष्यमवाप्य धर्मे यत्नो विधेयः। एतद्धर्मं श्रुत्वा हर्षितः सार्थपतिः, हर्षिताः सर्वे तापसास्तं दमयन्त्योक्तं जैनं धर्मं वारं-वारं यावत् प्रशशंसुः, तावद् नभसि धाराधोरणीभिर्मेघो वर्षितुमारेभे। विद्युद्वलयिगर्जारवैर्मुखरितदिगन्तो मेघस्तान् तापसान् धाराभिः सिञ्चन् विद्रावयामास। ततस्ते तापसा मेघधाराऽभिद्रुता इतस्ततः पलाययामासुः। तान् पलायमानान् ज्ञात्वा करे दण्डं धृत्वा भैमी तान् परितो यष्ट्या कुण्डमकरोत्। कृत्वा कुण्डमेवमवोचत्—यद्यहं परमार्हत्यस्मि, यद्यहं शीलवत्यस्मि, तर्हि अस्मिन् दण्डकृते कुण्डे वर्षा मा वर्षतु। तत् तथैव दृष्ट्वा ते तापसा विस्मिता दमयन्त्याख्यातं जैनं धर्मं प्रपेदिरे। स वसन्तसार्थवाहोऽपि श्रावकोऽभूत्। तेन सार्थवाहेन तत्र भाविजिनश्रीशान्तिनाथस्य चैत्य कारितम्। तत्र चैत्ये सार्थलोकाः सर्वे पूजां कुर्वन्ति स्म; ते तापसाः पञ्चशतसंख्या दमयन्त्या वचसा प्रतिबुद्धास्तत्र वने निवसन्ति स्म। तत्र सार्थवाहेन नगरं वासितम्।

अथ तापसा यतोऽस्मिन्नगरे प्रतिबुद्धास्ततस्तद् नगरं तापसपुरमिति पृथिव्यां पप्रथे। सर्वे सार्थलोका अपि तत्र गृहाणि कृत्वा स्वजनैः सह सुखं रेमिरे। एवमुच्चावचाः प्रजाः सर्वा गृहाणि कृत्वा सुखं विहरन्ति स्म। पर तन्नगरवासिनो लोकाः प्रायशोऽर्हद्धर्मपरायणाः बभूवुः। एवं काले याति सति एकस्यां रात्रौ द्विप्रहरसमये तस्यैवाऽद्रेः शिरसि जितमार्तण्डमण्डलानुकार्युद्द्योतो नलकान्तया ऐक्ष्यत। तदनु तत्रैव नगे देवासुरा नभश्चरा उत्पतन्त आपतन्तो नलकान्तया विस्मयस्मेराननया ऐक्ष्यन्त। तत्संपातसमुत्पन्नैः कोलाहलैर्जागरिताः प्रजाः सविस्मया गिरिशिखरमारुरुहुः। एवं नलप्रियाऽपि गिरिशिखरं समारुरोह। तापसाश्च सर्वेऽपि तं गिरिं समारुरुहुः। सिंहकेसरिणः साधोस्तदैवोत्पन्नकेवलस्य देवैर्महिमानं क्रियमाणं देवोद्द्योते सति सर्वे ददृशुः। सुरकृतकनककमले निविष्टः केवली सर्वेषा जनानामार्हतं धर्ममाचख्यौ। ततस्ते भैमीसार्थवाहतापसप्रभृत्यो लोकास्तत्र गत्वा धर्मं शृण्वन्ति स्म।

यथा—"भक्तिः श्रीवीतरागे भगवति करुणा प्राणिवर्गे समग्रे,
दीनादिभ्यः प्रदानं श्रवणमनुदिनं श्रद्धया सुश्रुतीनाम्।
पापापोहे समीहा भवभयमसमं मुक्तिमार्गानुरागः,
सङ्गो निस्सङ्गचित्तैर्विषयविमुखता हर्म्यिणामेष धर्मः" ॥ १ ॥

सम्यक्त्वमूलद्वादशव्रतरूपः श्राद्धधर्मः, पञ्चमहाव्रतादिरूपः साधुधर्मश्च, एवं द्वावपि धर्मौ केवलिनोक्तौ। तदानीं श्रीयशोभद्रसूरयः सिंहकेसरिकेवलिगुरवोऽपि च्छद्मस्थाः केवलिसमीपे स्थितास्तेऽपि धर्मं शृण्वन्तो विनयावनम्रा विहरन्ति स्म। देशनान्ते पुनः केवली प्राह—

"यदाऽऽख्यद् दमयन्तीयं धर्मतत्त्वमनुत्तरम् ।
तत्तथैव, न कर्तव्यः संशयोऽस्मिन् मनागपि" ॥ १ ॥

इयं परमार्हती, इयं धार्मिकी, इयं पूतवाक्; अस्याः शीलमाहात्म्यतस्तस्करा नाशं ययुः; अम्भोदवृष्टिः स्तम्भिता; राक्षसो वशमागतः। एते भावा भवद्भिः प्रत्यक्षमेव दृष्टाः, तस्मादियं महासती सर्वैरपि माननीया, याऽस्मिन् महावने व्याघ्रभिल्लचित्रकाकुले एकाकिनी गुहायां तिष्ठति। इत्यादि केवलिनो वचनं श्रुत्वा दमयन्त्या वचसि जातप्रत्ययः कुलपतिः केवलिनं नत्वा विमलमतिर्दीक्षां ययाचे। केवल्यूचे—एष यशोभद्रसूरिर्महामतिस्ते दीक्षां दास्यति, यतो ममाप्येष गुरुः। ततः कुलपतिर्विमलमतिः केवलिनं बभाषे—हे प्रभो! भवता बाल्ये वयसि कथं दीक्षा गृहीता?।

केवल्यूचे श्रूयताम्, कोशलायां नलो राजाऽभवत्, यदीया इयं दमयन्ती दयिता तव धर्मदायिका। तस्य लघुबान्धवः कूबरो नाम, यः साम्प्रतं नलाद् द्यूते जितं राज्यं करोति; तस्याहं तनयः सिंहकेसरी नामा। सोऽहं संगीतपुराधीशस्य केसरिणः पुत्रीं बन्धुमतीं विवाह्य विहितविवाहमङ्गलः स्वां नगरीमयोध्यां प्रति प्रत्यावृत्तः।

अस्मिन् वने यावताऽहं समागमम्, तावद् मम भाग्यत एष यशोभद्रसूरिर्मयाऽत्र वने दृष्टो वन्दितश्च। अनेन गुरुणा संसाराऽनित्यतामयी देशना दत्ता। देशनान्ते गुरवो मया पृष्टाः—भगवन्! ममायुः कियदस्ति?। अनेन ज्ञानवता श्रीयशोभद्रगुरुणा प्रोक्तम्—तवायुः पञ्च दिनानीति। तत् श्रुत्वा मरणभयाद् भीतोऽहम्, गुरुणोक्तम्—वत्स! मा भैषीः, साम्प्रतं संयमव्रतमादत्स्व, एकदिनस्यापि संयमो मोक्षमादत्ते; यदि मोक्षं नाप्नोति तर्हि वैमानिकदेवत्वस्य तु कथनं नास्ति, तत्तु निश्चयेन भवत्येव।

यतः—"[1]एगदिवसंपि जीवो पव्वज्जमुवागओ अणुन्नमणो ।
जइवि न पावइ मोक्खं अवस्स वेमाणिओ होइ" ॥ १ ॥

तद्गुरुवचन श्रुत्वा बन्धुमतीं सपरिकरां त्यक्त्वाऽस्यैव गुरोः पार्श्वे मया व्रतं जगृहे । एतस्यादेशतोऽहमस्य गिरेः शृङ्गमारूढवान्, अद्यैवं पञ्चमं दिनम्, मयाऽद्य घातिकर्माणि निहत्य केवलज्ञानं प्राप्तम् । एवं वार्तां कुर्वन्नेव चतुर्दशं गुणस्थानमारूढः सन् मोक्षमाससाद । सुरास्तत्कायस्य पुण्यक्षेत्रेऽग्निसंस्कारं व्यधुः । अथ स कुलपतिर्विमलमतिः पञ्चशततापसपरिवृतो यशोभद्रगुर्वन्तिके व्रतमग्रहीत् । वैदर्भी व्रतं याचमानां गुरुरब्रवीत्—साम्प्रतं तव दीक्षा न युज्यते, यतस्तवाऽद्यापि भोगफल वर्तते, त्वमद्यापि नलेन समं भोगान् भोक्ष्यसे । दमयन्त्या पृष्टम्—भो भगवन् ! मया पूर्वभवे किमकार्यमकारि ?; येन मे द्वादश वर्षाणि भर्तुर्विरहोऽभवत् । अथ नलदमयन्त्योः पूर्वभवानाह स्म-प्राग्भवे नलो राजा मम्मणनामा महीपतिरभूत् । हे दमयन्ति ! त्वं वीरमतीनामा तस्यैव दयिताऽऽसीत् । युवाभ्यां मृगयाक्रीडावने गच्छद्भ्यां सार्थेन सह गच्छन्नेको मुनिर्दृष्टः । राज्ञा चिन्तितम्—एष मुनिः समुखो मिलितस्तेनापशकुनं जातम्, ममाखेटको निष्फलो भविष्यति, इति भिया तं मुनिं स्वपत्तिभिः संग्राह्य ततः स्वगृहं प्रति प्रत्यावृत्तः । कथञ्चित् तं कोपाटोपं विस्मृत्य तं मुनिमाकार्याऽवार्तयत्—भो मुने ! त्वं कुत आगात् ? क्व गन्तासि ?, मुनिनोक्तम्—अहं चम्पात आगाम्, तीर्थान्नमस्कर्तुं समेते यास्यामि । तत् श्रुत्वा तौ दुःखितौ जातौ-अहो ! अस्माभिः सार्थेन सह गच्छन् मुनी रुद्धः । ततो मुक्तः । तेन मुनिना तयोः श्राद्धधर्मो दत्तः । पुनः स साधुर्मम्मणराज्ञा सार्थेन सह मेलितः ।

---

१. एकदिवसमपि जीवः प्रव्रज्यामुपागतोऽनुन्नमनाः ।
यद्यपि न प्राप्नोति मोक्षमवश्य वैमानिको भवति ॥ १ ॥

यत् पूर्वं साधुर्द्वादशनाडिका युवाभ्यां रुद्धस्तेन युवयोर्द्वादश वर्षाणि विरहो जज्ञे। हे वैदर्भि ! द्वादशवर्षान्ते नलेन सार्धं समागमो भविष्यति, पुनस्त्वं तादृशान्येव सुखानि भोक्ष्यसे। इति यशोभद्रगुरुगिरं श्रुत्वा हर्षिता दमयन्ती तस्यां गिरिगुहायां जिनोपास्तिपरायणा तत्र स्थिता दिनानि निर्गमयामास।

अथ यशोभद्राभिधानो गुरुस्तद्गिरिशिरसः समुत्तीर्य तत्तापसपुरमलङ्करोति स्म। तत्र शान्तेश्चैत्यं प्रतिष्ठाप्य कोटिशः पौरलोकस्य देशनाजलैः संसिच्य कृषीबलवत् सम्यक्त्वव्रतबीजारोपणं चक्रे। भैम्यपि तस्यां गुहायां सप्तहायनीमतीयाय। अन्यदा कश्चित् पुमान् गुहाद्वारमभ्येत्य नलवल्लभामुवाच—हे वैदर्भि ! त्वत्पतिर्मया नातिदूरदेशे ईक्षितः। मम सार्थो न प्रतीक्षते, अतोऽहं गन्तुमुत्सुकोऽस्मि, त्वं शीघ्रमेहि, अहं यामि; इत्युक्त्वा यावता स गतो दूरदेशं तावता तद्गुहातो निर्गता भैमी—तिष्ठ तिष्ठ भो भद्र ! इति भाषिणी तं पान्थमनुधावन्ती पुनरपि भीषणे काननेऽपतत्। अहो ! विधिश्चिन्तितादन्यत् करोति।

यतः“निदाघे संतप्तः प्रवरतरतृष्णातुरमनाः सरः पूर्णं दृष्ट्वा त्वरितमुपयातः करिवरः।
तथा पङ्के मग्नस्तटनिकटवर्तिन्यपि यथा न नीरं नो तीरं द्वयमपि विनष्टं विधिवशात्” ॥ १ ॥

अथ भैम्यपि शून्ये कानने नलं गवेषयन्ती पुनस्तापसपुराभिमुखी यावच्चचाल, तावद् मार्गपरिभ्रष्टा महाकानने वने पतिता चिन्तयति स्म—अहो ! दैवो रुष्टोऽद्यापि मम पृष्ठं न मुञ्चति, न ज्ञायतेऽथ किं करिष्यति ? इत्याकुलितमना भैमी अश्रुपूरप्लावितविलोचना मार्गे ययौ। इतस्ततः कानने भ्राम्यन्ती पुनः पुनर्मार्गे पतन्ती भूमौ लुठन्ती दैवोपालम्भान् ददती दमयन्ती मार्गे एकां निशाचरीमपश्यत्। ततः सा निशाचरी भैमीं बभाषे—हे बाले ! अहं क्षुधार्ता भवन्तीं भक्षयिष्यामि। तां राक्षसीं समभिलोक्य भयसंभ्रान्ता भीमनन्दिनी ऊचे।

यथा—"ममाऽर्हन्नेव देवश्चेद् गुरवश्चेत् सुसाधवः ।
रतिश्चेज्जैनधर्मे च हताशा भव राक्षसि !" ॥ १ ॥

इति तस्या वचनं श्रुत्वा सा भैमीं नत्वा स्वस्थानमगमत् । एवं मार्गे यान्ती भैमी तृषाऽऽक्रान्ता एकां शुष्कां गिरिनदीं समभिलोक्य तृषार्दिता एवमवोचत्—यद्यहं जैनी शीलालङ्कृता भवेयम्, तर्हि अस्यां नद्यां शीतं स्वादु अमृतोपमं जलं भवतु, इत्युक्त्वा दमयन्ती पार्ष्णिना महीतलमताडयत् । ततस्तस्यां शीतलं स्वादु जलं प्रादुर्बभूव । भैमी तत्र स्नानं कृत्वा पयः पीत्वा परिश्रमक्षयं निन्ये । एवं पुरो यान्ती भैमी पथि श्रान्ता एकस्य न्यग्रोधस्य तले निविष्टा केनचित् पथिकेन दृष्टा, पृष्टा च—भद्रे ! काऽसि त्वम्, केन हेतुना एकाकिनी अस्य वटस्याधो निविष्टा ?, वटवासिनी किं देव्यसि ?, किं वा मानुष्यसि ? । तयोक्तम्—नाहं देवी, किं तु अहं मानुषी वणिक्पुत्री पत्या समं पितुर्गृहे यान्ती केनापि हेतुना स मां सुप्तामेकाकिनीं वने त्यक्त्वा देशान्तरं गतः । ततोऽहमितस्ततो भ्रमन्ती मार्गे भ्रष्टाऽत्राऽस्मिन् वटे समागता; अथ त्वं मम धर्मबान्धवोऽधुना तापसपुरमार्गं दर्शय । तेनाऽध्वगेनोक्तम्—हे बाले ! यत्र सूर्योऽस्तमेति तत्र त्वं याहि; एष तापसपुरमार्गः, अनेन मार्गेण याहि, त्वं तापसपुर प्राप्स्यसि । अहमुत्सुकस्तव मार्गं दर्शयितुं न समर्थः । भैम्योक्तम्—त्वं कुत आयातः ? । तेन पुरुषेणोक्तम्—अहं जलार्थी सार्थादागतोऽस्मि, यदि त्वमस्मत्सार्थे समायासि, तर्हि त्वां कुत्रापि वासस्थाने नेष्यामि । अथ सा दमयन्ती तेन सार्धं सार्थेऽगात् । तेन पथिकेन सार्थेशाय तस्याः सर्वः स पूर्वोक्तवृत्तान्तो निवेदितः । तं वृत्तान्तं श्रुत्वा सार्थवाहस्ता पुत्रीवत् समान्य स्नानादिभिः सत्कृत्य रात्रौ तत्र स्थित्वा प्रभातसमये यानमारोप्य मार्गे सचरन्नचलपुरं प्राप । तत्राऽचलपुरद्वारे यानात् समुत्तार्यैनां मुमोच ।

अथ दमयन्ती मार्गश्रान्ता तृषाऽऽक्रान्ता पुरद्वारि वाप्यम्भसि स्नानं कर्तुं जलं पातुं मध्ये प्रविष्टा यावता

भैम्या शील-प्रभाव

स्नानं करोति स्म, तावत् तस्या वामपादाङ्गुष्ठो गोधया जगृहे। ततस्तस्याः करुणध्वनिं श्रुत्वा जलहारिण्यस्तां गोधां हक्कयामासुः। अथ दमयन्ती स्वस्थमनाः स्नानं कृत्वा जलं पीत्वा स्वेच्छया वाप्या बहिराययौ। इतश्च तस्मिन् नगरे ऋतुपर्णो राजा; चन्द्रोपमयशाश्चन्द्रयशा नाम तस्य पट्टराज्ञ्यस्ति। सा दमयन्तीमातृष्वसा। तस्या दास्यो जलार्थमागताः, तस्या भैम्या रूपं निरीक्ष्य मोहिता निजस्वामिन्यै चन्द्रयशसे कथयामासुः। ततश्चन्द्रयशा राज्ञी ता दासीः प्रेष्य दमयन्तीमानाययामास। दासीभिर्गत्वा प्रोक्तम्—हे शुभे! एहि, अस्मत्स्वामिनी चन्द्रयशास्त्वामाह्वयति पुत्रीप्रीत्या, पुनः-पुनः कथयति—शीघ्रं समागच्छ, इत्युक्त्वा तां करे धृत्वा शान्तवचनैः समाश्वासिता। ततस्ताभिः परिवृता भैमी राजमन्दिराभिमुखी अचलत्। भैमी मार्गे चिन्तयति स्म—एषा चन्द्रयशा मम मातुःस्वसा वर्तते, परमेषा मां बाल्ये दृष्टामपि नोपलक्षयति; अज्ञातेव दासीभिः समं तत्रागात्। चन्द्रयशा राज्ञी भैमीं निरीक्ष्य सिंहासनात्समुत्थाय समायान्तीं संमुखमागत्य पुत्रीप्रेम्णा समालिलिङ्ग। साऽपि मातृस्नेहेन तस्या अंह्रिसरोरुहे शिरः प्रक्षिप्य पादौ प्रणनाम। हे वत्से! यथा मे पुत्री चन्द्रवत्यस्ति तथा त्वमपि मे धर्मपुत्र्यसि, अद्यप्रभृति मे गृहे उभे अपि लक्ष्मीसरस्वत्याविव सुखं क्रीडां कुर्वाताम्। पुनश्चन्द्रयशाः प्रोचे—हे पुत्रि! त्वमात्मस्वरूपं कथय। तयोक्तम्—अहं वणिक्पुत्री पत्या सह पितुगृहं यान्ती मार्गे मत्पतिर्मामेकाकिनीं सुप्तां मुक्त्वा देशान्तरं गतः। ततोऽहं ग्रामाद् ग्रामान्तरं भ्रान्त्वाऽत्रागता, तव दास्या इहानीता; साऽहम्। अथ चन्द्रयशा नगराद् बहिः सुकृतोद्गारे सत्रागारे दानं ददाति स्म। भैम्यूचे—हे मातः! तवाज्ञयाऽहं सत्रागारे दानं ददामि। ततो भैमी चन्द्रयशस आदेशात् सत्रागारे दीनादिभ्यो दानं ददाना विहरति स्म।

भैमी अन्येद्युराहतडिण्डिममारक्षकैर्नीयमानं विकटबन्धनबद्धमेकं महाचौरमपश्यत्। चौरोऽपि भैमीं वीक्ष्य—रक्ष मां देवि! इति कृत्वा सत्रागाराग्रे निपतितः। भैम्यूचे—भोस्तलवर! अमुं चौरं मुञ्च मुञ्च। तलवरेणोक्तम्—अमुना चन्द्रवत्या रत्नकरण्डिका जह्रे, तेनैष राजादेशाद् विरसडिण्डिमवादनपूर्वकं वधभूमिकां

भैम्या राज-मन्दिरे गमनम्

नीयते। ततः साऽवोचत्—भो आरक्षक ! एनं मुञ्च मुञ्च, अहं राज्ञ उत्तरं करिष्ये; इत्युक्तेऽपि यावत्स न मुञ्चति स्म तावत्सा सतीत्वश्रावणपूर्वकं त्रिभिरम्बुचुलुकैस्तमाच्छोटयत्। तत्सतीत्वानुभावतस्तस्य बन्धनानि झटिति तुत्रुटुः। ततः समस्तलोकानां महान् हर्षकोलाहलः संजज्ञे। तं कोलाहलं श्रुत्वा महीपतिस्तत्रागात्। तद्भूमीकौतुकं दृष्ट्वा हृष्टो राजा एवमुवाच—हे वत्से ! क्षोणीभृतामेष धर्मः—शिष्टपालनं दुष्टनिग्रहश्च; एष चौरो दुष्टः, एष निग्रहार्हः, अतो मया निगृह्यते; राज्ञा निग्रहणार्हो निगृह्यते; अतो मां निग्रहं कुर्वन्तं मा निषेधय।

चौर-स्यात्म-निवेदनम्

हे तात ! यदि मया दृष्टोऽप्यसौ दस्युर्विपद्येत तर्हि अर्हद्धर्मवेदिन्या मम केयं कृपालुता ?। तस्या आग्रहं ज्ञात्वा राजा तं दस्युं मुमोच। महासत्यो भूमीभुजामपि माननीयाः। चौरो बभाषे—हे भैमि ! जीवितदानात्त्वं मम माताऽसि, येन हेतुनाऽहं त्वया मोचित। वैदर्भ्योक्तम् त्वं कोऽसि ?। तेनोक्तम्-वसन्तसार्थवाहस्याहं पिङ्गलनामा दासोऽस्मि। मया कर्मवशतस्तस्यैव गृहे खात्रं दत्त्वा धनमपहृतम्; हृत्वा धनं पलायितो मार्गे गच्छन् चौरैः सर्वं लुण्टितम्, लुण्टितसर्वस्वोऽहमत्रायातः; अत्र राजसेवां कुर्वाणो वारं वारं राजगृहान्तः प्रविशन्नेकस्मिन् दिनेऽनिवारितो राजमन्दिरे राजपुत्र्याश्चन्द्रवत्या आभरणकरण्डकं संवीक्ष्य शून्यं दृष्ट्वाऽपाहार्षम्। तं करण्डकं कक्षायां प्रक्षिपन् कथञ्चित् राज्ञा दृष्टः; ततोऽहं सेवकैर्ग्राहितः; तत् करण्डकं लात्वा मां वध्यमादिशत्। तत्पुम्भिर्नीयमानोऽहं त्वया स्वामिन्या मोचितः; अतो हे स्वामिनि ! तवाहं कथमनृणीभवामि ?, यथा कादम्बिन्याः जीवलोकः कथमनृणीभवेत् ?।

अन्यच्च हे देवी ! यदा त्व तापसपुरान्निर्गता तदा वसन्तसार्थवाहस्त्वामितस्ततो विलोक्य त्रीणि दिनानि दुःखार्तः सुधीर्भुक्तिमत्यजत्, ततः श्रीयशोभद्रगुरुणा बोधितोऽन्यैर्जनैश्च बोधितो बुभुजे। ततः स वसन्त

उपायनमुपादाय कोशलाऽधिनाथं कूबरं सिषेवे। बहुमणिमाणिक्योपायनैः संतुष्टश्छत्रचामरादि दत्त्वा शिरसि तिलकं च कृत्वा छत्रचामरैर्लाञ्छितस्तन्नगरलोकैर्वाञ्छितो वसन्तश्रीशेखर इति विहितनामा निस्वाननिनादैः पूरितदिगन्तो बन्दिजनैः स्तूयमानस्तेभ्यो दानं ददानः स्वपुरमागात्। स वसन्तश्रीशेखरस्तत्पुरं पालयन् तत्र राज्यं करोति; पुनस्तस्य चौरस्य भैम्योक्तम्—भो धर्मपुत्र! सांप्रतं त्वं दीक्षां कक्षीकुरु, अथाऽऽत्मार्थं साधय। यदि त्वं विधिना जीवन्मुक्तोऽसि, अतो धर्मं कुरु।

यतः—"राज्यं सुसंपदो भोगाः कुले जन्म सुरूपता। पाण्डित्यमायुरारोग्यं धर्मस्यैतत् फलं विदुः ॥१॥
धराऽन्तःस्थं तरोर्मूलमुच्छ्रयेणानुमीयते। तथा पूर्वकृतो धर्मोऽप्यनुमीयेत संपदा ॥ २ ॥
आरोग्यं सौभाग्यं धनाढ्यता नायकत्वमानन्दः। कृतपुण्यस्य स्यादिह सदाजयो वाञ्छिताऽवाप्तिः" ॥३॥

इत्यादि भैमीमुखाद् धर्ममहिमानं श्रुत्वा स पिङ्गलचौरो मुनिसमीपे जैनीं दीक्षां ययाचे। मुनिनाऽपि तं योग्यं ज्ञात्वा जिनचैत्ये नीत्वा प्रव्राजितः। ततः सर्वेऽपि साधवोऽन्यत्र जग्मुः। भैमी तत्रैव सत्रागारे चन्द्रयशस आज्ञया दानं ददाना विहरति स्म।

यतः—"संपत्तौ नियमः शक्तौ सहनं यौवने व्रतम्। दारिद्र्ये दानमत्यल्पमतिलाभाय जायते ॥ १ ॥
अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रतिनिवर्तते। स तस्मै दुष्कृतं दत्त्वा पुण्यमादाय गच्छति" ॥ २ ॥

एवं जानाना दमयन्ती सर्वेभ्यो दानं ददाति स्म। इतश्चैकस्मिन् दिने भीमेन राज्ञा कस्यापि समीपे

श्रुतम्—नल-कूबरयोर्द्यूतक्रीडा जाता, तस्मिन् द्यूते कूबरेण जितम्; नलेन सर्वं राज्यादि हारितम्। ततः कूबरेण देशान्नलो बहिष्कृतः, नलो भैमीं पुरस्कृत्य निर्गतः सन् वने भैमीं सुप्तामेकाकिनीं मुक्त्वा कुत्रापि गतः। एतत् सर्वं भीमेन राज्ञा श्रुतम्। ततो भीमेन राज्ञा स्वगृहदेवार्चको हरिमित्रो नाम तन्नलदमयन्तीशुद्धिकृते प्रेषितः। स इतस्ततो भ्राम्यन् अचलपुरे समागतः। तत्र भूमिपतिमृतुपर्णं नत्वा राज्ञ्याश्चन्द्रयशसोऽन्तिके गतः, तत्राशिषं दत्वा यावता पुरो निषण्णस्तावच्चन्द्रयशोराज्ञ्या पृष्टम्-मम भगिन्याः पुष्पदन्त्याः कुशलमस्ति ? !

हरिमित्रेणोक्तम्—राजराज्ञ्योः सनातनी क्षेमलक्ष्मीरस्ति। परं राजराज्ञ्योर्नलस्य भैम्याश्च चिन्ता वर्तते। चन्द्रयशोराज्ञ्योचे—नलदमयन्त्योः का चिन्ता ?। हरिमित्रेणोक्तम्-श्रूयताम्—नलः कूबरेण समं द्यूते क्रीडितो हारितराज्यो भैमीं पुरस्कृत्य पुरान्निःसृतो भैमीमेकाकिनी मुक्त्वा कुत्रापि गतो, न ज्ञायते कुत्रास्ति ?। तयोः क्वापि कोऽपि वार्तामपि न करोति। तयोर्वार्तां श्रुत्वा राजराज्ञ्यौ मुमूर्छतुः। अस्मद्राज्ञो राज्ञ्याश्च तद् दुःखं वर्तते। चन्द्रयशा अपि तत् श्रुत्वा भृशं रुरोद। हरिमित्रेणोक्तम्—अहमपि तयोर्विलोकनाय भीमराजानुज्ञया देशान्तर भ्रमन् प्रत्यरण्यं प्रतिग्राम भ्रमन्नत्रागतोऽस्मि। परं तयोर्वार्तमात्रमपि नाऽश्रौषम्। तेन मम इतस्ततो भ्रमणं केवलं क्लेशफलमेवाभवत्। हरिमित्रमुखादेतन्नलदमयन्तीक्लेशवार्तां श्रुत्वा चन्द्रयशा दुःखभार-भराऽऽक्रान्ता भृशं रुरोद। अहो ! नलेन किं कृतं ? यत् सुप्तां दीनामेकाकिनीं दमयन्तीं वने मुक्त्वा क्वापि गतः; इत्यादि नलनिन्दां कुर्वतीं चन्द्रयशोराज्ञी श्रुत्वा तत्सेवका अपि तथैव रोदनं कुर्वन्ति स्म। तान् सर्वराज-लोकान् समभिलोक्य बुभुक्षितो विप्रश्चन्द्रयशोराज्ञी बभाषे—अहो ! यूयं सर्वेऽपि नलदुःखदुःखिता रोदनं कुरुध्वम्। अथाऽहं क्षुधितोऽस्मि।

चन्द्रयशोराज्ञ्यूचे—भो विप्र ! त्वं दानशालां याहि, त्वं तत्र सत्रागारे भोजनं लप्स्यसे। ततः स विप्रः क्षुत्क्षामकुक्षी राज्ञो मन्दिरान्निर्गत्य भोजनाऽऽकाङ्क्षी तां दानशालां जगाम। तस्यां दानशालायां तां भैमीं

दानमानतत्परां प्रेक्ष्य उत्फुल्ललोचनो हरिमित्रविप्रो बभाषे—हे भैमि ! भवदर्थेऽहं बहूनि ग्रामाकरपुरनगराणि भ्रान्त्वा भ्रान्त्वा बहुभिर्दिनैरत्रागतोऽस्मि, इत्युक्त्वा भैम्याः पादपङ्केरुहेऽपतत्। अद्यप्रभृति सकलोऽपि ते स्वजनवर्गो जीवितमाप्स्यति तव दर्शनादाकर्णनाच्च ।

चन्द्रयशस. पश्चाताप.

ततः स विप्रश्चन्द्रयशोऽन्तिके समागत्य चन्द्रयशसं वर्धापयामास। हे देवि ! चन्द्रयशोराज्ञि ! भैम्या दर्शनात् त्वं मया वर्धाप्यसे। तयोक्तम्—भो विप्र ! क्वास्ति भैमि ? ! तेनोक्तम्—या तव दानशालायां दानं ददाति सैव दमयन्ती। तत् श्रुत्वा चन्द्रयशास्तत्क्षणं तत्रागात्। यत्र दमयन्ती तत्रागत्य भैमीं समालिङ्ग्य साश्रुवदना चन्द्रयशाः प्रोवाच—हे पुत्रि ! त्वया एतावत्कालं आत्मा कथं गोपितः ?, ममाग्रे त्वया कथं न प्रकाशितम् ?; अहं किं तव कथनार्हा नाभवं यत् त्वयाऽऽत्माऽवगूहितः ? अथवा तव को दोषः ? ममैव दोषः, यत्त्वं मम गृहे समागताऽपि मया न ज्ञाता। हा हा धिग् माम्। पूर्वं दृष्टाऽपि नोपलक्षिता। हे वत्से ! त्वयाऽहं कथं वञ्चिता एतावत्कालं ? मातृष्वसाऽपि मातैव, अत्र का त्रपा ? ।

हे पुत्रि ! त्वं नलेन किं त्यक्ताऽसि ? अथवा त्वया किं नलस्त्यक्तः ? । अथ सूर्यातिरेकप्रकाशस्ते ललाटतिलकः क्व ? ! भैम्यपि सनिष्ठीवेन पाणिना निजं भालं मार्ष्टि स्म। ततः स विडम्बितसहस्रांशुर्ललाटतिलकः प्रादुर्बभूव। ततो नरेन्द्रवल्लभा तां करे धृत्वा गृहे समाहूय सुगन्धवारिभिस्तस्याः स्नानं कारयित्वा चन्द्रज्योत्स्ने दुकूले परिधाप्य तैस्तैः प्रेमोपचारैस्तां भैमीमानन्दयत्। तां भैमीं करे धृत्वा समीपे राज्ञी समानयत्। राजाऽपि तां भैमीं राज्यभ्रंशादिकां कथामपृच्छत्। दमयन्त्यपि पूर्वानुभूतां स्वां कथां द्यूतक्रीडादिकां सर्वामचीकथत्। ततः शोकाकुलां रुदतीं दमयन्तीं तस्या एवोत्तरवाससा नयनयोरश्रूण्युन्मार्जयन्नुवाच—हे वत्से ! मा खिद्यस्व, बलीयान् को नाम कर्मभ्यः ? । एवं तेषां सर्वेषां राजराज्ञीभैमीप्रभृतिस्वजनानां

वार्तां कुर्वतां रविरस्तं ययौ। परं वैदर्भीतिलकानुभावतस्तत्प्रदेशे दमयन्त्याऽऽश्रितस्थाने उद्द्योतेन प्रसृतम्; कराच्छादिते पुनस्तिलके ध्वान्तेन प्रसृतम्; पुनः पाणौ दूरीकृते तिलकोद्द्योतेन द्योतितम्। तद् दृष्ट्वा विस्मितो राजा।

देवस्यागमनम्

तस्यां रात्रौ कश्चिद्देवो द्युतिभासुरो भैमीं नमस्कृत्य पुरो निषण्णस्तामित्यवोचत्—हे देवि! दमयन्ति! सोऽहं पिङ्गलकनामा चौरो यस्त्वया पुरा मोचितो मरणाद्रक्षितो दीक्षां ग्राहितो विहारं कुर्वन् पुनस्तापसपुर गतो रात्रौ प्रतिमया श्मशाने स्थितः; तत्र वनवह्निना वेष्टितः सम्यगाराधनां विधाय तया ज्वालया दग्धवपुः सौधर्मे महर्धिको विमानाधिपो देवोऽभवम्; सोऽहं पिङ्गलनामा देवः। यदि त्वं तदा मां दीक्षां नाऽग्राहयिष्यथास्तदा मे स्तैन्यपापेन नरके गतस्य का गतिर्भवित्री ?, क्व चेमा देवश्रियोऽभविष्यन् ?। हे मात! एष सर्वस्तव प्रसादो यदहमेवंविधां देवश्रियं प्राप्तोऽस्मि। अथाहं तव किमुपकारं करोमि ?।

दमयन्त्या कुण्डिनपुरे प्रवेश

तयोक्तम्—यदि मम हृदये जिनोदितो धर्मो वर्तते तर्हि मम सर्वं वर्तते; त्वमपि जैनधर्मं समाराधय। यथा तव पुनरुत्तरोत्तरा ऋद्धिर्भवति, इत्युक्त्वा दमयन्ती तूष्णीं बभूव। देवोऽवोचत्—न मोघं देवदर्शनम्; एवं कथयित्वा हेम्नः सप्तकोटीः प्रवृष्य देवः स्वस्थानं गतः। तद्धर्मफलं दृष्ट्वा राजा ऋतुपर्णः सम्यक्त्वमूलं द्वादशव्रतरूपं जिनधर्मं भेजे। अथैकदाऽवसरमासाद्य हरिमित्र ऊचे—हे राजन्! भैमी अत्र सुचिरं स्थिता, तवाज्ञयाऽथ पितुर्गृहे यातु; अस्या माता पुष्पदन्ती, पिता भीमराट् एतस्याः प्रवासश्रवणादेव दुःखितौ तिष्ठतः। ततो राजा ऋतुपर्णश्चन्द्रयशसा सह भैमीं सुखासने समारोप्य महासेनया सह कुण्डिनपुरं प्रति प्राहिणोत्। भीमभूपतिः सुतां दमयन्तीमायान्तीं श्रुत्वा हर्षाश्रुलोचनः सैन्यपरिवृतः पुष्पदन्त्याऽन्वितः पुत्रादिभिः सहितः कतिपयभुवं संमुखमागात्। दमयन्त्यपि पितरं संमुखमागतं ज्ञात्वा दूरतो यानमत्यजत्। भैमी रभसाद्धावित्वा पितुः पादयोरपतत्; पश्चान्मातरं पुष्पदन्तीं कण्ठे लगित्वा दमयन्ती तारतारं रुरोद। मिलनानन्तरं भीमराट्

सुतां पुरस्कृत्य महोत्सवपुरःसरं कुण्डिनपुरं प्राविशत्। पुत्रीसमागमनहर्षितो भीमराट् स्वपुरे जिनचैत्येऽष्टाह्निकोत्सवमकारयत्।

अथैकस्मिन् दिने भीमराट् दमयन्तीमपृच्छत्—किं किं जातम्? नलेन किं किं कृतम्?। ततो भैम्या द्यूतादारभ्य यावद्वने त्यक्ता, ततस्तापसपुरे सप्त वर्षाणि स्थिता; ततोऽचलपुरे स्थिता; तत्र मातृष्वसा चन्द्रयशा मिलिता; तत्र हरिमित्रनामा विप्रो मिलितस्तेनात्र समानीता इति वृत्तान्तः कथितः। अथ भीमराजोवाच—हे पुत्रि! अथ त्वमस्मत्सदने स्थिता धर्मं समाराधय। धर्मस्यानुभावतस्तवात्रैव भर्त्रा नलेन सह सङ्गमो भविष्यति। अहमप्यतःपरं कञ्चिदुपक्रमं करिष्ये, यथा कुतश्चिदभ्येत्य तव पतिर्मिलिष्यति, इत्युक्त्वा तां भैमीं पुष्पदन्त्याः समीपे स्थापयामास। हरिमित्रविप्राय राज्ञा भीमेन तुष्टेन दमयन्त्यागमवर्धापनेन ग्रामपञ्चशती ददे। पुनस्तुष्टोऽभ्यधात्—नलागमे तुभ्यं राज्यार्धं दास्ये, इत्युक्त्वा तोषितः। सोऽपि स्वस्थानं गतः। एवं दिनानि यान्ति स्म। एकस्मिन् दिने नलदुःखेन पीडितां भैमीं दृष्ट्वा भीम उवाच—हे पुत्रि! अथ तव का चिन्ता? त्वं राज्यस्वामिनी वर्तसे।

भैम्योक्तम्—हे राजेन्द्र! हे तात! तव जामातरं विना किं मे जीवितेन?, किं राज्येन?; वीरसेनसुतं विना मम सर्वं शून्यम्?। कियन्ति वत्सराणि जातानि तस्य नलस्य क्वाऽपि वार्ताऽपि न श्रुता?। अद्यापि किं जीवति वा मृतो वा? इति चेतसि चिन्ता वर्तते। अथाहं नलस्य चिन्तां करिष्ये त्वं स्वस्था भव इत्युक्त्वा भीमेन स्वसेवकानाहूय इत्युक्तम्—भोः सेवकाः! यो नलवृत्तान्तं ज्ञात्वा समानयति तस्याहं गोसहस्रं दास्ये इत्युक्त्वा स्वसेवकाः सर्वासु दिक्षु प्रेषिताः। तदा दमयन्ती नलसंकेतसंबद्धं चित्तक्षोभकारि, इति श्लोकद्वयं तान् सेवकान् शिक्षयामास।

नलस्य शोधः

यथा—"पटं छित्त्वा प्रनष्टोऽसि वने सुप्तां विहाय माम् ।
हृदयाद् यदि मे यासि तद्वेद्मि तव पौरुषम् ॥ १ ॥
तव प्रिय ! कलत्रे च मित्रे च ममता गता ।
स्थितो योगीव निर्लोभस्त्वं देव ! द्यूतदीक्षया" ॥ २ ॥

इत्थं श्लोकद्वयार्थेनावधारितसंकेताः भीमसेवकाश्चतुर्दिक्षु नलं गवेषयितुं प्रवृत्ताः । ततस्तैर्भीमसेवकैर्ग्रामाकरपुरादिषु सर्वत्र भ्रान्त्वा भ्रान्त्वा विलोकितम्, पर क्वापि नलस्य शुद्धिरपि न लब्धा; तदा ते सेवकाः प्रत्यागता भीमं राजानमूचुः । तदा दमयन्त्यपि शृणोति स्म । यथा—हे राजन् ! अस्माभिस्तवाज्ञया सर्वस्यां दिशि नलगवेषणं कृतं परं क्वापि नलस्य शुद्धिरपि न लब्धा । तत् श्रुत्वा दमयन्ती चिन्तयति स्म—तर्हि नलेन रूपान्तरं कृतं संभाव्यते ।

यथा—"ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं वा वर्णमाश्रितः ।
त्यक्त्वा वा रूपमात्मीयं प्राप्तो रूपान्तरं नवम्" ॥ १ ॥

एवं काले याति, एकस्मिन् दिने सुसुमारपुरात् स्नेहकृते दधिपर्णेन राज्ञा भीमराज्ञो दूतः प्रेषितः; स दूतो वार्ताप्रस्तावे भीमभूभुजं एवं वक्ति स्म, यथा—अस्मत्स्वामिनः पार्श्वे एको नलसूपकृदस्ति, स गजशिक्षाविचक्षण, स सर्वकलाकुशलः, स सूर्यपाकरसवतीज्ञ, परं कुब्जाकृतिः, स वक्ति—ममोपाध्यायो नल एव; नलेन संतुष्टेनैताः सकलाः कलाः शिक्षिताः; दधिपर्णेन राज्ञोक्तम्—त्वं कूबरं नलभ्रातरं कथ न निषेवसे ?; तेनोक्तम्—कूबरोऽतिदुष्टः स्वामिद्रोहकः येन नीतिनिपुणो राजा नलो राज्यान्निष्कासितस्तं कथं सेवामि ?;

अतोऽहमपि नलानुपदिको देशाद्देशं भ्राम्यन्नत्रागतस्तव सेवां करिष्ये, इत्युक्त्वा स कुब्जो मत्स्वामिसेवां करोति। दधिपर्णोऽपि तं नलसूपमात्मना सह भोजयति, एवं जलपानं, सुखभक्षिकाभक्षणं, गजारोहणं, नाटकावलोकन सहैव करोति। किं बहु कथ्यते ?, द्वावप्येकीभूताविव विहरतः।

एतद् वचनं दूतमुखात् श्रुत्वा भैमी भीमभूपतेर्व्यजिज्ञपत्—हे तात! अस्मिन् भरते मत्पतिं विनाऽन्यः कोऽपि सूर्यपाकां रसवतीं न वेत्ति, इति पूर्वं मुनिनोक्तं वर्तते; मुनिनोक्तं च सत्यमेव नान्यथेति। तर्हि तद्विलोकनाय कश्चिन्नरः प्रेष्यते; स कुब्जः कीदृशः ?, किंकलः ?, किंरूपः ?; अवश्यं गोपितात्माऽसौ मम वल्लभः, नान्यः कोऽपि तादृशो भवेत्, अतो हे तात! तर्हि कश्चित्तत्र प्रेष्यते। भीमराज्ञा स एव हरिमित्र-विप्रो नलनिरीक्षणाय प्रेषितः। नलाक्षेपमयौ श्लोकौ शिक्षयित्वा विसृष्टो हरिमित्रः क्रमेण तत्र गतो यत्रास्ति नलकुब्जकः; तं दृष्ट्वा हरिमित्रश्चिन्तयति स्म।

यथा—"नलः क्व दिविषद्द्वेश्यः कुब्जश्चायं क्व सूपकृत् ?।
क्व सर्षपः क्व मेरुश्च क्व खद्योतः क्व चार्यमा ?" ॥ १ ॥

तथापि नलपरीक्षाकृते पूर्वोक्तश्लोकौ पपाठ। तान् श्रुत्वा किञ्चित् साश्रुलोचनं कुब्जं निरीक्ष्य पुनः श्लोकद्वयं नलनिन्दामयं पपाठ।

यथा—"निर्घृणानामलज्जानां निःसत्त्वानां दुरात्मनाम्।
नलस्यैव धुरीणत्वं, सुप्तां तत्याज यः प्रियाम् ॥ १ ॥

सुप्तामेकाकिनीं स्निग्धां विश्वस्तां दयितां सतीम् ।
वने निराश्रयां मुञ्चन् गतः किं न स भस्मसात् ?"॥ २ ॥

इतिश्लोकद्वयं श्रुत्वा साश्रुलोचनः कुब्जो हरिमित्रं प्रत्युवाच—अहो! विप्र! त्वया श्लोकद्वयी मनोहरकण्ठेन पठिता, अतस्त्वं कोऽसि ?, कुत्र वास्तव्योऽसि !, सर्वं मम सत्यं समाख्याहि। सोऽप्याख्यत्—अहं हरिमित्रनामा विप्रोऽस्मि; कुण्डिनपुरवास्तव्योऽस्मि, कुण्डिनपुरादागतोऽस्मि, नलनिरीक्षणकृते भीमेन राज्ञा प्रेषितोऽस्मि, परं नलस्य क्वापि काऽपि शुद्धिर्न लब्धा, पुनरप्यथाहं स्वदेशे यास्यामि। कुब्जकेनोक्तं—भो विप्र! भैम्याः किञ्चित्स्वरूपं वेत्सि!। तेनोक्तम्—किञ्चिद्वेद्मि। कुब्जकेनोक्तं—तर्हि मह्यं समाख्याहि। ततो हरिमित्रेण सुप्ताया भैम्या मोचनादारभ्य भीमभूपतिगृहे समागमनं यावत् सकलोऽपि वृत्तान्तः कथितः; तं वृत्तान्तं श्रुत्वा कुब्जो बहुमानपुरःसरं संबन्धिनं विप्रं ज्ञात्वा पात्रं च विज्ञाय भोजनाय स्वगृहे निन्ये। ततः सूर्यपाकया रसवत्या भोजितः।

यथा—"इत्युदीर्य द्विजन्मानमानीय स्वगृहे निजे।
रसवत्या तया सूर्यपाकया तमभोजयत्"॥ १ ॥

सूर्यपाका रसवती निर्मापणम्

तं भोजयित्वा दधिपर्णाल्लब्धं सौवर्णलक्षमङ्गलग्नमाभरणादिकं च सर्वं तस्मै विप्राय दक्षिणायां दत्त्वा विसृष्टो विप्रः कुण्डिनपुरमागात्। स विप्रः कुण्डिनपुरमागत्य सर्वं भीमभूमीभुजे भैम्यै चापि निवेदयामास—यतोऽहं कुब्जेन सूर्यपाकया रसवत्या भोजितः; सुवर्णलक्षमङ्गलग्नमाभरणादिकं च मम दक्षिणायै दत्तम्। अथ भैमी भीमभूपतिमभ्यधात्—स एव नलः सकलकलावान् गजशिक्षाविचक्षणः सूर्यपाकरसवतीकारकः, एवंविधस्तव

जामातरं विनाऽन्यः कोऽपीहास्मिन् भरते नास्तीति मुनिनोक्तम्, स एष मे प्राणप्रियः; इति वारं वारं पित्रोरग्रे दमयन्त्या प्रोक्तम्। अथ पुष्पदन्ती तां रुदतीं वदन्तीं वाष्पाविलविलोचनां जननी मिष्टवाक्यैराश्वासयितुमारेभे— हे वत्से ! तव वात्सल्यात् मया तव पित्रा सह एष मन्त्रः क्रियते-असौ सूर्यपाकरसवतीज्ञः कुब्जो नलो यदि भविष्यति तदेतच्छ्रवणात्समेष्यत्येव। एतत् किं ?, प्रातः स्वयंवरो भैम्याः पुनर्भविष्यति।

यथा—"विमुक्तनलशोकाया दमयन्त्याः पितुर्गिरा। प्रातः स्वयंवरः सम्यक् भूयोऽपि हि भविष्यति ॥१॥

इति श्रुत्वा स कुब्जोऽपि धाविष्यति नलो यदि। निपतन्ति प्रियार्थे हि व्योम्नः पारापता इव ॥२॥

ततोऽश्वहृदयं ज्ञात्वा दूरदेशान्तरादिह। यद्यायास्यति वेगेन तन्नूनं नल एव सः" ॥३॥

भैमी मातुर्मुखादेतद् मन्त्रमाकर्ण्य तुष्टहृदया गलितहृदयदुःखा बभूव। अथ भीमराट् सुसुमारपुरे दधिपर्णस्य राज्ञो निमन्त्रणकृते लेखं लिलेख-यत् चैत्रस्य शुद्धपञ्चम्याः प्रातः पुनर्भैम्याः स्वयंवरो भावी, यदि तव पाणिग्रहणेहा भवेत् तर्हि त्वरितमेवागन्तव्य, इति पत्रे लिखित्वा दधिपर्णाय दूतं प्राहिणोत्। दूतोऽपि तत्र गत्वा लेखं दत्त्वा श्रीभीमोक्तं सर्वं दधिपर्णायाचख्यौ। तत् सर्वं समीपस्थेन कुब्जेन श्रुतम्। दूतोक्तं श्रुत्वा कुब्जश्चिन्तयति स्म—अहो ! किमेतत् श्रूयते महदाश्चर्यं ? यद्दमयन्ती पुनः पाणिग्रहणं करोति तर्हि मन्मथो बलीयान् दुर्जेयो यो जनानेवं विडम्बयति।

यतः—"भ्रूकेशालोऽतिशुष्कः सुविपुलतपसा, भस्मना मण्डिताङ्गः,
कौपीनी प्रोषितश्रीर्वलिपलितभरः पार्ष्णिलस्तज्जटावान्।
वृद्धत्वान्नम्रवंशोऽभजत भृगुऋषी रेणुकां बालबालां,
कामः पापी दुरात्मा विनटयति नटस्तादृशानप्यहो ! धिक्" ॥ १ ॥

धिक्कामं; यद्येवंविधान् वृद्धान्नटयति तर्हि अन्येषां किं कथ्यते ?, तथापि मयि जीवति मम प्रिया भैमी भूयः स्वयंवरे कथं याति ? एवं यावन्नलश्चिन्तयति स्म तावद् दधिपर्णेन राज्ञा कुब्जं प्रत्यभाणि—भोः कुब्जक ! कथं करिष्यते ?। कुब्जेनोक्तम्—तत् किं स्वामिन् ! ?। दधिपर्णेनोक्तम्—शृणु, भीमेन राज्ञा नले मृते भैम्याः पुनः स्वयंवरमहः प्रारब्धः; स महश्च तस्य शुद्धपञ्चम्यां भावी; सा पञ्चमी प्रातर्भविष्यति, तदन्तरे षट्-प्रहराः सन्ति; यदि षट्प्रहरान्ते योजनानां सार्धं शतद्वय कथमपि गम्यते तदा भैमी लभ्यतेऽन्यथा भैमी दुर्लभेति मम मनसि महाचिन्ता वर्तते। भो राजेन्द्र ! मयि सेवके सकलकार्यकरणक्षमे एनां चिन्तां मा विधेहि; ममैकं रथं समर्पय, तथा द्वौ जात्याश्वौ समर्पय; यथाऽहं प्रातः कुण्डिनपुरमण्डितां भुवं दर्शयामि। राज्ञोक्तम्—भो हुण्डिक ! एते रथसहस्राः, एतेषां मध्ये यस्तव रोचते तं रथं गृहाण, तथैतेषां वरतुरगशतसहस्राणां मध्याद्यौ सर्वलक्षणलक्षितौ वराश्वौ वर्तेते, तौ गृहाण, गृहीत्वा मम मनोरथं पूरय; ततस्तेन हुण्डिकसूपकृता एको वरो रथो गृहीतः, तथा द्वौ मनोऽभीष्टौ जात्याश्वौ गृहीतौ। ततस्तयोः कर्णे हुण्डिकेन देवतादत्तोऽश्व-कर्णमन्त्रोऽभाणि, यो मन्त्रोऽस्मिन् भरते कस्याप्यन्यस्य नास्ति। ततस्तेन मन्त्रितौ तौ दिव्याऽश्वौ जातौ। तस्मिन् रथे एते षड् नरा आरूढाः।

यथा—"राजा स्थगीधरश्छत्रधरश्चामरधारिणौ।
कुब्जश्चेति षडारोहन्नरास्तस्मिन् वरे रथे" ॥ १ ॥

ततः स कुब्जः तौ विल्वकरण्डौ निषधनाकिना दत्तौ कटौ बद्ध्वा कशाघातैस्तुरङ्गान् प्रेरयामास; तान् वाहान् वायुवेगान् कुब्जेन प्रेरितान् दृष्ट्वा विस्मयमापन्नो दधिपर्णो राट् चिन्तयति स्म—अहो ! अनेन वाहान् प्रेरयताऽसौ महीकरतलमिवाभाति तर्हि कियत् कुण्डिनम्; कुण्डिनं तु यामेन समेष्यति; यस्मिन् हुण्डिकेन रथे प्रेरिते सति दधिपर्णो राट् विस्मयतः पुनश्चिन्तयति स्म।

यथा—"न स्थलं न जलं किञ्चित् न किञ्चिद्विषमं समम् ।
वातस्थ इव पर्जन्यः स ययौ त्वरितं रथः ॥ १ ॥
भ्रमतीव महीचक्रमायान्तीव पुरो दिशः । व्योम विस्तरतीव द्राक् संक्षिप्यन्त इवाद्रयः ॥ २ ॥
न पोतः स्थलसंचारी न बाणा यान्ति दूरतः । न निर्दिष्टगतिर्वायुर्न सूर्यो नापि यन्मनः ॥ ३ ॥

अहो ! अस्य स्यन्दनस्यापूर्वं कोऽपि जवो न दृष्टो नापि श्रुतः, सारथी अप्येवंविधः कोऽपि नास्त्येवाऽस्मिन् संसारे; एवं चिन्तयतो राज्ञस्तीव्रवेगापकर्षितो रथो यावता मार्गे याति तावत्तस्य राज्ञो दधिपर्णस्योत्तरीयं सहसा भूमौ पपात । राज्ञोचे—भोः कुब्जक ! क्षणं रथं रक्षय । यतो मे उत्तरीयं पतितं गृह्यते । कुब्जो बभाषे—भो राजेन्द्र ! भवदुत्तरीयं पञ्चविंशतियोजनै रथः पश्चात्पतितम् । राज्ञा यावतोक्तं तावता पञ्चविंशतियोजनै रथः समागतः; यत एतौ मध्यमौ वाहौ वर्तेते; यदि मम मनोऽभीष्टौ स्तस्तदा द्विगुणं व्रजतः; अतस्त्वं तदुत्तरीयाक्षेपं मुञ्च, मार्गे संचर । तत् श्रुत्वा विस्मितो राजा दधिपर्णः कुब्जं बभाषे—भोः कुब्जक ! पश्चाद्वलितोऽहं किञ्चिद्गणितकौतुकं दर्शयिष्यामि, अहं लीलया सर्वपदार्थानां संख्यां जानामि, सांप्रतं तत्कौतुकस्यावसरो नास्ति, यतो मार्गे पुनः कालक्षेपो भवेत् । विद्यार्थी नलस्तस्य वचनं श्रुत्वा कालक्षेपभयं मुक्त्वा तत्परीक्षां कर्तुं सत्वरोऽभूत् ।

कुब्जकेनोक्तम्—भो राजेन्द्र ! गणितकौतुकं दर्शय, कालक्षेपभयं त्वं मा कार्षीर्यतोऽहं प्रातस्तव रथं तत्र नेष्यामि । एवं तयोर्वार्तां कुर्वतोर्मार्गे बिभीतकवृक्षस्य फलानि दृष्ट्वा कुब्जेनोक्तम्—भो राजेन्द्र ! कथयाऽस्मिन् वृक्षे कतिसंख्यानि फलानि सन्ति ? । राज्ञा विचार्योक्तम्—अस्मिन् बिभीतकेऽष्टादश सहस्राणि

रथेन-निर्गमनम्

फलानि भवन्ति, न न्यूनाधिकानि। ततः कुब्जो रथादुत्तीर्य पादघातेन पादपं ताडयन् तानि सकलान्यपि फलानि पातयामास।

अथ कुब्जरूपो नलस्तानि बिभीतकफलानि स्वहस्तपातितानि दधिपर्णेनोक्तानि गणयन् राज्ञोदिताः संख्याः सद्यः प्राप; विस्मितो नलो दधिपर्णात्तां गणितविद्यामयाचत। दधिपर्णोऽपि नलादश्वहृदयमन्त्रमयाचत। नलेन राज्ञा दधिपर्णायाऽश्वहृदयमन्त्रो दत्तः, दधिपर्णात् गणितमन्त्रो गृहीतः। एवं तौ राजानौ एकरथस्थौ क्रमेण प्रभातसमये कुण्डिनपुरपरिसरं प्रापतुः; परं तस्मिन्नगरपरिसरे नान्यः कोऽपि राजा वा युवराजो वा; स्वयंवरस्यापि किमपि लक्षणं नादृश्यत। विस्मितो राजा दधिपर्णः। पुनर्भैमी पाणिग्रहणं न करोतीति निश्चिन्तो राजा नलो जातः। अहो! नगरपरिसरे पार्थिवानां निवेशो नास्ति? नगरमपि मृदङ्गध्वानधीरं नास्ति, अस्मिन्नगरे किञ्चिन्नवीनं नास्ति, सर्वं सहजस्थं दृश्यते, नूनं केनापि कितवेनावां हसितौ। अथ नगरान्त-प्रविष्टावावां भीमराज्ञः किमुत्तरं दास्यावः?, एवं चिन्तयन्तौ तौ नलदधिपर्णौ नगरसमीपोद्यानं प्रापतुः। सकुब्जं दधिपर्णं समागतं श्रुत्वा भीमोऽपि महामहेन प्रवेशमकारयत्, वासगृहं च ददौ। सकुब्जं दधिपर्णं षट्प्रहरैरागतं ज्ञात्वा भैमी हृष्टा भीमनरेशं पुष्पदन्तीं च प्रत्युवाच—हे मातापितरौ! वीरसेनतनयं नलं विनाऽस्मिन् भरते तुरङ्गहृदयमन्त्रज्ञानमन्यः कोऽपि न वेत्ति?।

तातेनोक्तम्—हे वत्से! मे जामाता एष एव लक्षणैर्ज्ञायते, तथापि निर्णयं विना शुद्धं न ज्ञायते। पुनर्भैमी भीमं बभाषे—हे तात! अद्य मया निशाशेषे स्वप्नो दृष्टः, यथा—मम निर्वृतिदेवतया कोशलावन-मिहानीय दर्शितम्, तस्या अनुज्ञयाऽहं एकं सहकारद्रुममारोहितवती; तया देव्या मम करे एकं शतपत्रं समर्पितं, तथा तस्मात् चूतात पुराऽऽरूढः कश्चिद्विहगो झटित्येव भूतले पपात।

कुब्जस्या-द्भुत-पराक्रम

भीमराजोचे—हे पुत्रि ! कोशलोद्यानतुल्या ते राज्यप्राप्तिः, सहकारपादपतुल्यस्ते प्रियसंगमः, चूतात्कश्चित् पूर्वारूढः पक्षी पपात स कूबरः क्रूरकर्मा राज्यात् पतिष्यति, निशाशेषे स्वप्नदर्शनान्नलसंगमोऽद्य भावी। राज्ञा भीमेन भैम्या च नलपरीक्षार्थं दधिपर्णायोचे—भो दधिपर्ण ! तवाऽसौ सूपकृत् सूर्यपाकां रसवतीं वेत्तीति श्रूयते; तवाज्ञयाऽसौ सूर्यपाकां रसवतीं दर्शयतु, मम कुतूहलं वर्तते।

राज्ञा दधिपर्णेनोक्तम्—भो हुण्डिक ! सूर्यपाकरसवत्या भीमभूपालं सानुजीविनं भैमीं च भोजय। दधिपर्णानुज्ञया कुब्जकः शालिदालितेमनादि सर्वमातपे धृत्वा सूर्यमन्त्रं जपित्वा सूर्यपाकां रसवतीं निष्पाद्य भीमदधिपर्णप्रभृतीन् सपरिकरान् भोजयामास। भैम्यपि सुवर्णस्थाले तां रसवतीं बुभुजे। भुक्त्वा रसवतीं प्रीता भैमी भीममेकान्ते नीत्वैवमभाषिष्ट, असावेव ते जामाता नलनामा वीरसेनपुत्रः, येनाहं परिणीता; केनापि कारणेनैष कुब्जो जातः। ज्ञानिनाऽप्युक्तम्—'सूर्यपाकां रसवतीं नलो जानाति नापरः'।

देवेनाप्युक्तम्—तव भर्ता द्वादशवर्षान्ते मिलिष्यति; तदद्य द्वादशाऽब्दस्यान्तिमदिनम्। तृतीयं परीक्षान्तरमप्यस्ति—यदस्य संस्पर्शमात्रतो रोमाञ्चकञ्चुकं मम वपुर्भवेत्, तदा भैम्या नलकुब्जो भोजनार्थं समाहूयाऽङ्गुल्या स्पृष्टः; तत्क्षणादेव रोमाञ्चितशरीरा जाता। तत्क्षणादेव भीमसमक्षं भैम्या नलोऽञ्चले गृहीतः; त्वं नलोऽसि, मयाऽङ्गुल्या स्पर्शमात्रेण ज्ञातः। कुब्जेनोक्तम्—क्व नलः कामसदृशः ? क्वाहं दृग्विषाञ्जन ?

इत्युक्तवन्तमपि नलं भैमी भीमादिषु पश्यत्सु गृहान्तरेऽनयत्। तैस्तैर्भैम्या प्रेमाञ्चितैर्वाक्यैरार्द्रीभवन्मना नलः स्नानं कृत्वा तस्माद् बिल्वात् करण्डाच्च दुकूलाभरणानि कृष्ट्वा पर्यधात्। ततः स्वं रूपं प्रकटितम्। उपलक्षितो नलो दमयन्त्या। नलेनाऽऽलिङ्गिता दमयन्ती। एवं द्वादशवर्षान्ते तौ मिलितौ; पुनः परस्परं

प्रीतिर्जाता। दमयन्तीं मिलित्वा पुनर्नलो द्वारि समायातः। भीमराट् नलं परिरभ्य नमस्कारं कृत्वा निजे सिंहासने निवेश्य कृताञ्जलिरेवमवोचत्—

यथा-"एताः श्रिय इमे प्राणास्त्वदीया एव भूपते!। तत्कृत्यमादिशेत्युक्त्वा भीमो वेत्रित्वमातनोत् ॥१॥
दधिपर्णोऽपि संभ्रान्तः प्रणम्य नलमभ्यधात्। देव! प्राचीनमज्ञानादपराधं क्षमस्व मे ॥ २ ॥
त्यक्तकुब्जत्ववैरूप्यो नलः स्वं रूपमास्थितः। निर्मुक्त इव भोगीन्द्रस्तदानीं दिद्युतेतराम्" ॥३॥

इतश्च धनदेवसार्थवाहः; येन भैमी सुखासने समारोप्याऽचलपुरद्वारे मुक्ता, स सार्थवाहो भीमभूपालं द्रष्टुकामः समागात्। वैदर्भी तस्य धनदेवस्य बन्धुवत् प्रतिपत्तिं चक्रे। ततो वैदर्भी दूतेन ऋतुपर्णं नृपं चन्द्रयशश्चन्द्रवतीयुत वसन्तश्रीशेखरमपि दूतेनाजूहवत्। एते सर्वेऽपि भीमभूमीभुजा नवनवैरुपचारैः कृतप्रीतयो मासं मुहूर्तवद् निन्यिरे। अन्येद्युः कश्चिद्देवो नलभैम्योः पुरः समागात्। वैदर्भी नत्वाऽवोचत्—सोऽहं तापसेश्वरो यस्त्वया प्रतिबोध्य दीक्षां ग्राहितः; सोऽहं संयमं प्रपाल्योग्रं तपस्तप्त्वा सौधर्मे कल्पे श्रीकेसरनामा सुरोऽभवं केसरिनाम्नि विमाने। त्वं ममोपकारिणी; त्वयाऽहं मिथ्यात्ववशतो घोरान्धनरककूपे पतन्निवारितः सम्यक्त्वदानात्; अतोऽहं किं तवेप्सितं करोमि ?।

भैम्योक्तम्—यदि मम हृदये सम्यक्त्वं निश्चलं वर्तते तर्हि सर्वं वर्तते, पुनस्त्वं धर्मे निश्चलो भवेः, इत्युक्त्वा दमयन्ती तूष्णीका बभूव। अथ देवः श्रीकेसरनामा भैम्याः गृहे सुवर्णस्य सप्त कोटीर्विकीर्य कृतज्ञचूडामणिः स्वस्थानमगमत्। अथ नलं प्रकटितं ज्ञात्वा सर्वे राजानः सेवां कर्तुं समाजग्मुः; ततः सर्वैः राजसमूहैर्भीमादिभिः संभूय नलो राज्येऽभिषिक्तः। नलेन राज्ञा दूतमुखेनाहूताः सर्वे राजानः स्वसैन्यपरिवृताः

समाजग्मुः। अथ नलराट् दैवज्ञदत्ते शुभमुहूर्ते तैर्नृपैः परिवृतः सैन्यसमूहैः काश्यपीं कम्पयन्, स्वां लक्ष्मीं ग्रहीतुकामः कोशलां प्रति प्रतस्थे। मार्गे दुःसाध्यान् भूपान् साधयन्; साधितान् नृपान् सार्धं नयन्, निःस्वान-निनादैर्दिशो बधिरयन् अयोध्याया रतिवल्लभं नाम काननमध्यतिष्ठत्। तमायान्तं श्रुत्वा कूबरस्य मनागपि मनः क्षोभो नासीत्; यतो नलो नीतिज्ञो मत्तो बलाद्राज्यं न लास्यति। द्यूते जितं राज्यं द्यूतेनैव ग्रहीष्यति; अतः का चिन्ता ?। एवं विचिन्त्य कूबरः स्वस्थमनास्तिष्ठति स्म। नीतिज्ञेन नलेन भ्रातरं कूबरं प्रति वाग्मी दूतः प्रेषितः, स दूतः कूबरान्तिके गत्वा एवमकथयत्—

यथा—"दिष्टया त्वं वर्ध्यसे राजन्! जयेन विजयेन च। दशदिग्विजयं कृत्वा तव भ्राता समागतः॥१॥
सर्वे शिरसि सानन्दं वहन्ति नलशासनम्। अग्रजत्वेन ते पूज्यः स तु राजा विशेषतः॥२॥
तस्मिन्निह समायाते जिगीषौ ज्येष्ठबान्धवे। स्वागताचारवन्ध्यस्त्वं किं मूढ इव तिष्ठसि ?"॥३॥

त्वं भ्रातुः संमुखो याहि, पूर्वोपात्तं राज्यादि, सर्वं समर्पय। तत्प्रसादेन तवापि किञ्चिन्न्यूनं न भविष्यति। कूबर! त्वं जानीहि तस्य साम्राज्यं तवैवास्ति, यतो युवयोः काचिद्विभिन्नता नास्ति। कूबरो बभाषे—भो विद्वन्! त्वया साधूदित नलो मम ज्येष्ठबन्धुः कुलविभूषणस्तस्य भक्तिं कुर्वतो मम शोभैव स्यात्, परमुभयोर्विरोधे परस्परं मिलनं भयावहं भवेत्, अविश्वासकरं स्यादत एकं मम वाक्यं शृणु।

यथा—"न राज्यं पितृदत्तं मे न च वीर्यार्जितं मया। प्राप्तं द्यूतप्रसादेन दैवस्यैव प्रभावतः॥ १॥
द्यूतेन स निजं राज्यं पुनर्गृह्णातु मत्करात्। यथा दत्तं तथा ग्राह्यं नीतिरेषा महात्मनाम्"॥२॥

दूतप्रेषणम्

एवं न्यायवादिनं मां हत्वा यदि राजा नलो राज्यं गृह्णाति तदा मया किं न लब्धम् ?। भो दूत ! त्वमपि शीघ्रं गत्वा मम वाक्यानुसारेण भ्रातुरग्रे सर्वं ब्रूहि। ततः स्वयमेव राजा यथोचितं करोतु; इत्युक्त्वा तं बहु संमान्य स्वर्णादिभिः संपूज्य महामतिः कूबरो नलदूतं विससर्ज। दूतोऽपि नलान्तिके गत्वा कूबरवाचिकं सर्वं शशंस। तद्वचनमङ्गीकृत्य राजा नलोऽपि कूबरेण समं पुनर्द्यूतक्रीडां रेमे। नलवत् कूबरो राज्यादिसर्वं हारयामास। यथा पूर्वं कूबरेण नलो जितः, तथा नलेनापि कूबरो जितः।

द्यूते कुबेरस्य पराजय

यतः—"केन हि स्वीकृतं द्रव्यं कस्य दूतो वशंवदः ?। कस्मिन् पण्याङ्गना रक्ता कं लक्ष्मीर्न विमुञ्चति॥१॥
यस्मिन् पुत्रः कलत्रं च नासा कर्णौ च हार्यते। न हि द्यूतस्य तस्यास्ति तुलया व्यसनं परम्"॥२॥

हारितं कूबरेण, जितं नलेन। ततः सत्यप्रतिज्ञो नलो नृपः सर्वैः पार्थिवैः सममुत्तङ्गतोरणस्तम्भां निजां राजधानीमयोध्यां नगरीं प्रविवेश। तद्दिनादारभ्य लज्जितः कूबरो गृहान्न निर्ययौ। ततो नल कूबरगृहं समागत्य कूबरं बहु संभाष्य बाहुभ्यां धृत्वा समालिङ्गनपूर्वमेवमुवाच—हे बन्धो ! त्वं खेदं मोद्वह। आवां भ्रातरौ वीरसेनसुतौ, त्वं देव्या देवरो ममानुजश्च; अतोऽहं तुभ्यं भ्रातृत्वाद्राज्यार्धं ददामि, इत्युक्त्वा पितृसत्कं राज्यार्धं दत्त्वा कूबरं भ्रातरमेवं तोषयित्वा नलनृपः स्वगृहे समागात्। ततः सकलोऽपि लोकोऽत्यर्थं श्लाघाऽऽस्पदं नलं प्रशशंस। क्रूरकर्माणं कूबरं पुनर्वारं वारं निनिन्द। एवं नले राज्यं कुर्वति सति भरतार्धमहीभुजां मणिमाणिक्यगजवाजिरथादिमङ्गलोपायनान्येयुः।

अथ नलो राट्, दमयन्ती राज्ञी, तयोः पुत्रः पुष्कलो युवराट्; एते त्रयो राज्यश्रीभिरलङ्कृता उत्सवपूर्वकं कोशलाचैत्यमण्डलीर्ववन्दिरे। एवं महाराजो नलो भरतार्धमहीपालसेवितचरणारविन्दः सकलसौख्यवान् संजज्ञे। दमयन्त्या समं भूयांस्यब्दसहस्राणि सांसारिकसुखमनुभवतस्तस्य संजातानि, तथापि तयोर्मान्मथो विकारो मनागपि

सुखेन काल-निर्गमनम्

न शशाम; अतस्तयोर्मदनोत्सवो नित्यं नवनवो वर्तते स्म। देवदेव्योरिव तयोः सुखमनुभवतोर्दिनानि यान्ति स्म। अन्यदा सभाऽऽसीनं नलनरेशं प्रति समागतः प्रतीहार एवं व्यजिज्ञपत्—स्वामिन्! कश्चित् कुशीलवाचार्यः प्रेक्षणककारकः समागत एवं वक्ति-यदहं देवपुरो नृत्यं करोमि। नलेनोक्तम्—मध्येसभं समाह्वय। समाहूतो नृत्यकरो राजानं वक्ति स्म—भो राजन्! त्वया बहवो नर्तकाः पृथिव्यां दृष्टाः, ममाप्येकं नृत्यं पश्य इत्युक्त्वा तेनैकः शूकरो जवनिकाऽन्तरे समानीतः।

तस्य वर्णनं यथा—"धीरमञ्जीरझात्कारं हारकेयूरमालिनम्। सुटङ्कमुकुटाटोपं चलत्कनककुण्डलम्॥
विचित्रकरणोपेतैरङ्गहारैर्मनोहरैः। नृत्यन्तं वीक्ष्य तं भेजे विस्मयं सकला सभा"॥

स शूकरस्तस्यां नलसभायां नृत्यं कुर्वन् सर्वैर्ददृशे। विस्मिता सभा, विस्मितो नलः विस्मिता दमयन्ती; शूकरशिक्षाकारकं रङ्गाचार्यं प्रशंसन्नलो हेमलक्षैरपूजयत्। तत्प्रेक्षणके निवृत्ते सर्वे लोकाः स्वस्थानं जग्मुः। रङ्गाचार्यः स्वगृहं गतः। स शूकरश्चन्दनागुरुलिप्तोऽपि रङ्गाचार्येण मुक्तो राज्ञः पश्यत एव स्नानप्रणालकुल्यायां विश्य पङ्कमगाहत। तं दृष्ट्वा राजा नलश्चिन्तयति स्म—अहो! कष्टमहो! कष्टम्; एवंविधः कलावानपीदृशे पङ्के रमते। पुनस्तं शूकरं स्नानविलेपनादिभिः पूतमकारयत्। पुनस्तथैव मुक्तस्तत्क्षणं गत्वा भूयस्तत्रैव कर्दमे लुलोठ। एवं द्वित्रिवारं कुर्वन्तं शूकरं दृष्ट्वा राजा नलो मुखविकूणिकां कुर्वन् तं ग्रामशूकरं निनिन्द। तदानी तदुपाध्यायः साक्षेपं राजानं प्रत्यवोचत्—राजन्! जनस्वभावोऽयं यत् परदोषदर्शनम्। त्वमपि कामपङ्के मग्नो गुरूपदेशैर्वारं वारं वारितोऽपि मदनकर्दमे निमज्जसि; इत्युक्त्वा नाटकेन समं नृत्यकारोऽदृश्यतामगमत्। तत आकाशवाणी बभूव—भो नलः! अहं तव जनको वीरसेनस्त्वां बोधयितुमागतः; त्यज वत्स! महामोहम्, भज निर्वाणपद्धतिम्। तत् श्रुत्वा नलो राजा सहसा चमत्कृतः सुप्तोत्थितजागरितः इव जातः स्वं प्रमादिनं निनिन्द।

यतः—"संध्यादिवारात्रिघटीसमेतं जनायुरम्भःपरिशोषणाय ।
आदित्यचन्द्रौ वृषभौ बलिष्ठौ कालारघट्टं परिवर्तयेते ॥ १ ॥
यौवनं जलतरङ्गचञ्चलं जीवितं जलदजालसंनिभम् ।
संगमाः कपटनाटकोपमा हन्त ! दुस्तरतरो भवोदधिः" ॥ २ ॥

इत्यादि चिन्तयन्नलो यावता वैराग्यमापन्नः तावदुद्यानपालेन विज्ञप्तम्—राजन् ! नन्दनोद्याने जिनसेनो नामाचार्यः समागतः। तत् श्रुत्वा तुष्टो राजा वनपालाय सपादलक्षं सुवर्णं दत्त्वा सपरिकरो मार्गे दानं ददानो भैम्या समं गुरु-वन्दनाय वने समागात्। दमयन्त्या समं नलो गुरुं त्रिःप्रदक्षिणीकृत्य वन्दित्वा पुरो निषण्ण इमां देशनां शृणोति स्म।

यथा—"राजन् ! विश्वैकवीराणां पथि प्रस्थितवानसि ।
यद्विर्निजित्य बाह्यारीनन्तरङ्गान् जिगीषसि" ॥ १ ॥

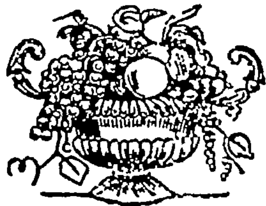
इत्यादि देशनां श्रुत्वा नलो राज्य त्यक्तुकामः पुष्कलस्य भैमीपुत्रस्य राज्याभिषेकसंस्कारं निषधेश्वरो विदधे। यथा पाणिग्रहारम्भो विहितस्तथा संयमग्रहणोत्सवोऽपि विदधे। यथा—अर्हच्चैत्येऽष्टाह्निकोत्सवश्चक्रे; सर्वेभ्योऽर्थिभ्यः संमानपूर्वं दानानि दत्तानि। महामाङ्गल्यपूर्वं भैम्या समं शिबिकां समारूढ. तूर्यनिनादैः पूर्यमाणदिगन्तो नन्दनोद्याने जिनसेनाचार्यसमीपे समाययौ। श्रुतशीलो मन्त्री, बाहुकसेनानीः, महाबलो मन्त्री, केशिनी सखी, ऋतुपर्णो राट्, अन्येऽपि राजानो राज्यश्च; एवंपरिवृतो नलो भैम्या समं जिनसेनाचार्यसमीपे दीक्षां कक्षीचक्रे। अथ नलो राजर्षिश्चतुर्थषष्ठाष्टमदशमद्वादशमासार्धमासक्षपणैरात्मानं शुशोष। यस्योग्रं

तपो दृष्ट्वा किं बहूच्यते ?, स्वराज्यहरणाऽऽशङ्की हृदि शक्रोऽपि चुक्षुभे । एवंविधं तपः कुर्वाणस्यापि नलस्य कदाचित् मान्मथो विकारो दिदीपे । तदा मुनिभिर्वारितः । तदध्यवसायात् पुनः कथञ्चिद् विरराम ।

नानाऽशनैरनशनैर्म्लपिताङ्गयष्टिः स्वाध्यायसंयमसमाधिषु बद्धकक्षः ।
श्रीमान् मुनिः क्षपितकर्ममलो नलोऽपि भाग्यैरभूदुपरि सर्वमहामुनीनाम् ॥ १ ॥
तस्मिन् गते नृपऋषौ शरदन्तरेण सम्यक्समाधिपरिणामपरायणे च ।
साध्वीशिरोमणिरसङ्ख्यगुणैकभूमिर्भैमोद्भवाऽपि समपद्यत कालधर्मम्" ॥ २ ॥

स नलो महामुनिरनशनेन विपद्यैकावतारी उत्तरदिवपतिर्धनदो बभूव । भैम्यपि तत्प्रिया देवी बभूव । ततश्च्युत्वा एकावतारित्वेनाऽनन्तरभवे मोक्षं यास्यतः ।

॥ इति द्यूतविषये नलचरित्रं समाप्तम् ॥



नलस्य भावि-मोक्ष

श्रीविदुरः प्राह—भो बान्धव ! धृतराष्ट्र ! मयैतन्नलचरित्रं तवाग्रे प्रोक्तं, भवता सम्यग्विचारणीयं; द्यूतव्यसनतो नलनृपेण राज्यं निर्गमितं, कूबरात् कष्टं लब्धं, दमयन्ती हारिता, रङ्कवत् रुलितो, भूयोऽपि महता कष्टेन राज्यादिभिर्मिलितः। एतद्दोषमतां त्रपाकारि। अतस्त्वया पुत्रो दुर्योधनो द्यूतान्निवार्यताम्। पुनर्विदुरेणोक्तम्—अहं द्यूततो महानर्थं पश्यामि। जितां हारितां वा पृथ्वीमेते पाण्डवा यदि नार्पयन्ति, तदा को बलवान् एतेभ्यः पाण्डवेभ्यो महीं गृह्णीयात् ? ।

विदुरस्य सत्प्रेरणा

कदाचित् सत्यवाक् धर्मसूनुरर्पयेत् जितामपि पृथिवीं, परं भीमार्जुनौ कथमर्पयेताम् ?; जितोऽपि दुर्योधनो यदि धर्मपुत्राद्राज्य ग्रहीष्यति तदा दुर्योधनस्य कूबरस्येवाऽपवादो भविष्यति। किञ्च; अहं शङ्के, तस्य राज्यग्रहणेच्छया करस्थमिन्द्रप्रस्थमपि यास्यति, परं नलतुल्यः कोऽपि नास्ति, येन गृहीतं जितं राज्यं क्रूरस्यापि कूबरस्य पुनर्दत्तम्; एते पाण्डवा जितास्तव पुत्रस्य देशत्यागं करिष्यन्ति; जितं राज्यं नलवन्न दास्यन्ति; तस्मादेनं दुर्योधनमस्माद् दुष्टद्यूतकदाग्रहान्निवारय। द्यूतं कस्याप्यायतिसुन्दरं न दृश्यते। एवं विदुरवचनभावितेन धृतराष्ट्रेण वारं वारं वारितो दुर्योधनो द्यूतकदाग्रहान्न न्यवर्तयत्। ततस्तं दुर्योधनमुपेक्ष्य विदुरः स्वस्थानं गतः। अथ दुर्योधनः सभाऽवलोकनव्याजात्तपःसुतं समाह्वातुमुपचक्रमे। तदा धृतराष्ट्रेणापि निषिद्धो भूताविष्ट इव हुंहुंकार कुर्वन् जयद्रथं समाह्वयत।

दुर्योधन उवाच—भो जयद्रथ ! त्वमितो याहि हस्तिनापुरं, गत्वा मद्वाचिकं पाण्डवाय निवेदयेः। यतो दुर्योधनेनैका दिव्यसभा कारिता; सा भवदागमनेन कृतार्था भवति। बान्धवेषु सर्वेषु त्वमेव ज्येष्ठोऽतस्त्वं तां सभां द्रष्टुमर्हसि; यतस्त्वदागमेऽहं कृतार्थो भूयासं; इत्यादिबहुयुक्तिभिर्निमन्त्रयेः। सोऽपि तत्र गत्वा बह्वीं मायां विधाय तपःसुतं समाह्वयत्। कुटिलाशयेनैवं विज्ञप्तः सरलाशयो युधिष्ठिरः सर्वं सत्यं मेने। ततः सत्य मन्यमानश्चतुर्भिर्भ्रातृभिः सार्धं द्रौपद्या च समं सकलसैन्यपरिवृतो राजा युधिष्ठिरो जयद्रथान्वित इन्द्रप्रस्थं प्रति

मार्गे चचाल। अग्रत आगतेन जयद्रथेन युधिष्ठिरागमनेन वर्धापितः सुयोधनः। युधिष्ठिरागमनं श्रुत्वा दुर्योधनः सपरिकरः संमुखमागात्। मार्गे द्वावपि युधिष्ठिरदुर्योधनौ संमिलितौ। धर्मवान् धर्मपुत्रः सर्वं सरलं पश्यति।

यतः—"सरलगतिः सरलमतिः सरलाऽऽत्मा सरलशीलसंपन्नः।
सर्वं पश्यति सरलं सरलः सरलेन भावेन" ॥ १ ॥

युधिष्ठिरस्येन्द्रप्रस्थगमनम्

युधिष्ठिरे समागते दुर्योधनेन तन्नगरमिन्द्रप्रस्थं सतोरणं सपताकं सोत्सवं विदधे। भीष्मद्रोणादयो वृद्धाः स्नेहग्रथिला युधिष्ठिरेण सार्धं समागताः। तैः सार्धं युधिष्ठिर इन्द्रप्रस्थं नगरं प्रविवेश। दुर्योधनो दुष्टात्मा क्रूरमतिर्मुखमिष्टो युधिष्ठिरस्य दानसंमानपूर्वकं भोजनादिसर्वां सत्क्रियां विदधे। गान्धारीतनयो युधिष्ठिरादिभ्रातॄणां समागतानां स्वागतिं विधाय निजां संसदं दर्शयामास। सौवर्णभित्तिभासुरां मणिकलशश्रेणिशोभितां स्तम्भसहस्रैर्मण्डितां कविसहस्रैरखण्डितां स्तम्भं स्तम्भं प्रति पुत्रिकायुतां सौधर्मसभाऽधिकां स्थाने स्थाने सद्वानैर्विभूषितां कविश्रेणिभिः स्तुतां कुकविभिरदूषितां क्वचिन्नाटकाकीर्णां क्वचित् द्यूतमण्डलीमण्डितां क्वचित् शुकसारिकानादसुन्दरां नीलमणिकुट्टिमां स्फटिकभित्तिरचितां पञ्चवर्णकुसुमैरुपचितां तां सभां निरीक्षमाणौ युधिष्ठिरदुर्योधनौ भ्रातृपरिवृतौ इतस्ततो भ्रान्त्वा तस्यां सभायां सर्वत्र विलोकयन्तौ परस्परं वार्तां कुर्वन्तौ क्रीडतः स्म।

दुर्योधनो दुष्टः कुटिलो दुष्टहृदयो मुखमिष्टो युधिष्ठिरं बभाषे। भो बान्धव! आवां द्यूतक्रीडां कुर्वावहै; यथैते लोका क्रीडन्ति तथैवावामपि क्षणं क्रीडावः। ओमित्युक्त्वा सरलचेता धर्मात्मजो दुर्योधनेन सम परस्परं क्रीडितुं प्रक्रमते स्म। धार्तराष्ट्रः कुटिलः कुटिलैरावृतः।

यतः—"कुटिलगतिः कुटिलमतिः कुटिलाऽऽत्मा कुटिलशीलसंपन्नः ।
सर्वं पश्यति कुटिलं कुटिलः कुटिलेन भावेन" ॥ १ ॥

यथा विषवृक्षः कण्टकिवृक्षैरावृतस्तथैव दुर्योधनो दुष्टो दुष्टैरावृतः पाण्डुसूनुना युधिष्ठिरेण समं द्यूतक्रीडया क्रीडति स्म । ततस्तयोरक्षद्यूतं परस्परं प्रववृते । पूर्वं क्रीडामात्रं निरर्थकं ततः सार्थकम् ।

यथा—"क्रीडामात्रकमित्यादौ पत्रपूगादिकः पणः । ततोङ्गुलीयकाद्योऽभूद् द्यूते वृद्धिमुपेयुषि ॥ १ ॥
यदा यस्य जयस्तस्य तदानीं पारिपार्श्वकाः । मोदन्ते स्म रविर्यत्र तत्रैव कमलोत्सवः" ॥ २ ॥

युधिष्ठिरस्य द्यूतक्रीडणम्

तयोः परस्परं दीव्यतोः ताम्बूलं वासरो रात्रिर्भुक्तिपानादिकाः क्रियाः; एतत्सर्वं द्यूतविनोदेन विस्मृतिं जगाम । एवं तयोर्द्यूते जयपराजयौ जायेतां; ततो गान्धारीपुत्रेणाभिमन्त्रितपाशकैश्छद्मद्यूतमुपचक्रमे । तयोरेवं क्रीडतोर्धर्मपुत्रो युधिष्ठिरोऽन्धवत्, बद्धदृष्टिवत्, भूतग्रस्तवत् पतितमपि स्वदायं नापश्यत् । गान्धारस्वामिना शकुनिमातुलेन शिक्षिता हस्तलाघवकला; तया धृतराष्ट्रतनयः पुनर्वारं वारं जैत्रमेवाक्षमपातयत्; तेन धर्मात्मजोऽङ्गलग्नान्याभरणानि सर्वाण्यहारयत् । तदा कर्णादीनां बन्धूनां प्रीतिरुच्छ्वसिता । यतः कौशिका हि सहस्रांशुव्यसनं प्रति स्पृहयालवो भवन्ति; तथापि क्रीडारसमग्नो धर्मात्मजः क्रमेण भाण्डागारमहारयत् । पश्चाद् गाङ्गेयो भाण्डागारं हारितं दृष्ट्वा युधिष्ठिरं द्यूतान्निषेधयन्नित्याह—हे धर्मात्मज ! यदि त्वादृशा महात्मानो व्यसनार्णवे निमज्जन्ति तर्ह्यन्येषां हीनसत्त्वानां किं कथ्यते ? यदि सूर्याद् ध्वान्तं भविष्यति तर्हि उद्योतं कः करिष्यति ? यदि शीतांशुर्ज्वालामालितः स्यात् तर्हि उष्णांशुपीडितान्नरान् को निर्वापयिष्यति ? व्यसनैः सह वास्तव्या. संसारे के गुणिनो गीयन्ते ? ।

भो युधिष्ठिर ! भवता क्वापि दृष्टं वा श्रुतं वा पीयूषं विषं चैकपात्रस्थं भवति ?; तथा त्वयि धर्मपुत्रत्वे द्यूतकृत्त्वं न युज्यते; इत्यादिवचनैर्गाङ्गेयादिभिर्वृद्धैर्वारितोऽपि धर्मपुत्रस्तदध्यवसायाद् न विरमति स्म अहो ! क्रुद्धे विधौ सतामपि शेमुषी विपर्यस्यति, अन्यथा धर्मतनयस्य किं मनो व्यसनैरापूर्यते ?। धर्मनन्दनं व्यसनसहायिनं ज्ञात्वाऽन्ये सहाया गाङ्गेयाद्या युधिष्ठिरं तिरस्कुर्वन्तो हस्तिनापुरं जिगमिषवो जाताः, यतो राजहंसा हि मेघालिमलिनं नभो ज्ञात्वा दूरे त्यजन्ति। इभाऽश्वरथादौ हारिते म्लानानने धर्मतनये सकर्णो दुर्योधनो जहर्ष, सूर्यास्ते घूकस्तोम इव।

अथाकरपुरग्रामनगरादौ हारिते युधिष्ठिरं कर्ण उवाच—भो युधिष्ठिर ! भो दुर्योधन ! उभावपि निजसाम्राज्यं पणीकुर्वातां; कालमानं विधाय दीव्यताम्। ततो द्वावप्यूचे—द्वादशवत्सरीं यावद् जिते राज्यं जितं हारिते राज्यं हारितम्; एवं कर्णभारत्योभावप्यङ्गीकृत्य सर्वजनसमक्षमेतां प्रतिज्ञां विधाय तौ रेमाते। युधिष्ठिरेणाऽक्षकैतवे क्षितिरपि हारिता। द्वादशवार्षिके राज्ये हारिते श्यामाननो धर्मनन्दनश्चतुरोऽपि बान्धवान् पणीचक्रे। विपरीते विधौ तेऽपि हारिताः। तैर्भीमादिभिश्चतुर्भिर्भ्रातृभिर्द्यूतहारितैर्दुर्योधनगृहे दासेरकर्म कर्तव्यम्।

युधिष्ठि-
रेण सर्वं
हारितम्

यतः—"हारितायां क्षणादक्षकैतवेन क्षितावपि।
चतुरोऽपि पणीचक्रे बान्धवान् धर्मनन्दनः" ॥ १ ॥

धर्मपुत्रेण हारितेषु बान्धवेषु सर्वैर्लोकैर्हाहाकारश्चक्रे। एतां द्यूतक्रीडां समभिलोक्य केचिल्लोका युधिष्ठिरं निनिन्दुः; केचिद् दुर्योधनं, केचिद् धृतराष्ट्रम्। एवं निन्दापरे सकललोके कौन्तेयश्चिन्तयति स्म। अहो ! मया विरूपमाचरितम्, यन्मया द्यूतव्यसनिना गाङ्गेयादीनां वचो न मानितं, सर्वं राज्यादि निर्गमितं,

बान्धवाश्च हारिताः। अथ केनाप्युपायेन पुनरपि गतं वालयामि; इति धियाऽऽत्मानं पणीचक्रे। विधिवैपरीत्यात् पाशकवैपरीत्यपतनाच्च युधिष्ठिरेणात्मदेहोऽपि हारितः। पुनरप्यात्मानं मोचयितुं द्रौपदी धर्मात्मजेन पणीकृता। विधिवैपरीत्याद् दुर्योधनकूटरचनाच्च साऽपि हारिता। हारितं युधिष्ठिरं ज्ञात्वा दुर्योधनं जितं मन्यमानोऽथ शकुनिर्बाढस्वरेणैवं बभाषे।

यथा—"क्षणेनाथ भुजाऽऽस्फोटनादकन्दलितोदयाः। जितं जितमिति स्वैरमुच्चेरुः शकुनेर्गिरः॥ १ ॥
स्तम्भिता इव मूर्छाला इव चित्रार्पिता इव। मृता इव ग्रहग्रस्ता इव सभ्यास्तदाऽभवन्" ॥२॥

पाण्डुपुत्राणां शत्रवो दुर्योधनाद्यास्तस्मिन्नवसरे मुदं दधिरे, अन्यायोपात्तलक्ष्मीभिर्दस्यव इव। म्लानिं प्रापिताः पाण्डवास्तूष्णीका बभूवुः। अथ मदोन्मत्ता दुर्योधनभ्रातरो दुःशासनाद्याः पाण्डवेयानां वासांसि कर्षितुमचेष्टन्त। तावत्ते नीतिज्ञाः पाण्डवाः स्वयमेव चीवराणि त्यक्त्वा किञ्चिदाच्छादिताः पर्षद्यवाङ्मुखास्तस्थुः। सुयोधनो दुःशासनं प्रोचे—भो बान्धव! साऽपि द्रौपदी पञ्चभर्तृका अस्यां सदस्यानीयताम्। दुःशासनोऽपि पापात्मा स्मेरवक्त्राम्बुजः पाञ्चालीसमीपे गत्वा इत्यवोचत्—हे द्रौपदि! तेन युधिष्ठिरेण दुष्टबुद्धिना दुरोदरे त्वं हारिताऽसि; सद्बुद्धिना दुर्योधनेन मद्बन्धुना त्वं जिताऽसि। समागतं तव प्राचीनं सत्कर्म। फलितस्ते सुचीर्णो धर्मः। अथ दुर्योधनेन समं प्रीतिपरायणा निश्चिन्ता सुखमनुभव। यतो विधिना पूर्वं विरूपमाचरितम्—यदेका त्वं पञ्चानां पाण्डवानां दत्ता। ततो विचार्य विधिनैवानया रीत्या त्वं दुर्योधनस्य दत्ता। अथ दुर्योधनेन समं रमस्व। यदि त्वं मदुक्तं न करिष्यसि? तर्ह्यहं त्वां बलादपि कारयिष्ये। पाञ्चाल्याह—भो देवर! दुःशासन! स्वकुलोचितं ब्रूहि; कुलविरुद्धं किं भाषसे?। दुःशासनेनोक्तम्—त्वं तु युधिष्ठिरेण हारिता, दुर्योधनेन जिता; अत एव दुर्योधनं भजस्व। सभायां स्थितो दुर्योधनस्त्वामाह्वयति।

दुःशासनस्य निन्दाचरणम्

एहि मया सह, यदि नायासि तर्हि बलात्कारेणाहं त्वां तत्र नेष्ये। तत् श्रुत्वा पाञ्चाली किञ्चित् प्रत्युत्तरं यावद् ददाति, तावत्तेन दुरात्मना दुःशासनेन द्रुपदात्मजा केशे धृत्वाऽऽकृष्टा।

तयोक्तम्—आः पाप ! कुरुभूपालगोत्रे किंपाकपादपोपम ! अस्यां सभायां तव जननीतुल्यां मां किं विडम्बयसि ?। यस्या नीरङ्ग्या ममाननं स्थगितं कोऽपि नाऽपश्यत्, हा ! सर्वे गुरवस्तां मामनावृताङ्गीमद्य द्रक्ष्यन्ति। एवं पूत्कुर्वत्यपि सा दुःशासनेन केशे धृत्वा समाकृष्टा मृगारिणा मृगीव। एकवसनां साश्रुनयनां त्रपाऽवनतकन्धरां कातराक्षीं द्रौपदीं दुःशासनस्तां सभां निनाय। अथ पाण्डवास्तां तथाभूतां समालोक्य त्रपाकलुषिताशयाः पश्चापि क्षितिं विविक्षव इव भूमिं विलोकयामासुः। भीष्मादयोऽपि कुलवृद्धा एवंविडम्ब्यमानां द्रौपदीं दृष्ट्वा निजोत्तरीयेण ह्रिया निजाननानि पिदधुः।

अथ दुर्योधनस्तां समीपमागतां ज्ञात्वैवमवोचत्—हे कृशोदरि ! ममानुरागस्त्वयि चिरमासीत्, एतावन्ति दिनानि पाण्डवैः पाणिपीडनकरणेनावयोरन्तरायोऽभूत्; अथ त्वं द्यूतमिषाद्विधिना मम दत्ता। अतस्त्वं मत्समीपे समागत्य ममेमं वामोरुं समलङ्कुरुष्व, इत्युक्त्वा दुर्योधनेन स्वीयवामोरुर्दर्शितः। एतद्वचनं श्रुत्वा कोपकम्प्रतराऽधरा द्रौपदी एवमवोचत्—आः पापात्मन् ! अनया वाञ्छया त्वं भस्मसात् किं न जातोऽसि ?। यत्त्वं मां सतीं स्वोरुं दर्शयसि; ततस्त्वमत्रैव घातेन मृत्युमवाप्स्यसि।

अथ कर्णोऽवोचत्—यदि युधिष्ठिरेण राज्यादि सर्वं हारितम्; एषा पाञ्चाल्यपि हारिता; अथैषा दुर्योधनपत्नी भवतु। तां कर्णोक्तगिरं श्रुत्वा क्रोधाध्माता अपि प्रजा दुर्योधनभिया तूष्णीमेवाऽवलम्बिरे। क्रोधाच्च स्फुरदोष्ठपुटो दुर्योधनो निजाऽनुजं दुःशासनं बभाषे—एषा मया जिता एतेषां सभासदां पश्यताम्; तदेतस्याः पट्टकूलं कर्षयित्वा जरद्दण्डीखण्डमम्बरं परिधाप्य दासीषु क्षिप। तत् श्रुत्वा दुःशासनो दुष्टात्मा जेष्ठबान्धवाज्ञया पाण्डुस्नुषाया नितम्बादम्बरमाकृषत्; तदा द्रौपद्यास्तस्मिन्समये यत् जातं तदाह—

यथा—"मा मेति दीनजल्पाक्या: प्रक्षिपन्त्या मुखेऽङ्गुलीः। रुन्धत्यास्तत्करौ कामं पश्यन्त्याः पर्षदाननम्।१।
दुष्टात्मनांऽशुके कृष्टे तेनाऽस्या ददृशुर्जनाः। दैवतेनानुभावेन तादृगेवाऽन्यदंशुकम्" ॥ २ ॥

तदा द्रौपद्योक्तम्—भोः शासनाधिष्ठायकदेवदेव्यः! यद्यहं जैनी तथा शीलवत्यऽभवं, तदोद्घाटितं ममाङ्गं मा भवतु; यावदित्युक्तं तावद्देवैः शासनाधिष्ठायकैः सांनिध्यं विहितम्। यतस्तस्यास्तादृगेवान्यदंशुकं विहितम्। एवमष्टोत्तरशतं वारानाकर्षणे पुनस्तथैवान्यान्यानि दृष्टानि। एवं पुनः पुनः कर्षणे वसनोत्करो बभूव, न पुनस्तस्याङ्गं केनाप्यदर्शि। अथ क्रोधारुणनयनो वृकोदरः स्वां पत्नीं दुःशासनेन विडम्ब्यमानां दृष्ट्वा गदां समुत्थाय यावता दुर्योधनं हन्तुं दधावे, तावता तदध्यवसायात् युधिष्ठिरेण निषिद्धः। ततः पुनः कोपाद् भीमसेन एवंविधां प्रतिज्ञामकरोत्—येन दुरात्मना मम पत्नी केशेषु धृत्वा गुरूणां पश्यतां चीराऽऽकर्षणेन विडम्बिता, तस्य बाहुदण्डं यदि मूलान्नोन्मूलयामि, तस्य कवोष्णैः शोणितैर्यदि क्षोणीं नाभिषिञ्चामि, तथा येन मम जायाया ऊरुर्दर्शितः, तदूरुमनया गदया यदि न चूरयामि तर्हि नाहं पाण्डुपुत्रः, किन्त्वन्यपुत्रः, इति भीमे भीमपराक्रमे गर्जति क्रोधारुणितलोचने सा सभा क्षोभमवाप।

भीमस्य प्रकोप

यथा—"गर्जन्तमूर्जितमिति श्रुत्वा भीमं धराधवाः। न्यग्मुखाः केचिदभवन् भयार्ताः केऽपि दुःखिताः॥१॥
रोषोष्मदुःखितां भीष्मो जगादाथ गिरं नृपम्। रेऽन्धसूनो! किमारब्धं त्वया साध्वीविडम्बनम्?।२।
त्यजेमां तत्कुलाङ्गार! सतीं कृष्णां पतिव्रताम्। त्वत्पिता बहिरन्धोऽयं त्वमन्धोऽन्तर्बहिश्च रे"!।३।

इत्यादिगाङ्गेयवचनानि श्रुत्वा ततः संसदि मध्यात् समुत्थाय कोविदो विदुरः शोकसंभारपूरिताशयो धृतराष्ट्रं जगाद—भो बान्धव! एष दुरात्मा दुर्योधनः कुरुकुलविषये कल्पान्तकालोपमः; प्रसूतमात्र एवायं पुराऽपि ते मयाऽऽख्यायि—त्यजैनं, त्वया न त्याजितः। अथ पश्यैनं तव पुत्रं दुष्टं दुर्योधनं; अनेन तत् कर्म कृतं यत् चाण्डालैरपि न क्रियते।

यथा—"किमीदृक् क्रियते कर्म चाण्डालानां कुलेष्वपि ? । कैतवेन विजीयन्ते भ्रातरोऽपि यदात्मनः ॥१॥
पुरो गुरूणामानीय केशैरादाय तत्प्रियाम् । तन्नितम्बस्थलाद्वासो निःशङ्कं यच्च कृष्यते" ॥२॥

स भीमः कान्तापराभवं कथं सहते ? स्वप्रियापराभवं तिर्यञ्चोऽपि न सहन्ते तर्हि मानवस्य किमुच्यते ? एष भीम इमां पृथ्वीमदुःशासनाम्, अद्रोणाम्, कर्णरहिताम्, अदुर्योधनाम्, अभीष्मां करिष्यति। दुर्योधन-निमित्तादेषा कुरुवाहिनी भीमार्जुनतः क्षयं यास्यतीति मे मतिः प्रोस्फुरीति। हे बान्धव ! धृतराष्ट्र ! एनं कुलाङ्गारं दुष्टं दुर्योधनं किमुपेक्षसे ? किं तु क्रूरकर्माणमेनमेकं सुयोधनं मारय। यद्येवं न करोषि तर्हि अस्मात्पापादमुं दुर्योधनं निवर्तय। अमी पाण्डवाः पाञ्चाल्या सह तवाज्ञया वनाय गच्छन्तु, पुनरवधेरन्ते समागता निजां जगतीं भुञ्जताम् ।

धृतराष्ट्रस्य प्रकोपः

यदि कुरूणां कुशलं समीहसे तर्हि सर्वं ममोक्तं त्वमङ्गीकुरुष्व; इति विदुरोक्तं श्रुत्वा धृतराष्ट्रः सुयोधनं भृशमाक्रोशन्नेवं बभाषे—आः पाप ! हे कर्मचाण्डाल ! हे निरपत्रप ! त्वमद्यापि दुष्कर्मभ्यः किं न निवर्तसे ? त्वं बान्धवान् वनवासाय जायया सह विसर्जय; यदि ममोक्तं न करिष्यसि तर्हि ममैष करवालस्ते शिरो न सहिष्यते; इति पितुर्गिरं श्रुत्वा मनसि मलिनो दुर्योधनः सर्वेषु भीष्मादिषु कुलवृद्धेषु पश्यत्सु एवं भाषते स्म—भो भोः पार्षद्याः ! सर्वे ममैकं वाक्यं शृण्वन्तु, एते पाण्डवा बान्धवा अपि मम शत्रवो द्यूते हारितत्वाद्वने द्वादश वत्सराणि स्वेच्छया विचरन्तु। स्वशरीरैश्चापि हारितत्वात् ममाज्ञया त्रयोदशं वर्षं पाण्डवैर्गुप्तवृत्त्या वनवासे नेतव्यम्; यदि कथमपि तेषां पाण्डवानां कुत्रापि वनाकरपुरादिषु गूढस्थितानां स्थितिमहं ज्ञास्ये तर्हि द्वादशवत्सरीं वनवासाय पुनर्दास्ये। पाण्डवैर्गुर्वाज्ञया तदपि प्रतिपन्नम्। ततः कौरवाग्रणीर्दुर्योधनो धृतराष्ट्रद्रोणगाङ्गेय-निर्देशात् पाण्डुपुत्राणां प्रहरणवस्त्राभरणानि पूर्वगृहीतानि प्रत्यार्पयत्। सत्यप्रतिज्ञास्ते पाण्डवाः पञ्चापि दुर्योधनकृतमपराधं सर्वं सहन्ते स्म। यतो महान्तः स्वकृतप्रतिज्ञां निर्वहन्त्येव।

यतः-"राज्यं यातु श्रियो यान्तु प्राणा यान्तु विनश्वराः। या मया स्वयमेवोक्ता वाचा मा यातु शाश्वती ॥१॥
[1]पलएवि महापुरिसा पडिवन्नं अन्नहा न हु कुणन्ति। गच्छन्ति न दीणत्तं कुणंति न हु पत्थणाभङ्गं ॥२॥
[2]तत्तिअ मित्तं जंपह जत्तिअ मित्तस्स निव्वहो होइ। तं उक्खवेह भारं जं अद्धपहे न छड्डेइ" ॥ ३ ॥

पाण्डवाना वन प्रति प्रयाणम्

इति कारणात् समर्था अपि पाण्डवाः प्रतिज्ञावन्तः स्वां प्रतिज्ञां नातिक्रामन्ति स्म। दुर्योधनाऽनुज्ञया नित्ययौवनया सार्धं वनवासं प्रपेदिरे। ततस्ते पाण्डुपुत्राः पञ्चापि याज्ञसेनीं पुरस्कृत्य सर्वेऽपि पदातय इन्द्रप्रस्थाद् हस्तिनापुरं प्रति प्रतस्थिरे। गाङ्गेयादयो वृद्धाः पादचारेण तमनुगच्छन्तो युधिष्ठिरेणाऽऽग्रहतः पुनर्यानेष्वारोपिताः सह चेलुः। दुःखाक्रान्ता गाङ्गेयादयः परस्परं कथयन्ति स्म—अहो! युधिष्ठिरेण धर्मपुत्रेणापि तत् कृत, येन सर्वमपि हारितम्; धिग् द्यूतम्; यतो द्यूते ईदृशा अपि महात्मानो मुह्यन्ति।

"हारिताखिलनरेन्द्रसम्पदः पाण्डवाः स्फुरदखण्डतेजसः।
मातरं च पितरं च वीक्षितुं हस्तिनापुरमुपागमन् पुनः" ॥ १ ॥

इति श्रीमत्तपागच्छाधिराजभट्टारक-श्री५ श्रीहीरविजयसूरिपट्टालङ्कारसंप्रतिविजयमानभट्टारकश्रीविजयसेनसूरिराज्ये पण्डित-श्रीदेवविजयगणिविरचिते श्रीपाण्डवचरित्रे गद्यबन्धबन्धुरे नलोपाख्याने द्यूतवर्णनो नाम षष्ठः सर्ग. ॥ ६ ॥

---

१. प्रलयेऽपि महापुरुषाः प्रतिपन्नमन्यथा न खलु कुर्वन्ति। गच्छन्ति न दीनत्वं कुर्वन्ति न खलु प्रार्थनाभङ्गम् ॥ १ ॥
२. तावन्मित्र कथयथ यावद् मित्रस्य निर्वहो भवति। तमुत्क्षिपथ भारं योऽर्धपथेन छर्दयति ॥ २ ॥

अर्हम्

अथ सप्तमः सर्गः



अथ धर्मपुत्रो भीमादिभ्रातृसंयुक्तो गन्तुकामः सत्यप्रतिज्ञो हस्तिनापुराद् वनवासाय प्रतस्थे; भीमादयः सह चलनाय स्वस्वशस्त्रादिसमग्राः सामग्रीश्चक्रुः। पाण्डुधृतराष्ट्रभीष्माद्याः कुलवृद्धाः स्नेहमोहिताः सह चेलुः। तथा बाष्पाविललोचनाः शोकार्ता ज्येष्ठमातरः सर्वाः सह चेलुः। ततः क्रीडावापीसरोवरादिवनश्रेणिं समालोकयन्ती हंसकलहंससारिकाशुकादिपक्षिसमूहान् पञ्जरस्थान् पृच्छन्ती अन्यानपि सर्वान् दासीसख्यादिसमूहान् वारं वारं मार्गे संभाषयन्ती बद्धपरिकरा द्रौपदी कुन्तीपृष्ठे स्थिता मार्गेऽचलत्, लोकोऽपि तन्नगरवास्तव्यः सर्वो युधिष्ठिरगुणगृह्योऽन्वगात्। तैः सशोकैर्नागरिकलोकैः सार्धं धर्मनन्दनो हस्तिनापुराद् निर्ययौ। युधिष्ठिरस्य पुराद् निर्गमनसमये नागरिकलोकः परस्परं मार्गे एवं कथाः कथयन् विचचार। यथा पुरा नलेन राज्यं द्यूते पणीकृत्य हारितं, हा! हा! युधिष्ठिरेणापि तथैवानुष्ठितन्।

लोकाना युधिष्ठिर-द्यूत-वार्तालाप

तथा–"धिग् धिग् दुर्योधनं येन महात्मा धर्मनन्दनः।
कृत्वा द्यूतमयं छद्म त्याजितो राज्यसंपदम्" ॥ १ ॥

तथा दुर्योधनेन प्राप्तमपि राज्यं न स्थास्नु, यावद्विजयिनौ वृकोदरकिरीटिनौ वर्तेते। यदनेन दुर्योधनेन पाञ्चाल्याः वस्त्राऽऽकर्षणं कारितं तत्पापमस्य फलिष्यतीति लोकोक्तिं शृण्वानो युधिष्ठिरो मार्गे संचचार। अथ

मार्गे संचरतस्तस्य युधिष्ठिरस्य सपरिकरस्य नभसोऽभ्येत्य क्रूरः किर्मीरराक्षसोऽकस्माद् द्रौपदीं मार्गे संचरन्तीं भापयामास। कथंभूतो राक्षसः ?—मषीकृष्णवपुः पिङ्गाक्षः पिङ्गमूर्धजो विकीर्णकेशो दीर्घवपू रक्तानना रक्तनेत्रो भुजङ्ग इव तरलां जिह्वां बिभ्रत् दन्तैर्दन्तान् घर्षन्। एवंविधो राक्षसो द्रौपदीसमीपमागत्य रोदसीभेदकरं ध्वनिमट्टहासं विदधे। तं तथाविध सकर्तरीकं दृष्ट्वा भीमो भीमपराक्रमी समीपमागत्य तर्जयन् पर्जन्यवद् गर्जन् बभाषे—रे ! महापाप ! राक्षस ! किमिदं ते पापचापलम् ?; यत्त्वं दीर्घाध्वनि श्रान्तां प्रवासेन विषेदुषीं मम प्रियां द्रौपदीं किं भीषयसे ?; यदि भापयसे तर्हि तस्य फलं भुङ्क्ष्व; इत्युक्त्वा गदाघातेन तं राक्षसं मूर्ध्नि अताडयत्। तेन घातेन ताडितः पलादो भूमौ पपात। भीमस्य यः क्रोधो दुर्योधनेऽभूत् स तस्मिन् राक्षसे पतितः। स दुर्योधनवल्लभः किर्मीरो भीमगदाघातेन हतो मृत्वा नरकं गतः। भीमेन हतः क्रूरः किर्मीरराक्षसो महाभारतारम्भे प्रथम ओङ्कार इव। यथा मङ्गलारम्भे प्रथमोङ्कारो भवति तथैवायं राक्षसः प्रथमं भीमेन हतोऽत ओङ्कारोपमोऽजनि।

ततश्चलिताः सपरिकराः पाण्डवा लतारम्यं काम्यकं नाम काननमाजग्मुः। तस्मिन् कानने रम्यप्रदेशे रम्यमहीरुहसमाकीर्णे यावत् समायातास्तावद् भीमेन युधिष्ठिरं प्रत्युक्तम्—भो बान्धव ! मातापितृप्रभृतिजनः पादचारेण मार्गे सचरन् भृशं खेदखिन्नो दृश्यते, अतः पञ्चरात्रमत्रैव वने स्थीयताम्। एवं वसुधाधिपो युधिष्ठिरो वारं वारं भीमसेनेन विज्ञप्तः कतिचिद्वासरांस्तत्रैव कानने तस्थौ। पथः श्रान्तो लोकः सुखेन प्रतिपादपं सुष्वाप। सुखसुप्तं लोकं क्षुधाऽऽक्रान्त दृष्ट्वा युधिष्ठिरोऽर्जुनं बभाषे—एतान् सर्वान् लोकान् मनोज्ञया रसवत्या भोजय।

युधिष्ठरानुज्ञया पार्थो मनोहराहारसमाहरणकोविदां सत्वरं सस्मार। तया विद्ययोपनीतां मनोहरां रसवतीं दृष्ट्वा युधिष्ठिरो विस्मितः पार्थाऽनुज्ञया द्रुपदात्मजाऽपि तया रसवत्या तं जनं भोजयामास। एवं

प्रतिदिनं विद्यारसवत्या भोजिता जनाः कतिचिद्वासराणि पाण्डवैः सार्धं तत्रैव तस्थुः। अपरेद्युः पित्रादेशात् महायोद्धा धृष्टद्युम्नो द्रुपदात्मजः पाण्डवानाकारयितुं तत्र वने समाययौ। पाण्डवैः स्नानभोजनादिर्भक्ति विधाय पृष्टः—भो धृष्टद्युम्न! त्वमत्र किमर्थमागतः?। धृष्टद्युम्नोऽपि धर्मपुत्रादीन् पाण्डवान्नत्वाऽऽगमन-कारणं विज्ञपयति स्म।

यथा—"हस्तिनापुरचारिभ्यश्चारेभ्यश्छद्मना कृतम्।
श्रुत्वा प्रवासमेवं च तातेन प्रहितोऽस्म्यहम्" ॥ १ ॥

अतोऽहं युष्मानाह्वातुं समागतोऽस्मि, यूयं ममोपरि कृपां विधाय मम गृहं पवित्रयत। पाण्डवैरुक्तम्—वयं द्वादशवत्सरीं वनवासाय यास्यामः, न तु श्वशुरगृहं स्थास्यामः। पुनर्धृष्टद्युम्नो द्रौपदीं भगिनीं बभाषे—हे सोदरे! त्वं मया सार्धं पितृगृहमेहि। द्रौपद्योक्तम्—

यथा—"पाण्डवानां पदैर्यानि पावनानि वनान्यपि।
मह्यं तान्येव रोचन्ते कृतं पितृगृहेण मे ॥ १ ॥
केवलं सरलान् बालान् भागिनेयान्निजानमून्।
पञ्चाप्यादाय पाञ्चालान् व्रज त्वं विजयी भव" ॥ २ ॥

तथेत्युक्त्वा धर्मपुत्रानुज्ञया धृष्टद्युम्नः पञ्चाऽपि पाञ्चालान् गृहीत्वा सबाष्पः स्वगृहं प्रति चचाल। क्रमेण स्वगृहं समागतो धृष्टद्युम्नो द्रुपदाय दौहित्रानुपदीचक्रे; ततः स सर्वं पाण्डववृत्तान्तं निवेदयामास। तत्रैव कानने स्थितानां पाण्डवानामेकस्मिन् दिने युधिष्ठिरप्रीत्या द्वारकातः सकलसैन्यपरिवृतो मिलनायोत्सुको

नारायणः समुपाययौ। तं नारायणं समागतं ज्ञात्वा पञ्चापि पाण्डवाः संमुखमागत्य गाढमालिङ्ग्य प्रणमन्ति स्म। सोऽपि द्रुतमागत्य सोत्साहं कुन्तीपदाम्बुजं ववन्दे। विष्टरे समासीनः कंसध्वंसी पुरो निषण्णं युधिष्ठिरमेवमवोचत्—भो धर्मात्मज ! दुष्टेन दुर्योधनेन शकुनिकर्णोत्तरसाधकाभ्यां कपटं कृत्वा कूटपाशकैस्त्वां जित्वा तव राज्यमग्राहि; एतद् मया दूतमुखात् श्रुतम्। मयि सन्निहिते यदि द्यूतं भवेत् तदा ज्ञायते द्यूतकौशलम्। युधिष्ठिरेणोक्तम्—स्वामिन् ! बुधान्तिके रोहिणीरमणं राहुः कथं ग्रसते ?, तवान्तिके एष दुर्योधनो मां कथं जित्वा राज्यं गृह्णाति ?; परं राजन् ! भावी केन लङ्घ्यते ?।

भवि-तव्यता परिणाम

यतः—"सा सा संपद्यते बुद्धिः सा मतिः सा च भावना।
सहायास्तादृशा ज्ञेया यादृशी भवितव्यता ॥ १ ॥
अवश्यंभाविनो भावा भवन्ति महतामपि।
नग्नत्वं नीलकण्ठस्य महाहिशयनं हरेः" ॥ २ ॥

हे हरे ! त्वयि क्रुद्धे शक्रोऽपि विक्रमी न भवति तर्हि केऽमी मनुष्यकृमयः पुनर्दुर्योधनादयः ?। पाञ्चालीचीराऽऽकर्षणसमये भीमार्जुनौ ममादेशवशंवदौ दुर्योधनवधाद् मया निषिद्धौ; हे हरे ! त्वमप्यस्माद-ध्यवसायाद् दुर्योधनवधरूपात् सांप्रतं निवर्तस्व। इत्थं हरौ शमं नीते नीतिकोविदो धर्मजो बान्धवैः सार्धं भीष्माऽभ्यर्णमभ्यगात्। भीष्मं नत्वा धर्मात्मजो बभाषे—हे बृहत्तात ! भवान् गुरुभ्योऽपि गुरुः, अतः पृच्छ्यसे, स्वामिन् ! परदेशयियासूनामस्माकं स्वकुलोचितां शिक्षां देहि। गाङ्गेय उवाच—अहमपि भवतः सहायो भविष्यामि। ततो विनयावनम्रेण धर्मपुत्रेण सहागमनाय निवारितो गाङ्गेय एवंविधां शिक्षां ददाति स्म—कामक्रोधलोभमानमदहर्षा एते षड्वर्गा परिहर्तव्याः; अज्ञानमनृतं लञ्चा; निखिलं व्यसनम्; एते

राज्यहृतौ षोडश दस्यवः स्युः। भो वत्स! त्वं पश्य, एकेनापि द्यूतव्यसनेन कियाननर्थः कृतः? अतो व्यसनं त्याज्यम्।

तथा—"वत्स! धर्मेण सत्त्वेन नयेन विनयेन च।
अमुना भुवनस्यास्य भवितासि निदर्शनम्"॥ १॥

इति गाङ्गेयगिरं श्रुत्वा हृष्टो धर्मात्मजः। पाण्डुविदुरद्रोणकृपाचार्यादयो वृद्धा एते सर्वेऽपि युधिष्ठिरं समनुज्ञाप्य स्वगृहाभिमुखाः प्रत्यावृत्ताः प्रतस्थिरे। अथ युधिष्ठिरः पुनरपि धृतराष्ट्रं नत्वा प्रोवाच—हे वृद्धतात! त्वं मम बान्धवं दुर्योधनमेवं कथयेः—हे कुरुकुलोत्तंस! एताः प्रजास्तथा पालयेः; यथा पूर्वजोपार्जिता कीर्तिरस्मिन् संसारे सर्वत्र भवन्तं श्रिता पोस्फुरीति; इति युधिष्ठिरस्य वैनयिकं वचः श्रुत्वा स्वसुतस्य दुर्नयं दृष्ट्वा लज्जितो धृतराष्ट्रः तूष्णीकं प्रत्यावृत्य सोऽपि स्वपुरं समाययौ। ज्यायस्यो वृद्धमातरः सत्यवत्याद्याः प्रणमन्तं युधिष्ठिरं आशीर्भिरभिनन्द्याऽतुच्छशोकमूर्छालास्तास्ततः कथमप्यगुः।

युधिष्ठिरस्य महानता

अथ युधिष्ठिरः सहचरसकलपौरलोकानाकार्य इतो यूयं निवर्तध्वमित्याऽऽदिदेश। एवं सहागता गाङ्गेयाद्याः कुलवृद्धाः सत्यवत्यादयो मातरो बुद्धिसागरप्रभृतयो मन्त्रिमुख्यास्तन्नगरवासी सहचरलोकोऽपि सकलः परिजनः काम्यककाननात् सर्वेऽपि निर्वतिताः स्वस्थानं जग्मुः। अथ युधिष्ठिरो विनयावनतकन्धरो विदुरं बभाषे—हे आर्य! त्वमेवास्मासु पैतृकीं प्रीतिं वितनोषि; पाण्डोस्तु राज्ञः केवल जन्मकर्तृताऽजनि; अतो भवन्तं पृच्छामि—मम मातापितरौ विरहकातरौ सहैव नीयेते? किंवाऽत्रैव राज्ये मुक्त्वा गम्यते?; अत्रभवतः प्रमाणता; यत्तवाज्ञा भवति सेवास्माभिः क्रियते; यत् सुन्दरं जानीयास्तद् ब्रूहि।

विदुरो जगाद—भो वत्स! सुयोधनस्त्वयि मत्सरी वर्तते। ततः सर्वकुटुम्बेन सम गन्तुं न युज्यते।

तस्मात् कारणात् देवेन पाण्डुना तटस्थेनैवात्र स्थेयम्; देवी कुन्ती तव विरहाऽसहा, सा नैव स्थास्यति; अतः पाण्डुमत्र मुक्त्वा कुन्त्या मात्रा द्रौपद्या च समं यूयं पञ्चापि बान्धवाः सतेजस्का वनवासाय व्रजन्तु। तत् श्रुत्वा युधिष्ठिरः सबाष्पः सबाष्पं पितरं विदुरान्ते स्थापयामास। तस्मिन् समये कुन्ती भर्तृवियोगाद् दुःखं; पुत्राणां संयोगात् सुखमवाप। तदा कुन्ती युगपद्धर्षविषादयोः कोटिमवाप। पुनर्विदुरो बभाषे—भो युधिष्ठिर! मार्गे संचरन् त्वं सावधानो भूयाः; कदाऽपि प्रमादो न कार्यः; विशेषतो मार्गे। एवंविधां शिक्षां दत्त्वा साश्रुनयनो विदुरः पाण्डुं सह नीत्वा हस्तिनापुरं प्रति प्रस्थितः।

तस्मिन् समये पाण्डुराड् विद्याधरदत्तां देवताऽधिष्ठितां मणिमुद्रिकां सकलकार्यकरणक्षमां देवनिर्मितां स्वकरस्थां समाकृष्य ज्येष्ठात्मजकराङ्गुलौ निचिक्षेप। ततः पुत्रपत्न्योः शिक्षां दत्त्वा स पाण्डुर्विदुरश्च हस्तिनापुरं प्रति गन्तुं प्रचक्रमे तदा युधिष्ठिरो माद्रीं प्रत्युचे—हे मातः! दिवानिशं त्वया मत्तातशुश्रूषाविषये न प्रमाद्यम्; विशेषतो यत्नो विधेयो यतोऽहं दूरदेशे यामि; ममानुगा कुन्त्यपि सहाऽऽयाति; अतः शुश्रूषा विशेषतो विधेया। तथेति कृत्वा साऽपि पाण्डुना सह चचाल। एवं सर्वेऽपि स्वजनवर्गाः प्रत्यावृत्ताः।

नासिक्य-नगर-प्राप्ति

ततश्चलिताः पाण्डवाः कुन्तीद्रौपदीसहिताः कृष्णाग्रहाद् यानारूढाः कृष्णेन सम चलिता नासिक्यं नगरं यावत् प्राप्ताः। तत्र पूर्वं कुन्त्या निर्मापितं श्रीचन्द्रप्रभचैत्य प्राप्ताः। अस्मिन् चैत्ये पाण्डवैः कुन्त्या समं पूजा कृता। विधिवद् जिनं पूजयित्वा चित्रैः स्तोत्रैरभिष्टुत्य तौ कुन्तीदेवकीसुतौ निजं निजं सौधं समध्यास्य स्वस्वजनैः समं स्वकुलोचितं सुखं बुभुजाते। एवं तौ हरियुधिष्ठिरौ सुखमग्नौ कियन्त्यपि वासराणि तत्र गमयामासतुः। एकस्मिन् दिने कृष्णाभ्यर्णे समासीनं युधिष्ठिरमागत्य पुरोचनो दुर्योधनपुरोहित एवमुवाच—हे राजेन्द्र! तव बन्धुः सुयोधनः सादरमिदानीं मन्मुखेनेदं विज्ञपयति।

यथा—"आर्य ! धुर्यस्त्वमार्याणामनार्याणामहं पुनः । त्वमग्रणीर्गुणवतां निर्गुणानामहं पुनः ॥ १ ॥
उत्तंसः स्वजनानां त्वं दुर्जनानामहं पुनः । धौरेयस्त्वं सुबुद्धीनां दुर्बुद्धीनामहं पुनः ॥ २ ॥
शेखरस्त्वं कृतज्ञानां कृतघ्नानामहं पुनः । त्वमुत्तमानां माणिक्यमधमानामहं पुनः ॥ ३ ॥
आदिमस्त्वं महेच्छानामल्पेच्छानामहं पुनः । त्वमाद्यः कृतविद्यानां निर्विद्यानामहं पुनः" ॥ ४ ॥

यन्मया विवेकशून्येन तव विरूपमाचरितम्, तत्त्वं ममाऽपराधं क्षमस्व । यतस्त्वं ज्येष्ठोऽसि । ज्येष्ठस्तु कनिष्ठस्याऽपराधं सहते । मया त्वयि सरलाशयेऽपराधः कृतः यत् कपटेन द्यूतक्रीडितो राज्यं हारितश्च । ततो राज्यान्निष्कासितोऽसि । तमपि ममापराधं सहस्व । अथ मय्यऽनुग्रहं विधाय पुनः स्वं राज्यं समलङ्कुरुष्व । अतः परं तवाज्ञा मम मौलिपल्यङ्कखेलिनी भवतु । ततः प्रसन्नो भूत्वा हस्तिनापुरं राज्यं गृहाण । यदि हस्तिनापुरे समागच्छन् सत्यव्रतविपर्ययाद् लज्जसे ?; तर्हि मनः स्थिरं संविधाय वारणावते नगरे ममाग्रहात् सुखेनैव तिष्ठ । आर्यस्याहं तत्रापि तिष्ठत आत्मचेतोऽनुरूपाणां संपदामुपनेताऽस्मि ।

दुर्योधनस्य षड्यन्त्र

हे राजेन्द्र ! मन्मुखेन तव बन्धुना दुर्योधनेन तुभ्यमिति विज्ञप्तमस्ति; इति पुरोचनपुरोहितवचनं श्रुत्वा हर्षिताः पाण्डवा युधिष्ठिरादयः कृष्णादयोऽपि च । यतः प्रीतिवचनं श्रुत्वा को न तुष्यति ?; ततश्चलिताः पाण्डवा यानारूढाः कृष्णसखायः पुरोचनपुरोगमार्गे संचरन्तः क्रमेण वारणावतं नगरं प्रापुः । तन्नगरवास्तव्यः समस्तोऽपि नागरिकलोको माङ्गल्योपायनान्यादाय तस्य संमुखीनः समागमत् । ततो गोविन्देन सार्धं ते पाण्डवाः सहर्षास्तं नगरं प्राविशन् स्वःपुरे शचीपतय इव । ते पाण्डवास्तं नगरं समासाद्य चित्रशालासु, गृहोपत्यकासु, सौधेषु, वापीकूपसरोवरादिषु सुखं क्रीडन्तो विचरन्ति स्म ।

पुरोचनो दुर्योधनपुरोहितस्तेषां पाण्डवानामुपचर्याशतैश्चातुर्येण चात्मानमतिरोचयांचक्रे । तथा

हस्तिनापुराद् दुर्योधनस्तेषां पाण्डवानामतिस्तुतिपदं वस्तु प्रत्यहं सेवकैः सार्धं प्राभृतीकरोति स्म। तथा तत्पुराधीशोऽपि पौरलोकैः परिवृतो युधिष्ठिरमुपासयामास। एवं सुखासीनाः पाण्डवाः स्वपुरस्था इव कदाचिदपि निज गृहमपि न सस्मरुः। पाण्डवानां जनयित्री दानैकरसिका दीनोद्धरणकर्मणि करं व्यापारयामास।

यतः—"[1]न कयं दीणुद्धरणं न कयं साहम्मिग्राण वच्छल्लं।
हिग्रयंमि वीग्ररात्रो न धारिग्रो, हारिग्रो जम्मो" ॥ १ ॥

प्रियवदस्य दूतस्यागमनम्

एव ते सर्वेऽपि पाण्डवा मातृपत्नीसहिता दानं ददानास्तस्मिन्नगरे सुखं विहरन्ति स्म। अथ नारायणस्तत् पाण्डवसुखं दृष्ट्वा कुटुम्बसुख चालोक्य सुयोधनगिरमपि पुरोचनपुरोहितमुखात् श्रुत्वा हृष्टो भ्रातृवत्सलैः पाण्डवैर्विसृष्टो द्वारिकां पुरीं जगाम। सुभद्राऽर्जुनपत्नी मातुर्मिलनोत्कण्ठिताऽभिमन्युना पुत्रेण सार्धं पाण्डवाज्ञया कृष्णेन सम द्वारकापुरीमाजगाम।

अथैकस्मिन् दिने विदुरप्रहितो दूतः प्रियंवदो नाम युधिष्ठिरादिबन्धूनां समीपे समागत्यैकान्ते विदुरवाचिकमुवाच। यथा—एकस्मिन् दिने धृतराष्ट्रपार्श्ववर्तिना रहःस्थितेन मया कर्णदुःशासनादीनां मन्त्रेण विगतत्रपो दुर्योधनः पुरोचनं प्रत्येवं ब्रुवन् स्वयं शुश्रुवे।

यथा—"भद्र ! त्वमपि जानासि पाण्डवा मम वैरिणः। जीवत्सु तेषु राज्यं मे गन्धर्वनगरायते ॥१॥
वह्नेरुद्दीपनैर्द्रव्यैः शणसर्जरसादिभिः। आचितं जातुषं सौधं विदध्या वारणावते" ॥२॥

१. न कृत दीनोद्धरण न कृतं साधर्मिकाना वात्सल्यम्। हृदये वीतरागो न धारितः, हारितं जन्म ॥ १ ॥

एतत्श्लोकद्वयं श्रुत्वा पाण्डुपुत्रेण चिन्तितम्—अहो ! एतेन पुरोचनेनास्माकं मारणाय एषा माया कृता। वयमत्र नगरे राज्यं दत्त्वा स्थापिताः निजस्वामिबुद्धया। कपटं कृत्वा मारणायैष उपायो रचितः। तर्हि नूनमेष पुरोचनो दुष्टोऽस्मानस्मिन् लाक्षागृहे धक्ष्यति। अथ भक्तमानी विदुरदूतो वक्ति स्म—राजन् ! असौ श्लोकद्वयगतवृत्तान्तो दुष्टदुर्योधनेन पुरोचनाग्रे निवेदितः। तदा प्रच्छन्नतया विदुरेण स श्रुतो, भवतां मन्मुखेन ज्ञापितश्च। अतस्त्वया सम्यग् विचार्य यथायोग्यं विधेयम्। पुरोचनविश्वासो न विधेयः। एष मुखे मिष्टो हृदयेऽत्यर्थं दुष्टो ज्ञेयः। दुर्योधनवचनादेष पुरोचनो भवदलङ्कृतं भवनं कृष्णचतुर्दश्यामग्निसात् करिष्यति। परं सा चतुर्दशी परिज्ञाता नास्ति विदुरेण। अतः प्रति कृष्णचतुर्दश्यां सावधानेन स्थेयम्; न प्रमाद्यम्, इति मया त्वयि विदुरवाचिकमाख्यायि। इति दूतमुखाद् विदुरोक्तं श्रुत्वा क्रोधारुणितलोचनाः पाण्डवास्तद्वासभवनं जतुनिष्पन्नं वा तद्व्यतिरिक्तं वेति परीक्षयामासुः। परीक्षाप्राप्तं लाक्षागृहं ज्ञात्वा मातृभ्रातृकलत्राणां प्रत्येकं तत् कथितम्।

भीमस्याक्रोश

ततो भीमोऽभ्यधात्—आर्य ! रिपोर्हृदयं विदार्य गम्यते, पुरोचनस्य शिक्षां दत्त्वाऽग्रे गम्यते। अर्जुनोऽपि युधिष्ठिरमेवमभाषिष्ट, त्वदाज्ञयैनं शिक्षयित्वा गम्यते। एषोऽपि जानाति पाण्डवैः सह यादृशं कृतं तादृशं लब्धम्। एतयोर्वचनं श्रुत्वा युधिष्ठिरो बभाषे—हे वत्सौ ! युवयोः शौर्यं यद्यस्ति तर्हि दुर्योधनवधे कार्यम्। पथि गच्छतां एवंविधा दुर्जना बहवो मेलिष्यन्ति येषां तेषां पदे पदे घ्नन्तो वयं लज्जामहे। अहो ! एते पाण्डवा महौजसो वशीकृतदिगन्ता एवंविधान् प्राकृतजनान् घ्नन्तीत्यस्माकं जनापवादो भवेत्, तस्मात् न हन्यन्ते प्राकृतजनाः। तथा चाऽद्यदिनादारभ्य त्रयोदशवर्षपर्यन्तमात्मना एषा प्रतिज्ञा भवतु यथा विद्याबलेन स्थानान्तरं गन्तुं न युज्यते, किमपि भोजनादि कर्तुं न युज्यते, किन्तु बाहुबलेन सर्वं कार्यं कार्यम्। एवं कर्मणोऽपि कलना भवेत्, सत्यस्यापि निकषः स्यात्। अतोऽस्मिन्नेव गृहे निशायां कुत्राप्येकस्मिन् स्थाने

वसामः। यदा दुर्योधननिर्देशात् एष पुरोचन एतन्मन्दिरं मुदा धक्ष्यति कृष्णचतुर्दशीरात्रौ तदाऽस्माभिरतः सुरङ्गाध्वनाऽस्माद् गेहान्निर्गन्तव्यम्, इति मन्त्रिते पुना राज्ञोक्तम्—एका गुप्तद्वारा सुरङ्गा खानयितव्या, तस्याः सुरङ्गायाः प्राच्यद्वैतवनाध्वनि द्वारं निर्माप्यम्। परं तादृक्कश्चित्सुरङ्गाखनको विलोक्यते ?। धर्मपुत्रेणेत्युक्ते भूयः प्रियंवदोऽवादीत्—हे स्वामिन्! विदुरेण सुनकाभिधः खनकः प्रहितोऽस्ति। विदुरस्येष बहिर्मन इवास्ति, विश्वासस्य भूमिरिव, विदुरस्य द्वितीयं वपुरिव। सोऽपि भूपालं नत्वा भूतलन्यस्तमस्तकः शिक्षां ययाचे। युधिष्ठिरोऽपि तं योग्यं ज्ञात्वा एकं निर्विजनं भूप्रदेशमदर्शयत्। सोऽपि सुनकाभिधः सुरङ्गाखनकः पुरबाह्ये कस्यचिद् गृहस्यान्तःस्थित्वा दिवाऽन्यत् कर्म कुर्वाणो निशायां शनैःशनैः सुरङ्गां खनति स्म। भीमतल्पस्याधो बिलद्वारं विधाय युधिष्ठिराय न्यवेदयत्। तत्रस्थाः पाण्डवा अविश्वासा पुरोचने विश्वासं दर्शयन्ति स्म, अमुदो मुदं लोकेभ्यो ज्ञापयन्ति स्म, तथा प्रतिप्रत्यूषं समुत्थाय जात्यवाजिनं समारुह्य चतुर्दिशं पथावलोकनं कुर्वन्ति स्म। कदाचित् स भीमः कुन्त्या द्रौपद्याश्च नकुलस्य सहदेवस्य चाभ्यासार्थं सुरङ्गान्तरमदर्शयत्।

पश्चापि पाण्डवा उपरितनभूम्यां निषण्णा नक्षत्रैरेतद् द्वैतवनमार्गं निश्चिक्यिरे। तदा कुन्ती पुत्राणां शुभाय मनोहराऽऽहारदानैर्दीनाऽनाथादीन् प्रीणयामास, श्रीशान्तेः प्रतिमां शान्तकल्मषामर्चयामास, तथा ध्वस्तपापं परमेष्ठिमयं मन्त्रं जजाप। एवं तान् पाण्डवान् मातृस्नुषाभ्यां सार्धं स्वेच्छया क्रीडतो दृष्ट्वा पुरोचनश्चिन्तयति स्म—नूनमेते विश्वासवन्तोऽस्यामेव कृष्णचतुर्दश्यां निपातयितव्याः। इतश्च तस्यामेव चतुर्दश्यां काञ्चित् वृद्धां पञ्चभिः पुत्रैरेकया स्नुषया सार्धमितस्ततः पर्यटन्तीं दृष्ट्वा कुन्ती तामात्मतुल्यां ज्ञात्वा भगिनीमिव मन्यमाना मधुरस्निग्धभोजनैर्भोजयित्वाऽऽत्मनः समीपसदने स्थापयामास। अथ भीमो दुर्निमित्तैस्तां रात्रिं भयङ्करां ज्ञात्वा स्वकुटुम्बं तस्यां सुरङ्गायामतिष्ठिपत्, स्वयं सुरङ्गाद्वारे स्थितो यावदव-

लोकयति तावत्तेन पापेन पुरोचनेन कृष्णचतुर्दशीरात्रौ द्विप्रहरे तन्मन्दिरद्वारदेशतो वह्निरुद्दीपितः। कल्पान्तवह्निसोदरं तं वह्निं दृष्ट्वा रुष्टो भीमः सुरङ्गाध्वना स्वकुटुम्बं तस्माद् गृहाद् बहिर्निनाय, पश्चात् स्वयं सुरङ्गाद्वारे स्थितः पुरोचनचरित्रं लोचनैर्विलोकयामास। स्वामिकार्यं कृत्वा हृष्टः पुरोचनः सिद्धे कार्ये यावन्नृत्यति तावद्भीमपराक्रमेण भीमेन स करे धृत्वा मृगारिणा मृग इव मुष्टिना हत्वा वह्नौ निचिक्षिपे ततः पुरोचनो मृत्वा नरकं गतः। फलितं स्वकृतं कर्म।

यतः—"स्पृशन्ति भर्तुः पापेन स्वभावमनुजीविनः।
लवणोदन्वतस्तीरे भुवोऽपि क्षारकुक्षयः" ॥ १ ॥

पुरोचन-मृत्यु.

पुरोचनेन यादृशः पुमान् सेवितस्तादृशी फलप्राप्तिर्जाता। अथ भीमः पुरोचनं हत्वा सुरङ्गाध्वना कुटुम्बेन सह संमिलितो मार्गे चचाल। कतिपयभुवं गतानां तेषां पाण्डवानां विलोकनायेवोदयाचलमूर्ध्नि समारूढः सूर्य उदयमियाय। अथ पौरास्तल्लाक्षामन्दिरं भस्मसाद्भूतं दृष्ट्वा तान् सप्तापि मनुष्यान् मृतान् समालोक्य हाहाकारं कुर्वन्तो दैवोपालम्भान् ददिरे। हे हताश! विधे! त्वयाऽमी पञ्चापि पाण्डवाः कल्पपादपोपमा दीनाऽनाथसमुद्धारपण्डिताः किं विनाशिताः?। एवं वारं वारं गुणग्रामं स्मरन्तो जना भृशं रुरुदुः। अथ पाण्डवा अरुणोदये पादचारेण संचरन्तः श्रान्ता दुःखमाप्नुवन्ति स्म। राज्ञो युधिष्ठिरस्य प्रथमपान्थस्य क्रमौ स्खलनामवापतु। नकुलसहदेवावपि पथि श्रान्तौ सन्तौ ज्यायसां भ्रातॄणां मा स्म खेदो भूयादिति भिया तूष्णीमगच्छताम्। युधिष्ठिरो मातुः पत्न्याश्च पादचारेण चङ्क्रमणं समालोक्य हृदि इति चिन्तयति स्म।

यथा—"कष्टं दृष्टं यया नैव पितुर्भर्तुश्च वेश्मनि। मातेयममितं क्लेशं मयैवमनुभाव्यते ॥ १ ॥
अहो! पाणिगृहीतीयं पाण्डवानां महौजसाम्। दरिद्रगृहिणीचारं चरत्येवं वनाऽवनौ ॥ २ ॥

पश्यतां पाण्डुपुत्राणां कलत्रस्य कुशाङ्कुरैः । अम्भोजभेदं भिद्येते हा ! हा ! चरणपल्लवौ ॥३॥
न जानाति प्रिया दुःखमेकस्मिन्नपि भर्तरि । पञ्चस्वपि प्रियेष्वेका क्लिश्यते द्रुपदात्मजा" ॥४॥

एवं युधिष्ठिरे खेदखिन्ने मार्गे खिन्ने च परिजने कुन्तीद्रौपद्यौ तृषाक्रान्ते भुवि निपेततुः। ततो युधिष्ठिरो दूराज्जलं समानाय्य तयोः पाययति स्म, पाययित्वा राजा चिन्तयति स्म—अहो ! विधिर्बलवान् येन पूर्वं राज्यभ्रंशो विहितः, ततः शत्रोर्भयमकारि, पश्चाद्रात्रौ पलायनं विदधे, रुष्टेन विधिना सर्वा विडम्बना पाण्डवानामेवाकारि। धिग् विधिम्, य एवंविधान् जनान् विडम्बयति। एवं चिन्तयन् धर्मपुत्रः पथि चचाल। मार्गे पुनश्चिन्तयति स्म। अहो ! ममैष परिवारः पथश्रान्त उष्णेऽपच्छत्रः शीतेऽनंशुकः पथ्यपाथेयः शिरीषसुकुमाराङ्गः पदे पदे निपतन् दुर्गकान्तारपारी कथं भविष्यति ?।

भीमस्य अम्बा प्रियतमा च स्कन्धारोपणम्

युधिष्ठिरं चिन्ताम्लानमुखं ज्ञात्वा भीमपराक्रमो भीमो वाचमुवाच—भोः सोदर ! मयि प्रगुणे पदातौ त्वमाकुलो मा स्म भूरित्युक्त्वाऽम्बां दक्षिणे स्कन्धे आरोप्य पुनः प्रियतमां वामे स्कन्धे चारोप्य उभावपि कनीयांसौ पृष्ठे बद्ध्वा धर्मपुत्रार्जुनावपि भुजाऽवलम्बौ विधाय निःसीमपराक्रमो भीमो मार्गे महीरुहान् पादप्रहारेण पातयन् शीघ्रं चचाल। शीतो निशीथमारुतो दयालुरिव भीमश्रमं दूरे निनाय। स्वस्थचित्तो भीमः पथि पवनेनाऽऽश्वासितो धर्मपुत्रार्जुनावपि पथश्रान्तौ पृष्ठेऽध्यारोपयत्। तेन भीमेन निशायां तस्मिन्नटवीसमुद्रे स्वबन्धूनामुद्वहता यानपात्रायितम्। एवं संचरतो भीमाद् भीतेव सा निशा क्षणेनैव क्षयं गता। अथ सूर्यो वृकोदरमुखाम्भोजविलोकनजातकुतूहल इवोदयाचलचूलिकामारुरोह। वृकोदरपराक्रमं दर्शयितुं विहङ्गमाः स्वजातिमाह्वातुमिव कूजन्ति स्म। एवं तैः समं परिवृतो भीमः शिरोगते सूर्ये द्विप्रहरसमये कस्यचित्तरोस्तले जलसमीपे विशश्राम। युधिष्ठिरेण पार्थस्योक्तत्वात् पार्थो विद्यां न सस्मार, किन्तु विद्यां विनैव सर्वं कार्यं करोति स्म। सुप्तो भीमो

मार्गे खेदापनोदाय। युधिष्ठिराज्ञयाऽर्जुनो वने गत्वा वनोद्भवानि कन्दमूलफलान्यादाय पाञ्चाल्यै आर्पयत्, नकुलसहदेवौ एधांस्यार्पयताम्, ततः पाञ्चाली वनफलाहारैरग्निसंस्कारसंस्कृतैः श्वश्रूसहितान् पाण्डुपुत्रान् भोजयित्वा देवगुरून् स्मृत्वा ततः स्वयं बुभुजे। पुनस्तथैव भुक्त्यनन्तरं सपरिकराः पाण्डवा मार्गे चेलुः। मार्गे तृषाक्रान्तान् सर्वान् भीमसेनो जलमढौकयत्, श्रान्तान् स्कन्धे कुर्वन्; एवं पथि संचचार। निशायां पुनरशोकस्य तरोस्तले वृकोदरविन्यस्तेषु वृक्षपल्लवस्रस्तरेषु ते सुखं सुषुपुः। तदा तमसां साम्राज्यमजनि, यतः क्रुद्धो विधिर्जनानां पदे पदे आपदं दत्ते। यथा तस्यामेव तमस्विन्यां ध्वान्ते यामिनीमुखे कुन्तीद्रौपद्यौ तृषाक्रान्ते बभूवतुः। ताभ्यां जलं याचितम्।

भीमस्य जलार्थं गमनम्

युधिष्ठिराज्ञया मध्यमपाण्डवो भीमो जलपात्रं समादाय सुविक्रमी गव्यूतिमात्रमध्वानमतिक्रम्य सारस्वनैर्निर्णीतं सर आससाद। तत्र भीमः कमलिनीपुटे पयः पीत्वा तस्मिन् सरसि करिपोतवत् स्नात्वा जलपात्रं भृत्वा तत्रायातो यत्र ते पाण्डुपुत्राः समातृवधूकाः सन्ति; तत्रागतस्तान् दुःखावस्थास्थितान् स्रस्तरे सुप्तान् विलोकयति स्म। तं स्वकुटुम्बं दुःखेन सुप्तं निद्रायमाणं दृष्ट्वा भीमसेनश्चिन्तयति स्म—अहो! ममैष बान्धवो युधिष्ठिरः यः पल्यङ्कं सतूलिकं पट्टकूलैराच्छादित धूपधूमस्तोमैर्वासितं पुष्पवासान्वितं सुगन्धद्रव्यैः संस्कृतमध्यास्यं सुखनिद्रां कुर्वाणो वारनारीसमूहैश्चामरैर्वीज्यमानः, सोऽधुना रेणुनिकरस्योपरि पथश्रान्त उलूकभैरवफेरवाऽऽरावान् शृण्वन् वृक्षपल्लवेषु शेते। एवं कथयन् भीमो भृशं रुदन् परितो भ्रमन्निति कथयति स्म—यः पूर्वं विमानस्थो व्योम्नि बभ्राम, सोऽर्जुनोऽस्मिन् कान्तारे रङ्कस्वापं स्वपिति। एतौ नकुलसहदेवावपि नः क्रोडक्रीडालालितावपि मे कनीयांसौ दरिद्राविव भूमौ शयाते। इयं पाण्डवानां माता पाण्डुमहीपतेः पत्नी चरणचङ्क्रमणक्लान्ता कुन्ती हा! हा! भुवि शेते। इयं द्रुपदनन्दिनी, याऽर्जुनराधावेधेन लब्धा, यया पञ्च पाण्डवा वृताः सुखेच्छया, सा एषा द्रौपदी रोरपत्नीव स्खलिता। धिग् मम जीवितम्, पौरुषम्; एवं वारं वारं कथयन् भीमो

निःसीमपराक्रमः सर्वेषां परितो भ्रमन् भृशं रुरोद। इत्युच्चैर्विलापं कुर्वन् भीमो भीषणाकारधारिणीमेकां युवतिं संमुखमायान्तीं पिङ्गाक्षीमुदैक्षत। सा युवतिर्यथा यथा भीमस्याभ्यर्णेऽभ्यागात् तथा तथा मनोहारि रूपं प्रकाशयामास। तां समीपमायान्तीं ज्ञात्वा कोमलया गिरा भीम उवाच—हे सुलोचने! त्वं काऽसि? त्वया प्रथमं भीमं पश्चात् सौम्यं रूपं कथं कृतम्?। एतत्स्वरूपं त्वं ममाग्रे सत्यं समाख्याहि।

भीम प्रति हिडम्बाया आकर्पणम्

तयोक्तम्—भो महापुरुष! मम चरित्रं सावधानीभूय श्रूयताम्। इदं हिडम्बाख्यं नाम वनम्। अस्मिन् वने हिडम्बो नाम राक्षसो मम भ्राता विद्याधरो वर्तते। तस्याहं हिडम्बानाम्नी भगिनी बन्धुगेह-निवासिनी। मद्बन्धोर्ममापि क्रमायाता राक्षसी नाम विद्याऽस्ति। स मद्बन्धुः सौधस्थो ममैदमभ्यधात्—हे भगिनि! अधुना मानुषो गन्धो मे क्षुधां बोधयति, तत् त्वं याहि मानवानवेक्ष्य कुतोऽप्यानय यतोऽहं क्षुधितोऽस्मि। अथाहं बन्धुप्रेषिता रतिरूपाऽपि राक्षसीरूपं कृत्वा वह्निज्वालावद्भीषणे लोचने विधाय यावताऽत्र समागतवती तावत् त्वां माररूपं विलोक्य विस्मृत्य भ्रातुरादेशं स्मरवशंवदाऽहं त्वामेव स्मरामि। अद्यप्रभृत्यहं तवानुगा, त्वं मे प्राणप्रियो मय्यनुग्रहं विधाय पाणिग्रहणं कुरुष्व। भो महन्! त्रपां विहाय मां रात्रिचरीं सहचरीं कुरु, ममाद्य सकलाः कुलदेव्यः प्रसन्ना जाता यस्त्वं प्राणप्रियो मिलितः। हे प्राणेश! मयि सहचारिण्यां राक्षसा दूरे तिष्ठन्ति। प्रबला वनचारिणोऽपि न प्रभवन्ति। अन्यदपि यत् किञ्चित् विरूपं भविष्यति मयि सहचारिण्यां तत् सर्वं दूरे यास्यति।

अथ भीमो बभाषे—भो भद्रे! यदि महान् पुण्यप्राग्भारो भवेत् तदा त्वादृग् नारी प्रेमपरा स्वयंवरा लभ्यते। हे सुगात्रि! परमत्रार्थे कारणं निशम्यताम्—एते शयालवश्चत्वारोऽपि मम बान्धवाः सन्ति, इयं या वृद्धा निर्भरं स्वपिति एनामस्माकं जननीं जानीहि, एषा स्मेरलोचना शिरीषमृद्वङ्गी या सुखं सुप्ता सा सर्वेषां पञ्चानामपि बन्धूनां प्रणयिनी। अनया एकयाऽपि सधर्मिण्या वयं सर्वेऽपि बान्धवाः कृतार्थाः पुरुषार्थेषु सर्वेषु

वर्तामहे । अतः श्रेयसीमपि प्रेयसीमन्यां वयं नानुमन्यामहे । एकामपि कल्पलतां प्राप्य करीरवने कः करक्षेपं
करोति ? । एवं भीमेन वारं वारं प्रतिषिद्धाऽपि हिडम्बा प्रोचे—हे प्राणेश ! यद्यपि त्वं मयि प्रेमोद्रेकं न करोषि
तथाऽप्यस्मिन् भवे त्वमेव मम जीवितमस्ति, तद्यदा रोचते स्वामिन् ! तदैव मामात्मसात् कुर्याः ।
भीमोऽभ्यधात्—हे हिडम्बे ! यदि तव ममोपरि प्रेमप्रकर्षोऽस्ति तर्हि चाक्षुषीं विद्यां देहि; यया चाक्षुषीष्वपि
रात्रिषूद्द्योतो भविता । तया हिडम्बया भीमाय पठितसिद्धा तामसी विद्या दत्ता । भीमस्तां विद्यां साधयित्वा
सिद्धविद्यो जातः ।

अत्रान्तरे ददत् त्रासं मुक्ताट्टहासेन हिडम्बो नाम राक्षसः समागात् । स्वां भगिनीं भीतां स्वेदरोमाञ्च-मण्डितां कामपरवशां भीमे दत्तलोचनां कामुकीं दृष्ट्वा भ्रकुटीविकटाननो हिडम्बो बभाषे—आः पापे ! हे प्रौढकन्दर्पे ! हे कुलकलङ्किनि ! मां बुभुक्षितमुपेक्ष्यैवं त्वमिह कामुकाऽभूत्, अतस्त्वां पूर्वं जठराग्नेरिन्धनं विधाय तत एतान् मानवान् मम जठराग्नेराहुतिभावं लम्भयिष्यामि । एवं कोपेनाक्षिप्य रक्तचक्षू राक्षसो हिडम्बः सोदरां प्रति चपेटां दातुं दधावे । ततस्तं धावन्तं दृष्ट्वा भीमपराक्रमो भीमो राक्षसं प्रोचे—हे दुराचार ! दुरात्मन् ! नक्तञ्चर ! निजां भगिनीं निरपराधां जिघांसन् किं न लज्जसे ? तव रक्षोवंशानुरूपं यद्भूगिन्यपि हन्यते, परं तदहं स्त्रीहत्यां भवत्कृतां नोपेक्षे, इत्युक्त्वा भीमो गदामुद्यम्य धावितः । राक्षसोऽप्येकं वृक्षमुन्मूल्य भीमं प्रति दधावे । एवं परस्परमुभयोरपि संग्रामो बभूव । तस्मिन् संग्रामे भीमेन गदया हतः पीडितो राक्षसः । राक्षसेन वृक्षेणाऽऽहतो भीमो मूर्च्छामवाप्य भूमौ पतितः, क्षणं वृक्षपीडामनुभूय लब्धचैतन्यो भीमः पुनर्गदामुद्यम्य सिंहनादं कुर्वन् राक्षसं डुढौके । तेन सिंहनादेन जागरिताः पाण्डुपुत्राः । कुन्तीद्रौपद्यावपि । कुन्ती पुरतो दिव्यरूपामेकां बालिकां ददर्श । तां बालिकां समालोक्य कुन्त्या पृष्टम्—का त्वं पुत्रि ! कथं चात्र समागता ?, सत्यं मम कथय । साऽप्यादितः सर्वं स्ववृत्तान्तं कुन्त्यै निवेदयामास । हे मातः ! तव

तनुजो रक्षसा सह युध्यते, तेन रक्षसा वृक्षास्त्रेण हतो मूर्च्छितस्ततो भूमौ पतितश्च पुनर्लब्धचैतन्येन तव पुत्रेणैष सिंहनादो विहितस्तेन नादेन त्वं जागरिता। तच्छ्रुत्वा मातृप्रेरिता धर्मपुत्राद्या बान्धवा भीमाभ्यर्णमुपाययुः। तदा भीमं पुना राक्षसेनाऽऽहतं भूमौ पतितं मूर्च्छां गतं समालोक्य जनन्यूचे।

यथा-"अस्माकं मार्गपङ्गूनां वोढा त्वं प्रौढविक्रम!। दुष्टेन रक्षसा वत्स! गमितः कामिमां दशाम्?॥१॥
निरालम्बकुटुम्बस्य करालम्बं त्वया विना। दूरात् पानीयमानीय तृषां नः कोऽपनेष्यति?॥२॥
कुसुमानि समानीय वन्यान्येतां मनस्विनीम्। नव्यधम्मिल्लबन्धेन वधूं कोऽलङ्करिष्यति?"॥३॥

इत्यादिविलापविधुरां कुन्तीं विलोक्य मातृदुःखाक्रान्तोऽर्जुनोऽञ्चलव्यजनैर्भीमं प्रगुणीचक्रे। उत्थितो भीमो गदामुल्लालयन् राक्षसम्। अर्जुनोऽवोचद्—भो बान्धव! स्थिरो भव, एनमहमेव शिक्षयिष्यामि, त्वमस्य घातप्रहारजर्जरोऽसि, त्व दूरेऽपसर, मम शस्त्रकौशलं पश्य। भीमोऽभ्यधाद्—भो अर्जुन! तव दृष्टिसुधावृष्ट्या सिक्तं मम वपुः पुनः पल्लवितं वर्तते, अतोऽहमेनं राक्षसं साम्प्रतं हनिष्यामि, इत्युक्त्वा भुजास्फालनपूर्वकं गदामुद्यम्य पुनर्दधावे। तदा तयोर्द्वन्द्वयुद्धे जायमाने जयलक्ष्म्या दोलायितम्। तावेव द्वौ हिडम्बभीमपाण्डवौ परस्परं वलगन्तौ घातं कुर्वाणौ युधिष्ठिरेणालोकिषाताम्। ततो युधिष्ठिरोऽर्जुनं प्रोचे—भो अर्जुन! रक्षसाऽसौ तवाग्रजः पीड्यते। एवं तपःसूनौ जल्पति भीमस्तं राक्षसं ग्रीवायां बाहुपाशेन बद्ध्वा पशुमारममारयत्। मृतं राक्षसं जितं भीमं च दृष्ट्वा कुन्ती सुतस्य सानन्दं तत्क्षणादेवाऽञ्चलमुदतारयत्। युधिष्ठिरो भीमं सरजस्कं स्ववस्त्राञ्चलेनाऽमार्जयम्। अर्जुनाद्याः कनीयांसो रणखेदभवस्वेदं वस्त्राञ्चलेनाऽपनिन्यिरे। द्रुपदात्मजा क्षणमेकान्तमासाद्य भीमं प्राणप्रियमालिलिङ्ग। कन्दर्पेण विडम्बिता हिडम्बा भ्रातृशोकं विस्मृत्य तेषां युधिष्ठिरादीनां शुश्रूषां व्यतनोत्। तया हिडम्बया कुन्तीद्रुपदनन्दन्यौ तथोपासिते यथा तयोर्मनः

परवशीकृतम् । अथ निशीथिनीसमये पाश्चात्ययामिनीशेषे ते सर्वेऽपि पन्थानं प्रपेदिरे, यतो महीयसि विरोधिनि सविद्यः कः प्रमाद्येत् ? । अग्रे युधिष्ठिरस्तदनु बान्धवास्ततः कुन्ती ततो द्रौपदीः; एवं मार्गे पादचारेण व्रजन्ति; अम्बरे हिडम्बा चेति ।

युधिष्ठिरस्य दैवोपालम्भ

एवं मार्गे गच्छतां तेषां द्विप्रहरसमये भीष्मग्रीष्मातपक्लान्ता कुन्ती तृषाक्रान्ता मूर्च्छामुपाययौ । तदैकस्यां दिश्यर्जुनो जगाम, अपरस्यां भीमः । एवं चतसृष्वपि दिक्षु चत्वारो बान्धवा जलमानेतुं जग्मुः । मूर्च्छापतितां मातरं निरीक्ष्य शोकाकुलो युधिष्ठिरो दैवोपालम्भान् ददे—रे दैव ! सदैव त्वयैकपक्षे वयमेव दृष्टा यदस्मानेवं विडम्बयसि । रे विधे ! त्वं राज्यं हृत्वा किं न संतुष्टः ?, अथ पीयूषदशा वर्षन्तीं किं मम मातरं संहरसि ? । अहो ! यथा प्रियापरिभवो यथा राज्यभ्रंशो यथा पथि श्रमो मां न व्यथते तथा मातृपरिभवो व्यथते । एव दुःखाक्रान्ते युधिष्ठिरे ते सर्वेऽपि भ्रातरः सर्वत्र भ्रान्त्वा भ्रान्त्वा जलं विना दुःखाक्रान्ताः समाजग्मुः । सर्वासु दिक्षु सर्वत्र जलं विलोकितं परं क्वापि लब्धं न । एते महाबाहवोऽपि मम बान्धवा दुःखाक्रान्ताः कदुष्णैर्नयनाम्भोभिरुपरिस्थिता जननीं सिञ्चन्ति, निराशमनसां तेषां पाण्डवानां दिक्षु चक्षुषी क्षिपतां हिडम्बा बिसिनीदलैः पानीयमानीयोपानयत् ।

तत् पानीयं कुन्त्याः शरीरे सिक्तम्, तथा पायितम्, तेन तस्याङ्गं नवपल्लवतां गतम्, ईषच्छुष्कं सस्यं स्वात्यम्बुसेकेनेव; पाण्डवैः सर्वैर्ज्ञातम् । एषा हिडम्बा मातुर्जीवितदानादस्मिन् कुटुम्बे जीवातुरतः सर्वेभ्योऽभ्यधिका सर्वैर्ज्ञाता, सर्वेषां पाण्डवानां मनसि हिडम्बा प्रतिबिम्बिता । ततश्चलिताः सर्वेऽपि हिडम्बासहिताः सुखेन मार्गमतिचक्रमुः । एकदा कान्ताररमणीयतां पश्यन्ती वियुक्ता द्रौपदी एकं द्वीपिनं दृष्ट्वा कान्दिशीका पलायिता । पुण्डरीकोऽपि तां पुण्डरीकाक्षामौत्सुक्यादन्वगच्छत् । सा भयत्रस्ता पदमपि गन्तुं न शशाक । स सिंहः समीपमागतः । द्रौपदी तं समीपमागतं ज्ञात्वा तस्यान्तराले इत्युक्त्वा रेखां चकार ।

यथा—"यदि मे प्राणनाथेन सत्यरेखा न लङ्घिता ।
तदा त्वमप्यमूं रेखां मा स्म शार्दूल ! लङ्घय" ॥ १ ॥

स सिंहस्तत् श्रुत्वा तथैवाऽस्थात् । सत्याः शीलानुभावतः सिंहो विरूपं किञ्चित् कर्तुं न शशाक । अहो ! महानुभावानां प्रभावो दुरतिक्रमः । एवं सा द्रौपदी पाण्डवेभ्यो वियुक्ता मार्गे एकं सर्पं समापतन्तं समालोक्य तथैव रेखाऽनुभावतस्तमपि दूरं चकार । इत्याक्षिप्तः सर्वोऽप्युपद्रवस्तस्याः किञ्चित्कर्तुं न समर्थोऽभवत् । अहो ! सतीमहिमा वाचस्पतेरपि वाचोऽगोचरः । एवं तस्या इतस्ततो वने पर्यटन्त्या रविरस्तमियाय । ततः सा चिन्तयति स्म—ममैषा यामिनी प्रियवियुक्तायाः कथं यास्यति ? । इति चिन्ताप्रपन्ना द्रौपदी यावदभूत्, तावदन्तरिक्षे हिडम्बां समागच्छन्तीं ददर्श । साऽपि द्रौपदीं समालोक्य हर्षवशं गता तां बभाषे—हे सुन्दरि ! त्वद्विरहात् पाण्डवाः शोकताण्डवं प्रापुः । त्वं सर्वत्रापि पाण्डवैर्विलोकिता, परं क्वापि न लब्धा, ततो धूलिविलिप्ताङ्गाः पञ्चापि पाण्डवाः सन्ध्यायामेकस्य तरोरधः स्थितास्तव मार्गं विलोकयन्ति । आः ! श्वापदैर्ध्रुवं रात्रौ आपदो नेष्यन्ते, द्रौपदीं विनाऽस्माकं जीवितेनापि पर्याप्तम्; इति निश्चित्य ते पाण्डवाः प्राणत्यागं विधित्सवो जीवितनिःस्पृहा जज्ञिरे । कुन्त्यपि पुत्रानुगा निधनं यास्यति; तद् वृत्तान्तं दृष्ट्वाऽहमत्याकुलमानसा कान्तारमालोड्य तवाभ्यर्णमागता । सा हिडम्बा इति वृत्तान्तमावेद्य तामुत्पाट्य नभसा गच्छन्ती द्रौपदीं पाण्डवानामुपानयत् । अथ रात्रौ ते सर्वेऽपि स्वस्थमानसा एकत्र स्थित्वा प्रातः पुनर्हिडम्बाऽनुभावतः सुखेनैव स्रोतस्विनीररण्यानीर्बहुशिलोच्चयान् हेलयैव ललङ्घिरे । एवं मार्गे गच्छन्तः पाण्डवाः समातृपत्नीका हिडम्बया कृतसाहाय्याः सुखेनैव चेलुः ।

एकस्मिन् दिने हिडम्बां प्रति कुन्त्या प्रोक्तम्—हे भद्रे ! त्वयाऽस्माकं मार्गे संचरतामस्यामवस्थायां

भीमेन सह हिडम्बायाः लग्नम्

बहूपकारः कृतः, अथ वयमस्यामवस्थायां किं ते प्रत्युपकुर्महे ? तथापि हे कल्याणि ! तवेप्सितं किञ्चिद् ब्रूहि। तत् श्रुत्वा हिडम्बाऽपि कृताञ्जलिः कुन्तीं प्रति एवंविधां वाचमुवाच—हे मातः ! क्वाहं हिडम्बभगिनी हिडम्बा, क्व च त्वं पाण्डवप्रसूर्विश्वविख्याता; मया तव किमुपकृतम् ?, त्वं जगन्माता, यस्या एते पुत्रा युधिष्ठिरादयः, अतोऽहमपि किञ्चिन्मार्गयामि। कुन्त्योक्तम्—ब्रूहि यत्तवेष्टम्। तयोक्तम्—यदीष्टं मार्गितं ददासि तर्हि तव पुत्रो वृकोदरस्तवाज्ञया मम भर्ता भवतु; एवं तेन सह संबन्धमाधाय मां किङ्करीं कुरु। एतद्वचनं श्रुत्वा कुन्त्या स्नुषामुखं विलोकितम्। द्रौपद्योक्तम्—हे मातः ! अस्या हिडम्बायाः प्राणैरपि प्रियं कर्तुमहं समीहे, तर्हि भोगानां संविभागे का कथा ?। ततः कुन्त्या स्वयं समुत्थाय सहदेवोक्तसमये उभयोर्भीमहिडम्बयोः पाणिग्रहणं कारितम्।

मुनेर्धर्म-देशना-श्रवणम्

अथ सा हिडम्बा सर्वर्तुरमणीयान्युद्यानानि कृत्वा कृत्रिमं सौधं कृत्वा च भीमेन समं सुखं रेमे। कदाचिद् नद्याः सैकतेषु, कदाचित् शैलानां शिखरेषु, कदाचित् काननेषु, कदाचिद् वनेषु, भीमं नीत्वा सुखं रेमे। एवं भीमेन समं स्वेच्छया क्रीडन्ती हिडम्बा विद्याधरी आपन्नसत्त्वा संजज्ञे। मार्गे संचरन्तो मार्गमुल्लङ्घ्य युधिष्ठिरादयः क्रमेणैकचक्रायां नगर्यां समाजग्मुः। तस्याः कानने कृतस्थितयः पाण्डवाः सुखं तस्थुः। तस्मिन् कानने सुवर्णकमलासीनं धर्मघोषमहामुनिं केवलिनं ददृशुः। ते पाण्डवास्तं महामुनिं नमन्ति स्म। मुनिनाऽपि धर्मलाभाशीर्भिरभिनन्दिताः पुरो निषण्णाः पाण्डवा देशनां शृण्वन्ति स्म। मुनिरपि सुधासवबन्धुरां देशनां ददाति स्म। सभालोकः समस्तोऽपि तेषां युधिष्ठिरादीनां रूपातिरेकं सादरं समं ददर्श। मुनिर्देशनामाह—

एक एव पुमर्थेषु धर्मश्चूडामणीयते। दया च सर्वसत्त्वेषु तस्यापि तिलकायते ॥ १ ॥
शुक्तिरुन्नतिमुक्तानां मुक्तिसंयमदूतिका। दया नियतमेकाऽपि सर्वकल्याणकारणम्" ॥ २ ॥

इति केवलिमुखाद् देशनां समाकर्ण्य जीवरक्षाव्रतं हिडम्बा विदधे। देशनान्ते कुन्ती समुत्थाय केवलिनं पप्रच्छ—हे प्रभो! ममैते सूनवः पराभवसहस्राणां स्थानमापदं कदा निस्तरिष्यन्ति। करामलकवत् त्रिलोकीं पश्यन् मुनिवरः केवलज्ञानेन तत्स्वरूपं ज्ञात्वा मनोहरामिमां वाच व्याजहार—हे महाभागे! एते तव सुताः पुना राज्यश्रियं भुक्त्वा मुक्तेर्भाजनं भवितारः। एते पश्चापि क्रमात् कर्माणि निर्मूल्य संयमाराधनं विधाय विश्वरक्षकाः पश्चमीं गतिं यास्यन्ति। इमां वाचंयमवाचं पीयूषसोदरां श्रुत्वा सर्वेऽपि परमां मुदं प्रापुः। मुनिस्तत्र क्षणं देशनां दत्त्वाऽन्यत्र विजहार। तस्मिन्नेव दिने पाण्डुपुत्रो युधिष्ठिरो हिडम्बामिति समभ्यधात्—हे शुभे! तव साहाय्यादटवीतटिनीप्रभृतिदुर्गपन्थान उल्लङ्घिताः। अथ वयमेतस्यां नगर्यां कतिचिद् दिनानि स्थास्यामः। तद् गच्छ भद्रे! स्वभ्रातुः संपदं सनाथां कुरु। मद्भ्रातुर्गर्भं सुस्थाने न्यासीकृतं वृद्धिं नीत्वा समानयेः। स्मृतमात्रा वत्से! शीघ्रं समागच्छेः। तद्वचनमङ्गीकृत्य सर्वेषां नत्वा हिडम्बा गगनाध्वना हिडम्बवनं समागात्। तस्मिन् वने विद्यासामर्थ्यतो नवीनं जिनचैत्यं विधाय जिनसेवालालसा दिनान्यत्यवाहयत्। पश्चापि पाण्डवा विप्राणां वेषं विधायैकचक्रां नगरीमुपाजग्मुः। तां नगरीं प्रविशतो वर्त्मनि पुर्याः प्रवेशे देवशर्मा द्विजस्तान् दृष्ट्वा द्विजोत्तमान् ज्ञात्वा निजसद्मनि नीत्वा कामममपूजयत्। ततस्तेषां स्वविभवानुरूपं भोजनादिशुश्रूषां विधाय योजितकरकमलो विप्रज्येष्ठं पाण्डवमेवमवोचत्—भो विप्र! किञ्चिदर्थ्यसे तत्त्वं कुरु।

यथा—"इदं मे वेश्म तामेतां पत्नीं सौजन्यशालिनीम्। इमं पुत्रमिमां पुत्रीं जानीयाः सर्वमात्मनः ॥१॥
वसन् गृहे सुखेनात्र पवित्रय पुरीमिमाम्। सरत्ना रत्नगर्भेति जनो जानातु संप्रति ॥२॥

तां गुर्वीं प्रार्थनां श्रुत्वा युधिष्ठिरस्तथेति सर्वकुटुम्बसंमत्याऽङ्गीचक्रे। एवं तस्य वेश्मनि बाह्याकारेण

विप्राचारभूतोऽन्तः परमार्हताः पाण्डवाः जिनधर्मपरायणा दिनान्यत्यवाहयन्। पाञ्चालनन्दिनी श्वश्रूशुश्रूषणा-प्रीतचेताः पाण्डवाश्च मातृभक्तिपरायणा एकचक्रानगर्यां निवसन्तः कुटुम्बस्यानुकूलत्वेन विधेः प्रातिकूल्यं किञ्चिद् न विदाञ्चक्रुः। तस्य देवशर्मणः पत्नी सावित्रीनाम्न्यस्ति स्म, तस्या विनयेन कुन्त्या मनः परवशीकृतम्। कुन्ती तां द्रौपदीतुल्यामजीगणत्; पुनः सावित्रीपुत्रौ गङ्गाधरदामोदराभिधानौ पौत्राविवाऽजीगणत्। सा कुन्ती तया सावित्र्या सह वासेन विस्मृतात्मनिकेतना एकदिनलीलयाऽनेकान् मासान् गमयामास।

एकस्मिन् दिने तस्यां नगर्यां तस्य देवशर्मणो गृहे कुन्ती उच्चैराक्रन्दस्वरं शुश्राव। तदाक्रन्दस्वरं श्रुत्वा कुन्ती कुन्तभिन्नेव हृदये दुःखं बभार। तद्दुःखदुःखिता कुन्ती देवशर्माणं सगद्गदं जगाद—हे वत्स! एतद् दुःखं सुदुःसहं कुतः समुत्पन्नम्?। अथ देवशर्मा कुन्त्यग्रे तद् रोदनकारणं सुदुःश्रवं कथयामास—हे मातः! अस्यां नगर्यां पूर्वमरिष्टमतिकष्टमजायत, यतः—कश्चिद् विद्याधरो भीषणभयङ्कररूपो यावत्प्रमाणा पुरी तावतीं शिलां विकृत्य गगने स्थित एवं बभाषे—भो भो लोकाः! अहमनया शिलया सर्वान् नगरलोकान् चूरयिष्ये, इत्युक्त्वा तेन विद्याधरेण भूरुहानुत्पाटयन् कल्पान्तकालोपमः समीरणो विकृतः। आकाशे बहून् बहून् विकृतान् भूतप्रेतयक्षराक्षसान् दृष्ट्वा भीता प्रजा अबला बालांश्च प्राणान्तिकभयातुरान् दृष्ट्वा प्रत्येकं प्रत्येकमात्मी-यात्मीयकुलदेवतां स्मरन्तस्तिष्ठन्ति स्म। तथा निमित्तानि निमित्तज्ञाः कथयन्ति स्म, शकुनज्ञाः शकुनं कथयन्ति स्म, तन्नगरवासिराजप्रभृतिलोकैर्धूपोद्गाहनपूर्वं बलिविधानपूर्वं च विज्ञप्तः—भोः! कश्चिद्देवो वा दानवो वा भूतो वा प्रेतो वा यक्षो वा राक्षसो वा यः कश्चित् कुपितो भवति स प्रसन्नो भवतु, असौ संहारसंरम्भस्त्वया किमर्थमारब्धः?, यद् रोचते तदस्मद् मार्गय, मार्गयित्वा प्रसन्नो भव। तत् श्रुत्वा मषीकालः कालरात्रिसहोदरः पिङ्गाक्षः पिङ्गचिकुरः क्रूरकर्मा कश्चिद् विद्याधरराक्षस आकाशस्थः सर्वैर्ददृशे। भीताः सर्वे लोकास्तं प्रोचुः—त्वं कोऽसि महाभाग!?, आत्मनो वृत्तान्तं ब्रूहि। ततस्तेनोक्तम्—भो भो लोकाः! मां बकाभिधं विद्याधराधीशं जानीत।

एकस्मिन् दिने मया रत्नशैलाभिधे शैले राक्षसी विद्या साधयाञ्चक्रे। ततः स्वविद्यामाहात्म्यविलोकन-कुतूहली एतां शिलां विकृत्याऽत्रागतोऽस्म्यहम्; अरे रे लोकाः! अभीष्टदैवतं स्वं स्वं स्मरत, अद्याहमनया शिलया सर्वान् नगरलोकान् चूर्णयिष्ये। लोकैरुक्तम्—भो विद्याधराधीश! एतावता कार्येण विद्यापरीक्षा-मात्रेणैतान् नगरलोकान् किं चूर्णयसि?, कीलिकाहेतोः प्रासादोच्छेदं क इच्छति?; यतो भस्महेतोः को हि चन्दनं भस्मसात् कुर्यात्?, तथैवाऽत्र विद्यापरीक्षाकृते पुरीसंहारं कः कुर्यात्?। अतो हिंसां त्यज, त्रिलोकी-त्राणायेमां विद्यां व्यापारय। एवं लोकैरुक्तो मांसलोलुपो बकराक्षसोऽभ्यधात्—भो जनाः! यदि युष्माकं जीवितेन कार्यं वर्तते, तर्ह्येकं मानुषं प्रत्यहं बलिपूजोपहारयुतं मह्यं दत्त, यत् तेन पुंसाऽहं राक्षसीं विद्यामात्मानं च तर्पयिष्यामि, अन्यथा सर्वान् नगरलोकान् हनिष्यामि। तथा पुरसमीपे भैरवाभिधे कान्तारे प्रांशुर्मम प्रासादः कार्यः, यद्येवं न करिष्यथ तर्हि पुनः सर्वान् नगरीलोकान् संहरिष्यामि; इत्यनिष्टामपि तद्गिरं श्रुत्वाऽङ्गीकृतम्। अहो! परवशो जनः किं किं न मन्यते?। ततस्तेन पापेन विद्याधरेण सा शिला विद्यया विहिता संजह्रे। अथ राज्ञा मन्त्रिप्रभृतिलोकैः संभूयेति मन्त्रितम्—सर्वेषां नागरिकलोकानां नामानि लिखित्वा गोलके क्षिप्त्वा कुमारिकाकृष्टनामा पत्रनियोगतः स पुमान् नगराद् बहिः स्थाप्यते, स राक्षसस्तं गृहीत्वा यास्यति, तस्य भक्ष्यं विधास्यति। अन्ये तन्नगरवासिनो लोकाः स्वस्थमनसस्तिष्ठन्तु। एवं विचार्य लोकैर्भैरवकान्तारे बकस्य प्रासादः कारितः। तत्रैका बकमूर्तिः कारिता, तत्र प्रत्यहं पूजा प्रवर्तिता, तथैको मनुष्यः कुमारिकाकृष्ट-नामपत्रिको नगराद् बहिः प्रेष्यते, तं राक्षसो भक्षयित्वा स्वस्थमनास्तिष्ठति।

बकमूर्ति-निर्मापणम्

अस्मिन्नगरे एवं कालो याति, ममाद्य पत्री निर्गता, मम मृत्युः समागतः, अद्याहं द्रोणप्रमाणं शाल्योदनबलिं गृहीत्वा तत्र वने बकप्रासादे यास्यामि, स बको मां बलिसंयुक्तं भक्षयित्वा तृप्तो भविष्यति, ततः स्वस्थानं यास्यति, पश्चात् सकलोऽपि लोकः कार्यार्थी नगराद् बहिर्निर्गमिष्यति। हे मातः! कुन्ति! तन्निराशं

निरालम्बमेतद् मम कुटुम्बं रोदिति, यथाऽऽश्रमद्रुमनाशे पक्षिणोऽप्याक्रन्दं कुर्वन्ति। हे मातः! किञ्चिदन्यद्, मां यदेषा ब्राह्मणी वक्ति, तदपि शृणु, यथा—हे नाथ! त्वां विना मम जीवितेन किम्? त्वां विनाऽपत्यमपि पराभवं लप्स्यते। अतोऽहमेव बकराक्षसान्तिके बलिं गृहीत्वा यास्यामि, त्वमत्रैव गृहे तिष्ठ, स्वस्यापत्यं पालय। एषाऽपि मम मानसे महती चिन्ता वर्तते। स राक्षसोऽपि स्त्रीभक्ष्यं नाङ्गीकरोति। अथ पञ्चवर्षीयः करधृतकण्ठो देवशर्मपुत्रोऽवादीत्—हे मातापितरौ! युवां गृहे तिष्ठतम्, अहमेकोऽप्यनया कम्बया सद्यो गत्वा राक्षसं हनिष्यामि, इति विप्रादीनां सरस्वतीं श्रुत्वा बाष्पाविलविलोचना कुन्ती सदयहृदया द्विजन्मानमवादीत्—भो विप्र! एते शौण्डीर्योपचिताः पञ्चापि मम सूनवो महावीरा वर्तन्ते, एषामन्यतमस्तव स्थाने गत्वा तं राक्षसं पापोपेतं हत्वा क्षेमेणैवात्र समेष्यति, त्वं स्वस्थो भव, चिन्तां मा विधेहि, तवैषा चिन्ता ममैव भवतु; इति कुन्तीवचनं श्रुत्वा हसन् विप्रोऽवादीत्—न जानासि जगज्जैत्रं त्वमम्ब! बकविक्रमम्, तस्य बले सर्वेषां शौण्डीराणां बलं मज्जति, मार्तण्डमण्डले दीपतारकखद्योतादीनां तेज इव। हे मातः! कुन्ति! अहमेव बककीनाशदासतां यास्यामि, तवैते पञ्च पुत्राः विश्ववात्सल्यकारकाश्चिरं जीयासुः।

भीमस्य प्रार्थना

एतद् वचनं विप्रोक्तं श्रुत्वा मातुः समीपवर्ती भीमोऽभ्यधात्—हे मातः! तवाज्ञयाऽहमेनं दुराचारं राक्षसं क्षणेन यमातिथिं करिष्ये; भो मातः! त्वं चिन्तां मा विधेहि; भो विप्र! त्वं स्वस्थमनाः स्वगृहरक्षां कुरु, तव स्थाने बलिं गृहीत्वा बकशिक्षाकृतेऽहमेव यास्यामि। भीमोक्तं श्रुत्वा देवशर्मा प्राह—भो महाभाग! तव मृत्युमुररीकृत्याऽहमात्मानं त्रातुं नोत्सहे, यतः—इन्द्रनीलोपमर्देन कः काचं परिरक्षति?।

यथा—"मादृशस्य द्विजस्यार्थे नररत्नं भवादृशम्। राक्षसायोपनेतव्यमिति कोऽन्योऽपि मन्यते? ॥१॥
त्वादृक्षो विरलः कोऽपि परोलक्षास्तु मादृशाः। स्वल्पः कल्पतरुर्लोके भूयांसोऽन्ये हि भूरुहः" ॥२॥

पुनर्विप्रेणोचे—भो महाभाग ! मयि मृते मादृशा बहवोऽन्ये भविष्यन्ति, त्वन्मूर्तिविपत्तौ एषा सर्वा मेदिनी सीदति, एतौ तव भुजौ दृष्ट्वा बकं विना सर्वेऽपि शत्रवस्त्रस्यन्ति, बको महाराक्षसो भीमं पाण्डुपुत्रं विनाऽन्यैर्हन्तुं न शक्यते, यतोऽस्यां पुर्यां पुरा केवली समायातः, सर्वे वृन्दारकसमूहा मानवसमूहाश्च स्वर्णकमलासीनं केवलिनं नत्वा सभां समाविशन् । केवल्यपि धर्मलाभाशिषं दत्त्वा तेषां पुरतो धर्मदेशनां विदधे । तां धर्मदेशनां श्रुत्वा लोकेन केवली पृष्टः—भोः स्वामिन् ! अस्मिन् नगरे राक्षसोपद्रवः कदा विरंस्यति ? । मुनिनाथोऽप्याचख्यौ—भो भद्राः ! भो लोकाः ! द्यूते जिताः पाण्डुसूनवोऽत्र समेष्यन्ति, तदानीमसौ नगरी निरुपद्रवा भविता, यतो महात्मनां महिमा वाचामगोचरो वर्तते; इति कथयित्वा स मुनिरन्यत्र विजहार ।

तद्दिनादारभ्य सकलोऽपि पुरीजनः परस्परमेवं कथयति स्म—अहो ! ते पाण्डवाः कीदृशा भविष्यन्ति ?, ये एनं राक्षसं बकं हनिष्यन्ति । एवं चिन्तयन् पुरीजन. कुलदेवीनामुपयाचितशतानि मेने, प्रत्यहं हस्तिनापुर-मार्गेण सकलः कार्यार्थी स नगरीलोको विविधोपायनपाणिः संमुखं गन्तुमुत्कण्ठुलो वर्तते । एकदा तेन वर्त्मना कश्चित् पथिकः समागतः, स पथिकस्तैर्लोकैरप्रच्छिभोः पान्थ ! अस्मिन् मार्गे पाण्डवेयानां कश्चित् समागमनोदन्तस्त्वया श्रुतः ? । पथिको वाचमुवाच—भो जनाः ! अयोध्यातः क्रमेणाहं वारणावते नगरे समागतः, तन्निवासिजनेभ्यः सबाष्पेभ्यः पदे पदे मया कर्णे विषोपममिदमश्रावि—यद् दुर्योधनस्य वचसा वारणावते नगरे लाक्षागृहे पुरोचनपुरोहितेन पञ्चापि पाण्डवाः समातृपत्नीका भस्मीभावं प्रापिताः । स पान्थ एनां वार्तामावेद्याऽग्रे चलितः । तत् पान्थवचनं श्रुत्वैकचक्रायां नगर्यां नागरिकलोकैः पाण्डव-दुःखाक्रान्तैराक्रन्दश्चक्रे ।

यथा—"न मातुर्न पितुर्नैव, स्वामिनो मृत्युवार्तया ।
अभवत् तादृशः शोकः, पौराणां यादृशस्तदा" ॥ १ ॥

तद्दिनादारभ्य निरानन्दैर्नागरिकैः राक्षसस्य मनीषितं विशेषेणाऽऽपूर्यते स्म। भीतिभीतो लोकः प्रत्यहं यद्येकं मानुषं न दद्यात्, तदा स राक्षसः सर्वान् नगरलोकान् तत्क्षणादेव हन्यात्। एतच्चरित्रं बकराक्षससत्कं देवशर्मविप्रेणोक्तं श्रुत्वा भीमस्तूष्णीको बभूव। कुन्त्यग्रे पुनर्विप्रेणोक्तम्—मातः! तवाज्ञयाऽहं बकान्तिकं यामि, इत्युक्त्वा गृहदेवतां प्रपूज्य कुलदेवीं नमस्कृत्य कुन्तीं प्रणम्य पाण्डवानामाशिषं दत्त्वा स्वजनानां पादौ प्रणम्य धैर्यधौरेयो बलिशकटं गृहाङ्गणे मुक्त्वा देवगुरून् नन्तुं नगराभ्यन्तरेऽचलत्। अथ विप्रं मरणार्थं बकान्तिकं यान्तं दृष्ट्वा कुन्ती भीमं जगाद—भो वत्स! त्वयि तनूरुहेऽहमेकस्यापि द्विजस्याऽभयप्रदा नाभवम्?, ते धन्याः पुरुषा ये सति सामर्थ्ये पृथिव्यां सर्वप्राणिरक्षार्थमभयडिण्डिमं ददति।

भोः पुत्र! भीम! देवशर्मविप्राद् बलिं समादाय तद्रक्षसो निवासं गत्वा केवलिनोक्तं सत्यं कुरु, तस्य रक्षसः शिक्षाप्रदानेन सकलं नागरिकलोकं स्वस्थचित्तं कुरु। एवं मात्रोक्तं सर्वमङ्गीकृत्य देवशर्मविप्रसज्जितं बलिं समादाय मातुः पादौ प्रणम्य वृकोदरो बकोद्यानं प्राप। स्मेरमुखाम्बुजो भीमो वनस्य कमनीयतां पश्यन् काननद्वारे यावता याति, तावत्तत्र कञ्चित् पुरुषं दृष्ट्वा भीमोऽभाषिष्ट—हे भद्र! अयं प्रासादस्तवाग्रे कस्य वर्तते?, त्वं कोऽसि?, तथा राक्षसभक्ष्यो नरः कुत्र तिष्ठति?। तेनोक्तम्—अहं प्रतिमाऽर्चकः, अहं पौरैर्निर्दिष्टोऽस्य प्रासादस्य रक्षां करोमि, स राक्षसः परिचारकत्वाद् मां किमपि न कथयति, यः कश्चिद्राक्षसवध्यो भवति सोऽस्यां शिलायां शेते; अस्मिन् स्थाने शेषराक्षसेभ्यो बलिः स्थाप्यते च; इत्युक्त्वा तेन वनपालकेन महत्येका शिला दर्शिता। भीमो बलिं पुरो मुक्त्वा तस्यां शिलायामुपविष्टः। वनपालकेनोक्तम्—अस्यां शिलायां राक्षसभक्ष्यत्वेन बहवः पुरुषाः समागताः परं त्वादृशो महान् कश्चिन्नागतः, त्वं कोऽसि?।

तेनोक्तम्—अहं विप्रोऽस्मि, परं निश्चिन्तत्वात् पूर्णजठरत्वान्महानस्मि। एवं यावता वनपालकेन समं भीमो वार्तां करोति तावद्राक्षसकृतः कोलाहलो बभूव। उद्यानपालकेनोक्तम्—बकराक्षसः समागात्, त्वां

हनिष्यति, त्वं सावधानो भव, अहं दूरे गत्वा कुत्रापि वननिकुञ्जे स्थास्यामि; इत्युक्त्वा वनपालको नंष्ट्वा गतः। भीमस्तस्यां शिलायां पल्यङ्कलीलया गदां समीपे धृत्वा पटीं प्रावृत्य सुख सुप्तः। अथोत्तानशायिनं भीमं महाकायं दृष्ट्वा बकोऽचिन्तयत्—अहो! कोऽप्यद्य पीवरो महोदरो विशालेऽपि शिलातले न माति, एष पीनाङ्गः सर्वेषां राक्षसानां कुक्षिम्भरिर्भविष्यति। अतः संतुष्टो बको यत् करोति स्म तदाह—

"इति प्रमुदितस्वान्तो दन्तान् सोऽत्यन्तदारुणः। देहे व्यापारयामास मांसले पाण्डुजन्मनः॥ १॥
भीमस्य वज्रकायस्य काये व्यापारिता अपि। अवापुः कुण्ठतां तस्य दन्ताः कुन्ता इवाश्मनि"॥ २॥

राक्षसस्य दुष्टचेष्टा

बकराक्षसः क्षुधापीडितः स्थूले भीमवक्षःस्थले नखकुद्दालैः खननोपक्रमं चक्रे, परं वज्रकायत्वात् तस्य शरीरे किमप्युपक्रमो न लगति स्म, अभव्ये धर्मोपदेश इव। अतिकर्कशा अपि बकनखाः वज्रकाये भीमे मृणालकन्दलीभावं भजन्ते स्म। ततो बकराक्षसो विस्मितो विलक्षो लज्जितो दूरं गत्वा सज्जितो राक्षसनिवहैः परिवृतः पुनस्तत्र भीमसमीपे समागात्। पुनस्तैः सर्वैरपि दन्तैस्त्रोटिता अपि तथैव वज्रकायत्वात् तच्छरीरावयवा न तुत्रुटुः।

ततः सर्वेषां रक्षसां पुरतो बकोऽवादीत्—भो भो राक्षसाः! अहमन्वहमेकैकं नरं खादन्नस्मि, परमीदृक् पुरुषः परुषच्छविः स्थिरः स्थूलवपुः कदापि कोऽपि न दृष्टः, यादृगयं महाकायो दृश्यते। तदेनं महाकायं कठिनत्वचं निजभूधरं नीत्वा तीक्ष्णेन तरवारिणा खण्ड-खण्डं कृत्वा भक्षयिष्ये; इत्युक्त्वा सर्वैः राक्षसैः संभूय भीम उत्पाटितः।

यथा—"भीमभारभराक्रान्ता मुखेनोद्वान्तशोणिताः। नक्तञ्चराः पिशाचास्ते निपेतुर्धरणीतले॥ १॥
अथ संभूय भूयोभिस्तैः समं बकराक्षसः। भीमं कथञ्चिदुत्पाट्य निनाय निजभूधरम्"॥ २॥

देवशर्मा विप्रो नगरस्थान् सर्वान् देवान्नमस्कृत्य सकुटुम्बो यावत् स्वगृहमागात्, तावत्तं बलिशकटमदृष्ट्वा जङ्गलो विप्रः शकटानुगः काननं ययौ। तत्र कानने तस्यां शिलायां गदां, मनुष्यराक्षसानां पादसंमर्दं शिलान्तिके च संवीक्ष्य विप्रो देवपूजकं पप्रच्छ—भो बकपूजक ! अत्राद्य कश्चित्समागतोऽस्ति ?। देवपूजकेनोक्तम्—अद्य कः पुमान् स्थूलवपुः बकमूर्तेः पुरतो बलिं मुक्त्वाऽस्यां शिलायां तूलिकालीलया उत्तानशायी यावता सुखंशेते, तावता बकराक्षसः समागत्य तं महाकायं पुरुषं समादाय निजभूधरं निनाय। एतावत्यन्तरे स महाकायस्तैः राक्षसैस्तर-वारिणा तीक्ष्णशस्त्रेण खण्डं खण्डं कृत्वा भक्षितो भविष्यति, त्वं वध्यवेषभृत् किमर्थमागतोऽसि ?, त्वं स्वस्थानं याहि, तत्रैव स्थाने तैः सर्वैः राक्षसैः स भक्षितः। अहमेवं मन्ये—कश्चित् पुण्यवान् त्वदर्थं स्वान् प्राणान् तत्याज। तत् श्रुत्वा देवशर्मा विप्रोऽतीव चक्रन्द—हे महात्मन् ! मदर्थं त्वया न साधु विदधे, यद् दृषत्कृते चिन्तामणिर्गमितः मदर्थं यत् त्वयाऽऽत्मा निर्गमितः। स विप्र एवं विलपन्निवर्त्य कुन्त्यग्रे गतो भीमसत्कां सकलां कथां कथयामास।

विप्रस्य
चिन्ता

तां भीमवार्तां श्रुत्वा पुत्रपरिवृता वधूसहिता देवशर्मयुता च कुन्ती तं बकवनं रुदती समागात्, परं तत्र वने भीमं विना ते सर्वेऽपि क्वापि रतिं न लेभिरे। तदा देवशर्मा विप्रस्तेषां प्रोवाच—यदहं कुलदेवीभ्यः प्रणन्तुं गतोऽस्मि तदेव मां दुनोति, यतोऽत्रान्तरेऽसौ महात्मा मदर्थं गत्वा रक्षोमुखेऽपतत्। एवं विप्रं देवशर्माणं वारं वारं दुःखाऽऽवेशपरिगतं ज्ञात्वा युधिष्ठिरो बभाषे—हे महात्मन् ! त्वं मा विषीद, मद्बन्धुर्भीमः कदाचिदपि राक्षसैर्न परिभूयते; यथा तिमिरनिकरेण किं सहस्रांशुः परिभूयते ?।

मद्बन्धोर्भुजपाशेन पीडितः कृतान्तोऽपि निधनं याति, तदग्रे बको बक इव ध्रुवम्। एवं धर्मपुत्रे वदत्येव गण्डशैलोपममुच्चण्डं मुक्तफूत्कारमम्बराद् भीमं भीममुण्डं पुरः पपात। तत् पुरः पतितं चिह्नैर्निश्चितं भीममुण्डं दृष्ट्वा मातृसहिताः सर्वेऽपि भ्रातरो रुरुदुः—हा भ्रातः ! ते कथमीदृशी गतिः ?, हा हिडम्बविडम्बक ! हा

मातृभ्रातृवत्सल ! तव शौर्यं क्व गतम् ?, त्वं केन दुष्टमानवेन दानवेन वा देवेन वा राक्षसेन वा ईदृशीं दशां प्रापितोऽसि ?: इत्याद्युक्त्वा मातृप्रभृतयो भृशं रुरुदुः । राजा प्रोचे—

यथा-"सुखं निद्रायमाणानामतिश्रान्तिजुषां पथि । को नाम यामिकोऽस्माकं भविष्यति विना त्वया ?॥१॥
मामिदानीं त्वया[1]सौम्य ! त्यक्तं विधुमिवाधुना । बाढं बाधिष्यते क्रूरः सुयोधनविधुन्तुदः" ॥२॥

अर्जुनादि-नामा-गमनम्

इत्थं विलापविकलो राजा कुन्त्यपि यावदभूत्, तावद् धर्मात्मजो भीमभ्रातृविधुरोऽतुच्छां मूर्च्छामगमत् । पुनः शीतोपचारैर्लब्धचैतन्यो धर्मनन्दनः सर्वेषां पुरतो बभाषे—भो बान्धव ! त्वं मुनिभिर्वज्रकायः कथितः, तत्ते शिरो बकेन मृणालकन्दलच्छेदमिव कथं चिच्छेदे ?। एवमर्जुनादयोऽपि भीमबान्धवगुणान् वारं-वारं स्मरन्तः सर्वेऽपि भृश रुरुदुः। इत्थं स्वकुटुम्बं विसंस्थुलं विज्ञाय तं भीममस्तकं समादाय द्रुपदात्मजा समीप-वृक्षान्तरे गत्वोत्सङ्गे निधाय चैवं व्यलपत्—हा नाथ ! मथिताराते ! मां विहाय त्वं क्व गतोऽसि—हे प्राणेश ! ये केशा मया करकङ्कतैः पूर्वं विकीर्णास्ते धूलिधूसरा भुवस्तले विलुठन्ति; यो विद्रुमाभस्तवाधरः सुधोपमः पुरोऽभूत् सोऽधुना प्रम्लानेन्दीवरश्रियं धत्ते, यस्ते शयालोर्मौलिर्ममोत्सङ्गमध्ये शेते स एव मौलिः सांप्रतं महीतलं गाहते। एवं बहुधा विलप्य पाञ्चाली तदानी चितामारचयत्; तथा धर्मपुत्राद्यैरपि राज्यभ्रंशं प्रवासं च भीमेन विना दुःसहं विभाव्य मरणायोपचक्रमे ।

देवशर्मा विप्रोऽपि एतदऽसमञ्जसहेतुरहमेवाऽभवमिति विचिन्त्य मृत्यवे सज्जोऽभवत् । एवं ते सर्वेऽपि

१. बुधं विना विधुं विधुन्तुदो बाधते ।

शोकाकुला यावता भवेयुस्तावत्तैर्ब्रह्माण्डोदरंभरिर्गुहागह्वरवर्धिष्णू राक्षसकृतः किलकिलारवोऽश्रूयत। तं किलकिलारवं श्रुत्वा धर्मनन्दनश्चिन्तयामास—स नूनं निशाचरो भीमं हत्वाऽस्मान् हन्तुमुदितमनाः समभ्येति; अयं राक्षसोऽस्मद्वैरी भ्रातृहा, अतो वयमेनं व्यापाद्य स्वसमीहितं वैरनिर्यातनं करिष्यामः। एवं विचिन्त्य धर्मनन्दनः पार्थं बभाषे—भोः पार्थ! भीमहा राक्षसः समभ्येति, अस्य जीवितमादाय भीममुज्जीवय द्रुतम्; एतद् भ्रातृवचनं श्रुत्वाऽर्जुनः कोपकम्प्रशरीरोऽधिज्यं धनुरादाय रक्षोदिशं प्रति तस्थौ।

ततः कृष्णा भीता कृष्णमुखी चिन्तयति—नूनं स एष राक्षसो भीमं हत्वैतान् मम पतीन् हन्तुं समागच्छति। यत्र राक्षसपौरुषे भीमस्यौजो निमग्नम्, तत्रार्जुनस्य किं पौरुषम्?; अस्मिन् राक्षसे इन्द्रपुत्रः किं शौण्डीर्यं करिष्यति?। तदहो! कर्मवैचित्र्यम्, यद् दुर्मेधा वेधा भर्तुर्वधं मम दर्शयिष्यति, मम लोचने एनं भर्तृवधकं वीक्षितुं न क्षमेते; इत्यालोच्य द्रुपदतनया चिताऽभ्यर्णे निजे नयने निमील्य दुःखिता तस्थौ। देवशर्मा विप्रोऽपि तां तथावस्थां समभिलोक्य यावद् मरणायोद्यतो जातः, तावत् तत्क्षणादेव किलकिलारवान् कुर्वन् राक्षसैः परिवृतस्तेषां सर्वेषां लोकानां पश्यतां भीमो लोचनगोचरो बभूव। भीमं समागतं ज्ञात्वा धर्मपुत्रः सर्वेषां पुरतोऽभाषिष्ट—भो भो लोकाः! मद्बन्धुर्भीमो निस्सीमपराक्रमः किं राक्षसैः परिभूयते?। मुनिनोक्तं किमसत्यं भवति?, किं वा दिव्या वागसत्या भवति?।

यथा—"भवितारस्तरां पञ्चाप्यजय्या जगतोऽप्यमी।
इयं नो भारती दिव्या, जन्मोत्था हि किमन्यथा? ॥ १ ॥
गतिं भवन्तो गन्तारः, क्रमात्पञ्चापि पञ्चमीम्।
इत्याख्यायि मुनीन्द्रैर्यत्, तदसत्यं भवेत्किमु?" ॥ २ ॥

एवं युधिष्ठिरे वदत्येव भीमः सादरं कुन्तीं तथा ज्येष्ठबन्धुं नमस्यामास। कनीयसो बन्धून् प्रणमतः प्रेम्णा समालिङ्ग्य क्षोभकारणं पप्रच्छ—भो बान्धवाः! यूयं क्षोभिता इव कथ तिष्ठथ?। तत् श्रुत्वा पार्थो भीमं यथा वृत्तं तथा सर्वं समाचख्यौ। ततो भीमः सर्वान् स्वजनान् वचसा संतोष्य कृष्णाऽन्तिके समागात्। चितानिकटवर्तिनीं कृष्णां दृष्ट्वा भीमः क्रीडया पाणिभ्यां तस्या दृशौ पिदधे। ततः कृष्णा तं राक्षसं ज्ञात्वा भयेन वेपमानाङ्गी एवंविधां गिरं बभाषे—रे रात्रिञ्चर! रे दुराचार! रे पापिष्ठ! दुष्ट! भीमं हत्वा पापपङ्कमलाविलो मां मा स्पृश; मम नेत्रे मा निमीलय; मत्तो दूरेऽपसर; यदि नोऽपसरसि तर्हि त्वां शापेन भस्मसात् करिष्ये। रे पापिष्ठ! आर्यपुत्रस्य भीमस्य वधं विधायाऽत्र समागतोऽसि, अत एवाऽदृष्टमुखोऽसीति तर्ज्यसे। यौ तव हस्तौ मम प्रियवधे व्यापृतौ तावेव तव हस्तावुग्रदण्डोचितौ महादुष्टौ दूरे कुरु, यतो जीवितेशे हते पुराऽहं त्वया हतैव, पुनरपि तव साम्प्रतं मृतमारणं नोचितम्। एवं खिद्यमानां स्वां प्रियां दृष्ट्वा भीमो बभाषे—

यथा—"प्रिये! द्रौपदि! मा भैषीर्विलोकय निराकुला।
पुरस्ते नह्ययं रक्षो, रक्षोघाती तु ते प्रियः" ॥ १ ॥

बक-राक्षसवध

ततः सा द्रुपदतनया पङ्कजोत्फुल्लनयनाभ्यां सोत्साहं भीमं समभ्यलोकयत्। तं भीमं दृष्ट्वा हर्षितमानसा जाता। तदा सा भीमेन तथाऽऽश्लेषि यथा तयोर्द्वयोर्वपुरेकीभावमभजत्। भीमस्य बान्धवजननीसङ्गमात् प्रेमातिरेकप्रियासंश्लेषवशाच्च सर्वोऽपि संग्रामश्रमोऽनेशत्। तदानीं महावाद्यनिर्घोषैः समागतं भीमं ज्ञात्वैकचक्रा-नगरीनायकः सपरिकरो नागरिकैः परिवृत उपायनमुपादाय युधिष्ठिरान्तिके समाजगाम। ततो युधिष्ठिर-लघुबान्धवो भीमः समागत्य समीपे निषसाद। ततो राजा नगरलोकश्च सर्वोऽप्युपायनं पुरो मुक्त्वा बकराक्षसं हतं

ज्ञात्वा मुदितः सबान्धवं युधिष्ठिरं प्रणमति स्म। ततश्च लोकः सकलोऽपि भीमपुरो गीतगानवाद्यपूर्वकमनृत्यत्; तथा नागरिकपुरन्ध्रीभिर्धवलमङ्गलानि वितेनिरे। केचन लोका मङ्गलाशीर्भिरभिनन्दयन्ति स्म।

यथा—"अस्मत्कुटुम्बजीवातुर्जीव त्वं जीवितेन नः।
इत्याशास्य पुरीवृद्धा भ्रमयामासुरञ्चलम्" ॥ १ ॥

तत्र हर्षोत्फुल्लनयनाः काश्चन स्त्रीयो नृत्यं चक्रुः; काश्चन नागरिक्यः स्त्रियो हल्लीसकं कुर्वाणाः प्रबन्धे कुन्तीगुणान् जगुः। तस्मिन् समये तन्नगरीलोको गतशोकः पुनर्जन्म प्राप्तमिति मन्यमानो वारं-वारं प्रशंसन् बद्धाञ्जलिर्भीमं तुष्टाव। अथ तन्नगराधिपो बद्धाञ्जलिर्भीममुवाच—भो भीम! एकचक्रानगरीप्रजा-प्राणदायिन्! तुभ्यं कल्याणमस्तु। अद्यप्रभृत्येताः प्रजाः पुत्रेभ्यः स्पृहयालवो भवन्तु; कुलदेव्यश्च पुत्रार्थमुपयाचितं लभन्ताम्; तथा जनन्योऽनुपमस्नेहाः स्वतनूरुहान् पालयन्तु।

अथ युधिष्ठिरः सर्वेषां राजप्रभृतिनागरिकलोकानां पश्यतां भीमं प्रशशंस। यथा—स एष भीमो येन बकराक्षसो बकवद् निधनं नीतः। ततः सकलोऽपि पुरीजनो भीमं पप्रच्छ—भो महाभाग! भोः स्वच्छमते! त्वया बकः कथं निधनं नीतः?। तल्लोकोक्तिं श्रुत्वा भीमश्चिन्तयति स्म—आत्मकथामात्ममुखेन कथमुदाहरिष्यामि?, इति तूष्णीके भीमे कौचिद् द्वौ विद्याधरावम्बरादुत्तीर्य पाण्डुजन्मनां पुरतः प्रादुरभूताम्। तयोर्मध्ये एको लघीयान् परो वर्षीयान्।

वर्षीयानुवाच—सर्वे सभ्याः शृण्वन्तु मद्वचः, अहं बकराक्षसस्य दुर्बुद्धिनामा सचिवोऽस्मि। अयं महाबलो नाम बकात्मजः। एष केनचित् कार्येण निजान्वयपुरीं लङ्कां गतोऽभवत्, कार्यं कृत्वा यावता प्रत्यावृत्तो

गृहे समागतः, तावद् मृतं पितरं दृष्ट्वा स्वजनानपृच्छत्—मम पिता केनेत्थं हतः। तदा मयाऽऽख्यायि—अद्य कश्चिद् महाकायो बलिष्ठः पुमान् राक्षसैः समुत्पाट्याऽत्राऽऽनीतः। तं महाकाय पुरुषं दृष्ट्वा सर्वैः राक्षसैर्मुदितम्, अद्य सर्वेषां राक्षसानां तृप्तिर्भविष्यतीति। विस्मयं प्राप्तेषु सर्वेषु राक्षसेषु तदानीं बकः सूर्यहासखड्गं कृष्ट्वा यावता प्रहारं करोति, तावता स पुमान् महाकायो भूतलात् समुत्थायास्मत्स्वामिनं बकमेवमुवाच—

यतः-"रे रे निस्त्रप ! निस्त्रिंश ! दुराचार ! निशाचर !। निर्मन्तुजन्तुविध्वंसपापप्राग्भारपङ्किल! ॥१॥
भवस्येष कथाशेषस्त्वमिदानीं न संशयः। परं प्रहर रे ! पूर्वं हन्तुं प्राग् नास्मि शिक्षितः" ॥२॥

एवमुत्तेजितो नक्तञ्चरो बकस्तव पिता सूर्यहासतरवारिणा त हतवान्। तस्य वज्रकाये तज्जैत्रमपि मण्डलाग्रं प्रयुक्तं शतखण्डतां जगाम। ततः स मुष्टिना तव पितरं हन्तुं दधावे, केशवश्चाणूरमिव। तेन महापुरुषेण वज्रकठिनमुष्टिना हतस्तव पिता वज्रिणा भूधर इव मूर्च्छितो भूमौ पपात। पतितं बक दृष्ट्वा सर्वेऽपि राक्षसा भयभ्रान्ता दिशो दिशं प्रनष्टाः, यतो हतं सैन्यमनायकम्। ततो मया चिन्तितम्—अनेन मत्स्वामी मुष्टिना हतो मूर्छितः, ततोऽहमस्य कुटुम्ब कपटेन संहरामीति विमृश्य सुमायं नाम राक्षसं प्राहिणवम्। स राक्षसो मम शिक्षां समादाय स्वसिद्धये गतः। ततो मया शीतोपचारेण स्वस्वामी सज्जितः सन् संग्रामाय पुनरपि सज्जो बभूव। ततः क्रोधाग्निजाज्वल्यमानस्तं पुरुषं हन्तुं दधावे। ततो द्वावपि परस्परं मल्लयुद्धेन युयुधाते। एवं भृशं युद्धं विधाय तेन महापुरुषेण बकस्तव जनकः कमलनालवत् शिरोधरां मोटयित्वाऽवनौ पातयित्वा मूर्धान मुष्टिना भित्त्वा पञ्चत्वं प्रापितः।

अथ तेन सुमायेन राक्षसेन कृत्रिमभीममस्तकं विकृत्य ते मोहिता मरणोद्यता जाता, तावद्भीमो

विजयवान् स्वं कुटुम्बं समागतः। ततः सुमायेन विद्यया बकं हतं ज्ञात्वा पश्चाद्वलित्वाऽत्र समागतम्। एतज्जनकवृत्तान्तं श्रुत्वा महाबलो बकसुतोऽपि जनकवैरनिर्यातनार्थं संग्रामसज्जो बभूव। ततो मया निषिद्धः— भो महाबल! क्रोधं मुञ्च, पितृवैरं परित्यज, त्वमेनं महापुरुषं भज। यदि त्वं न मन्यसे, तदा कुलविद्यादेवीं परिपृच्छ्य, सा यथा वक्ति तथा कुरु। पश्चात्तेन सम्यगाराधितया देव्याऽपि मद्वचनानुयायिशिक्षा दत्ता। तदनु सोऽसौ शान्तकोपो बकपुत्रो मया सार्धमिह समागतः।

मन्त्रिणोक्तम्—सोऽयं बकपुत्रो महाबलो नाम, अहं दुर्बुद्धिनामा बकमन्त्री। उभावपि तव सेवार्थं समागतौ, आवां तव सेवावर्तिनौ, अतस्त्वमनुगृहाण, अनुग्राह्या वयम्, यतो महापुरुषा नतवत्सला भवन्ति। एवं भीमवृत्तान्तो बकवधादिकः सर्वोऽपि सर्वैर्लोकैः श्रुतः प्रसङ्गेन बकमन्त्रिणा प्रोक्तः। ततः सकलोऽपि लोको विस्मयापन्नो वारं-वारं भीमं प्रशंसति स्म। अथ भीमः सर्वेषां पश्यतां बकपुत्रं महाबलं व्याजहार—भो महाबल! नृणां वधाद् निवर्तस्व, यदि जीवितेच्छा वर्तते। यदि जीवहिंसां करिष्यसि, ततो भवानपि बकवद् मृत्युमवाप्स्यसि। तद्भीमवचनं श्रुत्वा भीतो महाबलः क्रमागतं वधधर्मं त्यक्तवान्।

ततो युधिष्ठिरेण महाबलः पैतृके राज्येऽभिषिक्तः। तद्दिनादारभ्य ते पाण्डवास्तस्मिन्नगरे प्रसिद्धिमापन्नाः सकललोकेषु विख्याता जाताः, सर्वैर्लोकैः स्तुता वन्दिताः पूजिताश्च। एकचक्रानगरीभूपेन नगरीप्रवेशार्थं पञ्चापि पाण्डवा निमन्त्रिताः। ततो महाबलोपनीते दिव्यविमाने उपविष्टाः पञ्चापि पाण्डवाः समातृपत्नीकाः पुरे प्रवेशं चक्रुः। सतोरणां स्वस्तिकचक्राङ्कितामेकचक्रां नगरीं प्रविशतां तेषां बन्दिभिरेवं भीमः स्तूयते।

यथा—"असौ नगरजीवातुरसौ बकनिषूदनः। जगुरेवं पुरस्तस्य बन्दिनो बिरुदावलीम् ॥ १ ॥
एकचक्रानरेन्द्रेण विनयाऽऽनतमूर्तिना। निजं सौधमनीयन्त तदानीं पाण्डुसूनवः" ॥ २ ॥

तस्मिन्नगरे पञ्चवासरानन्तरं युधिष्ठिरः पितृराज्याय सत्कृत्य महाबलं बकपुत्रं विससर्ज ।

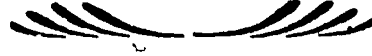
"परिचरितपदाब्जः स्वैरसातत्यसेवाऽवसररसरभसानां नागराणां गणेन ।
विपुलधृतिरनेकांस्तत्र मासान् किलैकं दिवसमिव सबन्धुर्धर्मसूनुर्निनाय" ।। १ ।।

इति श्रीमत्तपागच्छाधिराजभट्टारक-श्री५ श्रीहीरविजयसूरिपट्टालङ्कारसंप्रतिविजयमानभट्टारकश्रीविजयसेनसूरिराज्ये पण्डित-श्रीदेवविजयगणिविरचिते गद्यबन्धबन्धुरे श्रीपाण्डवचरित्रे जतुगृहहिडम्बकवधवर्णनो नाम सप्तमः सर्गः ।। ७ ।।



अर्हम्

अथ अष्टमः सर्गः



अथैकस्मिन् दिने धर्मात्मजो बन्धुभिः सार्धमेकान्ते मन्त्रयामास—भो भो बान्धवाः ! भीमकृतबकवधात् संप्राप्तकीर्तिकोलाहलोदयाद् वयमेतस्यां भूमौ विदिता अभूम । इयं ख्यातिः संप्रत्यस्मान् सर्वथाऽहितैव स्यात्, संनिपातार्दितानां घृतमिव । कदाचिद् दुर्योधनोऽस्मान् सर्वान् जीवतो जानीयात्, तदा ध्रुवं राज्यश्रीदुर्मदः किञ्चिदोजायेत, अतो वयं रात्रौ केनाप्यलक्षिता देशान्तरे यामः । ततस्ते सर्वेऽपि कुन्तीकृष्णाभ्यां सहिता रजन्यामेव मार्गे चेलुः । तेषां पाण्डुपुत्राणां मार्गे रात्रौ संचरतामेको भीमसेनः पदे पदेऽवष्टम्भयष्टिरासीत् । मार्गे भीमो मातरं प्रत्याह—हे मातः ! मार्गखिन्ना त्वं मम स्कन्धं समारोह, एवं वारं वारं मुखेऽङ्गुलीं क्षिपन् मातरं प्रार्थयत्, परं पुत्रक्लेशभयात् कुन्ती पुत्रेण प्रार्थ्यमानाऽपि पुत्रस्कन्धं नारुरोह ।

भीम-स्याद्‌भुत-पराक्रम

ततः स्कन्धारोहप्रार्थनभङ्गभयात् कृष्णा मार्गखेदखिन्नाऽपि सर्वेषां पुरतोऽतिप्रयत्नात् त्वरितं चचाल । कदाचिदत्याग्रहेण भीमो मार्गे खिन्नां मातरं दक्षिणे स्कन्धे समारोपयत्, तथा वामे स्कन्धे प्रियां चारोपयत्; यतो महापुरुषाः क्रमाभिज्ञा भवन्ति । एवं मार्गे भीमेन क्वापि रथायितम्, क्वापि भीमेन सखीयितम्, क्वापि भीमेन पत्तीयितम्, क्वापि भीमेन सर्वेषां सूपकारायितम्; एवं क्रमेण यान्तस्ते दीर्घमध्वानमत्यगुः । मार्गे सर्वेऽपि युधिष्ठिराद्याः स्वेदजलक्लिन्नशरीरा मार्गरेणुविलिप्ताङ्गाः सर्वेऽपि मलीमसवाससः क्रमेण द्वैतवनं नाम वनं सम्प्रापुः । वनवर्णनं क्रियते ।

यथा—"कुत्रापि कुररीकोककोकिलाकुलमञ्जुलम् । कुत्रापि वृकशार्दूलशृगालव्यालसंकुलम् ॥ १ ॥
क्वचिच्चम्पकपुन्नागनागकेसरभासुरम् । क्वचिज्जरत्तरुक्रीडद्घूकघूत्कारदारुणम् ॥ २ ॥
स्वाध्यायध्वनिवाचालतापसाश्रममेकतः । द्विपद्वीपिवधक्रुद्धव्याधसंबाधमन्यतः" ॥ ३ ॥

पुनः प्रकारान्तरेण वनवर्णनं यथा—अनेकोत्कटवृक्षगहनं, विविधव्यालशार्दूलभयङ्करं, कालकङ्कालवेतालक्षेत्रपालपालितं, शाकिनीडाकिनीयोगिनीयक्षराक्षसैर्निषेवितं, गन्धर्वविद्याधरखेचरभूतप्रेतपिशाचशब्दसकीर्णं, श्मशानभिल्लशबरतस्करपरिमण्डितं, कासरव्याघ्रसिंहशृगालवृकशूकरादिश्वापदरौद्राकारघूकशिवाफेत्कारदारुणम्; एवंविधं द्वैतवनं ते पाण्डवाः समासेदुः ।

"विदित्वाऽतिसुलभानि कन्दमूलफलान्यथ ।
विदधुर्वसतिं तत्र कानने पाण्डुसूनवः" ॥ १ ॥

ते पाण्डवास्तत्र वने यद्यपि वनेचरवेषं परिवहन्ति स्म, तथापि ते परां स्ववपुःश्रियं न त्यजन्ति स्म । यतः—त्रपुणोपहिता अपि मणयः किं परामात्मश्रियं त्यजन्ति ?, तथैते पाण्डवाः स्वशरीरकान्ति न त्यजन्ति स्म । अथ तस्मिन् वने तेषां पाण्डवानां मध्ये भीमो मनोहरैर्वनफलाहारैस्तान् सर्वान् सततं प्रीणयामास । सहदेवो बान्धवान् दुकूलकोमलैर्वल्कलोपायनैर्नव्यैः स्वकुटुम्बं सच्चक्रे । पलाशपत्रैस्तृणवंशयुक्तैर्नकुलः स्वकुलोचितं रुचिराजिरमुटजं चक्रे । कुण्डलीकृतकोदण्डो धनञ्जयः सर्वेषां स्वजनानां सर्वोपद्रवरक्षार्थमहर्निशं जाग्रत् तस्थौ । जिनपादान् स्मरन्ती कुन्ती सुतानां शान्त्यै धर्मकर्माणि निर्ममे । द्रौपदी सर्वेषु गृहकर्मसु तैः सर्वैर्व्यापिप्रिये ।

तैर्व्यापृता कृष्णा तोषवती सर्वाणि गृहकार्याणि करोति स्म । एवं सर्वेऽपि स्वकृत्यानि कुर्वाणास्तस्मिन् वने स्वैरं कस्यचित् किञ्चिद्दानं ददानाः सुखेन तिष्ठन्ति स्म । एकैकशः पाण्डवा वनोद्भवैः कुसुमैराभरणानि कृत्वा द्रौपदीमलंचक्रिरे । ततः सा द्रौपदी वनवासे सत्यपि प्रियैः पालिता राज्यलीलां बिभराञ्चकार । सर्वर्तुसंभवैः पुष्पैः कान्तैरलङ्कृता द्रौपदी ऋतूनां देवतेव विरेजे । कदाचिद् भीमः कुम्भिकुम्भोत्थमौक्तिकैर्मनोहरं हारं कृत्वा प्रेयसीं पर्यधापयत् । तस्मिन् द्वैतवने पाण्डवा मातृकलत्रान्विताश्चित्तस्वास्थ्यवन्तो राज्यश्रियोऽधिकं सुखं प्रापुः । युधिष्ठिरस्य निरन्तरसेवावसरं प्राप्य चत्वारो बान्धवाः कनीयांसः स्वं कृतार्थं जन्म मेनिरे । एवं ते पाण्डवा वनवासिनोऽपि स्वेच्छया सुखं क्रीडन्तो द्वैतवने हस्तिनापुरसंवासतुल्यं वासं मेनिरे ।

एवं स्थितेषु तेषु पाण्डुपुत्रेषु द्वैतवनेऽन्यदा प्रातः समये उच्चैः सिंहासनस्थस्य धर्मनन्दनस्य भीमे भक्तितः स्वपाणिभ्यां पादं संवाहयति सति, तथाऽन्तिकं निषण्णायाः कुन्त्या वचनवीचिषु दत्तकर्णस्य समीपस्थद्रुपदनन्दिनीकस्य सहदेवेन विनयतः स्वपटे छत्रवत् विस्तारिते सति, नकुले चामरोपमाञ्चले चालयति सति, वेत्रदण्डोपमं कोदण्डं धृतवत्यर्जुने सति, स एवाऽर्जुनो दूरादेकं पान्थं समायान्तं सर्वेषां कथयामास । अथ पान्थं दूरादागतं दृष्ट्वा धर्मनन्दनोऽम्भोजसौन्दर्ये दृशौ व्यापारयन् तं समुपलक्ष्य सर्वेषां बन्धूनामेवमुवाच—भो बान्धवाः ! स एष प्रियंवदो नाम, योऽस्मत्प्रियसेवकोऽस्मद्गृहरक्षकः । ततः सर्वैरपि निरीक्ष्योपलक्षितश्च ।

ततः पार्थः सहर्षः संमुखं गत्वा प्रियंवदं बहुशो बभाषे । प्रियंवदोऽप्यर्जुनं नत्वा मिलितः । ततो द्वावपि युधिष्ठिरं प्रत्यागतौ । पश्चात्प्रियंवदो युधिष्ठिरं नत्वा पुरो निषण्णः, ततो युधिष्ठिरेण भाषितः—भो भद्र ! तातपादाः कुशलेन सन्ति ?, तथा मम लघुतातस्य विदुरस्यापि कुशलमस्ति ?, योऽस्मासु क्षेमनिर्माणदीक्षितः, तथा भो भद्र ! अस्माकं पितामहो गाङ्गेयः कुशली वर्तते ?, तथाऽस्मद्गुरुर्द्रोणोऽश्वत्थाम्ना सहितः कुशलभागस्ति, तथाऽस्मद्गुरुः कृपो मयि कृपावानस्ति ?; तथाऽस्मत्पितृव्यो धृतराष्ट्रो राष्ट्रसहितः कुशली वर्तते ?

प्रियवद-
दूतस्या-
गमनम्

योऽस्माकं कल्याणवाञ्छक , तथाऽस्माकं बान्धवः सुयोधनो भ्रातृशतैः समन्वितः पूर्णाभिलाषो वर्तते ?; एवं सत्यवत्यादयः सर्वा वृद्धमातरः कुशलिन्यः सन्ति ? । एतद् युधिष्ठिरोक्तं श्रुत्वा स प्राह—

यथा—"अथ प्रियंवदोऽवादीद्, देव ! दुःस्थेऽपि चेतसि ।
वर्तन्ते वपुषा तावत्, सर्वे कुशलशालिनः" ॥ १ ॥

पुनरपि युधिष्ठिरोऽवोचत् —हे प्रियंवद ! तत्र लाक्षागृहप्रदीपनादूर्ध्वं कि किमभवत् ?, तथा भवता वयमत्रस्थाः कथं ज्ञाताः ?, एतत् सकलं यथा त्वया ज्ञातं भवति तथा सर्वं सत्य निवेदय । पुनः प्रियंवदः प्रोवाच—तस्मिन्नभ्रंलिहकरालज्वालोज्ज्वलने दीप्ते सति लोकैर्बाढस्वरेणेति पूत्कृतम्—हा ! हा ! अस्यां ज्वालायां पाण्डवा दह्यन्ते । इत्येवं ज्ञात्वा शोकाकुला लोका अत्यर्थं जलौघैः कृशानुं विध्यापयामासुः । तस्मिन् प्रशान्ते प्रदीपने अर्धदग्धाः केचन पञ्च पुरुषा द्वे स्त्रियौ कृष्ट्वा दृष्ट्वा च युस्मद्भ्रान्त्या सर्वैर्लोकै रुद्यते स्म । किं बहूच्यते ? तस्मिन् समये पादपैरपि रुदितम् । तस्मिन्नेवावसरेऽहं भवनमार्गं विलोकयन् तत्राऽगाम् । पश्चाद् मया ते मृतकाः पुरुषाः स्त्रियो दृष्टाः, पार्श्वे एकां सुरङ्गां च दृष्ट्वा मया चिन्तितम्—नूनमनया सुरङ्गया ते पाण्डवाः क्वापि स्वैरं संजग्मिरे । एते लोका मुग्धाः पाण्डवा इति कृत्वा मुधैव विलपन्ति ।

पुनः कुतूहलेन मया ते मृताः पञ्चापि वीक्षिताः, द्वे स्त्रियावपि वीक्षिते, युष्मदत्यन्तसादृश्याद् नूनमेते पाण्डवाः सुरङ्गाद्वारमलभमानाः शूरा अपि दिग्मूढा अत्रैव प्रदीपने भस्मीभाव लब्धवन्त. । ततोऽहं भवद्व्यापत्तिश्रवणाद् दर्शनाच्च दु.खाक्रान्तो भृशमरोदिषम् । ततो वलित्वाऽहं पुनर्गजपुरे गत.; तत्र गत्वा यथा दृष्टं तथा कथितम् । तत् श्रुत्वा गाङ्गेयपाण्डुविदुरप्रमुखास्तव कुलवृद्धाः स्त्रियोऽपि शोकशङ्कुनिपीडिताः सर्वे स्वजनवर्गाः नागरिकलोकाश्च सशोकाः सजज्ञिरे । परमेक दुर्योधनं विना सर्वैरपि मूर्च्छितम् । पुनर्लब्धचैतन्यैः पाण्डुराट्-

पाण्डव-वध-श्रवणात् लोकाना हाहाकार

प्रभृतिभिरेवं विलपितम्—हा वत्साः ! स्वच्छहृदया यूयं पापिना दहनेन कथं दग्धाः ? । विदुरेणोक्तम्—भो वत्साः ! प्रतिकूले विधौ मम शिक्षाऽपि विस्मृता । मया पूर्वं वनवासावसरे कथितमभूत्—यद्भवद्भिः कस्यापि विश्वासोऽपि न विधेयः, परं यूयं सर्वेऽपि विश्वासतो निधनं गताः । एवं बहुधा विलपता विदुरेण युष्माकं पिताऽपि भृशं रुदन् निवारितः । पाण्डुस्तथापि रुदन्नेवं बभाषे—भोः पुत्राः ! पिशुनानां मनोरथाः संपूर्णा जाताः । एवं पाण्डुं विलपन्तं दृष्ट्वा दुःखाक्रान्तो विदुरः प्राह—

"शोको निवार्यतामार्य ! मनो धैर्याय दीयताम्" ।

यतः—स्तोकैरेव दिनैः सत्यं वाऽसत्यं सर्वमाविर्भविष्यति । पाण्डवैर्जीवितं वा मृतं वेति कतिचिद्दिनान्ते सर्वशुद्धिर्भविष्यति । भवन्तं दुःखितं ज्ञात्वा सत्यवत्याद्या मातरोऽपि दुःखाक्रान्ता बभूवुः ।

यतः-"मातरः सत्यवत्याद्या व्यपद्यन्त शुचाऽनया । न हि दावानलज्वालां सहन्ते मालतीलताः ॥१॥
विदुराऽऽश्वासनावाक्यैर्महाऽऽपद्वार्तया च वः । देवः पाण्डुरियत्कालमासीद् जीवन् मृतोपमः" ॥२॥

एवं दिनानि यान्ति स्म । एकस्मिन् दिने एकचक्रानगरीतः समागतेन केनचित् पुरुषेण हस्तिनापुरे नगरे सकलनागरिकलोकपुरतो बकवधादिको भीमो भीमवृत्तान्तः कथितः । तं भीमवृत्तान्तं श्रुत्वा बकवधादिभीमकीर्तिभाविता लोका मित्राणि च भृशं मोदं दधुः, अमित्राश्च शुचं समादधुः । एवं भीमं भीमोदन्तं श्रुत्वा पाण्डुराट् शोकपङ्कमपाकरोत्; स शोकः पाण्डुपरित्यक्तः साभिमानं दुर्योधनमशिश्रियत् । शोकाऽऽक्रान्तो दुर्योधनः प्रियाऽङ्के, पल्यङ्के, वने, भवने, स्थले, जले, क्वापि रतिं न लेभे । तं तथाऽवस्थं दृष्ट्वा शकुनिर्मातुलको बभाषे—भो धराधव ! तव किमाधिर्वा व्याधिर्वा बाधते, येन त्वं सांप्रतमीदृशो दृश्यसे ? । तेनोक्तम्—

पाण्डु-विलाप

भो मातुल ! श्रूयतामेवम्—वारणावते नगरे ज्वालया ग्रस्ता अद्यापि पाण्डवा जीवन्त्येव। एकचक्रानगर्या आगतेन पुरुषेणोक्तम्—भीमपाण्डवेन बकराक्षसो निहतः। तत् श्रुत्वा मम चिन्तोत्पन्ना—यदहं पाण्डववधे विफलाऽऽरम्भो जातः। अथ किं करिष्यते ?। एतेषां पाण्डवानां कीर्तिः सर्वत्रापि प्रोस्फुरीति।

यतः—"हिडम्बबककिर्मीरवधाऽऽडम्बरडिण्डिमैः ।
भूर्भुवःस्वस्त्रयीरङ्गे तेषां कीर्तिः प्रनृत्यति" ॥ १ ॥

अथैतेषां पाण्डवानां पुनरपि किञ्चिद् विरूपं विधीयते, यथैते पाण्डवा यमातिथयो भवन्ति। तद् दुर्योधनवचनं श्रुत्वा शकुनिरभाषत—भो भागिनेय ! दुर्योधन ! भूमीमण्डलाऽऽखण्डलो भवान् क्व ?, देशाद् बहिष्कर्षिता रङ्कवद् स्खलिताः पाण्डवाः क्व ?। यतः—खद्योतद्युतिमालिनोः साम्यं न स्यात्, अथ तेषां भवतां च साम्यं कथं भवति ?। त्व पाण्डवानां वधे चिन्तां मा विधेहि। एव पाण्डवा दैवेन हता यद्विधिना देशाद् दूरं कर्षिताः, अथैतेषां वधे का चिन्ता ?। यतः—त्वं सर्वत्रापि लब्धजयः, तव स्वभुजार्ऽजिता साम्राज्यश्रीः, तथाऽऽज्ञावशंवदाः सर्वे राजानः सेवालालसाः प्रतीहारवत् तव द्वारे तिष्ठन्ति। ससैन्यस्त्वं सकलां महीं पालयसि; ते तु त्वत्कर्षिता वनेचरा इवेतस्ततः पर्यटन्ति।

दुर्योधनेनोक्तम्—सांप्रतं ते पाण्डवा द्वैतवने श्रूयन्ते। तदा शकुनिना प्रोक्तम्—तर्हि त्वं गोकुलाऽऽलोकनमिषात् तत्र याहि, ससैन्यस्त्वं तेषां निःसैन्यानामात्मशोभां दर्शय। तेऽपि त्वामद्भुतश्रीकं दृष्ट्वा म्लानिं यास्यन्ति, तदा तेषां मानिनां त्वयि दृष्टे मृत्युतोऽपि महादुःखं भविष्यति। यदि त्वामसहमानौ भीमार्जुनौ सामर्षौ करे आयुध धत्तः, तदा त्वं तयोः शिक्षयेः। तयोर्निधनं नीतयोः त्वमपाण्डवं भूमण्डलं जानीहि; महार्णवतुल्यस्य तव सैन्यस्य पुरतः केऽमी पाण्डवाः ?। एतत् शकुनिदुर्योधनयोर्मन्त्रं ज्ञात्वा तव लघुपिता

विदुरो विदुरस्तव क्षेमकृते युष्मदन्तिके मां प्राहिणोत् । तदा त्वदन्तिके समागच्छता मया पृष्टम्—पाण्डवाः कुत्र सन्ति ? । तदा विदुरेणोक्तम्—अद्य पूर्वाह्णे नृपसंसदि एकचक्रात आयातैश्चरैरावेदितम्—पाण्डवा एकचक्रायां वर्तन्ते । पुनश्चरैरुक्तम्—तेषां माहात्म्यं शृणुत ।

यथा—"अहो ! अमीषां माहात्म्यं वसेयुर्यत्र पत्तने । ईतिर्न तत्र नाऽनीतिर्न व्याधिर्न च विप्लवः ॥१॥
न मारिर्न च दुर्भिक्षं न च भीः परचक्रजा । केवलं सुखसंपद्भिर्मोदन्ते सप्रजाः प्रजाः ॥२॥ (युग्मम्)
चरेयुर्यदि कान्तारे प्रच्छन्ना अपि ते क्वचित् । तत्रापि पादपाः सत्यं नित्यपुष्पफलर्द्धयः ॥३॥
अन्योन्यं कलहायन्ते न शाश्वतिकवैरिणः । दधते रससौन्दर्यमन्यवन्यफलान्यपि" ॥ ४ ॥

इत्यादिपाण्डवमहिमानं श्रुत्वा सुयोधनो मषीभिः स्नपित इव, नीलीभी रञ्जित इव वा विषण्णमनाः सभां विसर्जयित्वा शकुनिना मातुलेन सहैकान्ते पुनर्मन्त्रयमाणोऽभूत् । तदा मया चिन्तितम्—सांप्रतमेकचक्रेदृशी श्रूयते, अतस्ते पाण्डवास्तस्यामेव सन्ति । हे प्रियंवद ! त्वं तत्र याहि । ततः क्रमेणाऽहमेकचक्रानगरीं संप्राप्तः; तत्र सर्वत्र भ्रान्त्वा भ्रान्त्वा मया नगरी विलोकिता, परं क्वापि भवतां शुद्धिर्न प्राप्ता, दरिद्रेण पुरुषेण धनमिव । ततो मयैकचक्रावासिलोकाः पृष्टाः—क्व सन्ति पाण्डवाः ? । लोकैरुक्तम्—यत्र नित्यं पुष्पफलपादपाः, तत्र पाण्डवाः सन्ति । यस्य धर्मपुत्रस्य विनीताः केवलं नाऽनुजा उपासांचक्रिरे, किन्त्वारण्यपशवोऽन्यकर्तव्यानि दूरे त्यक्त्वा दिवानिशं सेवां तन्वते । युधिष्ठिराध्यासिता अपि माकन्दादयो वृक्षाः स्वां छायां न परावर्तयन्ति । तल्लोकोक्तिं श्रुत्वा भवदानुपदिकोऽत्राऽस्मिन् द्वैतवने भवच्छुश्रूषाकृते विदुरेण प्रेषितोऽत्राऽऽगाम्; एतद् ममागमनकारणम् ।

अथ यूयं सावधानाः सन्तस्तिष्ठन्तु। राज्ञा युधिष्ठिरेण प्रोक्तम्—भोः प्रियंवद! दुर्योधनो राडधुना धात्रीं किं नयेन वाऽनयेन शास्ति?; तथा भीष्मद्रोणावयोऽस्माकमुपरि कीदृशा वर्तन्ते?। प्रियंवदोऽवोचत्—"राजन्! श्रूयताम्—दुर्योधनः पितरि वात्सल्यं करोति, प्रजाऽभ्युदयतत्परो वर्तते, पितृवत् प्रजां पालयन् विहरति। तथा तेन दुर्योधनेन वारणावते नगरे तव मृत्युं समाकर्ण्य गाङ्गेयद्रोणाद्याः सर्वेऽपि तव कुलवृद्धाः त्वयि निराशीभूतमानसाः कृता दानमानेन तोषिता दुर्योधनमेव सिषेविरे। दानेन विनयेन च के के वशवर्तिनो न भवन्ति?।

यथा—"संप्रत्यावर्जितास्तेन दानेन विनयेन च।
प्राणैरपि समीहन्ते विधातु ते तदीप्सितम्" ॥ १ ॥

आत्मनः षट्खण्डमण्डलाधिपत्वं यद्यपि मन्यते, तथापि भवद्भ्यो भियं वहते। यस्य दुर्योधनस्यार्जुनवृक्षाऽऽकर्णनात् सस्मृतार्जुनो भीतिं प्रापयति, ततो दीर्घान् निःश्वासान् मुञ्चन् विहरति। वने वृकोदरं दृष्ट्वा वृकोदरो भीम. स्मृतिमायाति, भीम स्मृत्वा स्मृत्वा मृत्युभयाद् भोजनावसरे करस्थः कवलको भाजने पतति, मुखस्थः कवलको मुख एव तिष्ठति। स्वप्ने भीमार्जुनौ वीक्ष्य भयाद् जागरितो दुर्योधनो भानुमती प्रियां प्रति वक्ति—हे प्रिये! एतौ भीमार्जुनौ मां मारयतः। प्रिया प्राह—हे प्राणप्रिय! भीमार्जुनौ क्व वर्तेते?; त्व मौनमाधाय सुखं स्वपिहि। एवं सुखसुप्तो वा सुखं जागरितो वा भवद्भिया एवं कुर्वन् विचरति।" इत्यादिप्रियवदवार्तां श्रुत्वा तपःसूनुरुवाच—भो भद्र मद्गिरा तौ तातपादौ पाण्डुविदुरौ त्वयैवं वाच्यौ क्षोणीमिलितमौलयो युधिष्ठिरप्रमुखाः पाण्डवा युष्मदाज्ञां मुकुटवद् मौलौ दधते। तातैर्यदादिष्टं तदस्माभिः सर्वं प्रहृष्टैः श्रुतम्, अङ्गीकृतं च। अथ वयं भवदाज्ञया विचरिष्याम, युष्मदाशीर्भिरस्माकं कश्चिदपि रिपुर्न प्रभविष्यति। तथा

वयमत्रस्थाः प्रत्यहं तातपादान् नमस्यामः, तदपि तातपादैरवसेयम्। इति धर्मपुत्रः प्रतिवाचिकं समर्प्य प्रियंवदं दानमानैः सत्कृत्य विदुरं प्रति प्रेषयामास।

द्रौपद्या आक्रोश

तत् श्रवणदुःश्रवं दुर्योधनवाक्यं श्रुत्वा द्रुपदाऽऽत्मजा जगाद—अहो! अस्माकं रिपुदुर्योधनो धर्मपुत्रात् छद्मना मेदिनीं जित्वा सभामध्ये मम केशाकर्षणं कृत्वा तथाऽस्माकं कान्तारवासं दत्त्वा नाद्यापि संतुष्यति। अहो! मत्सरिजने मर्यादा नास्ति, यदस्मान् वनेचरानागत्य निर्मर्यादो जिघांसति। पुनर्द्रुपदाऽऽत्मजा बभाषे—हे मातः! कुन्ति! त्वं वन्ध्येव लक्ष्यसे। अहो! सुबाहवः पाण्डोः सूनवोऽभिनवौजसो लोकैर्गीयन्ते, परं युष्माकं बलवत्त्वं कुत्र गतम्?, येषु पश्यत्सु प्रियाकेशाकर्षणं विधीयते। अतो ज्ञायते मम प्राणप्रियस्य धर्मपुत्रत्वं सत्यमेव, यो धर्मपुत्रः स पापवान् कथं भवति?; अतः क्षमावत्त्वं युक्तमेव, अन्यथा रिपोः परिभवं कथं क्षमते?।

अहो! मम पराभवो न दुनोति, तर्हि किं मातृभ्रातृपराभवोऽपि विस्मृतः?। या माता सुखाऽऽसीना दासीदासपरिवृता क्रीडावने वाप्यादिषु स्वेच्छया क्रीडन्ती क्लान्तिं प्राप्ताऽभवत्; साऽधुना शर्कराकीर्णे कण्टकाऽऽकुले वने क्षुत्तृषाक्रान्ता पादचारेण विचरति। एते निजभ्रातरः सिन्धुरारोहकेलिलीलां कुर्वाणा देवदूष्यवस्त्रैरावृताः सुवर्णाऽऽभरणभूषिताः पूर्वमभूवन्, तेऽमी पाण्डुपुत्राः पादचारिणो वल्कलवाससस्त्यक्ताभरणा रङ्कवद् रुलिताः पुष्पफलभोजिनो वर्तन्ते। पुनर्द्रौपदी युधिष्ठिरं प्राह—एतान् दुःखितान् स्वजनान् पश्यन् हे प्राणेश! हे धर्मात्मज! त्वं किं न लज्जसे?। यदि त्वया प्रतिज्ञाभङ्गभीरुत्वेन तस्यां संसदि क्षान्तम्, तर्हि अत्र वने भवतः का तितिक्षा?। यदि त्वं स्वयं प्रतिज्ञाभङ्गभीरुत्वाद् नोत्सहसे, तदा तद्वधे भीमार्जुनौ समादिश। तदा मनोऽभीष्टां द्रौपदीवाचं श्रुत्वा भीमो बभाषे—हे राजेन्द्र! तवाऽऽदेशं पुरा मूर्ध्नि वहता मया शत्रवो

पाण्डवाना सुखेन जीवनम्

तत्रैकत्र मनोहरस्थाने पाण्डुपुत्रास्तृणकुटीरकानि कृत्वा स्वगृहवत् सुखं तस्थुः। सकुटुम्बेन राज्ञा तद्वनं शोभितम्। यथा रजनी चन्द्रेण, नभः सूर्येण, प्रासादो देवेन, देवः पूजया, पूजा भावेन, पुष्पं भ्रमरेण, युवती यौवनेन, वल्ली कुसुमेन, कुसुमं परिमलेन, मुखं नेत्रेण, नेत्रं कज्जलेन, कुलवधूः शीलेन, प्रेक्षणकं गीतेन, गीतं गायनेन, मयूरः केकया, राजा छत्रेण, नगरं दुर्गेण, शिष्यो विनयेन योगी ध्यानेन, धनी दानेन, यतिर्निर्ममत्वेन, शूरः सत्त्वेन, गजो मदेन, तुरङ्गमो जवेन, सरो राजहंसेन, मस्तकमवतंसेन, भालस्थलं तिलकेन, मस्तकमलकेन, श्रवणं कुण्डलेन, नरः कलाकलापेन, जलाऽऽश्रयो जलेन, सुवर्णं रत्नेन, मन्दिरं प्रदीपेन, राज्यं सुभूपेन, मरुस्थलं कूपेन, कुलं सुपुत्रेण, गारुडिको मन्त्रेण, मन्त्री तन्त्रेण, दुर्गो यन्त्रेण, वनं वृक्षेण, वृक्षः पत्रेण, पतत्री पक्षाभ्यां, धर्मो निष्कपटेन, नादेन वीणा, दन्तैर्मुखं, विद्युता मेघः, तोरणेन मण्डपः, हारेण हृदयं, हृदयं धर्मेण, तथा सपरिकरेण युधिष्ठिरेण तद्गन्धमादनवनं शुशुभे।

ते पाण्डवास्तत्र वने सर्वर्तुकमनीयानां वनफलानां सौख्यान्यनुभवन्तः शत्रुपराभवं विस्मृतिमानिन्युः। तत्र कुन्ती धर्मक्रियासु व्यापृतमानसा हस्तिनापुरराज्यं न सस्मार। तत्र समीपस्थमिन्द्रकीलं नगोत्तमं धनञ्जयो विस्मितो युधिष्ठिराय दर्शयामास—हे देव! अत्र वनेऽस्मिन् पर्वते सौधर्मेन्द्रः शचीसखः क्रीडार्थं समये समायाति, तेनेन्द्रकील इति नाम पप्रथे। हे भ्रातः! भवदाज्ञयाऽस्मिन्निन्द्रकीलपर्वते गत्वा विद्याधरदत्ता विद्या रोहिण्याद्या अहं पुनरावर्तयामि।

युधिष्ठिरेणोक्तम्—याहि, स्वेप्सितं कुरुष्व, विद्याः परावर्तय। ततो धनञ्जयो बन्धोराज्ञां लात्वा कुन्तीं प्रणम्य याज्ञसेनीं संभाष्य इन्द्रकीलपर्वते ययौ। गच्छतो धनञ्जयस्याङ्गुलौ युधिष्ठिरः पाण्डुख्यापितमहिमानं विद्याधरदत्तां मुद्रिकां बलादेव न्यवेशयत्। ततो धनञ्जयस्तस्मिन्निन्द्रकीलपर्वते गतः। तस्योपर्येकं मणिमय-महत्प्रासादमद्राक्षीत्। तत्प्रासादं दृष्ट्वा धनञ्जयश्चिन्तयति स्म—एष प्रासादः किं भूधरोपरि भूधरो वर्तते ?,

य एवंविधो महान् दृश्यते । धनञ्जयस्तस्य प्रासादस्य वामतो विकचोत्पलां मणिसोपानशोभितामुत्कल्लोलामेकां वापीं ददर्श । तज्जलेन स्नात्वा विकचाम्भोजराजीं गृहीत्वा दश त्रिकाणि सत्यापयित्वा विधिपूर्वकमाद्यजिनेशितुः प्रणामं विधाय पूजां कृत्वेष्टार्थसिद्धयेऽष्टमं तपोऽकरोत् ।

धनञ्जयस्य विद्यापरावर्तनम्

अथ प्रासादस्यैकदेशे क्वचित् पावनीमवनीं समालोक्य तत्राऽऽसनं दृढीकृत्य पूर्वोपात्तां निजां विद्योपनिषदं धनञ्जयः परावर्तयामास । तस्य धनञ्जयस्य पुरतः स्मृतमात्रादेव तास्तत्क्षणादेव प्रादुर्बभूवुः, किं कुर्मः ?, इति जल्पन्त्यः । अहो ! भक्तिवशात् के न वशं यान्ति ? । अथाऽर्जुनो बभाषे—भो देवताः ! स्मृतमात्राभिर्युष्माभिः सर्वाभिर्मम कार्यं कर्तव्यम् । इत्युक्ता ता रभसा देवताः सर्वा धनञ्जयेन विसृष्टाः स्वस्थानं गताः । तासु गतासु पार्थो वन्यफलाहारैः पारणं कृत्वा शैललक्ष्मीं दिदृक्षया वने वने विजहार ।

तस्मिन् अवसरे कश्चिद् वराहो बाणभिन्नवपुर्यममहिषसन्निभः स्थूलकायो धनञ्जयस्य संमुखमापतत् । तं संमुखमापतन्तं ज्ञात्वाऽर्जुनश्चिन्तयति स्म—नूनमेष वराहो मज्जिघांसया समायाति; इति ज्ञात्वा धनञ्जयो धनुष्टणत्कारं कुर्वन् दधावे । तेन पार्थेन वराहस्य प्राणमार्गणमार्गणोऽक्षेपि । तेन बाणेन हतो वराहो मृतः । ततोऽर्जुनो बाणग्रहणहेतवे वराहाभ्यर्णे समागतः । तस्मिन् समये तत्र कश्चिद् भिल्लोऽपि समागात् । पार्थं स्वर्णपुङ्खमनोरमं निजं बाणं समाददानं दृष्ट्वा भिल्लो बभाषे—हे सौम्य ! तवाचार आकारव्यभिचारी दृश्यते, यतस्त्व पुण्यमूर्तिः क्व ? ईदृशमदः स्तैन्यं क्व ?, विमलबुद्धयस्तृणमिव प्राणान् त्यजन्ति तद् वरम्, न पुनरिदं मलीमसाचाराचरणं तेषां युक्तम् । सदाचारसमीचीनाः पुरुषा माधुकरीं वृत्तिं समाचरन्ति, न पुनश्चौर्याहृतां श्रियं समाददते ।

अहो ! त्वं महान् पुमान् मामकीनं सायकं विषदग्धशिखमारण्यपशुशोणितपायिनं हर्तुं नार्हसि ।

यथा—"अखर्वमौर्वीटङ्कारः, साहङ्कारस्तयोस्ततः ।
विडम्बितयुगावर्तः, प्रावर्तत रणो महान्" ॥ १ ॥

भिल्लेन सह युद्धम्

तस्मिन् समये पुलिन्दस्य तस्य सैन्यं समागतम् । स पुलिन्दस्तेन सैन्येन परिवृतो धनञ्जयेन सार्धं भृशं युयुधे । पार्थबाणाङ्किता भिल्लसैनिका यदा व्यावर्तन्ते स्म, तदा पल्लीश आत्मनः शस्त्रकौशलं स्वयं दर्शयामास । तदानीं द्रष्टुकामानां व्योमचारिणां विमानैर्व्योम महदपि संकुलमभूत्, कमलैः सर इव । तयोर्बाणसमूहैः परस्परमर्धपथखण्डितैर्व्यलीयत, पल्लीपतेर्मनोरथैरिव । ततोऽर्जुनस्तमजय्यं ज्ञात्वा तस्य वधेच्छयाऽऽग्नेयमस्त्रमस्मार्षीत् । तदस्त्रानुभावतः सकलोऽपि पर्वतो दावानलमयोऽजनि । तं पर्वतं सर्वतो वह्निव्याप्तं ज्ञात्वा किरातश्रेष्ठस्तन्निवारणं वारुणाऽस्त्रमाह्वत्, प्रावृषेव तेनास्त्रेण सोऽद्रिर्निरवाप्यत ।

एवमनेकैः शस्त्रैस्तं दुर्वारमवधार्य धनञ्जयस्त्यक्तास्त्रो बाहुभ्यां योद्धुं प्रचक्रमे । पुलिन्दोऽपि कलानिधिस्त्यक्तास्त्रं धनञ्जयं ज्ञात्वा बाणमुत्सृज्यबाहुभ्यां योद्धु डुढौके । एवं तयोः पल्लीशधनञ्जययोरत्यर्थं मल्लयोरिव द्वन्द्वयुद्धमभूत्, परं केनापि जयपराजयौ न लेभाते । तथापि तयोर्युध्यमानयोर्धनञ्जयोऽवसरमासाद्य भिल्लेशं पादयोर्गृहीत्वा मूर्धानं परितो भ्रमयित्वा यावच्छिलायामास्फालयति, तावत् स भिल्लवेषं परित्यज्य तत्क्षणादेव दिव्यरूपो जातः । किरीटी चिन्तयति स्म—अहो ! मया किं दृष्टम् ?, मम केनापीन्द्रजालं दर्शितम् ?, किं वा मे मतेर्मोहः ? । एवं यावता धनञ्जयश्चिन्तयति स्म, तावत् स उवाच—

यथा—"तव शौर्यपरीक्षायै, मया मायेयमाहिता ।
वरं वृणीष्व तुष्टोऽहममुना विक्रमेण ते" ॥ १ ॥

विद्याधराणामन्तिकं गतः, यतस्ते खरदूषणवंशजाः राक्षसा अस्य विद्युन्मालिनः सुहृदो वर्तन्ते स्म। ते भूयांसो राक्षसा विद्याबलगर्विता अभिमानपर्वता लोकेन ते कालकेतवः कीर्त्यन्ते।

यतः—"भूयांसस्ते बलीयांसः, कृतान्तादप्यभीरवः।
ततो लोकेन सर्वेण, कीर्त्यन्ते कालकेतवः" ॥ १ ॥

तथा तलतालवोऽपि निगद्यन्ते।

यतः—"तालुन्येकपदे विद्धे, समं पाणितलेन यत्।
विपद्यन्ते निगद्यन्ते, तेन ते तलतालवः" ॥ १ ॥

एवं तेषां बलवतां समीपे गतो विद्युन्माली प्रत्यहं सैन्यपरिवृतो रथनूपुरे इन्द्र समुपाद्रवत्। ततः इन्द्रः सोपद्रवं स्वं नगरं ज्ञात्वा बुधं नाम नैमित्तिकोत्तमं पप्रच्छ—भो नैमित्तिकशिरोमणे! अमी दुर्वारदोर्वीर्या मया वैरिणः कथं जीयन्ते?, ज्ञानेनालोच्य कथ्यताम्। नैमित्तिकः प्राह—भो राजेन्द्र! एते तव शत्रवो बलीयांसो विनाऽर्जुनं केनापि जेतुं न शक्यन्ते। इन्द्रेणोक्तम्—कोऽसावर्जुनः?।

नैमित्तिकेनोक्तम्—इक्ष्वाकुवंशीयो मध्यमपाण्डवो द्रोणशिष्यो जगदेकवीरः, तत्समोऽस्मिन् लोकेऽन्यः कश्चिद् धन्वी नास्ति। सोऽधुनेन्द्रकीलपर्वतेऽस्ति, इत्युक्त्वा तस्मिन् विरते मामभ्यर्णस्थितं ज्ञात्वा खेचरेन्द्र इन्द्रो मां व्याहरत्—भोश्चन्द्रशेखर! धनञ्जयं शीघ्रमत्रानय, यतस्तेन पुंस्कुञ्जरेणाऽरितरव उन्मूल्यन्ते, यतस्तेन सह

भो अर्जुन ! एष पन्था रथनूपुरं याति यत्र त्वद्दर्शनसमुत्सुक इन्द्रो नाम विद्याधराधीशोऽस्ति । अयं वामः पुनः पन्थास्तद्रिपून् प्रति याति, यत्र तलतालवो नाम राक्षसा वर्तन्ते । अथ यत्र तवेच्छा वर्तते, तत्र गम्यते । धनञ्जयेनोक्तम्—पूर्वं तत्र गम्यते, यत्र विद्युन्मालिकालकेतुतलतालुप्रभृतय इन्द्रवैरिणो वर्तन्ते, तत्र मे मनो गन्तुमुत्सहते, तेषां माहात्म्यं समभिलोक्य तत इन्द्रं विद्याधरं द्रक्ष्यामि, ततो हे चन्द्रशेखर ! त्वं मां तत्र नय, यत्र ते इन्द्रशत्रवो विद्यन्ते, तानहं पश्यामि ।

चन्द्रशेखर उवाच—भो धनञ्जय ! एकाकिना त्वया तत्र गमनेन किं भवति ?, ते तु लक्षसंख्याः, त्वं तु बाहुपरिच्छदस्तत्र गत्वा किं करिष्यसि ? । प्रत्यर्थिसैन्ये त्वं किं तत्र गतः समुद्रे सक्तुमुष्टिरिव भविष्यसि ?, तदा मे मनोरथा अरण्यरुदितप्राया भविष्यन्ति । अत एकश इन्द्रसमीपे समागच्छ, तत इन्द्रेण ससैन्येन समं त्वं सकलसैन्याऽग्रे भूत्वा शत्रुमुच्छेत्तुमागच्छेः ।

पुनरर्जुनोऽप्यूचे—भोश्चन्द्रशेखर ! अमून् प्रति चमूभिः किम् ?, यथा मृगाधिराजः कुम्भिनां कुम्भस्थलभेदे किं परिग्रहं वाञ्छति ? । तत् श्रुत्वा चन्द्रशेखरेण गगनाध्वना धनञ्जयरथश्चालितः । क्रमेण कालकेतुपुरीप्रत्यासन्नं गतः । ततस्ते विद्युन्मालिकालकेतुप्रभृतय इन्द्रेणाहूतमर्जुनं श्रुत्वा परस्परं हास्यं कुर्वन्ति स्म—अहो ! अर्जुनोऽस्मान् जित्वेन्द्रस्य राज्यं दास्यति । एवं ते यावच्चिन्तयन्ति स्म, तावद् धनञ्जयश्चन्द्रशेखरेण सारथिना समं सुवर्णपुरासन्नं गतः । यत्र ते निवातकवचनामानो विद्याधराः कालकेतुप्रभृतयो वर्तन्ते स्म । अर्जुनं समायान्तं ज्ञात्वा निवातकवचप्रभृतयो विद्याधराः सन्नद्धबद्धकवचाः धनञ्जयं प्रति संग्रामाय ढुढौकिरे ।

अर्जुनस्य युद्धाय गमनम्

यथा—"तदा तेषामनीकेषु रसन्ति स्म समन्ततः । रणतूर्याणि कीनाशप्रवेशपटहा इव ॥ १ ॥

यथा—"स्मृत्वा द्रोणोदितं मन्त्रमनेकविशिखप्रसूः ।
बाणः प्राणहरस्तेषां मुमुचे सव्यसाचिना" ॥ १ ॥

ते धनञ्जयबाणा अरीणां सकरतलानि तालूनि भित्वा प्राणैः सह निर्ययुः । एवं ते शत्रवोऽर्जुनप्रेरित-दिव्यास्त्रेण भिन्नाः सर्वेऽपि मृत्वा कर्कशाध्यवसायाः कुगतिं जग्मुः । तदा नभोऽङ्गणात् पार्थमूर्ध्नि देवैः कृता पुष्पवृष्टिः पपात । तमद्भुतपराक्रममर्जुनं समालोक्य चन्द्रशेखर उत्फुल्लपुण्डरीकाक्षश्चिन्तयति स्म—अहो ! धनञ्जयस्य माहात्म्यम्, यदेकेनापि मदोद्धुराः सर्वेऽपि तलताल्वादयो निधनं प्रापिताः ।

ततश्चन्द्रशेखरो धनञ्जय बन्धुप्रीत्या उन्मीलत्पुलकाङ्कुरो वार-वारं सर्वाङ्गं चालिङ्ग्यैवमुवाच—अहो ! ज्ञानिना नैमित्तिकेनोक्तं सत्यं जातम्, मत्प्रभुरिन्द्रविद्याधरस्त्वयोन्मूलिते शत्रुवर्गे स्वस्थचित्तोऽभूत् । एवं यावता कथयति, तावत् सपरिकरः ससैन्य इन्द्रविद्याधरस्तत्राऽऽगात्, यत्रास्त्यर्जुनः । रथस्थोऽर्जुन इन्द्रसंमुखमागात् । ततो द्वावपि प्रीत्या संमिलिताविन्द्रोपेन्द्राविव तौ विरेजाते । अथेन्द्रो निजे सिंहासनार्धे धनञ्जयं निवेश्य सप्रणयं प्रोवाच—हे परोपकृतिकर्मठ ! हे परोपकारैकशिरोमणे ! त्वया मम राज्यं दत्तम्, अथाऽहं किं तव प्रत्युपकरोमि ? "इद राज्यममी प्राणा व्यापार्यन्तां यदृच्छया" । अथ रथनूपुरलोकानां नेत्रोत्सवाय विमानमारुह्य त्वं तत्राऽऽगच्छ, इतीन्द्रेणोक्तो धनञ्जयोऽवोचत्—प्रथमं तलतालुसत्कं सुवर्णपुरं गम्यते, तत्र प्रसिद्धं सिद्धकूट द्रष्टुं कौतूहलमस्ति । तत्पुरं दृष्ट्वा पश्चाद् रथनूपुरं नगरं समेष्यामि ।

अर्जुनस्य सम्मान-दानम्

तत इन्द्रो धनञ्जयसहायः सकलसैन्यपरिवृत्तो निवातकवचप्रभृतीन् मृतान् दृष्ट्वा यत्राऽर्जुनबाणहतो विद्युन्माली मृतः पतितोऽस्ति, तत्रेन्द्रो गत्वा विद्युन्मालिनं मृतं पतितं समालोक्य पूत्कारपुरस्सरं रुरोद । भो बन्धो ! तव केयं दुःस्थाऽवस्था ?, यदेतत् ते शरीरं ममोत्सङ्गसङ्गै र्लालितं तत् साम्प्रतं शिवाः स्वयं श्लिष्यन्ति,

कौसुमस्त्रक्सुगन्धोरः ! तेजोभृतदिगन्तर ! । यादःपतिसुगम्भीर ! नामाऽस्मरमऽनश्वर !" ॥८॥

इत्यादिशाश्वतजिनपतिस्तुतिं विधाय पुनर्विमानमारुह्येन्द्रान्वितो धनञ्जयः सकलसामन्तपरिवृतः उत्तोरणां सत्पताकापरिमण्डितां दिव्यां राजधानीं समाययौ। तत इन्द्रान्वितो धनञ्जयो मङ्गलाचारपूर्वकं स्वसौधद्वारमागमत् । अथेन्द्रप्रियाभिर्धवलमङ्गलगीतगानपुरस्सरं किरीटी गृहप्रवेशं कारितः। इन्द्रोऽपि धनञ्जयं सिंहासनस्थं कृत्वा पुरः सङ्गीतमङ्गलं कारयामास। ततः स्वाङ्गाऽऽभरणानि दिव्यास्त्राणि दिव्यदुकूलानि परिधाप्य हृष्ट इन्द्रः सभासमक्षमुच्चैरेवमुवाच—अहो लोकाः! अद्यप्रभृत्येषोऽर्जुनो मम ज्येष्ठपुत्रः सर्वेषां पुत्राणां श्रेष्ठो मम राज्यधुरन्धरः; यस्यानुभावत एषोऽहं निष्कण्टकं राज्यं करोमि। धनञ्जयोऽपि तद्वचन प्रतिपद्य तत्पुत्रैर्लघुबान्धवैः समेतः सानन्दो यदृच्छया तत्पुरे विजहार। अर्जुनरूपेण मोहिताः पुरनार्यः स्मरार्ता अत्यर्थं कामयन्ते स्म; परं फाल्गुनः स्वदारसन्तुष्टव्रतस्तासां वचांसि किमपि नाऽमन्यत। विद्याधरकुमारिका उपेत्योपेत्य पतिंवरा वृण्वते स्म, परं सोऽर्जुनः स्वबन्धुवनक्लेशं संस्मरन् तदपि न मेने।

धनञ्जयस्य विद्यादानम्

तस्मिन् नगरे केचनेन्द्रपुत्राः केचिदन्येऽपि विद्याधरपुत्राः विहितशृङ्गाराः शास्त्रपारीणाः किरीटीनं धनुर्वेदादिविद्यासु शिक्षागुरुं चक्रुः। धनञ्जयोऽपि तेषां कुमाराणां शिक्षाविचक्षणो द्रोणं गुरुं न लज्जयामास। अत एव द्रोणवत् सर्वेषां कुमाराणां विद्यां शिक्षयति स्म। ते विद्याधरकुमाराः शतमिताः स्तोकेनैव कालेन विद्यापारीणाः संजज्ञिरे। अथ ते सर्वे गुरुदक्षिणाकृते स्वकीयं सर्वस्वमपि ददुः, परं धनञ्जयस्तत् किमपि निष्क्रयं नाङ्गीचक्रे। ततस्ते कृतज्ञा राजपुत्रा आत्मप्राणान् गुरुदक्षिणायै कल्पयामासुः। विद्यावन्तोऽपि विद्याधरकुमाराः सर्वेऽपि छायावद् धनञ्जयं परिवृता एव तस्थुः, तत्र विद्याधरेन्द्रगृहे भूयांसं कालमेकाहलीलया गमयामास।

एकस्मिन् दिने भ्रातृमिलनायोत्सुकोऽर्जुन इन्द्रं प्रत्युवाच—हे स्वामिन् ! भो इन्द्रनरेन्द्र ! तवाज्ञया भ्रातृमिलनाय तत्र वने यामि, यत्र मे बान्धवा वर्तन्ते । तदा इन्द्रेणैकं दिव्यं विमानमेकं च दिव्यं रथं चन्द्रचूडं च सारथिं दत्त्वा विसर्जितो धनञ्जयस्तस्मिन् विमाने आरूढश्चित्राङ्गदादिविद्याधरैः परिवृत इन्द्रेणापि कतिपय-भुवमनुगतो मङ्गलजयजीवेतिलब्धाशीः प्रतस्थे । ततः कियन्तं मार्गं गतादनन्तरं धनञ्जयेनेन्द्रः प्रकटितबहुस्नेहः प्रकटितनयनाम्बुदश्च निर्वर्तितः । अथ चित्राङ्गदकिरीटिनौ मार्गे वार्ता कुर्वाणौ चन्द्रचूडेन सारथिना विमानाऽऽरूढौ वियन्मार्गेण जग्मतुः । प्रथममर्जुनो विद्याधरैः परिवृतोऽष्टापदशत्रुञ्जयसंमेतादितीर्थान् नत्वा ततश्चारणश्रमणसाधून् नत्वा तेभ्यो धर्मलाभाशिषं लात्वा ततो गन्धमादनं समागात् ।

परमर्जुनागमनपूर्वं मात्रा अङ्गस्फुरणचिह्नं ज्ञातम्—यदद्य पुत्रेण सह सङ्गमो भविष्यति; भ्रातृभिरपि ज्ञातम्—अद्यास्माकं धनञ्जयेन सार्धं मिलनं भावि । एवं ते स्वजना यावता चिन्तयन्ति स्म तावद्धनञ्जयस्तत्समीपं समागात् । तेषून्मुखेषु फाल्गुनो वेगादागत्य जननीपादयोर्न्यपतत् । जनन्यपि सुधाशीतेन पाणिना वारं वारम्, अङ्गं स्पृशन्ती प्रमोदाश्रुभिः सुतं सिषेच । तत उभाभ्यामपि पाणिभ्यां मूर्ध्ना नतं सुतं समुत्थाप्य पृथा मूर्ध्नि आजिघ्रत् । पार्थश्च ज्येष्ठबान्धवानपि यथायोग्यं नत्वा लघुभ्रातृभ्यां नमस्कारं गृहीत्वा कृष्णां च संभाष्य युधिष्ठिराभ्यर्णे समुपाविशत् । ततो युधिष्ठिरेण पृष्टो धनञ्जयवृत्तान्तो धनञ्जयेन संज्ञितश्चन्द्रशेखर आमूलचूलतो वृत्तान्तं समाचख्यौ । तमर्जुनवृत्तान्तं श्रुत्वा विस्मिताः सर्वेऽपि बान्धवास्तं धनञ्जयं वारं-वारं प्रशशंसुः ।

भ्रातृ्णा परस्पर-मिलनम्

अथाऽर्जुनेनोक्तं सर्वेषां नभश्चराणाम्—भो भो विद्याधराधीशाः ! युष्माभिः समये पुनरुपस्थातव्यं, साम्प्रतं स्वस्थानं गच्छन्तु इत्युक्त्वा धनञ्जयेन ते सर्वेऽपि विद्याधरा विसृष्टाः सन्तो विमानाऽऽरूढाः स्वस्थानं जग्मुः । तत्र गन्धमादने तेषां पाण्डवानां सुखेन कालो याति स्म । एवं भूयसा कालेन पाण्डवैः सह क्रीडाजुषः

प्रियाया द्रौपद्या उत्सङ्गेऽन्यदा पवनाहृतं सहस्रपत्रं सहसा पपात । तत् सुवर्णवर्णं कमलं वारं-वारं निरीक्षमाणा द्रौपदी तस्मिन् पङ्कजे प्रीता भीमं बभाषे—भोः प्राणेश ! ईदृशानि नलिनानि कुतोऽप्यानीय ममार्पय । ततो भीमो ज्येष्ठबन्धुं समनुज्ञाप्य नलिनाऽऽनयनाय मारुतसंमुखं गन्धवाहानुसारतो दूरे गतस्तत्सरोवरं प्राप । इतोऽत्र धर्मपुत्रादीनां भ्रातॄणां चतुर्णामनेकानि दुर्निमित्तानि आपत्सूचकानि प्रादुर्भवन्ति स्म ।

अथ तान्याह—अकाले गर्जितानि, दिवा शिवाविरुतानि, गन्धर्वदिग्दाहादीनि । इत्यादिबहुतराणि दुर्निमित्तानि दृष्ट्वा चिन्ताऽऽतुरो युधिष्ठिरो बन्धूनाह—भो बान्धवाः ! एतैर्दुर्निमित्तैरस्माकं काचिदापत् साम्प्रत सुलभा दृश्यते । एवं यावत् कथयति स्म—तावत्तस्य पुरतो द्रौपदी बभाषे—भोः प्राणेश ! तव भ्राता कमलाऽऽनयनाय गतः परं नागतः, तत्किं कारणम् ? । युधिष्ठिरेणोक्तम्—भो बान्धवाः ! यत्र पवनात्मजो वर्तते तत्राऽस्माभिरपि गम्यते, यतस्तस्मिन् सन्निहिते विपदो दुस्तरा न स्युः । ततश्चलिताः सर्वेऽपि मार्गे गिरिभिर्विषमात् पथः कथञ्चन ललङ्घिरे । मार्गे एकस्या महानद्यास्तीरे वटस्याधो युधिष्ठिरः सपरिकरो निविष्टश्चिन्तयति स्म—भीमं विना कोऽस्मानस्या नद्याः पारं प्रापयिष्यति ?, तथा कोऽस्मान् भीमेन सह सङ्गमयिष्यति ? ।

भीम-स्यानागमनात् चिन्ता

अथाह पार्थः—भो बान्धव ! तवाज्ञया विद्यासामर्थ्यतोऽहं सर्वं तवेप्सितं करोमि, यतो मे विद्या वशंवदाः वर्तन्ते । तदा युधिष्ठिरो बभाषे—अस्मिन् स्वल्पे कार्ये किं विद्यया प्रयोजनम् ?, साम्प्रतं हिडम्बास्मरणं क्रियते, यतस्तयोक्तमिति—उत्पन्ने कार्येऽहं स्मरणीया, इत्युदीर्य युधिष्ठिरो हिडम्बां सस्मार । साऽपि स्मरण-मात्रेण ससुता प्रादुर्बभूव । तया ते युधिष्ठिरादयः सर्वेऽपि उत्पाट्य भीमान्तिके मुक्ताः । तेऽप्यात्मानं भीमान्तिके ददृशुः । अथ युधिष्ठिरो बालकुमारसहितां हिडम्बां प्रोचे—हे गुर्वादेशकुशले ! तवाऽस्ति कुशलम् ?, कोऽयं बालो लघुर्भीम इव महान् ? । तद्राज्ञोक्तं वचः श्रुत्वा हिडम्बा जगाद ।

यतः—"अथ सा कथयामास देव ! स्मरसि यत् पुरा । अन्तर्वत्नी विसृष्टाऽहमेकचक्रावनात् त्वया ॥१॥
गताया मे पितुर्गेहे तनयोऽयमजायत । विद्याभिः पात्रलाभेन मुदितं यस्य जन्मनि" ॥ २ ॥

ततः सुमुहूर्ते सकलज्ञातिचक्रेण घटोत्कच इति नाम दत्तम् । सोऽयं घटोत्कचस्तव भ्रातृपुत्रः । अथ ते पाण्डुतनयाः सर्वेऽपि स्नेहलहरीतरङ्गितास्तं बालं स्वोत्सङ्गे कृत्वा चाऽऽलिङ्गनं दत्त्वा वारं-वारं मूर्ध्नि चुचुम्बुः । एवं ते प्रेमपरायणाः सन्ति स्म । हिडम्बां च स्वस्थाने प्रेषयामास युधिष्ठिरः । अथोज्जृम्भन्नवाम्भोजं सरो दृष्ट्वा स्वयं तस्य सरसस्तीरे सेतोरुपरि तस्थुषां स्वबन्धूनां सरसः श्रियं भीमो दर्शयामास । द्रौपद्या मुखाम्भोजजितानीव पद्मानि लज्जया सरोमध्यमवगाहन्त इव; इमां भीमगिरं श्रुत्वा द्रुपदात्मजा निजं दक्षिणाक्षिस्फुरणं कथयति स्म । सर्वैः पाण्डवैश्चिन्तितम्—किमप्युपद्रवः पुनर्भविष्यति ।

तदा युधिष्ठिरः तत्सरःसेतौ पुन्नागवृक्षस्याधो मातुः पादौ स्वोत्सङ्गसङ्गिनौ कुर्वन् उपासामास । अन्ये पाण्डवा रम्यासु वनराजिषु कृष्णया सह स्वैरं रेमिरे । ते पाण्डवास्तरून् समारुह्य प्रियायै पुष्पफलानि च समानीय ददुः । तत्पुष्पफलानि समादाय श्वश्रूसमीपे समागत्य तत्र पुष्पाणि मुक्त्वा पुनः स्वयं पुष्पावचयं कुर्वाणा प्रियैः स्कन्धमारोप्य पूर्णमनोरथा चक्रे । ते पाण्डवाः कुसुमाभरणानि कृत्वा प्रेम्णा प्रियां परिधाप्य मुदं प्रापयन् । तस्यां क्रीडायां द्रौपदी केतकीदलदीर्घेण कटाक्षेण कमलाऽऽहरणाय भीमं प्रेरयामास; भीमः सरस्तीरे गदां त्यक्त्वा कमलानयनाय तडागं विवेश; पाथोधिं मेरुरिव ।

भीमस्य तडागे प्रवेश

भीमस्तरणकौशलं स्वबन्धूनां दर्शयामास । एवं बहुधा जलकेलिं विधाय कमलानि सनालानि सोऽक्षिपत् । द्रौपदी नीरतीरस्था तानि पद्मान्यग्रहीत् । एवं वारं वारं कुर्वन् सरोमध्ये गत्वा भीमोऽन्तर्जलं ममज्ज । तस्मिन्

जले क्षणाददृश्योऽभूत्। तावद् द्रौपद्या पूत्कृतम्—आः! भो.! किं जातम्?, प्राणेशः केनचिद् दुष्टग्राहेण गृहीतः। तत् श्रुत्वा कुन्ती बाढस्वरेण पूच्चक्रे।

यथा—"अर्जुनार्जुन! धावस्व वेगतो भीममाकृष। कश्चिद् दुष्टाशयो ग्राहः सूनुं मे नूनमग्रहीत् ॥१॥

इति कुन्तीगिरा पार्थः समर्थः शत्रुनिग्रहे। ददावन्तर्जलं झम्पां दीपे शलभवद् द्रुतम्" ॥२॥

कुन्त्या पूत्करणम्

अर्जुनोऽपि तथैव जले गत्वा ममज्ज। नकुलेन चिन्तितम्—मद्बन्ध्वोः शुद्धिं समानये इति विमृश्य नकुलोऽपि तथैव गत्वा जले न्यमज्जत्। सहसाकारेण सहदेवोऽपि तस्मिन्नेव जलेऽपतत्। हा! हा! विधिनैतत् किमारब्धम्? इति विचिन्तयन् युधिष्ठिरः कृष्णाऽन्तिकमुपागत्य कुन्तीमजल्पत्—हे मातः! अकस्मात् किमेतत् मम बन्धूनां समुपस्थितम्?, यतो मे बान्धवा बाहुभ्यां सागरं तरीतुं समर्थाः, तेऽप्यस्मिन् सरसि ब्रुडिताः, तर्हि नूनं दुष्टेन केनचिद् ग्राहेण ग्रस्ताः, अथवा केनचिद् दुष्टेन देवेन वा दानवेन वा पाशैर्बद्धाः। हे मातः! तवाज्ञयाऽहमपि तत्र गत्वा तेन सह संग्रामं विधाय मम बान्धवान् मोचयामि।

अथ युधिष्ठिरं प्रति जननी बभाषे—वत्स! त्वमपि गच्छ, तत्र गत्वा स्वबन्धून् मोचय। हे मातः! मयि तत्र गते तव समीपे कः स्थास्यति?। मात्रोक्तम्—मम समीपे पञ्च परमेष्ठिनस्तिष्ठन्ति, त्वं स्वस्थमनास्तत्र गत्वा चतुर्णां पञ्चमो भव। युधिष्ठिरोऽपि गत्वा सरोवरे तथैव झम्पामदात्, सोऽपि सरोवरेऽदृश्योऽभूत्। एवं पञ्चापि पाण्डवाः सरोवरे मग्नाः। तान् दृष्ट्वा दुःखितो भास्करः पश्चिमाम्भोधौ पतिष्यन्निव चचाल। पश्चिमसमुद्रे गत्वा पाण्डवदुःखाक्रान्तो दिनमणिर्महार्णवे ममज्ज। तदा तिमिरैरुज्जृम्भितं, घूकैर्गर्जितं, खद्योतैर्द्योतितम्।

एवंविधायां यामिन्यां कुन्तीद्रुपदनन्दिन्योर्वाचामगोचरं कष्टमभवत्; तेन कष्टेन द्वे अपि मूर्च्छिते भूमौ पतिते। वनवातेन पुनर्लब्धचैतन्ये एवं विलपतः स्म। हे वत्साः! स्वच्छमानसानां भवतां केयं दुस्थाऽवस्था जाता? कृष्णाऽप्येवं विलपति स्म—हे प्राणेशाः! भवतो विना त्रियामा मम कथं यास्यति?। एवं विलपन्ती स्नुषां दृष्ट्वा कुन्ती निवारयति स्म—हे वत्से! अस्तोकशोकाऽऽक्रान्ता रोदनं मा विधेहि; यतस्तेषां मुनिवरैः पुराऽऽख्यातम्—एते पाण्डवाश्चिरं राज्यं करिष्यन्ति, जीवितं विना राज्यं न भवति, अतः कारणादापदाऽन्तं कृत्वा पुनरपि लब्धराज्या राज्यं करिष्यन्ति, इत्याद्युक्त्वा कुन्त्या रोदनाद् द्रौपदी निवारिता। द्रौपद्याह—मातः! एतत्सर्वमनर्थं कमलाऽऽहरणादि मयाऽकारि। कुन्ती कृष्णां प्रत्युवाच—हे वत्से! तव कोऽपि दोषो नास्ति, यतोऽवश्यं भाविनो भावाः केनापि न निवार्यन्ते। पुनः कुन्ती स्वकरमुर्ध्वीकृत्यैवमुवाच—

यथा—"ममार्हन्नेव देवश्चेद् गुरवश्च सुसाधवः। घ्नन्तु विघ्नं सुतानां मे ततः सम्यग्दृशः सुराः ॥१॥
उक्त्वेति कुन्ती स्मृत्वा च पञ्चाऽपि परमेष्ठिनः। प्रलम्बितभुजावलिः कायोत्सर्गमसूत्रयत्" ॥२॥ द्रौपद्या· प्रार्थना

द्रौपद्युवाच—हंहो सुरकिन्नराः! अशेषं व्यापारं विमुच्यैकमेव वचः श्रूयताम्—यदि सुधांशुधवलं शीलं मम जानीथ तर्हि प्राणेशानां यूयं सांनिध्यं कुरुत। इत्युक्त्वा सा जिनान् ध्यायन्ती ग्रावोत्कीर्णपाञ्चालीव पाञ्चाली कार्योत्सर्गे तस्थौ। तयोरनुभावाद् व्याघ्रसिंहश्वापदादयः सर्वे परितो मण्डलीभूयाऽतिष्ठन्। एवं राक्षसादयोऽपि दुष्टदेवास्तयोः सेवां चक्रिरे। एवं रात्रिर्गमिता, तयोर्माहात्म्यनिरीक्षणाय सूर्य उदयाचलमारुरोह; सूर्योदयात् प्रहरे जाते सरोगर्भादऽनणु ज्योतिः समुदजृम्भत। तज्ज्योतिर्मध्यादेकं किङ्किणीध्वानसुन्दरं स्वर्णमयस्तम्भमण्डितं नानारत्नकरम्बितं सुवर्णशिखररम्यं देवविमानं निरगात्। तद्विमानविलोकनाय सरोवरेणापि कमलमिषात्

कोटिशो नेत्राणि निर्निमेषाणि कृतानीव। सरसस्तीरे विमानादवरुह्य पञ्चापि पाण्डवा निस्तीर्णविपदर्णवाः कुन्त्याः पादपङ्करुहं प्रणमन्ति स्म। तैः समं कश्चित् पुमान् दिव्यमूर्तिः समागतः कुन्तीं प्राञ्जलिरेवमभ्यधात्—हे कुन्ति! तव जैनो धर्मः फलितः, एते सविनयास्तव तनयाः पञ्चापि प्रणमन्ति, तत् श्रुत्वा ध्यानादुन्मीलितलोचना कुन्ती कायोत्सर्गं पारयित्वा मृदुपाणिभ्यां निजपुत्रान् वारं-वारं पस्पर्श। सा कुन्ती द्रौपदीमपि करे धृत्वा कायोत्सर्गममोचयत्।

ततस्ते उभे सुखिते दृष्ट्वा श्वापदैरपि पयः पीत्वा स्वयं प्रतस्थे। ततः सपरिवारा एकस्य केसरवृक्षस्याधोऽस्मेरानना कुन्ती न्यषदत्। ततः सा कुन्ती तं देवं पप्रच्छ—भो देवेश! त्वं कोऽसि? केन हेतुनाऽत्र समागतोऽसि?। तेनोक्तम्—तव साहाय्यकृते इन्द्रेण प्रेषितोऽस्मि, अहं हरिणेगमेषी देवोऽस्मि। कुन्त्या पुनः प्रोक्तम्—तर्हि एते मम पुत्रा एतावन्तं काल केन रुद्धाः?, कस्मात् रुद्धाः?, तत् कथय?।

देवोऽपि कुन्त्याः पुरतो बभाषे—हे कुन्ति! कस्यचित् मुनेः केवलोत्पत्तौ इन्द्रस्यासनं चलितं, तत इन्द्रो विमानारूढोऽमुनाऽध्वना गच्छन्नासीत्; अस्मिन् प्रदेशे तवोपरि गच्छतस्तस्य सौधर्मेन्द्रस्य विमानं स्खलितम्, ततः कुपित इन्द्रो बाढस्वरेणोवाच—केन मुमूर्षुणा मे विमानं स्खलितम्?, येन मे विमानं स्खलितं स मम पुरतः प्रादुर्भवतु, तस्याऽहमनेन वज्रेण शिक्षां ददामि। एवं कथयन् वज्रपाणिर्वज्रमुल्लालयन् प्रतिदिशं दृशो व्यापारयामास।

तावद् युवां कायोत्सर्गस्थे प्रेक्ष्य सहस्राक्षः समीपस्थं मां बभाषे—भो नैगमेषिन्! इमे पाण्डवमातृस्नुषे वियोगार्ते; त्व तत्र गत्वा पाण्डवैः सह संयोजय, समाहिते कुरुष्व, यथा मे विमानं मार्गे चलति, एषा कुन्ती मम साधर्मिकी, पाण्डवानां पत्न्यपि शीलवत्त्वात् महिम्नाऽतिशायिनी। अनयोरापदः समुद्धर, याहि, एतयोः स्वेप्सितं कुरुष्व, मनोरथान् पूरय, इद हि नागराजस्य सरः, अस्य केनापि विमर्दः कर्तुं न शक्यते।

यतः—"इदं हि नागराजस्य सरः सागरसोदरम् ।
स चास्य सहते नैव विमर्दमपरैः कृतम्" ॥ १ ॥

अथ द्रौपद्या भीमः कमलानि प्रार्थितः कुतूहलादिह प्रविष्टः, नागलोकैरथाऽऽकृष्टः । ततः क्रमात् चत्वारोऽपि बान्धवा विविशुः । ते नागैर्दुराशयैर्नागपाशैर्बद्ध्वा नागपतेः पुरो निन्यिरे, इति ममेन्द्रेणोक्तम् । अवधिज्ञानेनाऽपि मया ज्ञातं, यथा मया ज्ञातं तथा हे कुन्ति ! मया तव पुरतो निवेदितम् । ममेन्द्रेणोक्तम्— हे हरिणैगमेषिन् ! नागराजसमीपे याहि, तत्र गत्वा तान् विमोचय । सोऽपि पाण्डुसुतान् ज्ञात्वा मोक्ष्यति; ततोऽह इन्द्राऽऽदेशात् नागराजसमीपे गतः; तत्र दृढबद्धान् लज्जयाऽधोमुखान् शोकार्तान् अश्रुपूर्णाक्षान् तव सुतानहमद्राक्षम् । ततस्ते सुतास्तथाविधा नागराजेनापि दृष्टाः ।

अथ नागलोकैर्नागराजो विज्ञप्तः—हे नागेन्द्र ! एभिः पुरुषैर्नलिनीनां शिरांसि कमलमिषाद् लूनानि, तथा एभिः सरोजलं रजस्वलं चक्रे, इत्यादि बह्वपराधः कृतः, अत एते वध्याः; इति नागलोकवचनं श्रुत्वा नागाधिराजो यावत्तूष्णीको बभूव, तावदहं हरिणैगमेषी तत्र गतः । मयोक्तम्—नागराज ! अमी पाण्डवाः, येषां नाम जगत्त्रये ख्यातम् । एष एतेषां राभसिकोऽपराधः, अतः किञ्चित् कोपं मा कार्षीः, अहमपि एतेषां मोचनाय सौधर्मेन्द्रेण प्रहितोऽस्मि, अहं तवान्तिके आगतोऽस्मि । अथैतान् मुञ्च, एते जलकेलिस्था जलचरैरिव तव सेवकैरेतैश्छलेन निरायुधा रुद्धा वर्तन्ते । इमां मामिकां वाचं श्रुत्वा नागराजः स्वयमेवोत्थाय तान् तव सुतान् नागपाशैर्बद्धान् मुमोच; निजासनसमानासने निवेश्य तव पुत्रान् बहु मेने । तेषां च नागानां द्वारसेवां न्यषेधत् प्रबलकोपतो नागराजः । ततस्तेन नागराजेन संतुष्टेन एका मणिमाला दत्ता स्थावरजङ्गमविषापहा, तथैकं लीलाकमलमार्पयत् द्रौपदीकर्णाभरणकृते ।

इन्द्रस्याज्ञा

यथा—"पञ्चानामपि भर्तॄणामिदं क्षेमे भविष्यति ।
भृशं विकस्वराऽऽकारमक्षेमे त्वविकस्वरम्" ॥ १ ॥

ततो नागराजेनोक्तम्—यूयं कियन्ति वासराणि अत्रैव पाताले तिष्ठत, पातालं पवित्रयितुमर्हथ । मया हरिणैगमेषिणोक्तम्—एतेषां पाण्डवानां तत्र किमपि दुःखं नास्ति, तत्राप्येते पाण्डवाः सुखिनो वर्तन्ते, अथ त्वं तथा कुरु यथैतेषां स्नुषाजनन्यौ अतिदुःखेन वर्तमाने सुखमाप्नुतः । ततः पन्नगनाथ आभरणवस्त्राद्यलङ्कारैः सत्कृत्य कियद्भुवं सहागत्य तव पुत्रान् विससर्ज । नागराजो वलमानो धर्मसूनुना नतः स्तुत एवं जगाद—भो धर्मात्मज ! किञ्चिद्याचस्व । युधिष्ठिरेणोक्तम्—यदि वाञ्छितं ददासि तदा तडागरक्षकान् नागान् द्वारसेवां प्रयच्छ । तदा नागराज उवाच—

यथा—"यदाऽऽनुकूल्यं कर्तारः कर्णयुद्धे किरीटिनः ।
मां पुनः सेवितारस्ते शङ्खचूडादयस्तदा" ॥ १ ॥

इति दत्तोत्तरं नागपतिं प्रणम्य न्यवर्तयत् धर्मसूनुः । ततो हे कुन्ति ! एष तव रोधवृत्तान्तः, ततः सुरेन्द्रादेशतस्तव सुताः पञ्चापि समानीय मयाऽर्पिताः; इदं मया सर्वमिन्द्राऽऽदिष्टं समाचरितम्; अतः परमहं भक्तितस्तवेप्सितं किं करोमि ? । कुन्ती बभाषे—हे सौम्य ! तव माहात्म्यं किमुच्यते ?, तन्नास्ति यत् त्वया न सिद्ध्यति, अतः प्रार्थ्यसे—त्वमस्मान् पुनर्द्वैतवने प्रापय, ततो हरिणैगमेषिणा देवेन ते सर्वेऽपि पाण्डवाः समातृपत्नीका विमाने समारोप्य द्वैतवने मुक्ताः, स्वयं सौधर्मेन्द्रान्तिके गतः । सौधर्मेन्द्रोऽपि केवलिमहिमानं विधाय देवलोकं गतः । एवं तेषां पाण्डवानामन्यान्यभूमिषु विचरतां पञ्चवर्षी अतीता । पुनर्द्वैतवने वने

नागराज्ञ. वरप्रदानम्

समागताः पाण्डवाः स्वैरं क्रीडन्ति स्म। तत्र वने नागेन्द्रदत्तं मणिदाम तपःसुतः पर्यधत्त। नागेन्द्रदत्तं पुनः पङ्कजं पाञ्चालीकर्णे ग्रारोपयत्। एवमन्यान्यप्याभरणानि वस्त्राणि च देवदत्तानि पाण्डवाः मातुः पत्न्याश्च परिधाप्य यथेच्छया तस्मिन् वने रेमिरे।

नागेन्द्रेन पङ्कज-प्रदानम्

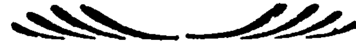
"कदाचिज्जैनेन्द्रस्तवननवगुम्फव्यतिकरैः कदाचिन्मार्गस्थश्रमणचरणोपास्तिविधिना।
कदाचिन्निर्णीतस्वसमयविचारोपनिषदा दिनानि स्वान्येते किमपि चरितार्थान्यरचयन्" ॥ १ ॥

इति श्रीमत्तपागच्छाधिराजभट्टारक–श्री ५ श्रीहीरविजयसूरिपट्टालङ्कारसाम्प्रतविजयमानभट्टारकश्रीविजयसेनसूरिराज्ये पण्डित-श्रीदेवविजयगणिविरचिते पाण्डवचरित्रे गद्यबन्धबन्धुरे किराताऽर्जुनीयतलतालुवधकमलाहरणवर्णनो नाम अष्टमः सर्गः।



अर्हम्

अथ नवमः सर्गः



तस्मिन् द्वैतवने तेषां पाण्डुपुत्राणां सुकृतं कुर्वतामन्यदा दुर्योधनप्रिया भानुमती पाण्डवान्तिक समागात्। तामायान्तीं ज्ञात्वा पाञ्चाली संमुखमागत्य यथोचितं विनयं विधाय कुन्त्यन्तिक समानयत्। साऽपि कुन्तीं धर्मात्मजं च नत्वा पुरो निषण्णा, भीमादिभिः कृतौचित्या द्रौपद्या दत्तमासनमध्यास्त। श्यामसुखी स्ववस्त्राञ्चले मुखमावृत्य रुदती रुद्धकण्ठा किमपि वक्तुं नालं बभूव। युधिष्ठिरेणोक्तम्—वत्से! किं जातम्? मम भ्रातुर्दुर्योधनस्य कुशलमस्ति ?; इति धर्मसुतेनोक्ता सा भृशं रुरोद। ततः कुन्त्या द्रौपद्या च वल्कलाञ्चलेन तस्या अश्रूणि प्रमार्ज्य कुन्त्या पृष्टम्—हे वत्से! त्वं केन कारणेन रोदिषि ?।

भानुमत्यारागमनम्

युधिष्ठिरेणापि पृष्टम्—वारं-वारं किं रोदिषि ?। भानुमत्या तयोः पुरोऽञ्चलं प्रस्तार्य भाषितम्—हे राजेन्द्र! अहं तवान्तिके भर्तृभिक्षां याचे। युधिष्ठिरेणोक्तम्—हे सुन्दरि! मद्बन्धोर्दुर्योधनस्य किं कोऽपि व्यसनोदयो वर्तते ?, येन त्वं भर्तृभिक्षां याचसे। तयोक्तम्—त्वद्बन्धुर्गोकुलविलोकनाय द्वैतवनाऽवनौ स्वैरं समागच्छन् द्वैतवनासन्ने एकं दिव्यं वनमपश्यत्।

तस्मिन् दिव्यवने प्रविशतामग्रसैन्यानां वनपालकैर्निषिद्धम्—भोः सैनिकाः! यूयमस्मिन् वने मा प्रविशत, चित्राङ्गदविद्याधरस्येदं वनम्, अस्मिन् वने यूयं प्रविष्टा मृत्युमवाप्स्यथ; इत्युक्त्वा उद्यानपालेन हक्किता दुर्योधन-सैनिका राज्ञः समीपे गता राजानं दुर्योधनं विज्ञपयामासुः—राजेन्द्र! अस्मिन् वने एकं सौधं देवविमानातिरेकं

द्युसदामपि दुष्प्रापं वर्तते, परं तत्र रक्षकेभ्यः प्रवेशोऽपि न लभ्यते, तर्हि तत्र वने क्रीडा तु दूरे इत्यादिवचांसि श्रुत्वा कुपितो युष्मद्बन्धुः सैनिकानित्युवाच—भोः सैनिकाः! तस्मिन् वने गम्यतां, तस्मिन् वने प्रविशतां यः कोऽपि निषेधयति स भवतां वध्यः।

तद्वचनं श्रुत्वा दुर्योधनसैनिकाः तान् वनपालकान् निर्घाट्य समग्रं सैन्यं वने निवेशयामासुः; ततो युष्मद्बान्धवः प्रगुणीकृतं तत्सौधमध्यास्त। तदावासाभ्यर्णे चतुर्दिक्षु कर्णदुःशासनादय आवासान् कृत्वा सुखं तस्थुः चन्द्रसमीप ग्रहा इव। ततस्तव भ्राता मया सार्धं तस्मिन्नन्दनोपमे वने सुखं चिक्रीड इन्द्र इन्द्राण्येव। अथोच्छृङ्खलश्वमूलोकस्तत्काननं मूलफलपुष्पपत्रग्रहणेनातिमात्रममर्दयत् मत्तो हस्ती नलिनीवनमिव। इतश्च मनोहरैः संख्याऽतीतैर्विद्याधरविमानैर्विद्याधरभटकोटिभिर्व्याप्तं नभोङ्गणं दुर्योधनादिभिः सर्वैः सैन्यैर्ददृशे। ततो भीता वणिज आपणश्रेणिमपनीय पटकुटीमप्युत्सार्य भाण्डानि वाहने निचिक्षिपुः। बालानादाय दुर्गताः स्त्रियः परिकरं बद्ध्वा पलायितुं सज्जीभवन्ति स्म; सुभटकोटयः संग्रामाय सज्जीभवन्ति स्म। राजन्यानां निवासेषु गजाश्वरथाः सज्जीक्रियन्ते स्म; पत्तयः प्रगुणीभवन्ति स्म, तव बान्धवेन हक्किताः सर्वे सैनिकाः।

यथा—सोमदत्तभगदत्तकलिङ्गेशजयद्रथविशल्यभूरिश्रवश्चित्रसेनबृहद्बलसुशर्मकृतवर्मादयो राजानो विद्याधरसेनया सह संग्रामाय ढुढौकिरे। अथ ते परस्परं बाणधोरणीभिः प्रजह्रुः; तथा षट्त्रिंशद्दण्डायुधैश्च प्रजह्रुः। तान्यायुधानि यथा—चक्रधनुर्वज्रखड्गक्षुरिकातोमरकुन्तशूलशक्तिपाशत्रिशूलमुद्गरमक्षिकाभल्लभिन्दमालमुष्टियष्टिगदाशङ्कुपरशुपट्टिशरिष्टिकणयकम्पनहलमुशलगोलिकाकर्तरीकरपत्रतरवारिकुद्दालदुःस्फोटगोफिणदाहबाबडबूस इत्येतानि षट्त्रिंशद्दण्डायुधानि। एभिस्ते परस्परं प्रहरन्ति स्म, परं नैकोऽपि जयपराजयौ लेभे।

वने प्रवेश

तदा तव भ्रात्रा प्रोक्तम्—यूयमपथ्ययुद्धेन युद्धयध्वे, यतो यूयं विमानस्था गगनस्थिता युध्यध्वे वयं तु भूमिष्ठा वाहनारूढा युद्धयामहे। तत् श्रुत्वा विद्याधरा विमानानि त्यक्त्वा समत्सरा भूमिष्ठाः परस्परं युद्धयन्ते स्म। तव भ्रात्रा संमोहनास्त्रं मुक्तम्, विद्याधरेणापि संमोहनास्त्रं मुक्तम्। एवं विद्यास्त्रेणापि स चित्राङ्गदो बलवान्। ततः कर्णो विद्याधरं प्रति योद्धुं दधावे। द्वावपि लघुहस्तौ, द्वावपि समानवयसौ, द्वावपि विद्याबलगर्वितौ, वनेभाविव युयुधाते। राधेय ऊचे—भो विद्याधरेश! अद्य ते बाहुबलं विद्याबलं च द्रक्ष्यते। स विद्याधरोऽप्यवोचत्—भोः कर्ण! यत्त्वं धनञ्जयेन सार्धं स्पर्धसे तत्ते विक्रममद्य ज्ञास्यते, इत्युक्त्वा तौ मिथः सायकान् निचिक्षिपतुः। तयोः सुभटस्पृहणीययोर्महारणो बभूव।

अथ विद्याधरेन्द्रेण मर्मणि ताडिते कर्णे तत् सैन्यं कर्णसहितं पलायाञ्चक्रे। कर्णसैन्यं भग्नं दृष्ट्वा विद्याधरे क्रुद्धो भवद्बन्धुर्निखिलैर्बन्धुभिः सहितो वीरंमन्यमानो योद्धुमढौकत। तदा भवद्बन्धुमखर्वगर्वपर्वतं ज्ञात्वा विद्याधरो बभाषे—हे सुयोधन! तवायं किं दोर्मदः?, अथ किं श्रीमदो वा?। यदस्मदीयमुद्यानं विलुम्पसि, यदस्मदीये दिव्यभवने स्वेच्छया क्रीडसि, इति जल्पन् विद्याधरः शितैर्बाणैस्तव बन्धुं जघान, तैर्घातैर्जर्जरो भवद्बन्धुर्भ्रातृशतसमन्वितो विद्याधरैर्बद्ध्वा निजं सौधं नीतः। सर्वेषां पादैर्निगडान् दत्त्वा, ततः सर्वेऽप्येकश्रृङ्खलया बद्ध्वा आतपे धृता अतिदुःसहां व्यथां सहन्ते। अहं पत्युर्देवराणां च दुःखं दृष्ट्वा तादृशीं दशामसहमानाऽत्युच्चैः कृताक्रन्दा रणक्षेत्रं समागता।

ततो मया जयद्रथस्योक्तम्—भो जयद्रथ! तव शौर्यं क्व गतम्?। हे बृहद्बल! तव बलं क्व गतम्?। हे कलिङ्गेश! तव लज्जालेशोऽपि नास्ति?। यत्तव पुरत एष मम स्वामी निगडैर्बद्ध्वा आतपे धृतो दुःखं सहते। ते सर्वे ममैतद्वाक्यं श्रुत्वा गतलज्जाः कण्ठगतप्राणा दिशो दिशं नंष्ट्वा विषमाऽवनीं जगृहुः। अथ ते विद्याधरास्तव बान्धवं निगडैर्निगडितं बान्धवसहितं विमाने आरोप्य इतस्ततो भ्रान्त्वा पुनः स्वसैन्यैः समायान्ति

स्म । ते भ्रातरो लज्जयाऽधोमुखाः क्षितिं विविक्षव इव तिष्ठन्ति । कर्णो बाणघातजर्जरं तव भ्रातरं तथाविधं दृष्ट्वा जीवन्मृतावस्थमात्मानं मन्यते स्म ।

युधिष्ठिर-स्याश्वासनम्

एतद् वृत्तान्तं चारमुखात् श्रुत्वा भीष्मद्रोणकृपा धृतराष्ट्रस्य वेगाद्राज्यं समर्प्य स्वयमिह समाययुः । मां रुदतीं दृष्ट्वा गाङ्गेयो बृहत्तातो मां सगद्गदमभाषत—हे वत्से ! मा स्म रोदीः, ईदृशी भवितव्यता, मया निषिद्धोऽप्यत्रागत्य एवंविधे सङ्कटे पतितः । भावि केन निवार्यते ? । हे वत्से ! तव पतिर्युधिष्ठिरं विनाऽन्येन केनापि न मोचयिष्यते, अतस्त्वमेकं तपसःसुतं शरणं प्रपद्यस्व । स धर्मात्मजो धर्मवान् त्वद्भर्तुः कृतमपकारं न स्मरिष्यति । त्वं तत्र शीघ्रं याहि, यतोऽसौ विद्याधरः स्वां पुरीं यियासुस्तव भर्तारं सह गृहीत्वा यास्यति, तदा विरूपं भविष्यति ।

एवमुक्त्वा गाङ्गेयेनाहं प्रेषिताऽस्मि । हे देव ! हे धियां निधे ! अथ यथोचितं विधेहि, हे कुरुकुलज्येष्ठ ! हानिः शोभा च तवैव, इति भानुमतीवाचं श्रुत्वा यावता द्रौपदी किमपि जल्पितुं सज्जीबभूव, तावद्भीमेन वारिता तूष्णीं बभूव । अथ भीमो वाचमुवाच—हे प्रिये ! तव केशग्रहणसंभवं पापं दुर्योधनस्याऽधुनैव फलितम्, तव पश्यन्त्या एव वैरं दैवेन वालितम्, इत्युक्त्वा भीमे तूष्णीके राजा उवाच—हे भानुमति ! मद्बन्धोर्दुर्योधनस्य कीदृग् व्यसनं समाययौ ? । अथ त्वं चिन्तां मा विधेहि, तं मद्बन्धुमहं मोचयिष्यामि, इति वचनैः स्नुषां भानुमतीमाश्वास्य युधिष्ठिर एकान्ते गत्वा भीमस्य याज्ञसेन्याश्च पश्यतः पार्थमभ्यधात्—

यथा—"बद्ध्वा केनापि पापेन गृहीतं व्योमचारिणा ।
गच्छ वत्स ! जवाद्वत्सं विमोचय सुयोधनम्" ॥ १ ॥

अथ भीमोऽभ्यधात्—

"गरदानजलक्षेपद्यूतकेशग्रहादयः । अपकारा रिपोरस्य कथमार्यस्य विस्मृताः ?" ॥ १ ॥

राजा ऊचे—हे वत्स ! मम कनीयसो बन्धोः पराभवो ममैव स्यात् ।

यथा—"एते शतं वयं पञ्च यावद्वैरं परस्परम् ।
परैस्तु परिभूता हि वयं पञ्चोत्तरं शतम्" ॥ १ ॥

तद्गच्छ वत्स धनञ्जय ! बन्धनाद् निजं बन्धुं विमोचय, बन्धोरुपकाराय ईदृशोऽवसरः कदा भविष्यति ? । ज्येष्ठस्य बन्धोर्युधिष्ठिरस्य आदेशं लब्ध्वा धनञ्जयो विद्यामुखेन इन्द्रं प्रति चमूं प्रार्थितवान् । तत्क्षणादेव इन्द्रेण भटकोटिसंकुलं स्वसैन्यं प्रेषितम्, स च चन्द्रशेखरः सेनासमन्वितः समागात् । ततश्चार्जुन इन्द्रविमानारूढो विद्याधरसैन्यपरिवृतश्चन्द्रशेखरेण सममेकविमानारूढो गगनाध्वना पथि चचाल । अथ मार्गे पार्थसैनिकाः संमुखमागच्छन्तं विद्याधरसैन्यं संनद्धबद्धसुभटैरलङ्कृतं पुरो ददृशुः । तन्मध्ये दुर्योधनं सानुजं चमूपरिवेष्टितं दृष्ट्वाऽर्जुनसैन्य तं प्रति अधावत् ।

दुर्योधन-मुक्त्यर्थ-मर्जुनस्य गमनम्

अर्जुनसैन्यकैरुक्तम्—भो विद्याधराः ! धनञ्जयबान्धवं गृहीत्वा यूयं क्व यास्यथ ?, तवानुपदिक एषः समागतो धनञ्जयः, यूयं क्व यास्यथ रे विद्याधराऽधमाः ! ?; इति कथयित्वा तीक्ष्णैः शरैस्ते परस्परं युयुधिरे । एवमग्रसैन्ययोर्युद्धे लग्ने कपिकेतुमुदायुधं दृष्ट्वा दुर्योधनश्चिन्तयति स्म—नूनमेष समागतो धनञ्जयो मां मोचयिष्यति परमेतन्मम महद् दुःखदायि भविष्यति—

यतः—"यन्मे बन्दिग्रहादस्मादर्जुनेन विमोचनम् ।
हृन्मर्मभेदकृन्नित्यं मृत्योरप्यधिकं हि तत्" ॥ १ ॥

इति चिन्तापरे दुर्योधने क्षणादेवार्जुनः पुरः समागात् । तावच्चित्राङ्गदो विद्याधराधीशो दुर्योधनबन्दिकारकोऽर्जुनं समालोक्य बाणान् त्यक्त्वा भूमिलुठनैर्यावत्पादयोरपतत्, तावद्धनञ्जयेन बाहुभ्यां धृत्वा स्नेहावालिङ्गितश्चित्राङ्गदः । ततश्चित्राङ्गदो धनञ्जयं विष्टरे निवेश्य स्वयं भूमौ निविष्टः । अथ धनञ्जयः पृच्छति स्म—भोश्चित्राङ्गद ! त्वं किमत्र समागतः ?, तव दुर्योधनेन सह किं विरोधकारणम् ? । चित्राङ्गदः उवाच—विद्यां शिक्षयित्वा त्वया विसृष्टोऽहं स्वां पुरीं प्रतस्थे, मार्गे मम नारदो मिलितः । अहं तस्य पादे पतितः ।

तेनाशीर्दत्त्वोचे—भोश्चित्राङ्गद ! त्वं कथं चिराद् दृष्टोऽसि ?, मम मनस्तव मिलनाय भृशमुत्कण्ठते । भो मुनीन्द्र ! अहमिन्द्रकीलपर्वते आदिदेवनमस्यार्थं गतोऽस्मि, तत्र किरातार्जुनयोर्बलमाकर्ण्य तं द्रष्टुं रथनूपुरं यातोऽस्मि; तस्मिन् अर्जुने दृष्टेऽहं निजान् बन्धून् व्यस्मार्षम्, तस्य समीपेऽहं शस्त्राभ्यासमकार्षम् । एवमन्येऽपि खेचरा इन्द्रतनयादयः शतसंख्याः तस्यार्जुनस्य शिष्यतां प्रययुः ।

तस्य धनञ्जयस्य निखिलेषु शिष्येषु अहमेव प्रियोऽस्मि । तेन धनञ्जयेन स्तोकैरेव दिनैस्ते सर्वेऽपि शस्त्रशास्त्रपारीणाः कृताः । ततो धनञ्जय इन्द्रं समनुज्ञाप्य स्वबन्धूनां मिलनाय गतः । अहमपि तद्विसृष्टश्चिरकालेन निजां पुरीं यामि, भो अर्जुन !, इति नारदाग्रे मया उक्तम् । पुनर्मां नारदोऽवादीत्—भोश्चित्राङ्गद ! त्वद्गुरुं बन्धुभिः सार्धं हन्तुं दुर्योधनः ससैन्यः समुपैति, यदि त्वं पश्चाद् गुरोः शोकं विधास्यसि तर्हि सांप्रतं तत्प्रतीकारोऽधुनैव चिन्त्यताम् । एवं यावदहं नारदेन समं वार्तां करोमि, तावद् ममोद्यानपालकः खेचर आगत्य क्रोधाग्नौ समिधं कथां कथयामास ।

चित्राङ्गदेन सह वार्तालाप

यथा—"अस्ति क्रीडावनं देव ! यत्ते द्वैतवनान्तिके ।
तदेत्योपाद्रवद् दूरं विरोधीव सुयोधनः" ॥ १ ॥

तव प्रियाभिर्येषां पादपानां पल्लवा न लूनास्ते वृक्षसमूहाः खण्डशः कृत्वा त्याजिताः, यद्वनं त्वया सेचं सेचं शश्वल्लालितमपत्यवत्, तद्वनमनेन दुर्योधनेन कदलीवनमिव लूनम् । अथ तस्मिन् वने मरकतस्तम्भं स्फटिकोपलनिर्मितं यत्तव सौधं, तदप्यनेन आरक्षकान् हत्वा अध्यास्तम्, देवैर्दुष्प्रापं यत्तव सौधं, तदप्यनेन भुक्तं धूलिधूसरं विहितम्, इति वनरक्षकस्य नारदस्य च वाचं श्रुत्वा क्रोधारुणलोचनोऽहं सपरिकरो दुर्योधनं हन्तुमुत्सुकोऽधाविषम् । प्रथममनेन दुर्योधनेन युधिष्ठिरोपरि दुर्मनायितम्—एकोऽयमपराधः, तथाऽनेन दुर्योधनेन मम क्रीडावनं विनाशितम्—द्वितीयोऽयमपराधः; अतो मया दुर्योधनो योद्धाऽहमिति मन्यमानो निगडे बद्धो गले शृङ्खलैर्बद्धः सबान्धवः, अतोऽहमेनं न मुञ्चामि ।

एतत् सर्वं समीपस्थेन दुर्योधनेन सर्वं निजचरित्रं कर्णाभ्यां श्रुतम् । भीतो दुर्योधनः—नूनमेष विद्याधरश्चित्राङ्गदो मां सबान्धवं हनिष्यति । तावद्धनञ्जयश्चित्राङ्गदं प्राह—भोश्चित्राङ्गद ! दुर्योधनं मुञ्च, यतो मम बान्धवेन युधिष्ठिरेण दुर्योधनकार्येऽहं प्रेषितोऽस्मि; अत एनं मुञ्च, यतो महात्मानो नतवत्सला भवन्ति । अस्य पत्न्या भानुमत्या मम बान्धवो भर्तृभिक्षां याचितः, तेन त्वमेनं मुञ्च, तत एतां गिरं श्रुत्वा दुर्योधनोऽचिन्तयत्—हा ! धिग् वेधसं, पुनः पुनः क्षतोपरि यः क्षारं क्षिपति; यद्धनञ्जयो वारं-वारं एवं वक्ति, एष विद्याधरो यदि मां हिनस्ति तद्वरं, परं युधिष्ठिराद् यद् मोक्षणं तन्मम भृशं त्रपाकारि ।

ततश्चित्राङ्गदोऽवोचत्—हे धनञ्जय ! युधिष्ठिरोक्तमहं करिष्यामि, यतस्ते मम गुरवः, तेषां वचः शिरोमाल्यवद् मनोरममित्युक्त्वा चित्राङ्गदो बन्धनाद् दुर्योधनं सबान्धवं मुमोच । ततः सर्वेऽपि धनञ्जय-

चित्राङ्गदवद्दुर्योधनादय एकं विमानं समारुह्य परस्परं क्रीडां कुर्वाणाः सर्वेऽपि विद्याधरा द्वैतवने युधिष्ठिरान्तिकमुपागमन्। ततस्ते युधिष्ठिराद्या बान्धवा उन्मुखा विद्याधरविमानैरावृतमर्जुनं लब्धजयं दृष्ट्वा सर्वेऽपि मुदमापुः। भानुमत्यपि प्रियं दुर्योधनं दृष्ट्वा भृशं मुदमाप। अथ ते सर्वेऽपि विमानतः समुत्तीर्य युधिष्ठिरं नेमुः, गलितकुशीलत इव दुर्योधनः तथैवाऽस्थात् साभिमानत्वात्।

यतः—"विषभारसहस्रेण वासुकिर्नैव गर्जति। वृश्चिकस्तृणमात्रेणाप्यूर्ध्वं वहति कण्टकम् ॥ १ ॥
त्यागिना किं दरिद्रेण किं कुलीनेन पापिना ?। तुष्टेन किं कदर्येण दर्पान्धेन बुधेन किम् ॥ २ ॥
सा विद्या या मदं हन्ति सा श्रीर्याऽर्थिषु दीयते। धर्मानुसारिणी या च सा बुद्धिरभिधीयते" ॥३॥

एवंविधो मानपर्वतो दुर्योधन उत्पाट्य खेचरैर्युधिष्ठिरान्तिकं नीतः। तदा कुन्ती वेगादागत्य नीवाराक्षतैस्तं दुर्योधनमवर्धयत्। दुर्योधनो मत्सरात् अनमन्नपि युधिष्ठिरेण राज्ञा बाहुभ्यां धृत्वा वेगादाश्लिष्यत। सतां स्वभावोऽयम्।

यतः—"सुजनो न याति विकृतिं परहितनिरतो विनाशकालेऽपि।
छेदेऽपि चन्दनतरुः सुरभयति मुखं कुठारस्य ॥ १ ॥
दुर्जनवचनाङ्गारैर्दग्धोऽपि न विप्रियं वदत्यार्यः। न हि दह्यमानोऽप्यगुरुः स्वभावगन्धं परित्यजति ॥२॥
हिताय नाऽहिताय स्यात् महान् संतापितोऽपि हि। पश्य रोगापहाराय भवेदुष्णीकृतं पयः" ॥ ३ ॥

इत्यादिस्वजनस्वभावाद् दुर्योधनो दुष्टोऽपि राज्ञा युधिष्ठिरेण संभाषितः। सुजना ईदृशा एव भवन्ति।

दुर्योधनस्य मत्सरता

दुर्योधनमजल्पन्तं दृष्ट्वा युधिष्ठिर उवाच—हे वत्स! त्वमुद्विग्न इव किं दृश्यसे ?, तेजस्विनोऽपि किं दुर्दशां नो यान्ति ?, यथा राहुग्रहे सूर्याचन्द्रमसौ किं न पततः ? । हे वत्स ! दुर्योधन ! त्वं स्वस्थानं याहि, प्रजा अनाथाः संप्रति बाढं सीदन्ति, एवं बहुधा संभाष्य पुष्पफलादिभिर्भृशं सत्कृत्य सुयोधनं विससर्ज । सोऽपि कृष्णमुखः तूष्णींकृत्य लज्जयाऽधोमुखो भुवं विविक्षुरिव अधोमुखस्तस्थौ । अथ ते विद्याधराः चित्राङ्गदचन्द्रशेखरादयो युधिष्ठिराज्ञया अर्जुनं प्रशंसन्तः स्वं स्वं स्थानं संजग्मुः । दुर्योधनोऽपि युधिष्ठिरेण विसृष्टः स्वसैन्यपरिवृतः स्वस्थानमगमत् ।

अथ ते दुर्योधनसैनिका दुर्योधनपराक्रमं निन्दन्तो धनञ्जयपराक्रमं प्रशंसन्तो हस्तिनापुरमगुः । तेषां पाण्डवानां सुखेन द्वैतवनं तस्थुषामेकस्मिन् दिने युधिष्ठिरस्य व्योम्नि प्रसूमरं रजो दृष्टिपथं ययौ । ततस्तैः पाण्डवैः सायुधपादातिकव्रजसंकुलं सहास्तिकमश्वव्रातपरिमण्डितमेकं सैन्यं समापतदवृश्यत । तत्सैन्यात् कुन्तीजामाता जयद्रथो दुःशल्यायाः पतिः समागत्य कुन्तीमानमत् । कुन्त्या आनन्दाशीर्भिरभिनन्दितः कियन्तं कालं पाण्डवैर्मुदा तत्र स्थापितः । धनञ्जयो मातुर्निदेशात् प्रत्यहं जयद्रथं दिव्यया रसवत्या भोजयामास ।

एकस्मिन् दिने जयद्रथो धनञ्जयेन पृष्टः—त्वं किमर्थमत्रागाः ?; तेनोक्तम्—अहं परिणेतुं गतो वलमानोऽस्मिन् वने भवन्तं ज्ञात्वा मिलनाय समागतोऽस्मि । तत् श्रुत्वा मुदितोऽर्जुनस्तं भृशं मेने । तैः सह एकीभूय क्रीडावनेषु क्रीडति स्म । एवं बहूनि दिनानि गमयित्वा एकस्मिन् दिने पाण्डवेषु वनक्रीडां गतेषु जयद्रथः पाञ्चालीं रथे समारोप्य शीघ्रं जहार, जानकीं रावण इव । अहो ! पापिनः पापसंख्या नास्ति; यथा—मेघस्य धारासंख्या नास्ति, दिवि तारासंख्या नास्ति, समुद्रे मत्स्यसंख्या नास्ति, मेरौ सुवर्ण सं०, मातरि स्नेहसं०, सर्वज्ञे गुणसं०, आकाशे प्रदेशसं०, जीवस्य गतभवसं०, सत्पात्रदाने पुण्यसं०, तथा दुर्जने दोषसंख्या नास्ति । सुतरां पोषितोऽपि दन्दशूकः सज्जनं दशत्येव । सा द्रौपदी जयद्रथेन ह्रियमाणा पञ्चानामपि भर्तॄणां नाम गृह्णती

उच्चैश्चक्रन्द । ततस्ते पाण्डवाः प्रेयस्या दुःश्रवं रोदनं शुश्रुवुः । अभ्यर्णवर्तिनौ भीमाऽर्जुनौ क्रोधारुणावधावताम् ।

तौ धावन्तौ भीमाऽर्जुनौ दृष्ट्वा कुन्ती बभाषे—भो वत्सौ ! जयद्रथस्य जीवितं रक्षताम् । दुःशल्या भवद्भगिनी विधवा मा स्म भवेत्—दुःशल्या विधवा न भवति तथा कार्यम् । सिंहादिव शशकः पलायमानो जयद्रथो भीमार्जुनाभ्यां तर्जितः—क्व यासि रे दुरात्मन् ! ?, यदि पौरुषं भवति तर्हि सज्जो भव; यदि पौरुषं नास्ति तर्हि द्रौपदीं त्यक्त्वा स्वस्थानं याहि । एवं भीमाऽर्जुनाभ्यां तर्जितो जयद्रथः संवर्मितचमू रौद्रो रणायाऽभिमुखोऽभवत् । भीमपराक्रमो भीमो दोर्वीर्यमदर्शयत् ।

यथा—"भीमसेनो गदास्तम्भं दम्भोलिमिव दोलयन् ।
दन्तिनः पातयामास सर्वतः पर्वतानिव" ॥ १ ॥

भीमार्जुनाभ्यामेवं विलोडिते सैन्येऽर्जुनेन जयद्रथ एकाक्येव स्वोत्तरीयेण दस्युबन्धं बबन्ध । अथ भीमस्तूर्णं किरीटिनः तूणाद् भल्लीं समादाय तस्य शिरः पञ्चशिखमसुण्डयत् । द्रौपदीं बाहौ धृत्वाऽग्रे कृत्वा एवमवोचत्—हे प्रिये ! एष जयद्रथस्तव चौरो मातृवचनाद् मया जीवन् मुक्तः; एवं विडम्बितो जयद्रथो भीमेन मातृपुरो नीतः । सोऽपि क्रोधारुणाक्षो भीममुवाच—भो वृकोदर ! रे पीनोदर ! रे शौण्डीरतागर्वपर्वत ! रे निर्विवेक ! ममैकं वचो निशम्यताम् ।

भीमस्य कोपः

यथा—"पञ्चानामपि युष्माकं नियतं मृत्युहेतवः ।
पञ्चाप्येते शिखा बद्धा ज्ञायन्तां धूमकेतवः" ॥ १ ॥

तस्यैतद्वचनमनाकर्ण्यैव निर्भयावागत्य भीमार्जुनौ ज्येष्ठबन्धोर्मिलितौ । विसर्जितो जयद्रथः । ततस्ते पाण्डवाः जयद्रथचरित्रं दृष्ट्वा परस्परं हास्यं कुर्वाणाः सुखेन दिनानि गमयन्तो विहरन्ति स्म । अन्यदा तत्र वने पाण्डवसमीपे नारदर्षिः समागतः । तैः पाण्डवैर्मुनिः संमानाऽऽसनदानपूर्वकं विज्ञप्तः—हे मुने ! त्वं केन कारणेनाऽत्र वने समागतः ? । पाण्डवैः पृष्टः प्रमुदितो नारदो मुनिरब्रवीत्—भोः पाण्डवाः ! दुर्योधनो दुरात्मा भवता विसृष्टोऽर्धमार्गे गतो निगडघर्षितपादान् स्वान् बन्धून् दृष्ट्वा कर्णदुःशासनादिबन्धून् समाकार्य एवमभाषत । अहो ! एते पाण्डवा मम शत्रवः केन प्रकारेण हन्यन्ते ? ।

तदा कर्ण उवाच—हे राजेन्द्र ! अनेन पाण्डवेन त्वं चित्राङ्गदविद्याधराद् मोचितोऽसि, अथास्माकं किञ्चिद् न्यूनं नास्ति, तस्मादेभिः पाण्डवैः सह विरोधं मा कार्षीः । धृतराष्ट्रोऽप्येवमभाषिष्ट—भोः पुत्र दुर्योधन ! अनेन विरोधिनाऽपि युधिष्ठिरेण त्वं चित्राङ्गदग्रहाद् मोचितः पार्थेन; एषा हि सुकृतचूलिका । प्रायः सुजना एवंविधाः स्युः । त्व दुर्जनो मा भूयाः, विरोधं मुञ्च, स्नेहं भजस्व, एहि हस्तिनापुरम् ।

धृत-राष्ट्रस्य हितशिक्षा

अथ कर्ण उवाच—हे देव ! हृदये खेदं मा उद्वह, संग्रामे बहुशः शूराः जीयन्ते च, परैरभिभूयन्ते च । तथा त्वया बन्धुभ्यो मोक्षो न स्मरणीयः, यतो विपदः स्मर्यमाणाः पदे-पदे दुःखं कुर्युः, इति कर्णे वदत्येव शिबिरपार्थिवाः सर्वे सम्भूय सुयोधनं संबोध्य हस्तिनापुरं निन्युः । तत्र नगरे गतोऽपि व्रीडया वाटिकाक्रीडा-शैलादिषु न चिक्रीड, किन्तु अधोमुखः शयनीये बहून् दिवसान् निनाय । एकस्मिन् दिने सचिवैर्जागरितोत्साहो हस्तिनापुरवीथिषु एवं पटहं दापयामास ।

यथा-"यः कश्चिदस्त्रैः शस्त्रैश्च मन्त्रैस्तन्त्रैश्च शक्तिमान् । निहन्ति सप्तरात्रेण पाण्डवान् परिपन्थिनः ॥१॥
तुष्टो दुर्योधनस्तस्मै स्तम्बेरममनोरमम् । विश्राणयति राज्यार्धमिति सोऽस्मिन्नघोषयत्" ॥२॥

एतद् डिण्डिमं श्रुत्वा पुरोचनपुरोधसः सोदरः सुरोचनो नाम्ना क्रूरात्मा लाक्षागृहदग्धभ्रातृवैरं स्मरन् डिण्डिमं वारयामास। ततः सुरोचनः पाटहिकैर्दुर्योधनसंनिधौ नीतः। ततः स उद्धतः स्वशक्तिव्यतिकरं कथयामास—भो राजेन्द्र ! मया पूर्वं कृत्या राक्षसी आराधिताऽस्ति, सा ममोक्त्या षट्खण्डपृथ्वीमण्डलं ग्रसेत, तस्याः पुरतः केऽमी वराकाः पाण्डवाः ? । भो दुर्योधन ! इतः सप्तमे दिने तवाभीष्टं सर्वं करिष्ये। यतोऽमी पाण्डवाः पुरोचनवधाद् ममापि वैरिणः। एवं सुरोचनवाचं निशम्य दुर्योधनो मुदमाप, तं प्रसादपात्रं विदधे। अथ स सुरोचनो राज्ञः प्रसादमासाद्य गृहे गत्वा तेन तेनोपचारेण जपहोमादिकर्मभिश्च कृत्यां राक्षसीमारराध। अहमेतत्स्वरूपं भीमं युष्माकं कथनाय समागतोऽस्मि।

सुरोचनो दुष्टविद्यासिद्धो विप्रोऽतिक्रूरमनाः क्षुद्रेषु कर्मसु कृत्यां प्रवर्तयन् प्राणसंदेहकृद् भविष्यति, इत्युक्त्वा मुनौ स्वस्थानं गते भीमो बभाषे—भो बान्धवाः ! एषोऽहं गदामादाय कृत्याऽभिमुखं गत्वाऽनया गदया तां क्षुद्रां कृत्याराक्षसीं चूरयिष्यामि, पुनस्तां कणशः कृत्वा दशदिग्वधूनां बलिं दास्ये। ज्येष्ठो भीममभाषिष्ट—भो बान्धव ! त्वयि सर्वं भवत्येव, परं रक्षोजातिस्त्वतिक्षुद्रा नानाकपटकारिणी अदृश्यवैरिणी बलवद्भिरपि जेतुं न शक्यते, सा कृत्या धर्मेणैव जीयते, नान्येन केनचित्।

पुनर्युधिष्ठिरो बभाषे—भो बान्धवाः ! सर्वैरपि धर्मे यत्नो विधेयः, इति धर्मसुतस्याऽऽज्ञां हृदयेऽवधार्य चतुर्विधाहारं प्रत्याख्याय सर्वेऽपि सप्तवासरीं यावत् पञ्चपरमेष्ठिस्मरणपरायणा उटजप्राङ्गणे तस्थुः। ते कदाचिद् गोदोहिकासने तस्थुः, कदाचिदुत्कटिकासने, कदाचिद् वीरासने, ब्रह्मचारिणो जितेन्द्रियाः। एवं पञ्चापि पाण्डवाः क्रमेण षड्वासराणि गमयामासुः। किरीटी एकपादेन प्रतिमासितो मन्त्रराजैकमानसो ध्यानेनैव षड्दिवसीं निन्ये। कुन्तीकृष्णे अपि षड् दिनानि अर्हद्ध्यानपरायणे तस्थतुः। कृत्योपसर्गसोत्कण्ठाः पञ्चापि पाण्डवाः शस्त्राणि संनिधौ विधाय सप्तमेऽह्नि पञ्चपरमेष्ठिस्मरणतत्परा धर्मध्यानं विविशुः।

पाण्डवाना
विद्या-
साधना

अथ धर्मध्यानस्थितैः पाण्डुपुत्रैः करभीकण्ठरोमधूम्रः पांशुपूरो व्यलोक्यत । तेन पांशुपूरेण व्याप्तं समग्रं नभस्तलम्, ततो मेघौघवद् हस्तिसैन्यं समागतम्, तत उत्तालफलव्याप्तं नभस्तल तैरश्वीयसैन्यमदृश्यत । अथ वंशयष्टिव्यापृतकराः क्रूराः केचन नराः द्वास्थवर्गीणाः पाण्डवसमीपमागत्य एवं बभाषिरे—अरे वनेचराः ! यूयं पश्चाप्येकीभूय उर्ध्वस्थाः किं चिन्तयथ ?, एतत् स्थानं विमुञ्चत, शीघ्रमितो यात; अत्र धर्मावतंसस्य राज्ञो निवासो भविष्यति । तेषां सैनिकानां वचोभिः क्रुद्धो भीम उपशमं विमुच्य साटोपकोपकम्प्रः सव्येतरपाणिना गदां समादाय अभाषिष्ट—

भीमस्य प्रकोप

यथा—"अभाषिष्ट च रे दुष्टाः ! कः कालेन कटाक्षितः ? ।
बलान्मौलिमर्णि हन्त ! को जिघृक्षति तक्षकात् ? ॥ १ ॥
कः केसरिकिशोरस्य कर्षति स्कन्धकेसरान् ? ।
तिष्ठतोऽत्र सुखेनास्मान् को नु निर्वासयिष्यति ?" ॥ २ ॥

इत्युक्त्वा भीमेन ते दण्डधरा अग्रसैनिकाः क्रोधाद्गले धृत्वा निर्भर्त्स्य कन्दुकवत् क्रोशमात्रभुवं दूरे क्षिप्ताः । ततस्तैरुल्लुण्ठवेत्रिभिर्वण्ठैः शीघ्रं गत्वा संवर्मितां चमूं समानीय निमेषार्धात् सर्वे पाण्डवा अरुध्यन्त । ते पाण्डवाः तत्सैन्यं दृष्ट्वा ध्यानं त्यक्त्वा सावधानमनसः स्वमायुधं जगृहुः । ततस्ते पञ्चापि पाण्डवा आयुधानि गृहीत्वा प्रसृताः सिंहा इव मृगश्रेणीं तां चमूमनाशयन् । सेनाऽनुगाः पाण्डवाः सेनां हक्कयन्तो यावद् दूरे गताः, तावदेकः सुन्दराकृतिः कश्चित् पुमान् नृपलक्ष्म्या संयुतः कुन्तीकृष्णाश्रितमुटजमाविशत् अथ कुन्तीकृष्णे षड्विनोपोषिते धर्मैकतत्परे परपुरुषं समालोक्य क्षोभमीयतुः ।

पाण्डवेषु दूरं गतेषु कुन्तीद्रौपद्यौ उभे भयकातरे नेत्रे निमील्य केवलं हृदि जिनं सस्मरतुः । सोऽपि

पुमान् द्रुपदात्मजां बलाद्बाहौ धृत्वा हयमारोहयन् स्वयं द्वितीयं तुरङ्गमं समारुह्य बाढस्वरेण पूत्कुर्वतीं पाण्डवपत्नीं जहार। अथ पाण्डवाः सैन्यतिरस्कारात् लब्धजया मार्गे प्रत्यावृत्ता द्रौपद्याऽऽक्रन्दं शुश्रुवुः। ततः क्रुद्धाः पञ्चापि पाण्डवाः कान्ताऽपहारिणं पुरुषं समम्येयुः। सोऽपि सैन्यमध्ये समागात्। पुनस्तत्सैन्येन समं पाण्डवा युयुधिरे। अहो ! पाण्डवपौरुषम्—

यथा—"एकतस्तन्नृपाऽनीकमन्यतः पञ्च पाण्डवाः।
तथापि बलिनां तेषां न क्षोभस्य लवोऽप्यभूत्" ॥ १ ॥

तमनुधावन् पार्थो बभाषे—रे दुरात्मन् ! मम पत्नीं हृत्वा क्व यासि ?, इत्युक्त्वा तमनु शराः प्रहिताः। तामर्णवतुल्यां सेनां मन्दर इव गाहमानोऽर्जुनः शुशुभे। तदा स नृपतिर्निजां सेनामर्जुनेन हन्यमानां दृष्ट्वा क्रोधारुणलोचनः कृष्णां केशे धृत्वा कशाघातैरताडयत्। तस्मिन्नवसरे तिरस्कारतापेन, अंशुमालिना शिरस्थेन च, षष्ठोपवासतपसा च, संग्रामाच्च, तेषां पाण्डवानां तालुशोषिणी तृषा प्रादुर्बभूव। प्रकर्षेणात्यन्तपीडितो धर्मात्मजो बान्धवान् बभाषे—भो बान्धवाः ! मां तृष्णाऽत्यर्थं बाधते, तया पीडितोऽहं पदमपि गन्तुं न शक्नोमि।

भो बान्धवाः ! इतो नातिदूरे इन्द्रनीलच्छविपत्रैर्विभूषितो न्यग्रोधवृक्षो दृश्यते। तस्य परितश्चतुर्दिक्षु हारीतकपिञ्जलहंसबकादयः पक्षिसमूहाः परिभ्रमन्ति, तर्हि नूनमत्र जलेन भाव्यम्, यूयं तत्र गत्वा पानीयमानयत। एषोऽपि द्रौपदीचौरोऽस्मान् विलोक्य यावद् विलम्बमानोऽस्ति, तावत्पानीयं पाय्यते, पूर्वं पानीयं पीत्वा तत एनं द्रौपदीतस्करं कीनाशदासतां नेष्यामि। इत्युक्त्वा तपःसूनुर्जलानयनाय नकुलं सहदेवं च प्रेषयामास। तावथ तत्र जलाश्रये गत्वा यथेष्टं पयः पपतुः।

मायया द्रौपद्या. अपहरणम्

ततो युधिष्ठिरादिभ्रातृकृते पद्मिनीपुटे जलं भृत्वा यावत्पञ्चषान् क्रमांश्चेलतुस्तावत्तौ अतुच्छमूर्च्छाव्याप्तौ भुवि निपेततुः। अहो! विधिविलसितम्—जीवाः कर्मभिरेवं विडम्ब्यन्ते। अम्बुनो विलम्बं दृष्ट्वा युधिष्ठिरः पार्थमुवाच—भो वत्स! जलाय गतौ नकुलसहदेवौ पुनर्नायातौ, तत् किं कारणम्?, वेगेन त्वं याहि, तत्र गत्वा तयोर्वृत्तान्तं समानय, तूर्णं पानीयमानीय मम तृषां मुषाण।

अथ त्वरितं तत्र गतो धनञ्जयः स्वांसाविव कनीयांसौ बान्धवौ पेतिवांसौ ददर्श। तौ तथाविधौ दृष्ट्वा धनञ्जयो बाढं पूत्करोति स्म—हा वत्सौ! युवां केनेमां दशां गमितौ?; हे वत्सौ! युवां द्रुतमुत्तिष्ठतम्, आर्योऽत्यर्थं खिद्यते। एवं वारं-वारं प्रोच्यमानोऽर्जुनस्तटाके गत्वा स्वयं जलं पीत्वा ततः पद्मिनीपत्रे भ्रातृकृते जलं गृहीत्वा यावद्याति स्म तावदर्जुनोऽपि तथैव पतितः। अथ धर्मजो भीममभ्यधात्—भो बान्धव! बन्धुप्रेक्षणकृते प्रहितोऽर्जुनश्चिरगतोऽपि कथं नागतः? बन्धोः प्रवृत्तिं समानय, मदर्थं च जलं समानय, इति ज्येष्ठगिरा भीमसेनस्तस्मिन् सरस्तीरे उपेयिवान्, तत्र स्वान् बान्धवान् मृत्योर्दशां प्राप्तान् दृष्ट्वा भृशं विललाप—हा वत्साः! भवतां केयं दुःस्थाऽवस्था समुपस्थिता?, भो वत्साः! केनाप्यस्मद्विरोधिना कृष्णा गृह्यते, भवतां माता एकाकिनी दुःखं तिष्ठति, यूयं किं सुखसुप्ता इव सुखं तिष्ठत?।

भो बान्धवाः! आर्यस्य युधिष्ठिरस्य पिपासाप्रतिक्रियां कृत्वा ततोऽहं भवतः प्रतिक्रियां करिष्ये। इत्युक्त्वा जलं पीत्वा पद्मिनीपत्रे जलं लात्वा भीमोऽपि तथैव पञ्चषान् पादान् गत्वा पतितः। महतीं वेलां भीमस्यापि ज्ञात्वा तपःसुतो दध्यौ—अहं गत्वा चतुरोऽपि मद्बन्धून् अन्वेषयामि, इति चेतसि चिन्तयित्वा युधिष्ठिरो जलाश्रये गतः। तत्र तान् निजान् बन्धून् पतितान् दृष्ट्वा युधिष्ठिरो बभाषे—

"हा वत्स! भीम! मां त्यक्त्वा किं शेषे निद्रयाऽनया?।
साम्प्रतं साम्प्रतं किं ते सदुःखं मामुपेक्षितुम्? ॥ १ ॥

भीमस्य रुदनम्

दुर्योधनस्य गदया नोरुभङ्गस्त्वया कृतः । न च दौःशासनं वक्षः क्षुण्णं तन्मां किमत्यजः ? ॥ २ ॥
हिडम्बबककिर्मीराः कृतान्तातिथयस्त्वया । महाबाहो ! कृता येन तत् शौण्डीर्यं क्व ते गतम् ?॥३॥
हा वत्स ! पार्थ ! पार्थक्यं प्राणैरपि न ते मम । इयं कथमवस्था ते जीवत्यपि युधिष्ठिरे ? ॥४॥
नाद्याऽपि विहितं कृष्णापराभवनिषूदनम् । त्वमेवं किमु निद्रासि विस्मृताऽरातिविक्रमः ?" ॥ ५ ॥

इत्यादीनि दीनवचनानि कथयन् वारं-वारं मूर्छामवाप । पुनः सरःशीतवातैर्लब्धचैतन्य इति विलपति स्म—हे बन्धो वृकोदर ! केनापि पापिना ह्रियमाणा द्रौपदी त्वयैव मोच्या, तत् किं त्वं निर्भरं स्वपिषि ?। हे भीमार्जुनौ ! पूर्णदेशीया द्वादशवत्सरी अभवत्, युवामम्बुधिमुत्तीर्य गोष्पदे कथं ब्रुडितौ ?। हे बन्धो धनञ्जय ! यूयं किं कर्णस्योपयाचितैरीदृशीं दशां प्राप्ताः ?, हे वत्सौ नकुलसहदेवौ ! अहमक्षतो गृहे गतो मातुर्मद्रयाः पुरः किं वक्ष्यामि ?। एवं विलपन्तं युधिष्ठिरं समालोक्य कश्चित् पुलिन्द उवाच—भोः कापुरुष ! केनापि पुरुषेण तव प्रेयसी विलुप्यते, तस्या उत्तरीयमपाकृत्य भृशं कशाघातैस्ताड्यते, साऽपि भवतोऽभिधानं गृहीत्वा आर्यपुत्र ! आर्यपुत्रेत्युक्त्वा सकरुणं रोदिति ।

एते तव बान्धवाः शीतसरसः समीरेण पुनर्लब्धचैतन्या भविष्यन्ति, त्वं तु तत्र गत्वा तावत् स्वां प्रियां त्रायस्व, यतो महापुंसां दाराणामपि अरक्षणे कलङ्कोऽस्ति । तस्य अनेन वचसा क्रुधा ज्वलन् धर्मसूनुः पयः पीत्वा वेगाद् धावन् बन्धुसमीपे युधिष्ठिरोऽप्यपतत् । तदा तेषां पञ्चानामपि पाण्डवानां तथा मूर्च्छा समागता, यथैतेषां व्योमचरैः पञ्चत्वमेव निश्चिक्ये । तस्मिन् मूर्च्छाक्षणे तेषां पाण्डवानां दुःखैः पशवोऽपि ग्रासादिकं मुमुचुः ।

अथ क्षणान्तरे ते पाण्डवाः समस्तभूतानां प्रमोदैः समं नयनान्युदमीलयन् । ततो नलिनीपत्रेऽम्बु कृत्वा

युधिष्ठिर-
स्य
विलाप

रत्नमालया पवित्रीकृताऽम्बुनाऽभिषिञ्चन्तीं तथा स्ववासःपल्लवाग्रेण स्वान् पतीनभिवीजयन्तीं सर्वेऽपि पाण्डवाः पुरतो निजपत्नीं द्रौपदीं ददृशुः; तथा चाऽश्रुपूर्णाक्षीं मातरमपि ददृशुः। ततस्ते पञ्चापि पाण्डवाः समातृपत्नीकाः तद्सरस्तीरे एकस्य वृक्षस्याध उपविष्टाः परस्परं वार्तां कुर्वन्ति स्म।

युधिष्ठिरः प्रियां प्रत्याह—हे प्रिये! तेन तव हर्त्रा पापिष्ठेन किं कृतम्?, कुत्र गतः?, तदाख्याहि। साऽपि सर्वेषां पुरत एवमवोचत्—हे प्राणेश! त्वयि पयः पातुं याते स पापिष्ठो मां मुक्त्वा न ज्ञायते कुत्र गतः?, सा सेनाऽपि कुत्र गता?। सापि न दृष्टा, किन्त्वेकाऽहं तस्मिन् कानने इतस्ततः पर्यटन्ती व्यालानां भयङ्करारावान् शृण्वती भयातुराऽभवं, तावत् कश्चित् शबरः शीघ्रं समागत्य मामवादीत्—हे भद्रे! मया सार्धं समागच्छ, यथाऽहं तव प्राणेशान् पञ्चापि पाण्डवान् दर्शयामि; किं त्वं शून्ये कानने एकाकिनी परिभ्रमसि?; इत्युक्त्वा तेन भिल्लेन मामत्र समानीय मुक्ता; तेन पुण्यवता माता कुन्त्यपि अत्रानीता; सोऽन्यत्र गतः। अहं श्वश्रूसहिता भवतो मृतप्रायान् अपश्यम्। ततोऽतिदुःखिता यावदहं कञ्चिद् देवं स्मरामि, तावत्सहसाऽहं स्फुटितब्रह्माण्डमिव किलकिलारावमश्रौषम्।

तत् श्रुत्वा मया चिन्तितम्—नूनमेषा राक्षसी समायाति; एवं यावदहं चिन्तयामि, तावदेकां राक्षसीं प्रादुर्भूतामपश्यम्। कथंभूताम्?—श्यामलाकृतिं व्यात्तमुखां दंष्ट्राङ्कुरभयङ्करां पिङ्गचिकुरां पिङ्गाक्षीं गवलमषीमेघवर्णां कृत्तिकाकरां फेत्कारपरिमण्डिताम्, अस्थ्याभरणभूषिताम्, अन्तरिक्षात्समवतीर्णां त्वरितमायान्ती दृष्ट्वा मया चिन्तितम्—एषा कृत्या राक्षसी, इति निश्चितम्। अथैषा पापपरायणा किं करिष्यति?, एवं यावदचिन्तयं, तावत्स एव पुलिन्दः पितेव स्नेहार्द्रमानसो नौ अन्तराले सज्जीभूय तस्थौ। साऽप्यागता राक्षसीपरिवृता युष्मान् मृतान् वीक्ष्य वैलक्ष्यं गता। ततः कृत्या राक्षसेश्वरी अन्यां राक्षसीं प्राह—ब्राह्मणेन दुरात्मना प्रहिताऽहं मृतान् पाण्डवान् पुनः कथं हन्मि? इति कृत्यावाचं श्रुत्वा पुलिन्दो न्यगदत्—

कृत्या-राक्षस्या आगमनम्

यथा—"त्वादृशां मृतकस्पर्शः पिङ्गले ! नन्वमङ्गलम् ।
सरस्यमी विषं पीत्वा मृता एव न संशयः" ॥ १ ॥

हे चण्डि ! हे कृत्ये ! यदि अल्पमपि एतेषां जीवितं भवेत्, तर्हि एते निश्चितं शत्रुक्षयकारकाः प्रभवेयुः, परं मृतकानां भक्षकाः शृगालीसारमेयादयो भवन्ति, अतो भवद्विप्रतारकं विप्रं विलुम्पय सुरोचनं, यथा न पुनरेवं विप्रतारयति । इति शबरोदितं श्रुत्वा कृत्या राक्षसी क्रूरकर्मा गगनेनैव ययौ । युष्माकमन्तिके आर्या कुन्ती समागता, युष्मान् मृतान् दृष्ट्वा यावता मृशं रोदिति स्म, अहमपि रोदनं करोमि स्म, तावन्नागराजार्पितं कर्णस्थं पङ्कजं वीक्ष्य नागराजस्य गिरं संस्मृत्य अहमार्यां कुन्तीमवादिषम्—हे मातः ! मम कर्णोत्पलं यतो विकस्वरं दृश्यते ततो निश्चितं पञ्चापि मम पतयो जीवन्त्येव, केनचित् हेतुना मूर्च्छामुपगताः, अतो हे मातः ! तव पुत्राणां कश्चित्प्रतीकारं विचिन्तय एवं वदन्तीं मां कुतोऽपि समागत्य पुनः कृपालुः शबरोऽब्रवीत् ।

यथा—"कृतं ते चिन्तया भद्रे ! नृपकण्ठविलम्बिनीम् ।
रत्नमालां निधायान्तः कान्तान् सिञ्च सरोऽम्भसा ॥ १ ॥
कृत्वा चेतसि तद्वाचं निषिञ्चामि जलेन वः । युष्मच्चैतन्यलाभाच्च फलितं मे मनोरथैः ॥२॥

देवस्या-
गमनम्

युधिष्ठिरेणोक्तम्—हे प्रिये ! स शबरः क्वास्ति येनावयोरुपकारः कृतः ?, एवं प्रियां प्रति वारं-वारं कथयित्वा धर्मनन्दनः सर्वास्वाशासु दृशौ व्यापारयामास । परं न क्वापि शबरं, न सरः, न तं वटं, न च भिल्लम्, केवलं स्वमुटजान्तिके सकुटुम्बं युधिष्ठिरः स्वयं ददर्श । ततश्चिन्तयति स्म—किमेतदिन्द्रजालं ?, किं वा देवनिर्मितो मम मतिविभ्रमः ?, किं वा मे मतिमोहः ?; इत्यादि युधिष्ठिरो यावता चिन्तयति स्म

तावत्कश्चिद्देवो दिव्यनेपथ्यधरो युधिष्ठिरपुरतः प्रादुर्बभूव। स देवो विस्मयविस्मेराननं युधिष्ठिरं प्रोवाच—हे विश्वम्भराऽधीश! त्वया यदेकमना जैनो धर्म आराधितस्तस्येयं वर्णिका, यन्मत्तस्त्वया सौख्यं लब्धम्; यतोऽहं सौधर्मवास्तव्यो वासववल्लभनामा सुरो धार्मिकपालने धुर्योऽवधिज्ञानात् तपोनियमशालिनां भवतां कृत्योपसर्गमुच्छेत्तुं त्वरितं भवदन्तिके समागतोऽस्मि।

ततो मया कृत्रिमां सेनामेनामुत्पाद्य भवतः प्रियां हृत्वा कशाघातमिषाद् मन्दारदामभिः अपूजयम्। एतत् सरोऽपि मया निर्मितम्, अन्येषु लोकेषु पीयूषप्रतिमोदकं, युष्मत्सु विषसोदरं पयोऽपि मया विदधे। ततोऽहं पुलिन्दोऽप्यभवम्। भवद्भिरपि भूयिष्ठं दुष्कृतं भुक्तम्, अथ स्वल्पमवशिष्यते। भवतां तपःप्रभावात् एतत् सर्वं साहाय्यं मया कृतं, यतो निकाचितेषु कर्मसु तपः प्रभवत्येव। इदानीं स्वर्गगमनाय मामनुजानीहि। युधिष्ठिरेणोक्तम्—भो देवेश! त्वं स्वेच्छया स्वस्थानं याहि पुनरप्यवसरेऽस्माकं साहाय्य कार्यम्। देवेनाप्युक्तम्—समये समेष्यामीत्युक्त्वा स्वस्थानं गतः। सूर्योऽप्यस्तं गतः।

अथ पाण्डवानां कुरुराजस्य मत्सरं चिन्तयतां, द्विजन्मनो दुर्विलसितं विभावयतां, कृत्यया कृतं कष्टं च दिवौकसः सौजन्यं विचिन्तयतां सा त्रियामा तेषां क्षणार्धमिव अतिचक्राम। अथ तेषां पाण्डवानां सप्तरात्रमुपोषितानां विलोकनाय सूर्यः पौरस्त्याऽर्णवात् तूर्णं विनिर्ययौ। तान् पारणाविध्यऽभ्यर्थनां कुर्वन्निव स्वकरैर्वारं वारं सहस्रांशुः स्पृशति स्म। अथ वन्यैर्धान्यैः फलैः शाकैश्च द्रौपद्याः करनिष्पन्नैः कुन्ती निजतनयान् पारणाय निमन्त्रयामास।

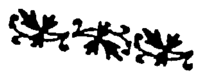
ततस्ते पाण्डवाः सप्तोपवासोपोषिताः सुपात्रदानेच्छया एवं चिन्तयन्ति स्म—मनुष्येषु तेषामवतारो धन्यो येषां पारणावसरे साधुसमागमो भवेत्, एवं चिन्तयत्सु तेषु पाण्डवेषु सत्सु प्रत्यासन्नोत्तरितसार्थात् मूर्तिमान्

धर्म इव चरणन्यासैः पृथ्वीं पवित्रयन् सुचरितसूरिशिष्यो धर्मघोषाभिधो मासक्षपणपारणे तेषां पुरतः समागात् । तं तपोधनमालोक्य हर्षभरनिर्भराः पञ्चापि पाण्डवाः रोमाञ्चकञ्चुकिताङ्गा अशनपानाद्याहारनिकरं सर्वं मुनिपुरतोऽढौकयन् एवमचिन्तयन्—अहोऽस्माकं भाग्यानि फलितानि, यदस्मिन्नवसरे पारणकदिनेऽस्यामटव्याम्, एष साधुः समागतः; इत्यादिभावनां भावयित्वा प्रासुकैषणीयाहारं भाजनान्यादाय सर्वेऽपि समुत्तस्थुः ।

हे प्रभो ! अस्मत्सु अनुग्रहं विधाय इदं प्रासुकैषणीयाहारं गृहाण, यतो महापुण्येन निर्धनैरपि दैवयोगेन निधिर्लभ्यते । मुनिरपि द्रव्यादिभिः शुद्धमाहारं ज्ञात्वा निस्पृहोऽपि हि तेभ्योऽशनपानाद्याहारं समाददे । तस्मिन् समये तत्र देवैः कृतानि पञ्च दिव्यानि जज्ञिरे । यथा—आकाशे देवैर्देवदुन्दुभिस्ताडितः, ततो देवैश्च लोत्क्षेपश्चक्रे । ततो देवैः सुवर्णवृष्टिश्चक्रे, ततो देवैः कृता गन्धाम्बुवृष्टिरपतत्, ततः पुष्पवृष्टिर्देवैः कृता प्रादुर्बभूव । एवं पञ्च दिव्यानि संजातानि । अशनाद्याहारं गृहीत्वा मुनिः स्वस्थानं गतः ।

अथ आकाशस्था काचिद्देवता एवमुवाच—भोः पाण्डवाः ! भवतां शान्तानि पापानि संजातानि द्वादशवर्षाणि । अथ त्रयोदशं वर्षं वेषपरावर्तेन विराटनगरे स्थातव्यं, तत्र भवतां संपदो भविष्यन्ति । इत्युक्त्वा सम्यग्दृष्टिर्देवता स्वस्थानं गता । प्रथमं पाण्डुपुत्राः साधुदानरूपपुण्यमयं पारणं चक्रुः, ततो देहाधारनिमित्तमन्नमयं शरीरस्थितिकारकं पारणं चक्रुः । कृतपारणकाः पञ्चापि पाण्डवाः कतिचिद्दिनानि तत्रैव स्थित्वा देवगुरुधर्मसेवापरायणाः विराटनगरं प्रति गमनं चिन्तयामासुः ।

इति श्रीमत्तपागच्छाधिराजभट्टारक–श्री ५ श्रीहीरविजयसूरिपट्टालङ्कारसंप्रतिविजयमानभट्टारकश्रीविजयसेनसूरिविजयराज्ये पण्डित-श्रीदेवविजयगणिविरचिते गद्यबन्धबन्धुरे श्रीपाण्डवचरित्रे दुर्योधनमोचनकृत्योपद्रवनिवर्तनवर्णनो नाम नवमः सर्गः ।



अर्हम्

अथ दशमः सर्गः



"अथ द्वैतवनात् पाण्डुसूनवो देवतागिरा ।
प्रतस्थिरे गुप्ततमा विराटनगरं प्रति" ॥ १ ॥

गुप्तवेप-धारणम्

ते मातरमग्रे कृत्वाऽनुव्रजन्तः पर्वतारामनगरग्रामाकराविमण्डितां महीमुल्लङ्घयन्तो विराटपुरीपरिसरे पाण्डवाः समाययुः। तं नगरं दृष्ट्वा ते मोहितमनसः क्वचित्सरसि स्नात्वा निर्मलं पयः पीत्वाऽध्वश्रमव्यपगमं व्यधुः। तस्मिन् सरसि एकस्य सहकारतरोरधश्छायायां निविष्टाः परस्परं वार्तां कुर्वन्ति स्म। युधिष्ठिरः प्राह—भो बान्धवाः! यूयं साम्राज्यसौरभ्यसंभोगसुभगा मया कुबुद्धिना इमां दुर्दशां प्रापिताः, यथा भवद्भिर्द्वादशवर्षाणि ममाज्ञया निर्गमितानि, तथैव ममाज्ञया एकं वर्षं वेषपरावर्तं विधाय विराटराज्ञो मत्स्यभर्तुर्गृहे सेवापरायणैः प्रच्छन्नैश्च स्थातव्यम्। युधिष्ठिरोक्तं बन्धुभिः सर्वं प्रतिपन्नम्। तदेवाह—प्रथमं नामपरावर्तः कार्यः—जयो जयन्तो विजयो जयसेनो जयद्बलः।

भो बान्धवाः! आतुरे क्वचित् कार्ये भवतामेतानि नामानि भवन्तु। तं प्रतिपन्नं ज्येष्ठानुशिष्टम्। भो बान्धवाः! भवदायुधानि दृष्ट्वा लोका अस्माकं पाण्डवा इति कल्पयिष्यन्ति। अतो भवदायुधानि कुत्रापि गोप्यन्ते; गोपितायुधानां भवतां कोऽपि नोपलक्षयिष्यति। विजयो जगाद—भो बान्धवाः! अस्मिन् प्रेतवने

एका जीर्णा शमी फणिफूत्कारिकोटरा वर्तते, तस्या अधः क्षिप्तान्यायुधानि न हि कोऽप्यवेक्षिष्यते, इत्युक्त्वा सर्वाण्यायुधानि तत्र पर्वतगुहायां शमीवृक्षासन्नेऽर्जुनो निचिक्षेप। ततस्ते पृथक्-पृथग् वेषान् चक्रुः। स्वयं युधिष्ठिरो महाविप्रवेषं विधाय सर्वेषां पुरतो भूत्वा विराटनगरमाविशत्। ततस्ते पञ्चापि नगरं विलोकयन्तो विराटराज्ञो मत्स्यराजस्य सभायां समुपागमन्।

तेषां पञ्चानां मध्ये जयविप्रं द्वादशाङ्गेषु तिलकान् दधतं कुशपवित्रिकोपेतं यज्ञोपवीतयुतं श्वेतांशुपरिवृतं द्वारे समागतं ज्ञात्वा द्वारपालेन अन्तःसभं गत्वा मत्स्यराज्ञोऽग्रे विज्ञप्तम्—हे राजेन्द्र! तव द्वारे केचित् पञ्च पुरुषाः समागताः सन्ति, भवदाज्ञया अन्तःसभं समायान्ति। राज्ञोक्तम्—समाह्वय। ततो वेत्रिणाऽऽहूताः पञ्चापि राज्ञः सभां समाजग्मुः। मत्स्यराट् तेषां पञ्चानामपि रूपं समालोक्य कौतुकोत्तालमानसश्चिन्तयति स्म—अहो! किं स्वयं धर्मो विप्ररूपेण महीतलमवातरत्?, अथवा अयं सुरगुरुर्मां पवित्रयितुं स्वर्गादिहाऽवातरत्?, यतो ब्राह्मणस्य ईदृगाकृतिर्मया कदाऽपि न दृष्टा। मत्स्यराज्ञा नमस्कृतो जयविप्रो दत्ताशीर्वादो राज्ञा दर्शितासने समुपाविशत्। राज्ञा मत्स्येन पृष्टम्—भो ब्रह्मन्! त्वं कुतः स्थानात् समायातः?।

अथावोचत् जयविप्रः—राजेन्द्र! कङ्कनामा विप्रोऽस्म्यहम्, युधिष्ठिरस्य प्रियमित्रं पुरोहितं त्वं मां जानीहि, प्रत्यहं राज्ञोऽक्षद्यूतकारकः सर्वत्र लब्धजयोऽस्मि; इति श्रुत्वा मत्स्यराज्ञा विप्रस्य पृष्टम्—भो विप्र! एवंविधे त्वय्यासन्ने युधिष्ठिरः कथं हारितः, दुर्योधनेन कथं जितम्?। विप्रेणोक्तम्—तदाऽहं ग्रामान्तरं गतोऽभवम्, मयि ग्रामान्तरं गते दुर्योधनेन मायिना मायां कृत्वा निजं पुरं समानीय अखिलां महीं हारितः। तद्दिनादारभ्य द्वादशवर्षाणि यावद्वनवासिनो जाताः, अथ तेषां क्वापि वार्ता न श्रूयते, कुत्र सन्ति पाण्डवाः?। अथाऽहं मायिनं दुर्योधनं त्यक्त्वा गुणज्ञं भवन्तं ज्ञात्वा सेवार्थमागतोऽस्मि।

ब्राह्मणादिवेषेण युधिष्ठिरादीना राजभवने प्रवेश

मत्स्यराज्ञा प्रोक्तम्—भो विप्र ! त्वं युधिष्ठिरस्येव ममान्तिके निःशङ्कः सुखेन तिष्ठ; धन्यो राजा युधिष्ठिरो यस्य मित्रं भवान्; यतो राज्यश्रीः सुलभा परं भवादृशं मित्रं कुत्रापि न लभ्यते। इत्युक्त्वा सुवर्णमुक्ताद्याभरणानि दत्त्वा पुरोहितत्वेन संस्थाप्य राज्ञा पार्श्वे स्थापितः। कङ्कोऽपि भूभुजा सह क्रीडन् सुखं तिष्ठति स्म। अथ मत्स्यराज्ञा मांसलं महोन्नतं महिषस्कन्धं मूर्तिमन्तं गिरिशिखरमिव पुरो निषण्णं भीमं दृष्ट्वा पृष्टम्—भो महात्मन् ! त्वं कोऽसि ?।

तेनोक्तम्—अहं धर्मजन्मनो राज्ञो वल्लवनामा सूपकारोऽस्मि, सूपकारत्वं मल्लयुद्धं चाहं जानामि, युधिष्ठिरो मां मल्लेन सह प्रत्यहं क्रीडयन् विचरति स्म। एकस्मिन् दिने दुर्योधनेन समं हारितराज्यो वनवासाय ययौ। अहं भवन्तं कलाविशेषज्ञं ज्ञात्वा तव सेवायै उपागमम्। विराटराज्ञा सोऽपि वल्लवः कनकोत्करैः संमान्य सूपकाराऽधीशत्वे स्थापितः। ततो बृहन्नटानुकारां परिहितदुकूलामाबद्धकबरीं कर्णकुण्डलोल्लिखितगण्डां नेत्रेऽञ्जनं वहन्तीमद्भुतरूपवतीं नारीं निरीक्ष्य विराटराज्ञा पृष्टम्—हे सुभ्रु ! त्वं काऽसि ?। तयोक्तम्—नाहं नारी न वा पुमान्, हे राजेन्द्र ! अहं बृहन्नटोऽस्मि, षण्ढोऽस्मि, हे भूपते ! कर्मणां प्रकृतिर्महती, सकलकला-पारीणोऽप्यहं ससारेऽकिञ्चित्करः; यतो मया किमपि न सिध्यति पुरुषकृत्यं स्त्रीकृत्यं च।

यतः—"योषिद्वेषं वहन्नेवमवन्यां विहराम्यहम्।
नाट्याचार्यस्तपःसूनोरभूवं राज्यभूषणम्." ॥ १ ॥

सोऽपि बृहन्नटो हेमस्तोमैस्तोषितोऽन्तःपुरे नीतश्च स्वपुत्रीमुत्तरां कुमारीं तस्मै पाठनायाऽऽर्पयत्। एकस्मिन् दिने कशाव्यापृतकरं बद्धपरिकरं निर्लोमांह्रिपाणिं पथि कञ्चित् पुमांसं दृष्ट्वा राज्ञा अभाणि—भो महापुरुष ! त्वं कोऽसि ?। तेनोक्तम्—अहं युधिष्ठिरमहीपतेः अश्वशिक्षकः, तन्त्रपालाभिधोऽस्म्यहम्, अहं सर्वं वेद्मि।

यतः—"अश्वानां लक्षणं वेद्मि, वेद्मि सर्वं चिकित्सितम् ।
वेशं वेद्मि वयो वेद्मि, वेद्मि वाहनिकाक्रमम्" ॥ १ ॥

राजा अब्रवीत्—भोस्तन्त्रपाल ! तवाकृत्या ज्ञायते, त्वं विद्यावानसि । यतः—'आर्द्रता हि वदत्यम्भः-कुम्भस्य परिपूर्णताम्' । इत्युक्त्वा परीक्षां कृत्वा निजाश्वीयस्य नेतारं भूपतिश्चक्रे । तथैवैकस्मिन् दिने बद्धपरिकरं वंशयष्टिव्यापृतकरं वृषस्कन्धं महाबाहुं विशालवक्षःस्थलं गोपवेषधरं वल्लीबद्धमूर्धजम्; एवंविधमेकं पुरुषं मत्स्यराड् ददर्श । विराटाधीशो मत्स्यराट् तं पुरुषं समाहूय पप्रच्छ—भो महात्मन् ! त्वं कोऽसि ? । तेनोक्तम्—अहं पाण्डवस्य गोकुलाधीशो वल्लवो नाम सकलगोपवर्गनायको गवां गर्भाधानं वेद्मि, तेषां शरीरलक्षणं व्याधिचिकित्सामित्यादि सर्वमहं वेद्मि, इति वल्लवगिरमाकर्ण्य प्रमोदभरनिर्भरस्तं गोकुलाधिपतिं व्यधात् ।

अथैकस्मिन् दिने वैदेशिककल्पितवेषां रूपलावण्यविस्मारितलक्ष्मीकां रतिरूपानुकारिणीं सैरन्ध्र्यनुसारिणीं सुदेष्णाया गृहाभ्यर्णे विहरन्तीं द्रुपदात्मजां सुदेष्णा ददर्श । कुतूहलवती सुदेष्णा राजपत्नी तामाह्वयत् । साऽभ्यागता राजपत्नीं नमस्कृत्य पुरो निषण्णा । नरेन्द्रपत्नी ताम्बूलपूर्वकमभाषत—हे शुभे ! तवाकारो राजपत्नीव दृश्यते, तर्हि त्वं पादचारेण विदेशगमने किं भ्राम्यसि ?, त्वं काऽसि ?, कस्य पत्न्यसि ? ।

तयोक्तम्—पाण्डुराजस्नुषादास्यस्मि मालिनी नाम सैरन्ध्री । द्रौपद्याः स्नानाभ्यञ्जनचूलिकादिकर्म कुर्वाणया एतानि दिनानि सुखेनैव गमितानि । ते पाण्डवाः सपत्नीका दुर्योधनेन समं द्यूतेन हारितराज्या वनवासाय विचरन्ति स्म । दुर्योधनं दुरात्मानं त्यक्त्वा द्रौपद्या सार्धं वनवासाय कृतनिश्चया निर्गता, सा तु वने गता भर्तृभिः सार्धम् । अहं ततो वियुक्ता भवत्याः समीपे समागता । ततः सुदेष्णाऽभ्यधात्—हे सुन्दरि !

वल्लव-
रूपेण
भीमस्या-
गमनम्

मत्समीपस्था सुखेनैवात्र तिष्ठ, तवाऽत्र सुखं भविष्यति, परं यदि त्वां मत्स्यराड् द्रक्ष्यति तदा मां त्यक्त्वा भवत्या समं विचरिष्यति ।

भूयोऽप्युवाच पाञ्चाली—हे सुन्दरि ! तवानया चिन्तया सृतं, यतोऽस्मिन्नगरे गन्धर्वा मम पञ्च पतयो वर्तन्ते, विद्यातिरोहितात्मानो गर्वपर्वता मम साहाय्यं करिष्यन्ति, तस्यानुभावतो मम कोऽपि किमपि वक्तुं न शक्नोति । तत् श्रुत्वा हर्षिता सुदेष्णा तां मालिनीं सैरन्ध्रीं पट्टकूलं परिधाप्य सुवर्णाभरणभूषितां कृत्वा आत्मनः पार्श्वे स्थापयामास । साऽपि सैरन्ध्री सुदेष्णायाः शरीरशुश्रूषां करोति स्म ।

यथा—"मुखवासं वितन्वाना कुर्वती पत्रवल्लरीः । धमिल्लविधये पुष्पैर्ग्रथ्नती ललिताः स्रजः ॥ १ ॥
तैस्तैः सुगन्धिभिर्द्रव्यैरङ्गरागं च कुर्वती । नरेन्द्रपत्न्याः सैरन्ध्री नीरन्ध्रां मुदमातनोत्" ॥ २ ॥

पाण्डवाना सुखेन काल-निर्गमनम्

एवं राज्ञीशुश्रूषां कुर्वाणा सुखं विहरति स्म । तेऽपि पाण्डवा विराटमहीपतेः स्वानि स्वानि कृत्यानि कुर्वाणाः प्रीतिं ताण्डवयामासुः । तथा सर्वेऽपि रात्रौ क्वचिद् गृहे स्थापितायाः मातुः पादानवन्दन्त । एवं सुखेनैव तेषां पाण्डवानां तत्रस्थानां दिनानि यान्ति स्म । त्रयोदशवर्षस्य एकादश मासा जग्मुः । तस्मिन् समये सुदेष्णाभ्राता कीचको मालिनीं सैरन्ध्रीं समालोक्य काममोहितश्चिन्तयति स्म—अहो ! किमेषा लक्ष्मीर्वा ?, किं सरस्वती ?, रतिरम्भाऽनुकारा सृष्टिराद्यैव धातुरीदृशी ।

तां दृष्ट्वा मोहितः काञ्चिद् दूतीं तदन्तिके प्रैषीत् । साऽपि दूतिका मालिनीसमीपे आगत्य एवमभाषिष्ट—हे सखि ! मालिनि सैरन्ध्रि त्वं धन्या—यतः सुदेष्णासहोदरः कीचको रूपमदनोपमस्तव मिलनाय समीहते । तस्याङ्गे स्मरज्वरोऽतीव बाधते, स तवाङ्गसङ्गमादेव शाम्येत् । हे कल्याणि ! सुधारससोदरेण

तव सङ्गेन तं प्रीणय, त्वादृशो हि जनः कृपालुर्भवति। तत् श्रुत्वा कुपिता मालिनी सैरन्ध्री तां दूतीं प्रत्युवाच—रे दूति ! नूनमेष कीचको मृत्युं यास्यति, मम शापाद् भस्मीभविष्यति।

तथा—"यदि स्वरूपमेतत्ते जानीयुः पतयो मम।
तदा न ते न तस्यापि जीवितव्यकथा क्वचित्" ॥ १ ॥

इति मालिन्या भृशमाक्रुष्टा दूतिका स्वगृहमागता। ततो म्लानमुखी दूतिका सर्वं निर्भर्त्सनादिकं कीचकाग्रे गत्वा न्यवेदयत्—अनया मालिन्या त्वदुक्तकथनादनन्तरं मां गले धृत्वा निष्कासिता, ततोऽहं रुदती त्वदन्तिके समागता। तत् श्रुत्वा किञ्चिद् दत्त्वा सा स्वस्थानं प्रेषिता। पुनः कीचकः पाञ्चालीकृते बहूनुपायान् अकरोत्, परं सा मालिनी तस्योक्तं किमपि नाकरोत्। ततः सोऽत्यर्थं काममोहितः कीचकः तां मालिनीमेकान्ते यान्तीं करेऽग्रहीत्, गजेन्द्रेण कमलिनीमिव। सा कीचकेन करे गृहीता, तं कीचकं कठोरवचनैरत्यर्थं तर्जति स्म—रे दुरात्मन् ! किमर्थं मरणमभिलषसि ?, नूनं मत्पतिकराघातैर्निधनं यास्यसि; इति मालिन्या गिरमाकर्ण्य कोपाटोपवशं गतः करं मुक्त्वा यान्तीं पृष्ठे पार्ष्णिना जघान। सा कीचकेन ताडिता राज्ञः संसदि समागत्य भृशं पूत्करोति स्म—हे राजेन्द्र ! त्वयि राज्यं शासति कीचको दुरात्मा मां पार्ष्णिना हन्ति, यदि शरणाद्भयं भवति, तर्हि रक्षकाः के भवेयुः ?।

यदि त्वदीया एवमन्यायं कुर्वते, तर्हि न्यायकारकाः के भविष्यन्ति ?। राजेन्द्र ! निवार्यतां, कीचककृतमपराधं मम पतयो न सहिष्यन्ते, यस्मादहमेकाकिनी नास्मि, मम पञ्च पतयो वर्तन्ते। यदि मम पतयः कीचककृतमपराधं ज्ञास्यन्ति, तर्हि तं मूलादुन्मूलयिष्यन्ति। एष पापीयान् कीचको निर्नाथामिव पार्ष्णिना पृष्ठे हन्ति स्म। कङ्कोऽप्याह—हे सुन्दरि ! यदि ईदृशा एव पतयो भवन्ति, तर्हि एवंविधं कीचकाऽपराधं कथं

मालिन्या राज-सभाया-मागमनम्

सहन्ते ?। हे मृषाभाषिणि ! कुत्र सन्ति तव पतयः ?, इतो याहि, राज्ञः क्रीडतो विघ्नं मा कुरु। इति निर्भर्त्सिता मालिनी सैरन्ध्री पुनरन्तःपुरे समागात्। तस्यामेव निशीथिन्यां मालिनी केनाप्यऽविज्ञाता मन्दपादन्यासा महानसे जगाम। तत्र गत्वा द्रौपदी भीमस्याङ्गुष्ठमानम्य सुखं सुप्तं वृकोदरं जागरयामास।

कीचकस्य कामातुरता

भीमेन रुदतीं द्रौपदीं दृष्ट्वा पृष्टम्—हे प्रिये ! त्वं किं रोदिषि ?। तयोक्तम्—प्राणेश ! कीचको ममाङ्गसङ्गाभिलाषुको भृशं मामुद्वेजयति। तव पौरुषं क्व गतम् ? यदनेनापि एवं विडम्ब्यसे। भीमोऽप्युवाच—हे सुभ्रु ! यदि कल्ये एनं कीनाशदासतां न प्रापयामि, तर्हि त्वं मां कदापि पुरुषेषु मा गणयेः। शृणु ममैकं वचनम्—एष त्वां पुनः कामार्थं प्रार्थयिष्यति, इदं कामान्धानां लक्षणम्। हे मनस्विनि ! स कामुकस्त्वया कपटेनाऽपि माननीयः। ततः किरीटिनो नाट्यशालायां निशीथिन्यां सङ्केतः कार्यः, तव रूपेणाहं तत्र गत्वा तज्जीवितं हरिष्यामि निबिडालिङ्गनच्छलात्। भीमः कान्तया सह इत्यालोच्य विससर्ज।

प्रातःसमये राजमन्दिरं प्रविशन्ती मालिनी पुनः कीचकेन दृष्टा, भाषिता च करे धृत्वा—हे सुन्दरि ! मां भजस्व। कृष्णाऽपि तं स्निग्धमधुरवचनैरभाषिष्ट—भो महात्मन् ! वारं-वारं किं ब्रूषे ?, यदि तव मयैव कार्यं भवति, तर्हि उत्तराकुमार्या नाट्यशालायां रात्रौ प्रथमप्रहरादनु समागन्तव्यम्, तत्राऽहं भवदिच्छां पूरयिष्ये, इति सङ्केतं कृत्वा द्वावपि स्वस्थानं गतौ। पापिनो मरणाकाङ्क्षीव सूर्योऽस्तमियाय। पापपङ्कैरिवात्यन्तं तिमिरैरुल्लसितम्।

तदा निशीथिन्यां गते प्रथमे प्रहरे मालिनीवेषधारी भीमः तां नाट्यशालां विवेश। तस्याः शालायाः कोणे स्थिते भीमे कृतस्नानः पुष्पाभरणभूषितो मालिनीसङ्गाभिलाषुक एकाक्येव कीचको रात्रिप्रथम-

प्रहरादनन्तरम्—हे मालिनि सैरन्ध्रि ! एहि ममालिङ्गनं देहि, मन्मथज्वलितं तवाङ्गसङ्गामृतेन ममाङ्गं निर्वापय; इत्युक्त्वा यावता मालिनीसमीपे समायाति, तावता भीममालिन्या कीचकः तथाऽलिङ्गितो यथा तत्क्षणादेव कीचको मृत्युमवाप। तं परासुतां नीत्वा पादेन मर्दयित्वा मांसं पिण्डीकृत्य गवाक्षेण नाट्यशालाया: बहिः क्षिप्तः।

भीमः कीचकं कीनाशदासतां नीत्वा महानसे समागत्य वैरनिर्यातनं कृत्वा सुखं स्वपिति स्म। प्रभाते शोकोर्मिविवशाः शतशः कीचकबान्धवाः कीचकं मृतं ज्ञात्वा शोकविह्वलाः सर्वे तारपूत्कारमरुदन्। सर्वेऽपि कीचकबान्धवा एकीभूय मिथः पर्यालोचयन्ति स्म—अहो ! कीचकः केन हतः ?। एकेन बन्धुनोक्तम्—एष कीचको मालिन्यां रक्तो जातः, तर्हि नूनं मालिन्या दयितैर्हतः, मालिन्याः कारणेन आत्मीयबन्धुनिधनं गतः; तदेनां मालिनीं कीचकेन बन्धुना सार्धं चितावैश्वानरे क्षिप्त्वा क्रोधं विध्यापयामहे। इति विचिन्त्य कीचकबन्धुनाऽऽकृष्यमाणा मालिनी बाढस्वरेण इति पूच्चक्रे—

यथा—"जयो जयन्तो विजयो जयसेनो जयद्बलः।
यूयं चेत् क्वापि वर्तध्वे तन्मां रक्षत रक्षत" ॥ १ ॥

एते दुरात्मानः कीचकभ्रातरो मां दीनामनाथां वह्नौ क्षेप्तुमिच्छन्ति, इति मालिन्या दीनां वाणीं निशम्य महानसाद् वल्लवनामा सूपकारो धावति स्म। वल्लव ऊचे—भो महापुरुषाः ! यूयं महान्तः कीचकभ्रातरः, किमेनामबलां निरपराधां मारयथ ?, यूयं स्त्रीहत्यापातकात् किं न बिभीथ ? मत्स्यराजाद्वा किं न बिभीथ ?, यदिमामबलां मारयथ ?। तैः प्रोक्तम्—एतस्याः सैरन्ध्र्या निमित्तात् केनापि पुंसा मम भ्राता कीचको हतः, अत एनां बन्धुना सहैव धक्ष्यामः। पुन. वल्लवेनोक्तम्—एनां दीनां मुञ्चत, अस्या यः कोऽपि भविष्यति सोऽपि

भीमेन कृत-कीचक-वध

युष्माभिः सह वैरं करिष्यति। तेऽभ्यधुः—अस्या दुःखेन यस्य शिरःशूलमुदेष्यति, तथा यस्य शक्तिर्भविष्यति, स इमां मालिनी चिताऽनले क्षिप्यमाणां वारयिष्यति। तत् श्रुत्वा कुपितो भीमः समीपस्थमेकं वृक्षमुत्पाट्य एकहेलया अन्यायकारकान् कीचकशतबन्धूनऽवधीत्।

तदा लोके इति वागुदस्थात्—सुदेष्णाबन्धवः कीचकसोदराः दुर्वृत्ता वल्लवेन हता मृत्युं गताः। वल्लवोऽपि मालिनीं स्वस्थाने प्रेष्य स्वय महानसे आजगाम। ततो बन्धुवधं श्रुत्वा सुदेष्णा राजपट्टराज्ञी पूत्कुर्वती साश्रुलोचना भूपमित्यभाषत—हे राजेन्द्र! तवायं प्रसादोऽपि मम विडम्बनायाऽभवत्, यत्तव कर्मकरैरपि मम भ्रातरो हन्यन्ते, प्रथममेकः कीचकारातिर्न ज्ञातः, ततोऽनेन एकेनाऽपि वल्लवेन सर्वेऽपि मम बन्धवो हताः, भवता वल्लवस्य किमपि नोक्तं, तर्हि अहमात्मानमुद्बद्धय जोवितं त्यक्ष्यामि। तत् श्रुत्वा राजा कोमलवाक्यैः राज्ञीं सान्त्वयित्वा एवमभ्यधात्—हे मृगाक्षि! अन्यद् यत् किञ्चित् ब्रूहि तत् सर्वं करोमि, परमेष वल्लवो महाबलवान्, केनापि जेतुं न शक्यते, खलीकृतएकोऽपि वल्लवः सर्वं सैन्यं हन्यात्। अत एनमन्येन केनचिदुपायेन हत्वा सपदि तव बन्धुवैरनिर्यातनं करिष्यामि; साम्प्रतं त्वं तूष्णीका भव।

यतः—"उपायेन हि तत् कुर्यात् यन्न शक्यं पराक्रमैः।
काक्या कनकसूत्रेण कृष्णसर्पो निपातितः" ॥ १ ॥

हे सुन्दरि! ममैकं वचनं शृणु—अस्मिन्नगरे हस्तिनापुरात् दुर्योधनस्य राज्ञो वृषकर्परनामा महामल्लः समागतोऽस्ति, तेन सह एष वल्लवो योत्स्यते। स मल्लः क्षणादेव एनं वल्लवं हनिष्यति, तदा तव वैरनिर्यातनं भविष्यति। अतः साम्प्रतं त्वं तूष्णीका भव इत्युक्त्वा सा राज्ञी तूष्णीं कारिता। एकस्मिन् दिने मल्लतिरस्कारं

कुवन् मानपर्वतो वृषकर्परो राजसभायां समागतो राजानमेवं वक्ति स्म—भो राजेन्द्र ! तव सभायां यः कोऽपि प्रतिमल्लोऽस्ति, स मया सह मल्लयुद्धं करोतु ।

तत् श्रुत्वा विराटाधिपेन समाहूता अनेके भूमीभुजस्तां सभां समुपाविशन्, परं नैकोऽपि मल्लस्तेन सार्धं युद्धं कर्तुमिच्छत् । तं तथाविधमधृष्यं ज्ञात्वा राजा मत्स्यो महानसाद् वल्लवं सूपकारं समाजूहवत् । भो वल्लव ! त्वया पूर्वं कथितम्—अहं मल्लेन सह युद्धं करोमि; तव मल्लयुद्धे कौशलं वर्तते । वल्लवेनोक्तम्—अनेन वृषकर्परेण सार्धं योत्स्ये । राज्ञोक्तम्—तर्हि सज्जो भव । उभावपि सज्जितौ, उभावपि कृतस्नानौ चन्दनाऽगुरुकस्तूरीपरिमण्डितशरीरौ महोन्नतौ वृषस्कन्धौ पर्वताविव कर्कशौ तुल्यौ वयसा, तुल्यसामर्थ्यौ तावुभौ दृष्ट्वा लोको जगाद—राजन् ! वल्लवस्याऽनेन सार्धं संग्रामकरणं न युक्तिमत् ।

यतः—"असौ कृतश्रमो मल्लो वल्लवस्त्वकृतश्रमः । नियुद्धमनयोर्युक्तं नाऽऽदधे वसुधाधवः ॥ १ ॥
परं श्यालारिरस्याऽयं हन्तव्योऽस्ति यथा तथा । निनिन्द मेदिनीनाथमिति सर्वस्तदा जनः" ॥२॥

ततो द्वावपि मल्लवेषधारिणौ भुजास्फोटं वितन्वानौ सभामण्डपं भ्रेमतुः । उभावपि पादैर्भुवं कम्पयन्तौ, उभावपि हस्ततालकान् ददानौ, उभावपि बद्धमुष्टी अधावताम् । वल्लवो वृषकर्परं हन्तुमीशोऽपि लोकानां नेत्रोत्सवाय कश्चित् कालं व्यलम्बत । एवं तयोः शतशो जयपराजयावभूताम्, विन्ध्याटव्यां मत्तमातङ्गाविवायुध्येताम् । वल्लवेन बलिनाऽवसरं प्राप्य वृषकर्परो बबन्धे । वल्लवस्य जये लोको हर्षति स्म, वृषकर्परस्य पराजये मत्स्यराड् म्लायति स्म । एवमवसरं लब्ध्वा वल्लवेन पार्ष्णिना हतो वृषकर्परो मृत्युमवाप । वल्लवे जयं दृष्ट्वा दुःखिता राज्ञी सुदेष्णा भूपं व्यजिज्ञपत्—हे भूमीश ! नैष मृतो वल्लवः, किन्तु वृषकर्परो मृतः ।

राजा राज्ञीमुवाच—हे देवि ! त्वं खेदं मा उद्वह, पुनरपि केनाप्युपायेन वल्लवो हनिष्यते, इत्युक्त्वा राज्ञीं

सान्त्वयित्वा स्वस्थानं प्रेषिता। विराटराज्ञः सूपकृता वृषकर्परमल्लो हतः, एतत्सर्वं चरमुखेन दुर्योधनः श्रुत्वा कर्णदुःशासनद्रोणगाङ्गेयप्रभृतीनेकस्थाने कृत्वाऽमन्त्रयत्। अथ मया किं कर्तव्यम्?, पुरा सुरोचनेन कृत्या निशाचरी प्रेषिता, तया कृत्यया पाण्डवा न हताः; किन्तु स एव सुरोचनो हतः। ततोऽहं त्रयोदशं वर्षं प्रतिज्ञातुं वृषकर्परं प्राहैषम्।

यथा—"शतकोटिकठोराङ्गं सर्वस्मिन्नवनीतले।
विना भीममलंभूष्णुर्जेतुमेनं न कश्चन" ॥ १ ॥

एवं मया चिन्तयित्वा वज्रवत्कठोरशरीरो वृषकर्परो महामल्लः प्रेषितः, सोऽपि भ्रान्त्वा भ्रान्त्वा विराटनगरे गतः, तत्र मत्स्यराज्ञः सूपकृता हतो मृतश्च, तन्नूनं स वृकोदर एव; यत्र वृकोदरस्तत्र सर्वैरपि पाण्डवैर्भाव्यम्, यतो राज्ययक्ष्मरोगो कासश्वासश्लेष्मादीन् विना न भवति। अतो मया विराटनगरे सर्वैः संभूय गत्वा उत्तरस्यां दक्षिणस्यां दिशि गोग्रहः क्रियते। ते दयामयचेतसो गोग्रहं दृष्ट्वा न सहिष्यन्ते, तेऽसहमानाः प्रकटीभविष्यन्ति। ततः पुनरपि तेषां द्वादशवार्षिको वनवासो दास्यते; इत्यालोच्य सकलसैन्यपरिवृतो विराटपुरमभ्येतुं दुर्योधनः प्रतस्थे। तदश्वीयखुरोत्खातरजोभी रविरदृश्यतामगात् तस्याऽन्यायमद्रष्टुमिव। तस्य कुरुगोत्रप्रदीपस्य दुर्योधनस्य निषेद्धुमिव मारुतोऽभिमुखं ववौ। तस्य विराटाभिमुखं गच्छतः सूर्यस्याधः शिवा ववाशिरे। एवमपशकुनैर्वारितोऽपि सुयोधनोऽविलम्बितैः प्रयाणैर्विराटाभ्यर्णमाससाद। दुर्योधन-चिन्ता

अथ विराटचरैरागत्यै मत्स्यराज्ञो विज्ञप्तम्—दुर्योधनः ससैन्यः समायाति, एवं यावच्चरैर्विज्ञप्तं तावद् दक्षिणादिशः समायातैर्गोपालबालकैः राज्ञः सदसि समागत्य बाढस्वरेण पूत्कृतम्—भो भोः क्षत्रियगणाः!

दक्षिणस्थाः सर्वाः सुरभीः सुशर्मणा राज्ञा ह्रियन्ते, यदि भवतां बलं भवति तर्हि क्षात्रं धर्मं पुरस्कृत्य यूयं धावत धावत; इति गोपानां गिर उपश्रुत्य सर्वेऽपि क्षत्रियाः संग्रामाय सज्जीबभूवुः ।

यतः—"गोमुनिब्राह्मणभ्रूणस्त्रैणत्राणे हि साधवः ।
प्राणानपि तृणीयन्ति यशो हि किल तत्प्रियम्" ॥ १ ॥

अथ विराटाधिपतिः संग्रामशूरैः सुभटैः परिवृतो दक्षिणाभिमुखः प्रतस्थे । रणकौतूहली विमुक्तवनितावेषो धनञ्जयो यावता सज्जो भवति, तावता युधिष्ठिरेण विनिवारितो धनञ्जयस्तथैवाऽस्थात्; अन्ये चत्वारोऽपि पाण्डवेया विराटेन समं प्रतस्थिरे । कथम् ?

यथा—आयुधानि समानीय सहदेवः शमीतरोः ।
यथाऽऽत्मीयं समग्राणामग्रजानां तदार्पयत्" ॥ १ ॥

विराटाधिपतिप्रेषिता वैतालिकोत्तमा गोकुलमादाय नश्यन्तं सुशर्माणं गत्वा नत्वा संग्रामाय स्थापयामासुः । भोः सुशर्मन् ! गोग्रहं कृत्वा शत्रूणां पृष्ठिं मा देहि; तव मिलनायागतो मत्स्यराट्; मिलित्वा याहि; एवं वैतालिकेन वारं-वारं प्रोच्यमानः सुशर्मा लज्जितः प्रत्यावृत्तः । तत उभयोरपि अग्रसैन्ययोर्युद्धं लग्नं सुरासुरयोरिव । द्वयोः सैन्ययोः युद्धम्

यथा—"सैन्ययोरुभयोर्बाणैर्विलूनाऽवयवावलिः । दुर्धरो रुधिरोद्गारिव्रणः प्रववृते रणः" ॥ १ ॥
"कच्छपायितमूर्धानो मीनायितकराङ्घ्रयः । पङ्कजायितपाण्योघाः प्रसस्रुरसृगापगाः" ॥ २ ॥

विराटस्य सैन्यकैः सुशर्मणः सैनिकाः पाश्चात्यगामिनश्चक्रिरे, अम्भोधितरङ्गैर्निम्नगा इव । अथोत्तस्थुः सुशर्मणः केचिदत्युत्कटसुभटाः, विराटसुभटैः समं भृशं युयुधिरे च । सुशर्मसुभटैस्त्रासितो मत्स्यराट् कान्दिशीको बभूव । अथ सुशर्मा सुभटैः परिवृतो विराटमावव्रे । पुनर्विराटः सुशर्मणा समं युयुधे । उभयोर्युद्धे जायमाने मर्मणि बाणेन हतो विराटो भूमौ पतितः । ततः सुशर्मा विराटनृपतिं बद्ध्वा रथे क्षिप्त्वा यावता स्वसैन्ये याति तावता कङ्कपुरोधसा वल्लवस्योक्तम्—भो वत्स ! अस्य साहाय्यतोऽस्माभिः संवत्सरो गमितः, तदेनं राजानं त्वं किमुपेक्षसे ? ।

एनं क्रूरकर्माणं सुशर्माणं हत्वा विराटपृथिवीपतिं मोचय; इति ज्येष्ठबन्धोर्गिरा सुशर्माणं हन्तुं सबान्धवो भीमोऽधावत् । भीमाकारं भीमं समायातं ज्ञात्वा सुशर्मपृतनाचराः दिशो दिशं पलायन्ते स्म । अथ भीमो बन्धुपरिवृतो धावन् गदाघातेन सुशर्मणो रथं बिभेद, मुखेऽङ्गुलीं प्रक्षिपन्तं सुशर्माणममुचत्, विराटभूपतिं गतबन्धनं विधाय सुशर्माणं बद्ध्वा आत्मीयरथे समारोप्य सर्वां धेनुं परावृत्य लब्धजयो मत्स्यराड् विराटं प्रति प्रत्यावृत्तः । वल्लवस्यैतल्लोकोत्तरचरितं दृष्ट्वा राजा विराटश्चिन्तयति स्म—कौतुकादेते किं देवा धरित्रीमवातरन् ?, यतोऽमीषां पुरुषव्रतमैदंयुगीनं न ह्यस्ति ।

भो वल्लव ! एषा लक्ष्मीरिदं राज्यं तथेदं मम जीवितम्; एतद् मदीयं सर्वं तवैवास्ति, यतस्त्वं मम प्राणदायकः । एतद्राज्ञोक्तं वचो निशम्य वल्लव उवाच—राजेन्द्र ! अयं तवैवाऽनुभावो वयं यत्तवारातीन् जयामः । एवं परस्परं प्रशंसन्तः सर्वेऽपि विराटं प्रति समाजग्मुः । कङ्कादीन् सर्वलोकान् बहिः संस्थाप्य स्वयं राजा राजमन्दिरमाविशत्, तत्र सुदेष्णां पट्टराज्ञीं किञ्चित्श्यामाननां दृष्ट्वा पृष्टम्—हे प्रिये ! लब्धजयोऽहं त्वदन्तिके समागतः, त्वं विच्छायवदना इव किं दृश्यसे ? । तयोक्तम्—स्वामिन् ! श्रूयताम्—देव ! युष्मासु दक्षिणगोग्रहादनुधावितेषु मध्यन्दिने समागते कश्चिद् वल्लवो बाढस्वरेण पूत्करोति स्म—

राज्ञ राज-
मन्दिरे
प्रवेश.

यथा—"उत्तरस्यां दिशि द्रोणभीष्मकर्णादिभिः सह ।
स्वयं दुर्योधनोऽभ्येत्य सौरभेयीरवालयत्" ॥ १ ॥

ततः सर्वेऽपि वल्लवा दुर्योधनेन समं युद्धं विधाय केचन निधनं गताः, केचन नंष्ट्वाऽत्र समागताः । अहं भवदन्तिके समागतोऽस्मि ।

"इत्याख्यातं मया तावद् विराटतनयस्य ते ।
कुमार ! स्फारदोःसार ! तद्यथोचितमाचर" ॥ १ ॥

राज्ञो विलाप

इति गोपालोक्तं श्रुत्वा तव पुत्रः समत्सरः शौण्डीरिमाऽतिरेकाद् रोमाञ्चकञ्चुकः स्वेदमेदुरः इदमभ्यधात्—इतस्ततो भ्रमन् तव पुत्र उत्तरकुमार एवं वक्ति स्म—हे मातः ! मम पुरतः केऽमी दुर्योधनादयः ?, यदि कश्चित् सुसारथिर्भवेत् तर्हि एकोऽप्यनेकं जयामि, यथा विश्वदाहक्षमोऽप्यग्निः अनिलं विना न ज्वलत्येव । तच्छ्रुत्वा मालिनी अभ्यधात्—भोः कुमार ! मारसन्निभ ! योऽयं उत्तराकुमारीपाठकः तूर्यत्रयाचार्यो बृहन्नटोऽस्ति, तं सर्वसारथीनां शिरोमणिं त्वं जानीहि, रथवाजिनः प्रेरयन् कोटिशो मया दृष्टः । अस्मिन् संसारेऽतः परः कश्चित् सारथिर्नास्ति । ततः स उत्तरकुमारोऽन्यसारथ्यसद्भावे तं क्लीबमपि सारथित्वे संयोज्य रथं समारुह्य सैन्यपरिवृतः संग्रामायोत्तरस्यां दिशि गोग्रहवालनाय चचाल ।

राज्यास्तां गिरं निशम्य मत्स्यराट् सुतवत्सलो मुहुर्मुहुः शोचन् इत्युवाच—हा ! हा ! बाहुसहायोऽयं क्षीरकण्ठो मे सुतः क्व ?; एषा वैरिकासारगाहिनी कुरुवाहिनी क्व ?; तन्नूनं ममैष पुत्रः कुरुवीरवाहिन्यनले

प्रथमाऽऽहुतिर्भविष्यति। एवमभीक्ष्णं शोचन्तं राजानं ज्ञात्वा मालिन्युवाच—राजन्! बृहन्नटे सहाये तव पुत्रस्य काचिद्भीतिर्नास्ति, यथा गरुत्मनि समीपस्थे भुजगानां भीतिर्न भवति, तथा करवर्तिनि दीपे तमस्काण्डभीर्न प्रभवति, तथाऽस्मिन् संनिहिते बृहन्नटे उत्तरकुमारस्य भीतिर्नास्ति। इमां मालिनीगिरं श्रुत्वा यावद् मत्स्यराट् किमपि जल्पति, तावत् केनाप्यागत्य उत्तरकुमारस्यागमनवर्धापन्या वर्धितो मत्स्यराट् पृथ्वीपतिः; मत्स्यः पुत्राभिमुखं यावद् गन्तुमिच्छति, तावत् पुत्रः समागत्य पितुः पादयोः पपात। अथ भूपतिर्बाहुभ्यां पुत्रं धृत्वा समुपस्थाप्य गाढं समालिङ्ग्य रणाङ्गणजयोदन्तं पृच्छति स्म। सर्वेषु सभाजनेषु यथास्थानमासीनेषु कृतज्ञमौलिमाणिक्य उत्तरकुमारो रणवार्तामचीकथत्।

यथा—"यस्मिन् क्लृप्ताङ्गनाकल्पकपटोऽयं बृहन्नटः।
जयः किमिति दुर्लम्भस्तत्र संभाव्यते रणे?" ॥ १ ॥

इति उत्तरभारतीं निशम्य सर्वे सभाजना अपृच्छन्, विशेषतस्तं वृत्तान्तं नृपतिर्मूलादपृच्छत्। अथोऽत्तरोऽभ्यधत्त—हे राजन्! अन्यसारथ्यभावे षण्ढं सारथिं कृत्वाऽहं समरे अगमम्, ततोऽनेन नगरान्तर्मार्गे इतस्ततो रथखेटनेन जने हास्यं कारितम्, नगराद् बहिर्गत्वा कुरुवाहिनीं दृष्ट्वा मनसि क्षुब्धोऽहम्। एष मां रथे मुक्त्वा स्वयं कुत्रापि गत्वा शस्त्राण्यादाय त्वरितं समागात्। पश्चाद् ममोक्तम्—भोः कुमारवर! त्वं हृदये चिन्तां मा कृथाः, अहमेनां कुरुवाहिनीं क्षणादेव जित्वा तव शोभां दास्ये, त्वं निश्चिन्तो भव, इत्युक्त्वा अनेन बृहन्नटेन मम सर्वा कुरुवाहिनी दर्शिता।

युद्धे बृहन्नट-सारथे पराक्रम

यथा—"गाङ्गेयोऽयमयं द्रोणः कर्णोऽसावेष सौबलः।
सैष दुर्योधनश्चेति विशेषमविदं ततः" ॥ १ ॥

एवंविधां कुरुवाहिनीं दृष्ट्वाऽहं भीतः। मां प्रणश्यन्तं करे धृत्वा सोत्साहं जगाद—हे कुमार ! परानीके दृष्टे तव पलायनं न युज्यते, यतस्त्वं विराटतनयः, कुलीनश्च। कुलीनानां रणे मरणे का चिन्ता ?।

यतः—"जिते च लभ्यते लक्ष्मीर्मृते चापि सुराङ्गना।
क्षणविध्वंसिनी काया का चिन्ता मरणे रणे ?" ॥ १ ॥

अतस्त्वं किमपि चिन्तां मा विधेहि, तव पश्यतोऽहमेनां कुरुसेनां जित्वा तव जयं दास्ये। लोकाः कथयिष्यन्ति—उत्तरकुमाराग्रे नष्टा कुरुवाहिनी; इति कीर्तिकोलाहलैस्तव पिताऽपि हर्षितो भविष्यति। अतो ममान्तिके तिष्ठ, कातरवद् मा पलायिष्ट, मम समीपे स्थितस्य तव कस्यापि भयं नास्ति। इत्युक्त्वा मां सारथित्वे नियोज्य स्वयं करे कार्मुकं कृत्वा ज्यानादं वितन्वानो अश्वकर्णेऽश्वमन्त्रं जपित्वा, भोः कुमारेन्द्र ! मम भुजविक्रमं पश्येत्युक्त्वा धनुष्टङ्कारं कुर्वन् देवाधिष्ठित इव रथमभ्रमयत्। बृहन्नटं रथस्थं दृष्ट्वा मया चिन्तितम्—

यथा—'धनुर्वेदः किमध्यक्षः साक्षाद्वीरो रसो नु किम् ?।
किंवा निःशेषशौण्डीरशौण्डीर्यं पिण्डतां गतम् ?" ॥ १ ॥

बृहन्नटस्य धनुष्-टङ्कारः

अयं कोऽपि खेचरो वा, विद्याधरो वा, क्रीडातिरोहितवपुः किं देवो वा ?, य एकोऽप्यनेकधा दृश्यते। एकेनापि बृहन्नटेन सा कुरुवाहिनी पश्चाद्गामिनी विहिता। ततस्ते कुरुवीरा गाङ्गेयकर्णदुर्योधनद्रोणाद्या रथस्थं बृहन्नटं कुरुसेनातिरस्कारकारिणं दृष्ट्वा परस्परं कथयन्ति स्म।

यथा—"ऊचेऽन्योन्यं पुरः सोऽयमर्जुनः सोऽयमर्जुनः। वर्षतो विशिखानस्य विलोकयत कौतुकम् ॥१॥
एकतो दोःसहायोऽयमन्यतः कोटिशोऽरयः। नोत्थितः किन्तु तैः सेहे पतङ्ग इव तारकैः ॥२॥
यावन्तो वैरिवाहिन्यां भटाः प्रत्येकमेव तैः। आत्मनैव समं जिष्णुर्युध्यमानो व्यभाव्यत" ॥३॥

तस्मिन् महति संग्राममण्डपे बृहन्नटकीर्तिनर्तकी स्वेच्छया नरीनर्ति स्म। पार्थशरौघैर्मथितां निजां वरूथिनीं समालोक्य कर्णः पार्थेन समं युयुधे। तं तुल्यपराक्रमं समालोक्य द्रोणगाङ्गेयौ रणादपसस्रतुः। दुर्योधनः सौरभेयीः पुरस्कृत्य लुण्टाक इव साशङ्कः स्वपुरं प्रति प्रतस्थे। कर्णार्जुनयोः परस्परं संग्रामे जायमाने जयलक्ष्म्या दोलायितम्। तयोः समरलाघवं समालोकयितुं दिवि देवास्तस्थुः। उभयोर्वीरयोर्बाणैः परस्पराहतैरन्येषां सैनिकानां सूर्यः करप्रसरभयादस्तम्भं मण्डपं वितेने। ततः फाल्गुनः कर्णेन समं सग्रामसाम्यमालोक्य क्रोधाद् द्विगुणोऽभवत्। ततो मया बृहन्नटस्याख्यातम्—भो वीरावतंस बृहन्नट! सुयोधनो धैनुकं समादाय दूरं गतः, अथ किमर्थं त्वमात्मानं व्यर्थं खेदयसि ?। भवदाज्ञया इतोऽहं रथं परावर्तयामि।

एतद्वचन श्रुत्वा बृहन्नटो बभाषे—भो उत्तर! त्वं कातरवचनं किं भाषसे ?, त्वं सावधानो भूत्वा समालोकय मम दोर्बलम्; कुरुवाहिनीं तथा विलोडयामि यथा हरिणा मन्दरेणाम्बुधिर्विलोडितः; इत्युक्त्वा द्रोणोक्तां बाणविद्यां स्मृत्वा बाणघातैः कर्णं घातजर्जरं कृत्वा बृहन्नटः क्रोधारुणलोचनोऽनुदुर्योधनं धावति स्म। बृहन्नटाकारधारिणं धनञ्जयं ज्ञात्वा दुर्योधनसैनिकैः प्रनष्टं, महावातप्रेरितैस्तुषैरिव। सुभटैकधुरन्धरो मानपर्वतो गाः पुरस्कृत्य दधावे। तं दुर्योधनं गाः पुरस्कृत्य गच्छन्तं दृष्ट्वा बृहन्नटो रणमण्डपे नटवन्नर्तयन् बाणान् वर्षन् सर्वैर्ददृशे। एते धनञ्जयबाणा नूनं किं पृथ्वीं प्लावयिष्यन्ति ?।

तस्मिन् दुर्योधने भ्रातेति सदयोऽर्जुनः क्षुरप्रान् अर्धचन्द्रबाणान् क्षिपन् ध्वजपताकादीन् चिच्छेद—

एकेनाऽर्धचन्द्रबाणेन केतुदण्डं चिच्छेद, एकेन धनुश्चिच्छेद, एवं यथाक्रमं तनुत्राणं, मुकुटं, अर्धश्मश्रु, केषाश्चिदर्धशिर:केशान्; एवं विडम्बनां कुर्वन् दयार्द्रो धनञ्जयस्तासां कुरुवाहिनीनां दुर्योधनस्य च मनाग् विद्यामनुस्मृत्य स्वापनास्त्रं मुमोच। तस्यानुभावत: तत्क्षणादेव तस्मिन् सैन्ये तिमिरोर्मय: प्रसस्रु:। तस्मिन् समये निखिलाऽनीकिनीजनानां नेत्राणि निद्रया निमीलन्ति स्म। कुरुनरेशितुर्दुर्योधनस्य करात् सैनिकस्यापि करात् सर्वाणि आयुधानि भुवस्तले पतन्ति स्म।

तदा बृहन्नटेन ममोक्तम्—भो: कुमार! एष दुर्योधन:, अस्य वस्त्राणि शस्त्राणि च गृहाण; एष कर्ण: अस्याऽऽयुधानि गृहाण; अयं दुर्योधनबन्धुर्दु:शासन:, एतस्यापि वस्त्राणि शस्त्राणि च गृहाण। एवं केषांचित् शस्त्राणि गृहीत्वा निर्नाथां सेनामिव लुण्टयित्वा पुनरप्यनेन स्वेच्छया मोहनास्त्रेऽपहृते सर्वे सैनिका: पलायन-सज्जीबभूवु:; केचिद्धनुरवष्टभ्य तस्थु:; केचिद् रथमाश्रित्य तस्थु:; केचन सूतमालम्ब्य ऊर्ध्वीबभूवु:; परमेष: बृहन्नटो दयाऽऽर्द्रमानस: कस्यापि सैनिकस्य पादहस्तकर्णनासादि किमपि न चिच्छेद; उत्तमस्वभावोऽयम्, यत:—न हि सतामुचितं मृतमारणम्, इत्यवधार्य सर्वेऽपि सैनिका: प्रणश्यन्तो मुक्ता:।

धृतराष्ट्रसूरपि रज:पूरपूरितशरीरो भूतलात् कथमपि समुत्थाय रथे समारुह्य त्वरितमनेशत्। तत: प्रति वत्सकान् समुत्सुका: स्तन्यं प्रक्षरन्तीर्गा: समादाय एष बृहन्नट: पश्चाद् ववले। अयं बृहन्नटो नगरासन्ने समागत्याऽस्त्राणि पुनस्तथैव स्वस्थाने मुक्त्वा मां रथे निधाय स्वयं रश्मिं समादाय सारथ्यं कुर्वन् नगरमध्ये समागत्य मां वारयित्वा स्वयं नाट्यशालायां गत:।

बृहन्नट-उत्तर-कुमारयो-पुनरा-गमनम्

यथा—"शपथैर्देवपादानामहं तेनाऽस्मि वारित:। यदास्येयो न देवाय व्यापृतोऽहं महाहवे ॥ १ ॥
सर्वथाऽप्येतदेव त्वमाचक्षीथा: क्षितीशितु:। यदाऽऽनीता मया गावो निर्जित्य कुरुवाहिनीम्" ॥२॥

मया बृहन्नटस्योक्तम्—भो बृहन्नट ! अहं स्वशक्त्यतिरिक्तं ब्रुवाणः किं हास्यतां न गच्छेयम् ? । मृगमृगेन्द्रयोः कथञ्चित् संग्रामे समुत्पन्ने मृगेन्द्रस्य करुणा उत्पन्ना—किमनेन हतेन ? । ततस्तेन मुक्तो मृगो वने गत्वा सर्वेषां वनेचराणां पुरतो भाषेत—भो वनेचराः ! मया मृगेन्द्रो हतः, इति मृगेण मृगारीणां पराभवं कः श्रद्धत्ते ? । पुनः कुडवस्थाल्यां प्रस्थपाकं च कोऽनुमन्येत ? । तथा मदुक्तं मया कृतं कुरुवाहिनीपराभवं कोऽनुमन्येतः ? । हे देव ! स मां देवपादाभ्यर्णे प्रहित्य स्वयं नाट्यशालायां गतः । इति उत्तरगिरं श्रुत्वा कङ्को विराटनृपश्च बृहन्नटपराक्रमम्, उत्तरकुमारस्योक्तं च श्रुत्वा सानन्दमेदुरा पर्षत् उभयोः प्रशशंसुः । विराटधरित्रीशो नाट्यशालायां वेत्रिणं संप्रेष्य धनञ्जयं समाजूहवत् । धनञ्जयं समायान्तं समालोक्य विराटो राजा पुलकाङ्कुरैः सार्धमानन्दाश्रुभिश्च प्रत्युज्जगाम । नरेन्द्रो विराटो धनञ्जयं भुजे धृत्वा हृदयेन निबिडं निपीड्य आलिङ्गनं दत्त्वा कामिनीवेषमुन्मोच्य दुकूलानि परिधाप्य रत्नभूषणैर्भूषयित्वा महीयसि सिंहासने आसयत् ।

विराटो जगाद—सर्वेषां वासराणां धन्योऽयं वासरो यस्मिन् भवद्दर्शनं मया लब्धम्, सकलेषु मुहूर्तेषु धन्योऽयं मुहूर्तो यत्र त्वं किरीटीति निरीक्ष्यसे । अस्मिन् विश्वेऽहमेव यशसः संपदं लेभे यत् त्वं जङ्गमकल्पपादपो मम गृहे समायातः, सकलराष्ट्रेष्वयं महाराष्ट्रो यत् त्वदीयपदपांशुभिः स्पृष्टः । हे धनुर्धरधुरीण ! उत्तरस्य जीवितदानाद् ममापि जीवितं त्वया दत्तम्, कङ्कवल्लवतन्त्रपालग्रन्थिकैरपि सुशर्मतो मोचयित्वा ममापि जीवितं त्वया दत्तम् । अमीषां चतुर्णां प्राणैरपि अहं नानृणीभवेयम् । किञ्चिद्विहस्य धनञ्जयो विराटं प्रति जगाद—भो विराटेश ! अयं कोऽपि स्वभावोऽखण्डतेजसां पाण्डुजन्मनामेव भवति ।

पाण्डवाना मूलस्वरूपे प्रगटीभवनम्

भो अर्जुन ! त्वया किमुक्तम् ? इति विराटराज्ञा पृष्टो धनञ्जयो बभाषे—राजेन्द्र ! एष कङ्को युधिष्ठिरो राट्, अयं वल्लवो भीमः, अयं तन्त्रपालो नकुलः, अयं ग्रन्थिकः सहदेवः, एते चत्वारोऽपि मम बान्धवाः,

एते वयं पञ्चापि पाण्डुपुत्राः। किञ्च, देव्याः सुदेष्णायाः सेवावृत्तिकारिका मालिनी नाम सैरन्ध्री सेयं द्रुपदनन्दिनी द्रौपदी ज्ञेया। इति धनञ्जयोक्तं श्रुत्वा प्रमोदभरमेदुरो विराट एवमवोचत्—धन्योऽहं यद् यूयं मम गृहे समागताः, भवद्दर्शनेन सनाथो जातः। इत्युक्त्वा पार्थसहितो मत्स्यराट् आनन्दाश्रुकणैर्मुक्ताफलोपमैरर्चयन्निव युधिष्ठिरमानमत्।

ततो युधिष्ठिरादीन् पञ्चापि बन्धून् स्नानादि कारयित्वा पट्टकूलानि परिधाप्य हिरण्मयैर्भूषणैर्भूषयित्वा पञ्चानामपि बन्धूनां हिरण्मये सिंहासने पृथक्-पृथग् निवेश्य स्वयं विराटेन्द्रो हर्षोर्मिगद्गदो युधिष्ठिराय व्यजिज्ञपत्—देव! यन्मयाज्ञानवशतः किमपि विरूपं समाचरितं तद् युष्माभिर्मय्यनुग्रहं विधाय क्षन्तव्यम्, यतः सन्तो हि नतवत्सला भवन्ति। मया अस्मिन् गोग्रहे भवतो माहात्म्यं ज्ञातम्, भवतो भुजवैभवं दृष्टम्, युष्माभिरत्रागत्य नामवेषविपर्ययैः किमात्मा निगूहितः?। यदि मे महान्ति भाग्यानि भवन्ति तदा भवत्पादयोरियन्तं कालं सेवां लेभे।

यथा—"इदानीमपि तद्देव! स्वप्रतापार्जिता इमाः। श्रियः सहोदरैः सार्धं परिभोगैः कृतार्थय॥ १॥
राज्यं च जीवितव्यं च दत्तमेव त्वयैव मे। तत् किमन्यदिदानीं ते करोमि यदुपायनम्?"॥ २॥

हे राजन्! भवदाज्ञयाऽर्जुनो मे सुतां परिणयतु। युधिष्ठिरे धनञ्जयसंमुखमवलोकिते धनञ्जयः उवाच—उत्तरा मम शिक्षिता, एषा मे पुत्रीतुल्या, हे विराट! यदि त्वं कुरुवंश्येन सार्धं संबन्धमभिलषसि, तर्हि मे सुतोऽभिमन्युस्तव सुतामुत्तरां परिणयतु। इत्यर्जुनोक्तां वाचां निशम्य प्रीतिकल्लोललोलाक्षो विराटः प्रत्यपद्यत। ततो युधिष्ठिरस्त्रयोदशवर्षान्ते प्रकटीभूतः कृष्णं सुभद्रामभिमन्युं चाह्वातुमुत्सुको द्वारकां कञ्चिद् दूतं प्राहिणोत्।

पांचाल्यपि द्रुपदं नृपं पाण्डवपुत्रैः पञ्चभिः समं काम्पिल्यपुरादाजूहवत्। दूतोऽपि काम्पिल्यपुरे गत्वा सर्वं पाण्डववृत्तान्तं कथयित्वा द्रुपदमानन्दयामास।

तद् वृत्तान्तं श्रुत्वा मुदमापन्नो द्रुपदः पाण्डववर्धापन्या तस्य दीनारलक्षं दत्त्वा विससर्ज। अथ स्वयं द्रुपदः सैन्येन महीमाच्छादयन् सपरिवारो विराटपुरपरिसरमगात्। कृष्णोऽपि सुभद्राऽभिमन्युसहितः सबान्धवः सपरिवारः सैन्येन एकार्णवां महीं कुर्वन् तदैव विराटपुराभ्यर्णे समागात्। ततः सहानीकेन विराटेन बान्धवैश्च समं तपःसुतस्तयोः स्वयं संमुखमागात्। तौ कृष्णद्रुपदभूपतिसंमुखमागच्छन्तं धर्मसुतं दृष्ट्वा सस्नेहमालिलिङ्गतुः। ततस्ते राजानः परस्परं समिलिता विरेजिरे।

अथ सर्वेऽपि सुखासनारूढा विराटनगरं प्रविविशुः। विराटस्य गिरा कृष्णद्रुपदस्य सैनिकाः पुरासन्नवाटिकायामावासान् जगृहुः। कुन्त्यपि समागता सुभद्रया स्नुषया नता। अभिमन्युना नता कुन्ती तमाशीर्भिरभ्यनन्दत्। पञ्चापि पाण्डवपुत्रा मातरं द्रौपदीं नत्वा ततोऽनुज्येष्ठं पाण्डवान् प्रणेमुः। याज्ञसेनीसुभद्रयोश्चिरेण मिलितयोः परस्परमत्यर्थं स्नेहो बभूव।

अथाऽभिमन्युना इलातलमिलन्मौलिना द्रुपदात्मजा प्रणम्य ततः क्रमशः सर्वे पाण्डवा नम्यन्ते स्म। सकुटुम्बोऽपि युधिष्ठिरः कृष्णेनार्चितो मुदमाप। ततो द्वावपि स्नेहत एकावासे अतिष्ठताम्। चिराय मिलिताः पाण्डवा विष्णोर्मुदमपुष्णन्; यथा स्मरस्य वसन्तेन्दुपिकाऽऽम्रमलयानिला मुदमपुष्णन्। हर्षवन्तः पाण्डवाः द्रुपदो विराटश्च कृष्णसेवका अन्येऽपि राजान एकीभूय हर्षोल्लसितरोमाञ्चाः सर्वेऽपि हर्षुला उत्तराऽभिमन्योर्वैवाहिकं कर्म उपचक्रमिरे। तत्कर्म कुर्वाणा यादवाङ्गना आह्लादकारणं धवलमङ्गलारवमुच्चैरुः। सहर्षा विराटभूपतेरप्यङ्गनास्तथैवोच्चैर्धवलमङ्गलगीतानि गायन्ति स्म।

अर्हम्

अथ एकादशः सर्गः



''अथ प्रीतिपरो विष्णुर्गौरवेण गरीयसा ।
सबान्धवं सराजन्यं निन्ये स्वपुरि धर्मजम्'' ॥ १ ॥

द्रौपदी-सत्यभामयोर्वार्तालाप.

मार्गे द्रौपदीसत्यभामयोरेकत्रैव रथे निविष्टयोर्मिथः संवादः समुदपद्यत । सत्यभामा विहस्य द्रुपदात्मजामुच्चैर्जगाद—हे सखि ! द्रौपदि ! ममैकं महदाश्चर्यं वर्तते तत् कथय । द्रौपदी उवाच—ब्रूहि, तव चेतसि किमाश्चर्यमस्ति ? । तया सत्यभामया प्रोक्तम्—अस्मादृशीनां राज्ञीसहस्राणामेकोऽपि कृष्णो दुराराध्यो वर्तते; हे सखि ! त्वमेकाकिनी पञ्चानां प्रियाणां चेतः कथमनुवर्तसे ? । ततः सत्यं सत्यभामां प्रति पाण्डवपत्नी जगाद—हे सखि ! सत्यभामे ! प्रियवशीकारमन्त्रं शृणु—मम प्रियेषु वपुर्वाङ्मनसां यदेव रोचते तदेवाहं प्रकरोमि, यथा—प्रियेषु भुक्तपूर्वेषु अहमश्नामि, भर्तृषु सुप्तेषु अहं स्वपिमि, जागरितात् पूर्वं जागर्मि; प्रत्यहमेवं कुर्वत्या मे प्रियेण समं प्रीतिर्वर्धते। तथा पञ्चानामप्यभ्युत्थानं करोमि, तेषामालापकारिणां पञ्चानामपि विनयानम्रं मौलिं वितनोमि, एतेषामहं स्वयमङ्गशुश्रूषां विरचयामि, तथैव पतिपरिजनं प्रति वात्सल्यं प्रकरोमि, पञ्चानामपि भर्तॄणामविशेषेण वर्तेऽहम् ।

ततस्तेऽपि प्रियाः पञ्चापि मां प्राणप्रियां नित्यं मन्यन्ते । एवमेकरथस्थे वार्तयन्त्यौ ते उभे अपि क्रमाद्

भुवमतिचक्रमतुः। एवं धर्मजोऽपि कृष्णेन समं मार्गे वार्तां कुर्वाणो द्वारिकाऽभ्यर्णे समागात्। कृष्णस्तु तत्रैव आवासान् दापयामास। पाण्डवैः परिवृतां कुन्तीं समागतां ज्ञात्वा समुद्रविजयादयो दश दाशार्हाः संमुखमागत्य सोत्कण्ठचेतसः कुन्तीं प्रणेमु पाण्डवा अपि अतुलस्नेहविक्लवान् मातुलान् नमस्कुर्वन्ति स्म।

अथ दाशार्हास्तान् पाण्डवान् कथयन्ति स्म—पुरा तीर्थयात्रात ईयुषे किरीटिनेऽस्माभिः सुभद्रा दत्ता, इदानीं शेषाणां बान्धवानां युष्माकं चतुर्णामपि एताश्चतस्रो लक्ष्मीवती–वेगवती–विजया–रतय उपायनीभवन्तु; इत्युक्त्वा तैः प्रहृष्टैः स्वकन्या उत्सवपूर्वकं पाण्डवैः सह पर्यणाय्यन्त। अथ सानुजस्य युधिष्ठिरस्य स्वयं कंसारिर्द्वारवतीश्रियं दर्शयामास। प्रद्युम्नादिभिः सार्धं पाण्डवसूनवः पाञ्चालप्रमुखाः क्रीडोपवनादिषु स्वैरं रेमिरे। एवं तेषां पाण्डवानां सुखेन तत्र तस्थुषां कियान् कालो जगाम।

एकस्मिन् दिने पाण्डवाः कृष्णा च साश्रुनेत्रा भूयसो दुर्योधनकृतापराधान् कृष्णस्य शशंसुः। तत् पाण्डववचनं श्रुत्वा क्रोधात् कृष्णोऽपि द्रुपदराट्पुरोधसमिन्द्रं नाम्ना दुर्योधनान्तिके दूत्याय प्रेषयामास। सोऽपि पुरोधा दूत्योचितपरिवारेण परिवृतो हस्तिनापुरमभ्यगात्। ततो वारनारीणां मञ्जुमञ्जीरशब्दि-तैरुज्जागरूकमदनम्, एवंविधं राजसदनं समाययौ। ततः कृष्णदूतोऽग्रे गच्छन् राजद्वारं समागतः, पश्चात् प्रतीहारेण गत्वा दुर्योधनाग्रे विज्ञप्तम्—राजेन्द्र ! तव द्वारे कृष्णप्रेषितः कश्चिद् दूतः समागतोऽस्ति, स तवाज्ञया अन्तःसभं समायाति।

दुर्योधनेनोक्तम्—तं ममान्तिके प्रेषय। प्रतीहारेण गत्वोक्तम्—भो दूत ! मध्ये याहि, त्वां दुर्योधनः समाह्वयति। तत् श्रुत्वा कृष्णदूतोऽन्तःसभं गतः। तस्यां सभायां सकलसामन्तैः परिवृतं दुर्योधनं दृष्ट्वा मोहितश्चिन्तयति स्म—अहो ! एष जाह्नवीतनयो गाङ्गेयो दुर्योधनस्य दक्षिणे पार्श्वे सिंहासनस्थ उदयाचले

कृष्णस्य कोप

भानुमानिव विराजते, एषोऽश्वत्थामा पुत्रस्तेन सहितो द्रोणो दुर्योधनस्य वामपार्श्वे काञ्चनसिंहासनस्थो देवगुरुरिव गुर्वविभाति, एष सिंहराट्, एष सिन्धुराट्, एष कृपाचार्यः, एष भगदत्तः, एष कर्णः, एष सुशर्मा, एष गान्धारेशः, एष भूरिश्रवाः, एष चेदिराट्, एते दुर्योधनबान्धवा; दुःशासनादयो राज्ञस्तेजःपुञ्जा इव विराजन्ते ।

अहो ! एते दुर्योधननन्दना लक्ष्मणाद्याः, एतैः परिवृतो दुर्योधनस्तारकैश्चन्द्र इव विराजते । एवंविधं दुर्योधनं रक्तकण्ठैर्गान्धर्वैर्गीयमानगुणं, स्तुतिप्रह्वजिह्वैर्वैतालिकोत्तमैः स्तूयमानयशसं, जानूपविष्टैः सेवकैर्वीक्ष्यमाणमुखाम्भोजं, नम्रमौलिभिर्निदेशिभिरादीयमानाऽऽदेशं, पण्डितौघैः पठ्यमानानि शास्त्राणि श्राव्यमाणं, वाक्पटुभिः कथकैः कथ्यमानकथानकं, पूर्वभूभृतां चरित्रामृतानि कर्णपुटैः पीयमानं, स्मृतिवेदिभिः पुरुषैरावेद्यमानधर्मव्यवस्थितिं, नीतिकोविदैरुद्ग्राह्यमाणषाड्गुण्यरहस्यं, सुधर्मासभायाः श्रीविलासोपहासिनीं मणिचूडनिर्मितां सभामध्यासीनं भूषणाङ्कितमाणिक्यकिरणौघैश्चित्रितशरीरं, वसुन्धरातलोत्तीर्णं साक्षाद् दिवस्पतिमिव इन्द्रविप्रस्तं दुर्योधनं ददर्श ।

स दूतः करौ कुड्मलीकृत्य दुर्योधनपुर उपविश्य वाग्मी एवं वाचमुवाच—हे राजन् ! देवो मुरारातिरतिस्नेहात् किञ्चिदाख्यातुं तवान्तिके मां प्राहिणोत्, उक्तं च—एते पाण्डवास्तव बान्धवा द्वादश वर्षाणि तवाज्ञया वने स्थित्वा त्रयोदशं वर्षं विराटराज्ञो गृहे गुप्तवृत्त्या स्थिताः । दुष्कर्म कृत्वा एते भवत्कृतां मर्यादां समाप्य पूर्णावधौ गोग्रहे जाते व्यक्ततां जग्मुः । विराटो राट् तान् दिवानिशं किङ्कर इवाराधयति स्म । तथा द्रुपदेन राज्ञा सार्धं पाञ्चालप्रमुखास्तत्सुता अमिलन् । अन्येऽपि सुहृद्गणाः भूयांसोऽप्यमिलन्, केवलं तव विरहे नित्यं ताम्यन्त्येव । ते पाण्डवास्तवागमनेन भृशं तुष्यन्ति ।

कृष्णस्य दुर्योधन-समीपे दूतप्रेषणम्

अथ त्वं शीघ्रं समागत्य द्वारकायां कृष्णान्तिके स्वबन्धून् मिल । तत्र त्वयि युधिष्ठिरेण मिलिते

हरिर्भृशं तुष्यति। सोत्कण्ठोऽपि युधिष्ठिरो द्वारकायां स्थितश्चिन्तयति—मयि तत्र गते मद्बन्धुर्दुर्योधनो किञ्चिद्वैमनस्यं मा यातु इति हेतोरत्र नायातः। संपूर्णेऽपि समये त्वयाऽनाहूतो हस्तिनापुरमागन्तुं नैच्छत्, साभिमानत्वाद् द्वयोर्बन्ध्वोर्मा स्म विरोधो भवितेति मत्वा सकृष्णो धर्मनन्दनस्त्वामाह्वातुं मां प्राहिणोत्। तदेहि, स्वबन्धोर्मिल, द्वयोर्बन्ध्वोर्विरोधो मा भवतु। यदि त्वं तत्र नाऽऽयासि केनचिद् हेतुना, तर्हि ते त्वां बलादानेष्यन्ति, यतस्ते एकवीरा वर्तन्ते, ते स्वेच्छयाऽत्रागतास्तुभ्यं कल्याणकारिणो न भविष्यन्ति, तवोच्छेदं कृत्वा सकलां महीं ग्रहीष्यन्ति, तदा भवताऽपि रणाङ्गणे मर्तव्यम्; हृदयेऽस्यर्थं विचार्य तत्राऽऽगमने भवता विलम्बो न विधेयः।

तस्य विप्रस्य तां गिरं निशम्य कम्पमानाधरः सुयोधनः क्रुधा ज्वलन्नेवमभ्यधात्—हे ब्रह्मन्! भवद्वचनं प्रथमं कोमलं, ततो वज्रातिरेककठिनं मे प्रतिभासते, त्वमपि वाचालोऽसि, वक्तुं न जानासि, परं श्रूयताम्—मद्भुजस्तम्भन्यस्तां भुवं क उत्तारयिष्यति?, यथा कुम्भिमुखे कवलं प्रक्षिप्य कः करेण कर्षति?। को नाम केशवः?, के पाण्डवाः?, तेन मे किं सिद्धयति?। अथवा रवेः पुरः को नाम चन्द्रमाः?, किं वा तारकगणाः?; तथा मम पुरतः किं हरिणा?, किं वा पाण्डवैः?। दूत उवाच—भो दुर्योधन! शृणु, यस्य कृष्णस्य क्रोधवह्नौ अरिष्टवृषः, केशितुरङ्गमः, चाणूरमल्लः, पद्मोत्तरगज इत्यादयः शलभतां प्राप्ताः, तत्किं त्वया न श्रुतम्?।

दुर्योधनस्य दूतोपरिकोप

धर्मपुत्रशमाम्भोधेरुत्थितः कोऽपि कोपपावको रिपुस्त्रैणबाष्पपूरशतैरपि दुर्निवारः अथ। भीमः किर्मीरहिडम्बबककीचकादिविडम्बकस्त्वया किं न श्रुतः?। येन सुशर्मा तव सेवको बद्ध्वा मोचितः, तदपि विस्मृतम्?। येन हेलया सदर्पं वृषकर्परं भवन्मल्लं निहत्य तस्यां विराटसंसदि स्वयश ऊर्ध्वीकृतं भवन्मृत्युसूचकं तदपि विस्मृतम्?। येन कीचकविध्वंसं विधाय सुदेष्णामुखं पिच्छलच्छायं निर्ममे। अथाऽर्जुनस्य शिलीमुखा

भवद्विदिताः, यतो भानुमत्यां रुदत्यां ज्येष्ठबन्धोरादेशं प्राप्य धनञ्जयेन त्वं चित्राङ्गदविद्याधराद् मोचितः, तदपि ते विस्मृतम् ? । उत्तरगोग्रहे मोहनास्त्रेण मोहयित्वा तव वस्त्राणि अस्त्राणि च गृहीतानि, जीवन् मुक्तश्च, तदपि प्रमृष्टम् ? । एवं पञ्चापि भ्रातरो मानपर्वता विना संग्रामं कथं स्थास्यन्ति ? । एतद्वचनं श्रुत्वा क्रोधाद् दुर्योधनो बभाषे—

यथा—"दूतत्वाच्च द्विजत्वाच्च त्वमवध्योऽसि भूभुजाम् ।
तेन यद् रोचते तुभ्यं ब्रूहि तद् ब्राह्मणब्रुव !" ॥ १ ॥

एवमन्येन केनचिद् भाषितं भवति, तर्हि तस्य रसनाच्छेदं करोमि, त्वं ब्राह्मणत्वादवध्योऽसीत्युक्त्वा गले धृत्वा सभातो निष्कासितः । विप्रो द्वारकां समागत्य कृष्णपुरतस्तां पूर्वोक्तां वार्तां सर्वां निवेदयामास । देव ! दोर्वीर्यमदोत्कटो दुर्योधनस्तव सामवाक्योक्तं नैव मन्यते, एष दुर्योधनश्चतुरङ्गचमूचक्राऽऽक्रान्तविश्वः स्वभुजबलगर्वितो नाकनायकमपि करदीकर्तुमिच्छति । एतद्विप्रोक्तं श्रुत्वा हरिरुवाच—भोः सभासदः ! अस्माभिः प्रथमं यद् दूतः प्रहितः, तल्लोकापवादभीरुतया, यत् प्रथम दूते प्रहिते लोकापवादो न भवति । पुनर्विप्रेणोक्तम्—हे हरे ! दुर्योधनभटैस्तव भटा वृताः ।

दूतस्य-तिरस्कार

यथा—"मया विष्णुर्मया जिष्णुर्मया भीमो मया यमौ ।
तपःसूनुर्मयेत्युच्चैर्म्रियन्ते तद्भटैर्भटाः" ॥ १ ॥

एतद्वचनं श्रुत्वा भीमार्जुनौ ऊचतुः—एष दुर्योधनो निष्केवलां महीं न दास्यति, किन्तु विकीर्णकेशेन

मस्तकेन सह महीं दास्यति । अर्जुनोऽवादीत्—विना संग्रामं तेन दीयमानां महीं गृह्णन्तो वयमपि किं न लज्जामहे ? । अतो यथा एतैर्बन्धुभिः कृष्णाकेशांशुकैः सार्धं गृहीता मही, तथा वयमपि सर्वेषां दुर्योधनबन्धूनां प्राणैः सार्धं महीमादास्यामहे । कोपाद् भीमोऽब्रवीत्—क्षोणेरनर्पणे नूनमस्माकं भाग्यैर्जागरितं, सांप्रतं मेदिन्या दुर्योधनभारवहनक्लमं हरिष्यामि । धर्मजोऽप्यब्रवीत्—अहो ! विधेर्विलसितम्, मम मनो बन्धुवधाय धावति, परमेतत् कार्यं बन्धुवधं विना न सिद्ध्यति, दैवदृष्टेऽस्मिन् कार्ये किं करोमि ? । अथ कृष्णाऽऽदेशाद् युधिष्ठिरादेशाच्च प्रस्थानाय उभयोर्नृपसमूहैः सेना सज्जीकर्तुं प्रचक्रमे । अन्येद्युर्धृतराष्ट्रस्य सारथिः सञ्जयनामा युधिष्ठिरं प्रति समागत्य प्रीतित एवमुवाच—हे राजेन्द्र ! धृतराष्ट्रो मद्गिरा त्वां भाषते—

धृतराष्ट्रस्य निवेदनम्

यथा—"त्वं विवेकस्य धर्मस्य नयस्य विनयस्य च ।
एक एवाऽऽकरः शङ्खमुक्तादीनामिवार्णवः" ॥ १ ॥

अतः करौ कुड्मलीकृत्य राजेन्द्र ! तव पुरः किञ्चिदुच्यते; उल्लुण्ठेऽसाध्ये सुयोधने मे वाचः कुण्ठीबभूवुः, ग्रावणि कुन्तमुखानीव । स तु ममोक्तं किमपि न करोति । अतो भवन्तं किमपि प्रोच्यते—हे राजन् ! बन्धुभिः सह विरोधं कृत्वाऽस्मिन् विश्वे त्वमकीर्तिपटहं किं वादयिष्यसि ? ।

न तु श्रीर्बन्धुसंघातघातपातकपङ्किला ॥ १ ॥

यतः—"वरं वनं वरं भैक्षं क्षुदूरं मरणं वरम् । तस्माद् बन्धुविरुद्धानां न धनं न च बान्धवाः" ॥२॥

द्वेष्टि बन्धून् धनस्यार्थे बन्धुद्वेषे धनक्षयः । इति निश्चयो नास्ति ।

रणे कस्य जयो भविष्यति ? कस्य पराजयो भविष्यति ?,

यतः—"पुष्पैरपि न योद्धव्यं किं पुनर्निशितैः शरैः ।
युद्धे विजयसंदेहे प्रधानपुरुषक्षयः" ॥ १ ॥

अतो युष्माभिः राज्यार्थे परस्परं न योद्धव्यम् । इति सञ्जयोक्तं श्रुत्वा धर्मसूः स्मितास्यस्तमभिधत्ते स्म—हे आर्य सञ्जय ! तातेन पाण्डुना धृतराष्ट्रेण च उभयोर्धरित्री विभागीकृत्य दत्ता, सा धरित्री मया त्रयोदशवर्षाणि यावद् द्यूते दुर्योधनं प्रति हारिता । अथ पूर्णेऽवधौ वनवासाद् वयमत्र द्वारकायां कृष्णान्तिके समागताः । दुर्योधनोऽस्मभ्य गृहीतं राज्यं दत्वा स्वस्थानं यातु, यदि न ददाति तर्हि अस्माकं को दोषः ? ।

यतः—"शौण्डीराणां तु धर्मोऽयं न खलु क्वापि गीयते ।
भुज्यते भूः पुरस्तेषां बान्धवैरपि यद्बलात्" ॥ १ ॥

मम गृहीतं राज्यं प्रत्यर्पय्य सुखं तिष्ठतु, यतो बन्धुविरोधात् कथमपि मया राज्यं त्यज्यते, अमी मम बान्धवाः भीमाद्याः संग्रामशूराः शौण्डीर्यमन्दिराः, एते विना संग्रामं स्वां महीं न त्यजन्ति । भोः सञ्जय ! इति मे वृद्धतातस्य धृतराष्ट्रस्य मम वाचिकं सर्वं निवेदयेः । अथ भीमसेनो जगाद—भोः सञ्जय ! क्षोणीप्रत्यर्पणेनापि तेन दुर्योधनेन सार्धं विना संग्रामं वयं सन्धि न कुर्महे । भोः सञ्जय ! अस्माकं रणोत्सवः समायातः । अस्मिन् संग्रामोत्सवे वैरिकबन्धशतताण्डवं त्वं वीक्षिष्यसे, तथाऽस्मिन् संग्रामे दुर्योधनोरुं भङ्क्त्वा दौःशासनं भुजं छित्त्वा वैरनिर्यातनं करिष्ये, तदा सगरसागरस्यापि पारं गमिष्यामि, एवमर्जुनेनाप्युक्तम्; एवं नकुलसहदेवैरप्युक्तम् । ततः पाण्डवैर्विसृष्ट; सञ्जयो हस्तिनापुरमागात् । तत्रागत्य धृतराष्ट्रक्रमावानम्य सञ्जयः पाण्डवगिरं व्याजहार—

युधिष्ठिरस्य प्रत्युत्तरदानम्

यथा—"पाञ्चालीचिकुराकृष्टिप्रतीकारकरालिताः ।
यौष्माकीणैः सह प्राणैरादित्सन्ति हि ते महीम्" ॥ १ ॥

भो राजन् ! तेजस्वितिरस्कारकरणाद् दुर्योधनादीनां तव पुत्राणां सांप्रतं जीवितं दुष्करं दृश्यते । यतस्ते शूरा रिपूत्क्षेपं कदाचन न सहन्ते । शूरं वैरिणं कुर्वतां भूभृतां केवलं कन्दराः शरणायन्ते; इयत्यपि गते काले तेभ्यो यदि राज्यार्धं दीयते तर्हि सर्वेषां कल्याणं भवति, अन्यथा ते महान्तः शिरसा सह राज्यं ग्रहीष्यन्ति । एतत् सञ्जयोक्तं श्रुत्वा दुर्योधनो भृकुटीभीषण उवाच—भोः सञ्जय ! त्वमपि वैरिगृह्यो जातः, यद् वैरिबलोत्कर्षवर्णनेनास्माकं भीषयसे । भोः सञ्जय ! मत्कौक्षेयकरक्षका देवाः प्रथमग्रासे पश्चापि पाण्डवान् ग्रसिष्यन्ति; ततः कृष्णम् । ततोऽनेकान् सैनिकान् कवलयिष्यन्ति । ततः पाण्डवकृष्णयोः सकलसैन्यसंहारात् सकलां महीं रिपुरहितां विधाय मह्यं दास्यन्ति ।

अतः क्वाहं भ्रूभङ्गमात्रेण नर्तितानेकभूपालः ?, क्व ते मत्स्यद्रुपदगोपालबालादयो द्विषः ?, येऽविचार्यकारिणो वर्तन्ते । पाण्डवकृष्णाद्या भूपा मत्प्रतापदावानले नूनं भटित्रीभवितारः । हे तात ! एष सञ्जयोऽस्माकं धनञ्जय एव, योऽस्माकं निन्दकः, नूनमेतस्य दुरात्मनो जिह्वा छिद्यते, परं तातदाक्षिण्यात् किमपि नोच्यते । इति सञ्जयं तिरस्कृत्य दुर्योधनः स्वगृहं गतः । सञ्जयोऽपि दुर्योधनतिरस्कारं ज्ञात्वा मनस्येवमचिन्तयत्—अहो ! अनेन दुरात्मना दुर्योधनेन मुधैवाहं तिरस्कृतः; नूनमेतानि मरणस्य चिह्नानि—यत् सज्जनतिरस्कारः, दुर्जनमैत्री ।

यतः—"अनुचितकर्मारम्भः स्वजनविरोधो बलीयसि स्पर्धा ।
प्रमदाजनविश्वासो मृत्योर्द्वाराणि चत्वारि" ॥ १ ॥

दुर्योधनस्य
मुधाभि-
मानम्

इति चिन्तयन् स्वगृहं गतः। अथ दुर्योधनसैनिकाः दुर्योधनाऽऽज्ञया सज्जीबभूवुः। तत्र प्रथमं कुरुक्षेत्रं प्रति प्रस्थानहेतवे महौजा गान्धारेयो वरूथिनीं सज्जयामास। तस्मिन् समये हस्तिनापुरवास्तव्यः समस्तोऽपि जनः कुरुसंहारशोकशङ्कामयोऽभवत्। एकस्मिन् दिने धृतराष्ट्रो राट् एकान्ते विदुरं समाहूय कुरुकुलकुशलकारणं पप्रच्छ। अथ विदुरो धृतराष्ट्रं बान्धवमवादीत्—भो बान्धव! मया द्यूतक्रीडाऽवसरे पूर्वं बहूक्तोऽपि दुर्योधनो द्यूतान्न निवृत्तः, तस्य द्यूतस्यैतत् फलं यत् सांप्रतं कुरुसंहारः समुपस्थितः। अथैतत्संहारो लोभत्यागाद् निवर्तते।

विदुरस्य हितोपदेशः

यतः—"लोभेन भ्रश्यति न्यायादन्यायी धर्ममुज्झति।
मुक्तधर्मो गतश्रीः स्यादश्रीकस्य न कीर्तयः" ॥ १ ॥

हे बन्धो! यदि गोत्रस्य कुलस्य च कल्याणं वाञ्छसि तर्हि स्वपुत्रं दुर्योधनं लोभान्निवर्तय, युधिष्ठिराद् गृहीतं राज्यं पश्चादर्पय, यथा स्वकुलकल्याणं भवति; अन्यथा सकलं कुलं यमराज्ञो ग्रासीभूतं भविष्यति। एतद्वचनं विदुरोक्तं श्रुत्वा धृतराष्ट्रो जगाद—भो विदुर! त्वां विना ईदृशं पथ्यं तथ्यं वचः को वक्ति?, अहं किं करोमि?, अथ दुरात्मा दुर्योधनो मया सहस्रधा बोधितोऽपि पिशाचग्रस्त इव दुर्दैवाद् न बुध्यते। भोः बन्धो! विदुर! एहि, आवां द्वावपि तस्यान्तिके गत्वा पुनस्तं बोधयावः, कदाचिदेष कदाग्रहसंनिपातादपसरति। इत्यालोच्य तौ द्वावपि बान्धवौ धृतराष्ट्र-विदुरौ दुर्योधनान्तिके समागतौ।

तत्रागत्य तौ दुर्योधनं प्रत्येवमूचतुः—भोः पुत्र! पूर्णेऽवधौ समायाताः पाण्डवाः। अथैतेषां पाण्डवानां द्यूतेन गृहीतं राज्यं प्रत्यर्पय, सत्यवाग्भव। वचोभ्रष्टस्य पुरुषव्रतं हीयते, पुरुषव्रतहीनश्च पुमान् श्वसन्नपि शवायते, शवायमानः पुमान् स्वजनैरपि त्यज्यते, ममैकं वाक्यं मन्यस्व, एभ्यो गृहीतां पृथ्वीं प्रत्यर्पय, यथा कुटुम्बकलहो न

भवति, एते पाण्डवाः सत्यवाचः प्रतिपन्नपालकाः पूर्णेऽवधौ समागताः तव बान्धवाः, तेभ्यो गृहीतं राज्यं तेभ्यः प्रदेहि ।

यद्वा—कर्णगाङ्गेयद्रोणदुःशासनादीनां बलवतां भुजबलमालोक्य त्वं किं निर्भीको जातः ?, यदि त्वं द्यूतगृहीतां भुवं पूर्णेऽप्यवधौ नार्पयसि, तदा ते बलाद् ग्रहीष्यन्ति; यदा त्वं गन्धर्वराजचित्राङ्गदविद्याधरेण सबान्धवो बन्दीकृतः, तथा गोग्रहे च, एतेषां तव वीराणां बलं क्व गतं तदा ?, यदि युधिष्ठिरादेशाद्धनञ्जयो नागमिष्यत् तर्हि त्वां गान्धर्वेन्द्रपारीन्द्रात् कोऽमोचयिष्यत् ?। स एवार्जुनस्त्वां सदयो मोहनास्त्रेण मोहयित्वा वस्त्रशस्त्राण्यग्रहीत्, परं प्राणनिग्रहे समर्थोऽपि सानीकस्यापि प्राणान् नाग्रहीत्, तदपि ते विस्मृतम् ?। विदुरः प्राह—

"वत्स ! मत्सरमुत्सृज्य तदर्पय महीमिमाम् ।
धर्मजीवितकीर्तीनां मा स्म भूः क्षयवासरः" ॥ १ ॥

तयोरेतां वाचं निशम्य क्रोधोद्धरकन्धरो दुर्योधन एवमुवाच—भोः पितृपितृव्यौ ! युवां क्षात्रं धर्मं न जानीथः। करारूढां काश्यपीं क्षत्रियः कः प्रत्यर्पयेत् ?। करगतां पृथ्वीमर्पयतोऽत्यर्थं कीर्तिः कलुषीभवेत्, अतः करगतां पृथ्वीं न ददामि, मह्यर्पणे भवद्भ्यां पुनर्न वाच्यम्। पुनस्तातेनोक्तम्—भोः पुत्र ! अन्यायं मा कुरु, अन्याये जयो न भविष्यति। दुर्योधनेनोक्तम्—

पितृपितृ-
व्ययो-
रुपरि
दुर्योधनस्य
कोप

"अन्यायोऽपि खलु न्यायो यस्तेजस्विभिराहतः ।
अङ्गीकृतः प्रदीपौघैर्दर्शोऽपि हि महोत्सव" ॥ १ ॥

हे तात ! त्वं मा भैषीः, एते पाण्डवा मम क्रोधदावानलज्वालायां भस्मीभावं भजिष्यन्ति । एतद् दुर्योधनोक्तं श्रुत्वा खेदमेदुरौ पितृपितृव्यौ स्वस्थानमीयतुः । अत्र गोत्रसमूहक्षयासङ्को विरक्तधीर्विदुरः ससारसुखविमुखोऽचिन्तयत्—संपदो धिक्, धिक् प्रभुत्वं, धिग् वैषयिकं सुखं, धिग् राज्यं, यत्कृते पुत्रः पितरं हन्ति, पिता पुत्रं हन्ति, सुहृत् सुहृदं हन्ति, बन्धुर्बान्धवं हन्ति, धिक् संसारसुखम् ।

दुर्योधन-वचन-श्रवणात् पितृपितृ-व्ययो कोप

एवं यावद्भावनां भावयन् तिष्ठति स्म तावत् केनाप्यागत्य विज्ञप्तम्—हे राजन् ! कुरुकुलावतंस ! धर्ममेदुर ! विदुर ! तत्रोद्याने विश्वकीर्तिनामा चतुर्ज्ञानी मुनिरुपागमत् । तच्छ्रुत्वा हर्षितो विदुरस्तस्य दानं दत्त्वा सपरिकरो मुनिवन्दनाय वने समागात् । हर्षोल्लसितमानसेन विदुरेण साधवो वन्दिताः । मुनिनाऽपि धर्मलाभाशीर्दत्ता । पार्श्वे निषण्णं विदुर सपरिकरं ज्ञात्वा भगवानपि संसारासारतां दर्शयन् देशनाद्वारेण इदमाह—

“जन्तूनामवनं जिनेशमहनं भक्त्याऽऽगमाकर्णनं, साधूनां नमनं मदापनयनं सम्यग्गुरोर्माननम् ।
मायाया हननं क्रुधश्च शमनं लोभद्रुमोन्मूलनं, चेतःशोधनमिन्द्रियाश्वदमनं यत् तच्छिवोपायनम्” ॥१॥
कषायविषकुल्याभिः, सिक्तान् संसारकानने । प्राणापहान् हहा ! जीवाः सेवन्ते विषयद्रुमान्” ॥२॥

एवविधां गुरुदेशनां श्रुत्वा तत उत्थाय योजितकरयामलो विदुरो गुरुं प्रति एवमवोचत्—हे मुने ! भवद्देशनां श्रुत्वा मम मनो मुक्तिपथपाथेयोपमं भवत्पाणिसरोजेन व्रतं याचते । ततो मुनिनोक्तम्—भो राजन् ! अस्मिन्नर्थे त्वं प्रतिबन्धं मा कृथाः । अथ विदुरस्तं मुनिपतिमानम्य स्वपुरमागमत् । ज्येष्ठं बान्धवमापृच्छ्य तथा मातरं चापृच्छ्य विश्वकीर्तिमुनेरुपान्ते विदुरो दीक्षां कक्षीचक्रे । ततः स्वस्थचेता विदुरो राजर्षिर्महीं विजहार ॥ इति विदुरदीक्षाग्रहणम् ॥

अथान्येद्युरल्पसामन्तपरिवृतः कंसविध्वंसी स्वयं हस्तिनापुरमाजगाम। गोविन्दागमने दुर्योधन उत्पताकं हस्तिनापुरं विधाय स्वयं संमुखमागत्य हरेः प्रवेशमकारयत्। ततः सौधे समानीय स्वयं स्वागतक्रियां व्यतनोत्। स्वागतक्रियाया अनन्तरं मणिचूडविद्याधरनिर्मितायां मणिमण्डितायां सभायां दुर्योधनाद्याः सर्वे राजानः समागत्य यथास्थानं कृष्णं न्यवीविशन्। भीष्मधृतराष्ट्रदुर्योधनकर्णदुःशासनप्रभृतिराजवृन्दैः परिवृत उच्चैर्सिंहासनस्थो गोविन्दो लोकैर्देवैः परिवृतो देवराज इव ददृशे।

अथ सर्वेषां पश्यतां कृष्णं प्रति धृतराष्ट्र उवाच—हे राजेन्द्र ! भवदागमनेन वयं सनाथा अभूम, वयं धन्यं मन्यामहे, इदानीं तु स्वगिराऽस्मत्श्रोत्राणि पवित्रयितुमर्हसि। तच्छ्रुत्वा दशनांशुभिर्दिशो द्योतयन् हरिरेवं व्याजहार—प्रथमं मया द्रुपदस्य पुरोधा इन्द्रनामा प्रहितः, तस्योक्तं न कृतम्; ततोऽत्रत्यः संजयः समागात् कुलप्रलयकातरः। तस्यापि धर्मात्मजेनोक्तम्, तदपि दुर्योधनेन न कृतम्। अथो अहं कुरुभूपालकुलकल्पान्तभीरुः कौन्तेयान् अनालोच्यैव दूत्याय स्वयमेवागमम्। यदि यूयं ममोक्तं किञ्चित् कुरुथ तदाऽहं भवतः किञ्चिद् ब्रुवे ?।

तच्छ्रुत्वा दुर्योधनेनोक्तम्—हे गोविन्द ! त्वं स्वच्छन्दं वद। तदा हरिणोक्तम्—मद्वाक्येन एतेषां पूर्वगृहीतं राज्यं प्रत्यर्पय, यदि न दत्से तर्हि एते पाण्डवास्तव प्राणैः सहाखिलां महीं जिघृक्षन्ति। बान्धवैः सह कोऽयं विरोधः ?। तदेव राज्यं प्रधानं यद्बान्धवैः सह भुज्यते, युधिष्ठिराद्या बान्धवा एकवीरा महापुण्योदयलभ्याः। एतैः सह को विरोधः ?। तेऽपि स्वां पृथ्वीं पूर्णावधौ मार्गयन्ति। हृदये भृशं विचार्य राज्यं देहि। यदि राज्यं न ददासि तर्हि इमान् पञ्च ग्रामान् त्वं तेभ्यः पाण्डुसुतेभ्यो दातुमर्हसि।

यथा—"कुशस्थलं वृकस्थलं माकन्दीं वारणावतम्। चतुरोऽवरजेभ्योऽमून् पञ्चमं हस्तिनापुरम्" ॥१॥

कृष्णस्य हस्तिना-पुरा-गमनम्

दुर्योधनः प्राह—

"सूच्यग्रेण सुतीक्ष्णेन या सा भिद्येत मेदिनी ।
तदर्धं न प्रदास्यामि विना युद्धेन केशव !" ॥ १ ॥

दुर्योधनस्य दुराग्रहः

पुनः केशवेनोक्तम्—भो दुर्योधन ! ते पाण्डवाः कुलक्षयं वीक्षमाणा मद्गिरा इयद्भिरपि ग्रामैस्त्वया सह सन्धिं विधास्यन्ति । पुनर्दुर्योधनेनोक्तम्—भोः केशव ! त्वं मुधा वारं-वारं किं प्रलपसि ?, युद्धं विना पृथ्वीं न ददामि । ततः क्रोधारुणलोचनः केशवो जगाद—भो दुर्योधन ! साम्प्रतं तव मरणं समुपस्थितम्, तस्मिन् कुपिते, मयि कुपिते च त्वं जीविताशां त्यज । ततः कर्णेनाप्युक्तम्—राजन् ! ग्रामपञ्चकं कृष्णगिरा तेभ्यो देहि । दुर्योधनेनोक्तम्—सूच्यग्रमात्रं भुवं न ददामि, यद्भावि तद्भवतु । पुनः कृष्णेनोक्तम्—एष राज्यं शिरसा सह दास्यति । तर्हि युवयोः पाण्डव-कौरवयोः संयोगः कुरुक्षेत्रे भवतु । दुर्योधनेनोक्तम्—तेषां पाण्डवानां तत्रैव कुरुक्षेत्रे मही दास्यते । हरिणोक्तम्—त्व वाक्छलेन च्छलितः, भवत्प्राणैः सह गतं राज्यम् । इत्युक्त्वा हरिः सहसोत्थाय निर्ययौ । तत. कृष्णक्रोधादत्याकुलिता गाङ्गेयधृतराष्ट्रप्रभृतयः पार्षद्याः कृष्णं सान्त्वयितुं तमन्वगुः ।

तत्र गत्वा मुञ्जकेशिनमूचुः—हे हरे ! खेदिता अपि महात्मानः प्राकृतजनेषु न कुप्यन्ति, हिमांशोः किमग्निवृष्टयो भवन्ति ? । तावत्पाण्डवा आसतां, तव एकाकिनोऽपि रणेऽभियुक्तस्य केऽमी कौरवा दुर्योधनादयः ? । यथा केशरिणः पुरो दुर्धरा अपि सिन्धुराः किं तिष्ठन्ति ? । अथवा भास्करस्य पुरतस्तिमिरोर्मयः कियत्कालं तिष्ठन्ति ? । तथा तव पुरतः केऽमी कौरवाः ? । पापीयासो गान्धारेयाः स्वयमेव क्षयं यास्यन्ति । यतो गुर्वादेशविलङ्घिनां कियज्जीवितव्यं भवति ? । हे हरे ! स्वजनदायादघातपातकसंभवामकीर्ति

मा ग्रहीः। त्वां विनाऽपि कौन्तेया रणशूराधर्मन्यायवन्तो विजेष्यन्ते। इति गाङ्गेयभारतीं श्रुत्वा उपशान्तकोपः कृष्णो गाङ्गेयावीन् इति उवाच—भो वर्षीयांसः! यूयं मम माननीयगिरः, भवदुक्तं मयाऽङ्गीकृतम्।

अनयोः संग्रामेऽहं स्वयं धनुर्न ग्रहीष्ये, किन्तु अहं पार्थस्य सारथ्येनैव सहायो भवितास्मि, एतावता यौष्माकवचसामनतिक्रमः स्यात्। अस्माकं भवादृशा अमेयमहिमानो मान्या एव भवन्ति। इत्युक्त्वा दानमानपूर्वं ते सर्वेऽपि विसर्जिताः स्वस्थानमगमन्। कृष्णः कर्णं करे धृत्वा निजरथमारोपयन् हरिः पाण्डुमालोकितुं गच्छन् प्रथमं विदुरगृहे गतः। तत्र कञ्चित् कालं स्थित्वा विदुरं प्रशस्य, धन्य एष विदुरो येन दीक्षा गृहीता, स्वकुलक्षयं ज्ञात्वा आत्मार्थः साधितः; तत्पत्न्यग्रे सर्वेषां पश्यतामित्यादिप्रशंसां कृत्वा कृष्णः पाण्डुराड्गृहे गतः। ततः पाण्डुं मिलित्वा प्रतिनिवृत्तः कृष्णो मार्गे रथस्थं कर्णं सममभाषयत्—भोः कर्ण! त्वया वीरव्रतं धृतम्।

यथा—"त्वय्यैवौदार्यगाम्भीर्यशौर्यधैर्यादयो गुणाः। वारिधाविव रत्नानि व्योमाङ्गण इव ग्रहाः ॥१॥
सन्त्येव वीराः किं त्वन्यद् धीर! वीरव्रतं तव। गिरयो गुरवः कामं मेरोस्तु गरिमा परः" ॥२॥

किन्तु दुष्टे दुर्योधने तव सङ्गमो मां दुनोति, जात्यमाणिक्यस्य रीरीभूषणसंग्रहण इव। ईदृशं क्रूरकर्माणं मित्रं कः करोति विश्वासघातिनम्?। पन्नगं उच्छीर्षे मुक्त्वा कः शेते?। तव धर्मजन्मना सह सङ्गमोऽर्हति, पुनः पापजन्मना दुर्योधनेन सार्धं मैत्री न योग्या; परं त्वमपि कौन्तेयः, केनचित्प्रकारेण तव मात्रा कुन्त्या ममाग्रे सर्वं निवेदितम्, परं राधासूततनयो नास्त्येव। अनेन सूतेन त्वं यमुनाप्रवाहे लब्धः; रोहणगिरिभुवं विना रत्नोत्पत्तिर्न भवति; अतो भवान् कौन्तेयानां सहोदरः, पुनः सहोदरत्वं प्रतिपद्यस्व।

गाङ्गेय-प्रार्थना-स्वीकार

इति गोविन्दगिरं श्रुत्वा कर्णो वाचमुवाच—हे गोविन्द ! त्वयोक्तं सर्वं सत्यमेव, परं प्रथमं मया दुर्योधनः एवाश्रितः दुर्योधनेन सूतत्वमविचिन्त्य चम्पाऽधिपत्वं मे विहितम्, छत्रचामरैः कृत्वा मे राज्यं दत्तम्, मयाऽप्येतस्याजन्म प्राणा दत्ताः। अनेनापि कर्णोऽयं मे धर्मबन्धुरिति मानितः, अतोऽहं कथमेनं दुर्योधनं त्यजामि ?। तन्न्यायविकलस्यापि दुर्योधनस्य कार्ये नूनममून् प्राणान् समराङ्गणे मोक्ष्यामि।

यतः—"मित्रस्नेहेन दिग्धोऽयं रूषितो रणरेणुभिः।
खड्गधाराजलैः स्नातो धन्यस्याऽऽत्मा विशुद्ध्यति" ॥ १ ॥

हे हरे ! धर्मसूनुना सह मित्रकर्मणि अद्यप्रभृति त्वयाऽहं किमपि न वाच्यः, यतो महात्मानः सर्वेषां हृदयज्ञा भवन्ति; किन्तु मातुः कुन्त्या मे नतिमाख्याय एवं निवेदयेः—यत्तव चतुर्णां पुत्राणां जीवितं न हरिष्यामि, परमर्जुनं न मोचयामि। यतः—आबाल्यादपि केनापि हेतुना ममैष शत्रुः; अतः एनं धनञ्जयं न मोक्ष्ये। हे मातः ! अतस्ते पञ्चैव सुता भविष्यन्ति—कर्णे हतेऽर्जुनस्ते पुत्रः, अथवाऽर्जुने हते कर्णस्ते पुत्रः, परं पञ्चैव ते भविष्यन्ति, इति भोः कृष्ण ! मम मातुरग्रे त्वया वाच्यम्। इत्युक्तवन्तं राधेयं प्रेम्णा समालिङ्ग्य कंसारातिस्त विसर्ज्य पुनः पाण्डुगृहे समागात्। पञ्चग्रामार्थनादिसकलो वृत्तान्तः पुरः पाण्डोर्न्यवेदयत्। तच्छ्रुत्वा कोपादरुणलोचनः पाण्डुः कैटभद्विषं बभाषे—भो हरे ! पृथासुतान् पञ्च पाण्डवान् एवं वदेः—यदि भवद्भिर्मत्तो जन्म आत्तं भवेत्, तर्हि कुरुबन्धुषु स्नेहविप्लवाः संग्रामकातराश्च मा स्म भूयुः।

यत्तो विलूनकेशरो जीवन् केशरी किं केशरी कथ्यते ?, तथैव हृतसर्वस्वराज्यो बन्धुः किं बन्धुः कथ्यते ?। स तु वैरी एव; यो वैरी भवति स च्छेदनीय एव। किञ्च—राजन् ! कौन्तेयैः संग्रामः त्वयि सहाये नातिदुर्जयः। हरिरुवाच—राजन् ! मया सार्धं त्वमप्यागन्तुमर्हसि, यतस्तव सुतास्त्वद्वियोगाऽऽतुरा अत्यर्थं

दुःखेन तिष्ठन्ति। पाण्डुरुवाच—हे हरे! मम सुतानां त्वयि स्वामिनि विजयो दूरे नास्ति। अथ मत्सुतान् प्राप्तराज्यान् ध्वस्तरिपुव्रातान् द्रष्टुमिच्छामि नान्यथा। हे हरे! त्वं गच्छ, गत्वा संग्रामे शत्रून् जित्वा स्वबन्धुभ्यो निजां साम्राज्यसम्पदं पुनर्देहि।

ततः पाण्डुमापृच्छ्य कोपारुणलोचनः कृष्णस्तत्क्षणादेव द्वारकामाजगाम। द्वारकायां समागत कृष्ण एकान्ते युधिष्ठिरादीन् बन्धून् समाहूय पूर्वोक्तां हस्तिनापुरकथां कथयामास। ततो हरेरादेशात् पाण्डवाः सेनां सज्जीकर्तुमुपचक्रमिरे। दन्तघातिनः करघातिनो गात्रघातिनो महाकायाः पर्वतप्राया गजाः सज्जीक्रियन्ते स्म। तदनु तुरङ्गास्तेजस्विन उरण्डा गह्वरास्तोराः खुरासाणा भयाणा हयाणा रोहवाला रुण्डमालास्तोरका मन्दकोराः पीलूआ भादिजा दक्षिणपान्था मर्कटा हरीतकाः करहाटका गङ्गाजलाः सैन्धवाः पारकराः पारसीका भद्रेश्वराः काम्बोजाः।

"नराङ्गुलानि द्वात्रिंशत् मुखं, भालं त्रयोदशम्। अष्टाङ्गुलं शिरः, कर्णौ षडङ्गुलमितौ मतौ ॥१॥
चतुर्विंशत्यङ्गुलानि हयस्य हृदयं तथा। अशीतिश्च समुच्छ्रायः परिधिस्त्रिगुणो भवेत् ॥ २ ॥
एतत्प्रमाणसंयुक्ता ये भवन्ति तुरङ्गमाः। राज्यवृद्धिं महीपस्य कुर्वन्त्यन्यस्य वाञ्छितम्" ॥ ३ ॥

एवंविधा घोटकाः सज्जीक्रियन्ते स्म। तिनिशकाष्ठघटिताः सूत्रधारैः सूत्रिता लोहपट्टैः परिभूषिता द्वात्रिंशत्तूणैः संभृताः षट्त्रिंशद्दण्डायुधैः परिपूर्णाः। तेषां नामान्यमूनि—तरवारि-त्रिशूल-नाराच-कौशल-कृपाण-चक्र–कुन्त–सेल्ल–गाण्डीव–खुहापट्टि–भुशुण्डी-गदा-मुशल-लकुट-मुद्गर-छुरिका-शस्त्री-कस-अर्धचन्द्र-कर-पत्र-बाण-यष्टि-असिपत्र-क्षुरमुखी-अर्ध-मुखी - भिन्दिपाल - तोमर - भल्ली-लाङ्गल-पाल-परशु-विस्फोट-वज्र-शक्ति-शूल-नाली-

युद्धाय-सज्जी-भवनम्

इत्याद्यायुधानि। तैः संभृताः सांग्रामिका रथा रथिकैः सज्जीक्रियन्ते स्म। अथ पदात्या महोन्नता वृषस्कन्धाः सत्यसन्धाः स्वामिभक्ताः स्वशक्तियुक्ताः शस्त्रपाणयः पदात्यकोटयः शस्त्राभ्यासं चक्रिरे। केचन सुभटा भारोद्वहनसमर्थानुष्ट्रसमूहान् पिचुमन्दपल्लवसमूहैः पोषयामासुः। तथा स्थाने-स्थाने गुडप्रक्षरपर्याणकवचादयो राजवेश्मनि शिल्पिकादिभिरारभ्यन्ते स्म। केऽपि वणिजो घृतगुडतैलकणसमूहैः शकटानि भृत्वा संवहन्ति स्म। काश्चन वारवनिताः सैन्यसार्थे गमनाय पल्यङ्कपटकुटीः कारयामासुः। एवं सर्वेऽपि राजलोकाः स्वस्वकार्ये प्रवृत्ताः प्रयाणसज्जीबभूवुः।

इति श्रीमत्तपागच्छाधिराजभट्टारकश्री ५ हीरविजयसूरिपट्टालङ्कारसप्रतिविजयमानभट्टारकश्रीविजयसेनसूरिराज्ये पण्डितदेवविजय-गणिविरचिते गद्यबन्धबन्धुरे श्रीपाण्डवचरित्रे द्रुपदपुरोहितसंजयविष्णुदूतवर्णनो नामैकादशः सर्गः समाप्तः।



अर्हम्

अथ द्वादशः सर्गः



सोमक-दूतस्या-गमनम्

अथान्येद्युर्जरासन्धदूतः सोमकनामा द्वारकां पुरीमागमत्। स मतिमान् इन्द्रपुरीं तृणाय मेने। तां हिरण्मयनिकेतनां द्वारावतीं समालोक्य जरासन्धदूतेन सलिलनिधिस्तोयमात्राऽवशेषः संलक्ष्यते। तस्यां नगर्यां विपणिमण्डितान् मणिमुक्ताफलादीन् समालोक्य सोमकेन बन्धुभिः परिवारितं नेमि-महानेमि-कृष्ण-बलभद्रादिपुत्रभ्रातृपुत्रैः परिवृतं नम्रीभूतभूपालकुलनतक्रमं श्वेतातपत्र-परिमण्डितमस्तकं वारनारीकराम्भोजेन चालितचामरं रत्नसिंहासनाऽऽसीनं पूर्वाद्रिशिरस्थमभिनवभानुमन्तमिव शोभमानं समुद्रविजयं नृपमद्राक्षीत्। स सोमकनामा दूतो राजमन्दिरमध्यगतोऽक्षोभ्यादि-वाचालिमौलिमाणिक्यः सोमकः समुद्रविजयमिति जगाद—भोः समुद्रविजय! जरासन्धस्य राज्ञः प्रताप इव सोमकः समुद्रविजयनृपाग्रे समुपाविशत्। बलकृष्णनामानौ कंसं हत्वा इहायातौ दिव्यानुरूपामिमां द्वारकां कृत्वा सुखेन तस्थिवांसौ वर्तेते। एतौ तव दारकौ गोक्षीरपायिनौ जीवयशसा जरासन्धराज्ञः पुरतः समागत्य कृष्णेन हतः कंस इति बाढस्वरेण पूत्कृतम्, ततो जरासन्धाऽऽज्ञया यादवाननुधावितो जीवयशोबान्धवः कालकुमारो मार्गे एकस्य गिरेरधो निर्मानुषं सैन्यनिवेशं चिताशतसमाकुलं दृष्ट्वा तस्य समीपे एकां स्थविरां शोकसमाकुलं च दृष्ट्वा पृष्टवान्—हे स्थविरे! त्वं काऽसि?, किं रोदिषि?। कंसपत्न्या

तयोक्तम्—तव भिया सर्वेऽपि यादवा रामकृष्णादयो नंष्ट्वाऽस्यां चितायां प्रविष्टाः, अहमपि

कृष्णसोदराऽस्मिन् कल्पान्तकालोपमे दावानले प्रवेक्ष्यामि। इत्युक्त्वा साऽपि अग्नौ प्राविशत्। एतत्स्थविरावचनं श्रुत्वा कालकुमारेण चिन्तितम्—मया पितुः पुरतो भाषितं, मद्भिया यादवा यत्र कुत्रापि विशन्तु, तान् ततः कृष्टास्मि, तर्हि एषोऽहं यादवान् मम शत्रून् वैश्वानरोदरात् कर्षामि; इतिकृत्वा तस्मिन् दावानले कालकुमारो झम्पामदात्। कतिभिश्चित् सैनिकैरपि अविचार्य तथैव कृतम्। ये चितां प्रविष्टास्ते सर्वेऽपि निधनं गताः। ततस्तत् सैन्यं पुनरपि राजगृहे जरासन्धसमीपे समागतम्।

काल-कुमारस्य मृत्युः

यादवसैन्यकाकुमारादिनिधनवृत्तान्तं श्रुत्वा हर्षशोकाकुलितमानसो जरासन्धः सुखेनास्थात्। ततः सा जीवयशाः पत्युर्बन्धोश्च युष्माक च जलाञ्जलिं दत्त्वा वैरनिर्यातनासुखं लेभे, एवं काले याति कियत्सु वर्षेषु गतेषु केचन वणिजो रत्नकम्बलानि समादाय जीवयशसो दर्शयाञ्चक्रिरे। तेषां तैर्मूल्यं भूरिशः कृतम्। जीवयशसा न्यूनमार्गणे वणिजैरुक्तम्– इतोऽष्टगुणमूल्येन द्वारकायां याचितानि महीपतिमात्रेण परमस्माभिः समहर्घ्यत्वान्न दत्तानि। इदमर्धचक्रिणो नगरं राजगृहम्—अत्र तु रत्नकम्बलानि महामूल्यैर्दास्यन्ते। तच्छ्रुत्वा जीवयशा विस्मयात् प्रोवाच—काऽसौ द्वारावती ?। तेऽप्यूचुः—हे देवि ! श्रूयताम्—लवणनीरधेस्तीरे दैवविनिर्मिता सुवर्णवप्रा सुवर्णमन्दिरमण्डिता सुरपुरीसमा द्वारावती नाम पुरी अस्ति। यस्यां समुद्रविजयादयो यादवाः, बलकृष्णौ तत्कुमारौ तत्कुले सूर्याचन्द्रमसाविव रेजाते।

यथा–"कम्पिताऽशेषभूमीभृत् नृत्यच्छक्तिप्रियङ्करः। कंसकल्पान्तमातेने भैरवो यस्य विक्रमः ॥ १ ॥
कर्तुं निश्चिन्तमात्मानं समुद्रविजयो नृपः। यं चकार चिरं द्वारावतीराज्याधिदैवतम्" ॥ २ ॥

हे जीवयशः ! स कृष्णो द्वारकाधीशस्त्वया किं न श्रुतः ?। तद्वणिजोक्तं श्रुत्वा स्मृतपूर्ववैरशल्या

बाढस्वरेणाऽऽक्रन्दं कुर्वाणा विकीर्णकुन्तलाऽऽस्थानस्थितजरासन्धस्य पुरो गत्वा पूत्करोति स्म—'जीवन्त्यद्यापि हे तात ! शत्रवो यादवादयः'। हे पुत्रि ! चिन्तां मा विधेहि, तदाऽहं जरासन्धो यदा सर्वान् यादवान् संहरामि। यदा त्वमेतान् यादवानुपेक्षिष्यसे, शिक्षां न दास्यसे, तदाऽहं भवत्पुरतो ज्वलितानले प्रवेक्ष्यामि—हे पुत्रि ! भवत्योक्तं सर्वं करिष्ये, त्वं निश्चिन्ता भव। इत्युक्त्वा जीवयशाः स्वस्थानं प्रेषिता। अथ जरासन्धेन मां समाकार्य प्रोक्तम्—भोः सोमक ! त्वं यादवान्तिके याहि, गत्वा मम वाचिकं समुद्रविजयस्याऽऽख्याहि। यथा—भोः समुद्रविजय ! अहं भवदन्तिके जरासन्धेन प्रेषितोऽस्मि, इत्युक्तं च—यदि भवतां जीवितेन राज्येन च कार्यं भवति, तर्हि इमौ कुलक्षयकारिणौ गोपालबालकौ प्रेष्यौ। यतोऽनल्पीयःकार्येऽल्पीयस्त्यजन्ति। यथा महानन्दकृते महात्मानः पुरुषा विषयानन्दं तृणवद् मन्यन्ते।

इति दूतवाक्यं श्रुत्वा किञ्चित् कोपकम्प्रशरीरः काश्यपीपतिरब्रवीत्—भोः सोमक ! तव स्वामी विवेकविकलो वर्तते, यद् मम बालकौ याचते। अन्यं सापराधिनं शरणाऽऽगतं क्षत्रिया नार्पयन्ति, तर्हि प्राणप्रियौ स्वतनयौ रामकृष्णौ कथं समर्प्येते ?। नूनं ज्ञायते तव स्वामी जरासन्धो जीवितादुद्विग्नोऽस्ति, भोः सोमक ! यत्तव स्वामिदर्दुरः कृष्णभुजङ्गमं खलीकरोति। इत्यादि समुद्रविजयवाक्यं श्रुत्वा पुनः सोमकदूतो बभाषे—राजन् ! एतावन्तं कालं त्वया जरासन्धस्य शासनं कुसुमीकृतं, तवेदानीं कोऽयमहङ्कारः ?; नूनं पिपीलिकाः पर्यन्तकाले पक्षयोर्नवाङ्कुरं कलयन्ति, तथैव त्वमपि। एतयो रामकृष्णयोर्बलेन किं जरासन्धं जेष्यसि ?। कौशिकास्तमोबलं समासाद्य कियन् माद्यन्ति ?।

एकस्तवायमपराधः—यद् रामकृष्णौ पृष्ठे दत्त्वा स्थितः, तथा यत् पाण्डवाः पृष्ठ दत्ताः—एष द्वितीयोऽपराधः। रामकृष्णाऽपराधाद् जरासन्धः समेष्यति, पाण्डवरक्षणात् रणाय दुर्योधन-कौरवो दशाऽक्षौहिणीभिरावृत आसन्नत्वात् प्रथमं समायाति। अक्षौहिणीमानं यन्त्रतोऽवसेयम्—

कृष्णस्य-
प्रकोप

सख्या	नाम	हस्ती	रथः	घोटकः	पदाति.
१	पत्ति.	१	१	३	५
२	सेना	३	३	९	१५
३	सेनामुखम्	९	९	२७	४५
४	गुल्मः	२७	२७	८१	१३५
५	वाहिनी	८१	८१	२४३	४०५
६	पृतना	२४३	२४३	७२९	१२१५
७	चमूः	७२९	७२९	२१८७	३६४५
८	अनीकिनी	२१८७	२१८७	६५६१	१०९३५
९	अक्षौहिणी	२१८७०	२१८७०	६५६१०	१०९३५०

अक्षौहिणी सेना-मानम्

भोः समुद्रविजय ! अद्यापि हि विबुध्यस्व, आत्मनो हितमालोचय, एतौ रामकृष्णौ बध्वा प्रेषय, यथा तव कुलस्य कुशल भवति; एतौ दत्त्वा स्वकुटुम्बं रक्ष। दूतस्य एतां गिरं श्रुत्वा केशवो वाचमुवाच— भोः सोमक ! तव स्वामी गोपगोप इति ब्रुवन् किं न लज्जते ?। अहं बालघातपातकिनं कंसं हतवान्, अथ तत्पक्षपातकारिणं जरासन्धमपि हनिष्यामि, तं हत्वा यदा गां पृथ्वी रक्षिष्यामि तदाऽहं गोपोऽन्यथा कस्मादहं गोपः ?। गोपस्तव स्वामी, यो गवां चारयति स एव गोप इत्युक्त्वा सोमकं निर्भर्त्स्य पुनः कृष्णः प्राह—

समायान्तु कौरवाः, मम क्रोधदवानले प्रथमं भस्मीभावं लभन्ताम्, ततो जरासन्धोऽपि भस्मीभावं प्राप्स्यति। त्वं याहि, गत्वा तव स्वामिनं जरासन्धं शीघ्रं समानय। गतो दूतो राजगृहे, तेन दूतेन समुद्रविजयोक्तं कृष्णोक्तं च सर्वं निवेद्य प्रकोपितो जरासन्धः। कृष्णोऽपि एतत् सोमकवृत्तान्तं पाण्डवाग्रे न्यवेदयत्; तत् श्रुत्वा पाण्डवैर्मुमुदेतराम्।

पुनः शुभे लग्ने शुभे मुहूर्ते प्रणीतमङ्गलाः सैन्यपरिवृताः द्वारकातः संग्रामाय पाण्डवाः प्रतस्थिरे। एवमपरेऽपि राजानो द्रुपदविराटप्रभृतयस्तानन्वगुः। ततः कंसविध्वंसिदेवोऽपि राजन्याऽनीकपरिवृतो देवकीकृतमङ्गलो बान्धवतनूजपरिवृतो बलभद्रसंयुक्तः संग्रामाय प्रतस्थे। तदनु समुद्रविजयः सबान्धवो नेमि–महानेमि–सत्यनेमि–दृढनेमि–कुमारकोटिपरिवृतः संग्रामाय प्रतस्थे। एवमन्येऽपि यादवाः ससैन्या यादवमित्राणि च वसुदेवश्च; सुरपक्षीयविद्याधरा वसुदेवमनु प्रतस्थिरे।

सैन्येन सह पाण्डवाना युद्धाय गमनम्

"यादवी पाण्डवीया च जाह्नवीयमुने इव।
संभूय चेलतुः सैन्ये गन्तु सङ्गरसागरम्" ॥ १ ॥

द्वारकानगरीतो निर्यान्तीं सेनां कौतुकादवलोकयितुं नागरिकनारीणां गवाक्षलक्षेषु निर्गतानि मुखलक्षाणि दृष्ट्वा पण्डिता इति विकल्पयन्ति स्म—किं लक्षचन्द्रं नभस्तलं संजातम्?। कृष्णप्रयाणसमये जयमङ्गलतूर्यध्वनिभिर्मुकुन्दनिर्मथितसिन्धुध्वनिः स्मार्यते स्म। ततः स्थाने-स्थाने पौरमाङ्गलिकानि प्रतीच्छन्तौ यादवपाण्डवौ प्रतस्थाते। मार्गे वेगाद् हयादुत्तरन्ती काचिद् दासी स्रस्तांशुका निपेतुषी सैन्यस्य हास्यतामगमत्। मार्गे सञ्चरतां यादवपाण्डवसैन्यानां निवेशसमये मध्ये शुद्धान्तः—पटमण्डपाः कञ्चुकि-श्रेणिसंरुद्धा अभूवन्।

तेषां परितश्चतुर्दिक्षु राजन्यमण्डपा अभूवन्; ततः सामन्तादीनाम्; तत्परितः सैन्यजनानां मण्डपाः सुन्दरश्रियोऽभूवन्। अथैकस्मिन् दिने तृतीयप्रहरे पल्यङ्के गलितश्रमं युधिष्ठिरं प्रति कश्चित् प्रतीहारः शीघ्रं समागत्य विज्ञपयामास—हे राजन्! माद्र्या मातुः सहोदरो मद्रदेशाधीशः शल्यनामा तव द्वारे वर्तते। युधिष्ठिरेणोक्तम्—शीघ्रं प्रवेशय, इत्युक्त्वा सबान्धवो युधिष्ठिरः संमुखमागात्। तं मातुलं वेत्रिणा दत्तहस्ताऽवलम्ब युधिष्ठिरो मद्रमण्डलेश्वरं सोत्कण्ठं समालिङ्गति स्म। तदनु सर्वेऽपि राजानो यथौचित्येन आचारौचित्यं रचयांचक्रुः।

प्रीतिपल्लविताऽऽनन्दकन्दलो धर्मात्मजो निजाऽऽसनसमाऽऽसने सिंहासने न्यवेशयत्। ततस्तत्कुटुम्बस्य नाम गृह्णन् कुशल पप्रच्छ। मद्रेशोऽप्यूचे—राजन्! तव सौम्यदृशा सर्वेषां कुशलमस्त्येव। भो धर्मतनय! तव पुरतः किमपि वक्तव्यमस्ति, यदि त्वं मम वचसा दुर्मना न भवसि तर्हि किमपि मया प्रोच्यते। राजा प्राह—प्रोच्यताम्। भो युधिष्ठिर! तव दूताऽऽगमात् पूर्वं मत्समीपे कुरुराजदूतः समागतः, तेन दूतेनाहं तैस्तैर्भक्तिक्रियाऽऽरम्भैरुपचरितः, ततो मया तस्य दूतस्योक्तम्—मया तव स्वामिसाहाय्ये समागन्तव्यम्; अत्र त्वया संदेहो न कार्यः। तद्वचन श्रुत्वा गतो दुर्योधनदूतः। ततस्तव दूतः समागतः।

तेनापि तथैवोक्तम्—त्वां युधिष्ठिरो राट् समाह्वयति। तत् श्रुत्वाऽहं स्वां वाहिनीं तत्रैव मुक्त्वा त्वदन्तिके समागतोऽस्मि; अतः पर तव वचनं प्रमाणम्। युधिष्ठिरो जगाद—हे मद्रेश! दुर्योधनस्तव जामेयो वर्तते, वयं तु तव भागिनेयाः, त्वं तु मम मातुलो वर्तसे। मद्रेशेनोक्तम्—भो भागिनेयाः! मयि अत्र स्थिते मम वाग् याति, किं करोमि?।

युधिष्ठिरेणोक्तम्—याहि दुर्योधनान्तिके स्वोक्तं पालय, परं त्वया मयि औचित्यं समाचरितव्यम्।

शल्येनोक्तम्—सङ्गरे कर्णस्योत्साहभङ्गं करिष्ये। भो मातुल ! त्वया तत्र गमनाङ्गीकारेण विरूपमाचरितम्, माद्री माता लोकेषु किं वदिष्यति ? । शल्योऽप्याह स्म—भो वत्साः ! युष्माकं यद्रोचते तद् ब्रूत, परं किं करोमि ? यद्यहं न यामि तर्हि मम वाग् याति, वाचि गतायां सर्वं गतम्।

यतः—"पलए वि महापुरिसा पडिवन्नं अन्नहा न हु कुणंति।
गच्छन्ति न दीणत्तं कुणंति न हु पत्थणाभङ्गम्" ॥ १ ॥

अतोऽहं भवदाज्ञया तत्र यामि। युधिष्ठिरेणोक्तम्—याहि। ततो माद्र्या मातुः सहोदरः शल्यो दुर्योधनसमीपे गतः। प्रभाते पाण्डववरूथिनी ततः कुरुक्षेत्रं प्रति प्रतस्थे। एवं क्रमेण मार्गे गच्छन्ती उभयोः पुण्डरीकाक्षपाण्डवयोः सेना कुरुक्षेत्राऽऽसन्नपृथ्वीमाससाद। अहंपूर्विकया सर्वे सैनिकाः सरस्वतीतीरे शीतलवृक्षान् शिश्रियुः। केचित् सैनिकाः नैगमाऽश्ववेगात् पटमण्डपान् चक्रुः। सैनिकगजाः तस्यां सरिति क्रीडां कुर्वन्तो गिरिशोभां दधुः। सैनिकोष्ट्रसमूहा न्यस्तभारा नदीसैकते क्रीडन्ति स्म। अश्वसमूहा तस्मिन् सैकते खुरलीखेलं खेलन्ति स्म। एवं सर्वे सैनिकाः स्वेच्छया क्रीडन्तो अहमिन्द्रा इव राजन्ते स्म। ईश्वराणामपि योषितो मार्गखिन्नाः द्रुमच्छायासु निद्राणा विसंस्थुलितवस्त्राः स्वैरं जनैरैक्ष्यन्त। सैनिकवृषभाः स्नातपीताः इतस्ततः पर्यटन्तः सरस्वतीतटिनीतटे शशाङ्कविशदाः फेनकूटा इव विरेजुः। ते वृषभाः परस्परं युद्धं कुर्वाणाः क्षणं कस्य मनो न रमयन्ति स्म ? । मार्गश्रमापनोदाय सैनिकलोका अब्जिनीखण्डमण्डितं तरङ्गिणीवारि गाहन्ते स्म।

केचित् सैनिकाः उच्छृङ्खलप्रेम रथाङ्गमिथुनं मिथः क्रीडद् वीक्ष्य श्रमं विस्मृत्य सैकते चिरं तस्थुः। तस्यास्तीरे केचिद् मरालमिथुनं समालोक्य स्वकान्तया सह प्रेमानुविद्धास्तथैव क्रीडन्ति स्म। काश्चन भृङ्गाङ्गना

पाण्डव-सेनाया कुरुक्षेत्र प्रति प्रयाणम्

भृङ्गसमूहेन समं वनराजिषु गुञ्जन्तीः श्रुत्वा मृगीदृश आकृष्टश्रुतयस्तथैव तस्थुः। काश्चन वारवध्वो मार्गखेदापनोदाय स्नानं कृत्वा केलिगृहेषु प्रेमानुविद्धा यादवकुमारैः समं स्वेच्छया क्रीडन्ति स्म। केचित् कामुकाः खर्जूरनालिकेरीजम्बूजम्बीरमण्डिते देवकाननोपमे कानने चम्पकाऽशोकपुन्नागकदलीसहकारकानने कामं कामिनीसखाविव चेरुः। एवं कियन्ति वासराणि तस्याः सरस्वत्यास्तीरे निर्गमितानि।

एकस्मिन् दिने कश्चित् प्रतीहारो राजगृहादभ्येत्य कक्षायां दण्डं निक्षिप्य योजितकरकमलयामलो वेत्रपाणिरभाषत—हे धर्मतनय! हे राजेन्द्र! अहं साम्प्रतं राजगृहपुरात् समायातो वरशेखरनामा मुरारेरादेशात् राजगृहे गत्वा जरासन्धस्वरूपं ज्ञात्वा तदुदन्तं कृष्णाय निवेद्य पुनः कृष्णाऽऽज्ञया भवदन्तिके समागाम्। अथ जरासन्धवृत्तान्तो निशम्यताम्—हे देव! जरासन्धदूतः सोमकाभिधो राजगृहात् पूर्वं द्वारकायां यः समागात्, स समुद्रविजयेन निर्भर्त्सितः पुनर्जरासन्धसमीपे गतः, तेन समुद्रविजयवृत्तान्तो निवेदितः।

तत् श्रुत्वा कुपितो जरासन्धः सोमकं पुनर्बभाषे—भोः सोमक! कीदृशौ रामकृष्णौ गोपालबालकौ?। सोमकेनोक्तम्—तौ अहङ्कारपर्वतौ मदोद्धुरौ महोन्नतौ वृषस्कन्धौ; तावूचतुः—को जरासन्धो जरद्गवयः?, अनेन किं सिद्ध्यति?। एकोऽहं कृष्णः सर्वासां जरासन्धवनितानां वैधव्यदीक्षादायकोऽस्मि; एवं बाढस्वरेणान्तःसभं पूत्करोति स्म; तेन कृष्णेनाऽहं गले धृत्वा सभामध्यात् सेवकैः कर्षितः। कृष्णो दावानलोपमो युधिष्ठिरेणाऽनिलोपमेन प्रेरितः शीघ्रमत्र समागमिष्यति।

यथा—"सङ्ख्यातविषयातीतैर्बलौघैर्यदुभूभुजाम्।
अमूभिः पाण्डवेयस्याऽक्षौहिणीभिश्च सप्तभिः" ॥ १ ॥

एवमनेकाऽक्षौहिणीपरिवृतौ हरिपाण्डवौ कुरुक्षेत्रक्षोणीं सांप्रतमलङ्कुरुतः स्म; अथ भवद्भुजवैभवं ज्ञास्यते। इति सोमकवचनं समाकर्ण्य क्रोधज्वालाकरालितो रक्ताक्षो जरासन्धः सर्वेषां दुर्योधनाऽऽदिसभासदां पश्यतां बभाषे—भो भो राजन्याः! मत्पुरतः केऽमी यादवाः?, तथा केऽमी पाण्डवाः?, तथा कौ गोपालबालकौ?; सर्वेऽप्यमी सैनिका मयि कुपिते निधनं यास्यन्ति।

यथा—"तावद् गर्जति खद्योतस्तावद् गर्जति चन्द्रमाः।
उदिते तु सहस्रांशौ न खद्योतो न चन्द्रमाः" ॥ १ ॥

जरासन्धस्यैतद्वचनं श्रुत्वा अन्तःसभं जरासन्धं प्रति दुर्योधनो बभाषे—हे राजेन्द्र जरासन्ध! कृष्णपाण्डवोपरि कोऽयं तव कोपाऽऽटोपसमारम्भः?। राजन्! कोऽयमिभारातेः शृगालोपरि कोपाऽऽटोपसंरम्भः?। तथैवैतेषु भवतः कोपाटोपसमारम्भः। अहमेकोऽपि एनं युधिष्ठिरं पृष्ठे कृष्णस्याधिष्ठितं हनिष्यामि त्वयि पृष्ठे सति, यथा सूर्ये पृष्ठे सति किरणास्तमसां निकरं किं न घ्नन्ति? तथैवैकोऽहमेतान् सर्वान् सपाण्डवान् हनिष्यामि, ततो अन्यैर्वारितोऽपि जरासन्धेन प्रशंसितोऽपशकुनैर्वारितोऽपि दुर्योधनो भवदुपरि समायाति।

दुर्योधनो भवदुपरि प्रयाणदिने एतैरपशकुनैर्वारितः, परं मुमूर्षुर्मूढो न विरराम। कानि पुनस्तान्यपशकुनानि?—यथा—प्रथमं दिशः श्याममुखाः संजज्ञिरे, सैन्यरेणुभिराच्छादितेंशुमालिनि दिवसे तारकनिकरान् ददृशुर्लोकाः, तथा तस्मिन् दिने सर्वासु दिक्षु दिशां दाहा अदृश्यन्त; तथा तस्मिन्नेव दिने दिवि भूतप्रेता ननृतुः, तथा धरित्र्या कम्पितम्, शिवया वासितम्, दक्षिणस्यां रासभेन रटितम्, संमुखं वातेन वातम्, तस्य प्रस्थास्यमानस्य वाजिकुञ्जरैः पुरीषप्रस्रवौ चक्राते। एतानि अपशकुनानि दृष्ट्वा द्रोणाचार्यकृपाचार्य-

अपशकुन-परम्परा

गाङ्गेयदुःशासनाऽऽदिसैन्यानां परस्परमिमा गिरोऽभूवन्—एतैरपशकुनैर्वारितोऽपि दुर्योधनः कर्णेनोत्साहितोऽस्माभिर्वारितोऽपि दुष्टाऽध्यवसायात् संग्रामाद् न विरराम ।

एकस्तावद् जरासन्धो दुष्टात्मा, तथैव दुर्योधनोऽपि पापात्मा; एतौ द्वौ स्वाऽन्यकुलयोर्नूनं संहारं करिष्यतः; तथैवाऽपशकुनैर्वारितोऽप्यसंख्यबलसमन्वितो जरासन्धबलोदधिः पृथ्वी प्लावयन्निव चचाल । तदग्रतः कुरुवाहिनीपतिदुर्योधनो योधकोटिभिरावृतो मार्गे प्रस्थितः सेनापतिरिव पुरतश्चचाल । सदुर्योधनो जरासन्धः समग्रवाहिनीसमेतः प्रातरेव ध्रुवं कुरुक्षेत्रं समायास्यति; इति चरोद्गीर्णां वाचं निशम्य सर्वे यादवाः पाण्डवाश्च भृशं हृष्यन्ति स्म; यतः संग्रामेऽभ्युत्थिते सुभटैर्मुदाप्यते ।

यतः—"विग्रहमिच्छन्ति भटाः, वैद्याश्च व्याधिपीडितं लोकम् ।
मृतकबहुलं च विप्राः, क्षेमसुभिक्षं च निर्ग्रन्थाः" ॥ १ ॥

मुरारिस्तस्मै चारनराय पारितोषिकं दानं दापयामास; यतो महतां प्रीतिर्निष्फला न भवति । चारनरोक्तं श्रुत्वा सज्जितो गोविन्द ससैन्यः सरस्वतीतीरे सैन्यनिवेशं कृत्वा सुखं तस्थौ । अथ पाण्डवाः ससैन्याः स्वसेना सज्जीकृत्य कृष्णसैन्याग्रे तस्थुः । अथ जरासन्धसैनिकैर्भीतिभीतैः प्रत्यन्तगिरिसमीपे स्वाऽऽवासाश्चक्रिरे । जरासन्धस्याप्यावास एकस्य पर्वतस्योपरि कृतो रोचते स्म । कर्णादीनां वीराणां, शल्यादीनां महामहीभृता, गाङ्गेयादीनां महारथानां, स्कन्धावारसहितानामावासाः स्वस्वकेतुमण्डिता यथास्थानं समभूवन् । दुर्योधनस्यावासो गजवाजिरथादिसैन्यसमूहैः परिवृतो राजचक्रैः परिवेष्टितो ग्रहैः परिवृतः श्वेतभानुरिव कुरुक्षेत्रोपकण्ठे रेजे । एव सकलराजचक्रैः परिवृतो जरासन्ध एकस्मिन् दिने देवराजतुल्यां स्वसभां समासीनो मगधाधिपः सर्वेषां राज्ञां पुरतो बभाषे—भो भोः शूराः सैनिकाः! रामकृष्णादिभिर्यादवैः

सैन्यस्याऽग्रे पाण्डवाः पुरस्कृताः, मम सैन्यस्याऽग्रेसरान् सुभटान् रणे पाण्डवैः कवलीकुर्वद्भिः के रक्षका भविष्यन्ति ?।

तत् श्रुत्वा अन्तःसभं समुत्थाय करौ कुड्मलीकृत्य दुर्योधनोऽभ्यधात्—भो राजेन्द्र ! त्वं मामिकामिमां भारतीं श्रोतुमर्हसि, यतस्त्वयि शौण्डीरमाणिक्ये पाकशासनसन्निभे मयि पृष्टे स्थिते सति कोऽयं कृष्णो गोपालबालकः ?, केमी वराकाः काका इव पाण्डवाः ?; भवदाज्ञया एकोऽप्यहं यादवपाण्डवान् जेष्यामि। अतो हे राजेन्द्र ! मय्यनुग्रहं विधाय पाण्डवकौरवीयसंग्रामे ममाऽऽदेशं देहि। अहमेव पाण्डवेन सार्धं युद्धं करिष्ये, मय्यादेशं दत्त्वा त्वं साक्षीभव; तव पश्यतोऽहमिमां पृथ्वीमपाण्डवीं करिष्ये।

जरासन्धेनोक्तम्—भो महावीर ! त्वयि सर्वं भवत्येव, मयि प्रत्ययोऽस्तीति कृत्वा आदेशं दत्त्वा विसर्जितो दुर्योधनः स्वोत्तारके समायातः। तत्रागत्य स्वकीयान् सुभटान् समाकार्य एवमुवाच—भोः पितामह गाङ्गेय ! भो द्रोण गुरो ! भोः कर्ण बान्धव ! अयं प्रातः सङ्गरसागरः समागच्छति, तदगाधसङ्गरसागरो भवद्दोर्दण्डसेतुभिरेव उत्तीर्यते, यथा मन्मथश्चन्द्रवसन्तमलयानिलैः कृतसहायः कठिनान्यपि मुनिचेतांसि किं न मथ्नाति ?, कामार्तानि किं न करोति ?; तथाऽहमपि भवत्सहायात् सङ्गरसागरे विरोधिनो विजेष्ये। मया श्रद्धालुना पाण्डुतनूजानां वधे प्रथमं प्रथमाहवेऽधुना जरासन्धः प्रार्थितः। तस्याऽऽदेशं समादाय मया धनुष्मतां भवतां तत्स्वरूपं निवेदितम्।

दुर्योधनस्य प्रार्थना-स्वीकार

भो राजेन्द्राः ! अस्मत्सैन्ये कति चार्धरथिनः सुभटाः ?, कति रथिनः ?, कति महारथिनो वीराः ?, कति अतिरथिनो वीरमतल्लिकाः ?। एतत् श्रुत्वा भीष्मो बभाषे—हे राजन् ! हे दुर्योधन ! त्वं किं धन्विनां रहस्यं न वेत्सि ? यद् वारं-वारं पृच्छसि ?। अयं कर्णः प्रमादी, कृपालुश्च रणाङ्गणे, तेन हेतुना एष मे अर्द्धरथी प्रतिभासते।

यतः—"सहस्रायुतलक्षान् यो निहन्ति नियतं रणे ।
रथी महारथी चातिरथी चैव निगद्यते" ॥ १ ॥

कर्णः कर्णाभ्यामेतद् वचनं श्रुत्वा गाङ्गेयमभिधत्ते स्म—भो गाङ्गेय ! यावद्भवतां पुरः किञ्चिदातिरथ्य न प्रथिष्यते तावत् पाण्डवैः समं युधि धनुर्न धारयिष्ये; इत्युक्त्वा स्ववीर्येण जगत् तृणं मन्यमानः कर्णः क्रोधान्धल आस्थानमण्डपादुत्थाय स्वगृहमगच्छत् । गृहे गच्छन्तं कर्णं करे धृत्वा गाङ्गेयो बभाषे—भोः कर्ण राजन् ! अकाण्डेऽपि केयं तव मुखे कालिका ?, यत्त्वं क्रोधारुणनयनोऽस्मिन्नवसरे गृहं यासि, यद्यहं प्रधानधन्वा तदपि तव विना किं करोमि ?, तदा दुर्योधनेनोक्तम्—कर्णोऽप्युपात्तचापः पितामहेन गाङ्गेयेन विना किं करोति ? । पुनरपि गान्धारीतनयो भीष्मं प्रोवाच—हे तात ! यदि त्वं मह्यं न कुप्यसि, तर्हि मया किञ्चिद् विज्ञप्यते ? ।

गाङ्गेयेन सेनापति-पद-स्वीकार

गाङ्गेयेनोक्तम्—तुभ्य यद् रोचते तद् ब्रूहि । हे तात ! यूयं रणभारधुरीणतामाश्रयत, यथा—धराऽतिभारधौरेय. को नामाऽन्यः फणीश्वरात् ?; कौरवेन्द्रस्य तां गिरं श्रुत्वा पितामहो गाङ्गेयः सेनानीत्वमङ्गीकरोति स्म । ततो दुर्योधनेन पितामहो महामहेन सेनानीत्वेऽभिषिक्तः । एष वृत्तान्तो मागधेन गत्वा पाण्डवानामग्रे प्रोक्तः—हे राजन् ! कौरवाणामग्रणीर्दुर्योधनो मद्गिरा त्वामिदं जल्पति—अहं भवता सह रणोत्सुकः प्रथमं जरासन्धमयाचिषम्, ततो मया गृहे समागत्य रणाय सेनानीत्वे गाङ्गेयः स्थापितः । स रणदीक्षितो गाङ्गेयो रणे भवतां मिलनाय भृशमुत्कण्ठते । यूयं स्वसैन्यपरिवृताः संग्रामसज्जाः कुरुक्षेत्रावनीं प्रातः समागच्छत ।

तद् दूतवचनं श्रुत्वा हर्षोल्लसितमानसो युधिष्ठिरस्तं प्रति जगाद—भो मागध ! भवता निमन्त्रितोऽहं

पाण्डव-नतिग्रम्

प्रातरेव कुरुक्षेत्रावनीं सबलवाहनः सबान्धवः समेष्यामि। यद्यहं प्रागेव रणाङ्गण नाभ्येमि, तर्हि सत्यवादीति वक्तव्यतया मेऽलम्। तं कनकोत्करैः सत्कृत्य विसृज्य धर्मपुत्रः कृष्णान्तिकं समाययौ। अथ इमां कौरवीयां कथां वन्दिनोद्गीर्णां कथयित्वा युधिष्ठिरो हरिं प्रति प्रथमं संग्राममयाचत। अरिष्टारिरभाषिष्ट—भो युधिष्ठिर! उभयोः समविभागिनं न करिष्यसि?।

युधिष्ठिरेणोक्तम्—हे हरे! अस्मिन् युद्धे भवत्सौम्यदृशाऽस्माकं जय एवाऽस्ति, अस्मिन् युद्धे नाहं सहायकापेक्षी। पुनर्नारायणेनोक्तम्—तर्हि अहं कपिध्वजरथे सारथीभूय भवतां युद्धं विलोकयिष्ये। तां हरिगिरं प्रतिश्रुत्य धर्मजो गृहे गत्वा स्वचमूर्युद्धसंवाहाय समादिशत्। ततः सर्वे सैनिका युधिष्ठिरगिरा सज्जा जाताः। अथ युधिष्ठिरः सर्वसामन्तसंमतया द्रुपदोर्वीशनन्दनं धृष्टद्युम्न सेनापतिं चक्रे।

पाण्डवपक्षे धृष्ट-द्युम्नस्य सेनापति-पद-स्वीकार

तस्मिन् समये भटवेश्मसु अस्त्रदेवीनां पुरतो बलिपुष्पोपहाराऽऽदिमहोत्सवः प्रावर्तत। सुभटाङ्गनाभिः स्वस्वभर्तृजयैषिणीभिः देवदेवीनामुपयाचितलक्षाणि पृथक्-पृथक् प्रतिशुश्रुविरे, ततस्ता भर्तृप्रेमोल्लसिताः सुभटाङ्गनाः स्वैरं प्राणेशमालिङ्गन्ति स्म। काचन वनिता स्वपुत्रमिति कथयति स्म—हे पुत्र! यथाऽहं वीरसूरिति जगति विश्रुताऽभवं, तथेदानीं त्वं मम कुर्याः। स्वप्रियं काचन वनिता प्रेम्णेति कथयति स्म—हे प्राणेश! वैरिकुम्भिकुम्भस्थलोद्भवैर्मुक्ताफलैर्हारं विधाय मम कण्ठे समारोपयेः। हे नाथ! त्वं रणे तथा कुर्वीथाः यथा त्वां पश्यन्तीनां सुभटाङ्गनानां स्पृहणीयतां यामि। केचन वृद्धसुभटाः स्वपुत्रानिति वदन्ति स्म—भो पुत्राः! स्वामिकार्ये रणे मरणचिन्ता न कार्या।

यतः—"जिते च लभ्यते लक्ष्मीर्मृते चापि सुराङ्गना।
क्षणविध्वंसिनी काया, का चिन्ता मरणे रणे?" ॥ १ ॥

केचन सुभटाः स्वलघुबन्धूनिति कथयन्ति स्म—भो बान्धवाः! स्वामिकार्ये काचित् कातरता न विधेया। केचन वीरा लोहवर्माणि संवर्मयामासुः। केचनाऽऽत्मनः शिरसि शिरस्त्राणं न्यधुः। केचन करे करवालं कृत्वा नर्तयामासुः। केचन सुभटाः क्वणत्कनकशृङ्खलान् घण्टाघुर्घुऽऽरावमुखरान् मदाम्बुभिः पङ्किलीभूतभूतलं कुर्वतो गजान् गुण्डाभिर्गुण्डयामासुः। केचन सुभटा वार्द्धिकल्लोलचञ्चलान् सूर्याश्वानुकारान् हयान् प्रक्षरोपेतान् कुर्वन्ति स्म।

केचन सुभटारथिनो देवरथानुकारान् सौवर्णमणिमण्डितान् षट्त्रिशद्दण्डायुधपूरितान् घण्टानादैर्मुखरितदिगन्तान् रथसमूहान् सज्जीकुर्वन्ति स्म। अथ पादात्याः केचन असिखेटकधारिणः स्वामिकार्ये संग्रामशूरा उच्चैर्ननृतुः। केचन इतस्ततो धावन्तः स्वस्वामिनो निजं निजं पराक्रमं दर्शयामासुः। एवं तस्यां रात्रौ सर्वेऽपि राजानः सैनिकलोकाश्च सज्जीबभूवुः। अथ पाण्डवाः कथ्यन्ते—

यथा—"पञ्चापि पाण्डवा रेजुर्धृतनानायुधास्तदा। कल्पान्त इव पाथोदाः स्फुरितानल्पविद्युतः॥ १॥
आरूढकल्पिताऽनेकरथानेकपवाजिनः। भूभुजः परितो भेजुस्तानिन्द्रानिव नाकिनः" ॥ २॥

एव सैन्यसमूहैः परिवृतो धर्मपुत्रः सूर्योदये उत्तरस्यां दिशि यावदलोकयत् तावत् ते पाण्डवा दिवि दिव्यानि विमानानि भूरिशो ददृशुः। तेभ्यो विमानेभ्योऽवतीर्य अनेके विद्याधराः समागत्य युधिष्ठिरं प्रणेमुः। तेषां नामानि—मणिचूडः, सहस्राक्षः, चन्द्रापीडः, महाबलः, चित्राङ्गदः—येन पूर्वं दुर्योधनो बद्धः। एवमन्येऽपि विद्याधराधीशा विद्याधरैः परिवृता युधिष्ठिरादिपाण्डवान् नत्वा एवं व्यजिज्ञपत्—हे देव धर्मनन्दन! त्वया, तव सहोदरैश्चैतेषा विद्याधराणां बहव उपकाराः कृताः तेनैते विद्याधरास्तव गुणक्रीताः सेवार्थे समागताः। भवतः कौरवैः सह सङ्गरं विदित्वा तव सहायताकृते वयमत्र समागताः। अतः समादिश, किं कुर्मः?; भवता

किमारब्धः स्वयमेव रणारम्भ इयत्सु अस्मत्सु निजपत्तिषु सत्सु ?, इत्युक्त्वा भीमाऽर्जुनादिभिः सार्धं क्रीडन्तो विहरन्ति स्म ।

अथ भीमपुत्रो घटोत्कचो विद्याधरो हिडम्बातनयो विद्यासामर्थ्यतः संग्रामं समुपस्थितं ज्ञात्वा सोऽपि त्वरितं समागतः प्रथमं युधिष्ठिरं नत्वा ततो भीमादीन् नमस्करोति स्म । तैः सर्वैः पाण्डवैः प्रेमालिङ्गितः संभाषितश्च हर्षितो घटोत्कचः पित्राज्ञया सन्नाहमग्रहीत् । कथंभूतो घटोत्कचः ? ।

यथा-"सहर्षो हयहेषाभिर्लूजितो गजगर्जितैः । क्षीबः प्रवीरक्ष्वेडाभी रञ्जितो रथचीत्कृतैः ॥ १ ॥
लुम्पन् लोकश्रुतिश्रेणीर्दारयन् गिरिकन्दराः । उद्वेलयन् महाम्भोधीन् कम्पयन् काश्यपीतलम् ॥२॥
शब्दाद्वैतमयीं रोदःसंपुटीं घटयन्निव । महानादोऽथ दध्वान दुन्दुभिः साम्परायिकः" ॥ ३ ॥
(त्रिभिर्विशेषकम्)

युधिष्ठिरस्य प्रस्थानम्

अथ युधिष्ठिरः सन्नाहसंभृतं रथं समारुह्य सकलसैन्यसमन्वितो दिवि विद्याधरैः परिवृतः शुभशकुनैः प्रेरितो धृष्टद्युम्नं सेनान्यं पुरस्कृत्य सैन्यपूरैरवनीं प्लावयन्निव रणक्षोणीं प्रतस्थे । चक्रपाणिरपि धनञ्जयरथे सारथ्यमाचरन् विस्मयाद् लोकैररुणरथेऽरुणसारथिरिव ददृशे । तस्मिन् सैन्यौघसंमर्दे महीरजः अश्वखुरात् क्षुण्णं द्यां व्याप्नुते स्म । तत् सैन्यरथकेतवोऽनुकूलपवनोद्धूता इतो जय इतो लक्ष्मीरित्याख्यान्त इवाऽऽबभुः । एवंविधायां समरावनौ युधिष्ठिरे समागते कौरवेन्द्रो दुर्योधनः सान्नाहिकं शङ्खं वादयामास ।

तस्मिन् वादिते सर्वे कौरवाः सज्जीबभूवुः । किं नामाऽस्मिन् रणे भविता ?, इति केचन चिन्तयन्तः सज्जीबभूवुः; केचन राजानो जागरिता वल्लभाभिर्वारं वारं चालिङ्ग्यन्ते स्म । केचन संग्रामाय त्वरमाणा

वल्लभाभिर्वारं वारं वार्यन्ते स्म। वल्लभाभिर्वारिताः सुभटा मन्दादरा यावदभूवन् तावद् राजदौवारिकैर्वारं वारं प्रेरिताः पुनः सज्जीबभूवुः। केचन सुभटा अपशकुनैर्वारिताश्चिन्तयन्ति स्म—अस्मिन् दैवादमङ्गले जातेऽस्माकं किं भविष्यति ?; इति शोचन्तो रणकर्मणि मन्दादरा न संवर्मयामासुः। केचिदव्यक्तबाल-लालनतत्परा वीराः प्रतीहारोक्तिभिः पुनः संवर्मयामासुः। हाटकोत्कटकङ्कटा मुकुटमण्डितास्ते राजानो रेजिरे। तस्मिन् समये शिरसि सिन्दूरपूरैर्मण्डितः कश्चित् करी बलकोलाहलं श्रुत्वा आलानद्रुममुन्मूल्य शिबिरं जगाहे। सेनाकलकलोद्भ्रान्तचेतसां केषाञ्चित् करिणां मदस्रोतांसि तत्क्षणादेव विशुष्यन्ति स्म। केषाञ्चित् मदोद्धुराणां सिन्धुराणां विमुक्तबन्धनानां हस्तिपकाः पुनस्तान् गजान् कथञ्चित् ग्राहयाञ्चक्रिरे। आजये सज्जिताःकुञ्जरेश्वरा अत्यर्थं रेजिरे।

अथाश्ववर्णनम्—यथा तेजी उरण्डा गह्वरास्तोराः खुरसाणा भयाणा हयाणा रोहवाला रुण्डमाला-स्तोरका मन्दकोराः पीलूआ भादिजा दक्षिणपन्थाः पाणिपन्था मर्कटा नीलवर्णाः करहाटका गङ्गाजलाः सिन्धूआः पारकराः पारसीका भद्रेश्वरा काम्बोजाः, इत्यादयो वाजिवर्गाः प्रखरपरिमण्डिताः सुवर्णशृङ्खलापरिमण्डितगात्राः। एवंविधवाजिराजसमाश्रितसुभटकोटिपरिवृता गाङ्गेयकर्णादयो महावीरा दुर्योधनं समुपतस्थिरे। अथ दुर्योधनस्तैः सैन्यसमूहैः परिवृतो दुर्निमित्तैर्वारितोऽप्यहङ्कारपर्वतः कुरुनन्दनो दुर्जेयो महाबाहुः पाण्डवान् जेतुं स्यन्दनमारुरोह। अथ दुर्योधनसुभटाः।

यथा-"सज्जितस्वस्वयानाधिरोहिणः कवचाञ्चिताः। मूर्तिमन्त इवोत्साहा धनुर्वेदा इवाङ्गिनः ॥१॥

द्रोणाचार्यकृपाचार्यप्रमुखाः सामवायिकाः। कनीयांसश्च दग्धारिवना दुःशासनादयः ॥ २ ॥

शल्यप्राग्ज्योतिषाधीशजयद्रथपुरःसराः। भूमीभुजश्च तं मुक्तपर्यायं पर्यवीवरन्" ॥ ३ ॥

(त्रिभिर्विशेषकम्)

अश्वाना विविधा जातय

यथा ग्रहाधीशो ग्रहैः शोभते, यूथपो यथा यूथैः शोभते, पुण्डरीको यथाऽम्भोजैः शोभते, तथा तैः सुभटैः परिवृतो दुर्योधनः शोभते स्म। तदा दिङ्निकुञ्जेषु सेवकैः कृतो दुन्दुभिध्वानो जजृम्भे कातरान् विमनीकुर्वन् शूरान् जातरोमोद्गमाङ्कूरान् कुर्वन्। तस्मिन्नवसरे प्रातिलोमिकैः पवनैः केतनानि पराञ्चन्ति कौन्तेयानीकिनीभीत्या नश्यन्तीव चकाशिरे। तथा आयुधिनां वीराणामायुधानि सूर्यकरसङ्गमादग्नि क्षरन्ति अग्निदैवतान्येव रेजिरे। एवंविधा कल्पान्तकालार्णववेला इव दुर्योधनवरूथिनी संग्रामभूमिसीमानमाक्रामत्। एकस्मिन् पार्श्वे पाण्डवानीकं विद्याधरविमानैरलङ्कृतं कुरुक्षेत्राऽवनीं समागात्।

यथा—"मिथः पीतप्रतिध्वानैरन्तर्मग्नाऽन्यनिस्वनैः। प्रणेदेऽथ रणातोद्यैः सैन्ययोरुभयोरपि ॥ १ ॥

तर्जयन्त इव क्रोधाद् मरुत्प्रेङ्खोलनैर्मिथः। अनीकद्वितयस्यापि विराजन्ते स्म केतवः" ॥ २ ॥

उभयोरपि सैन्ययोर्वीराः परस्परं स्वामिवैरेण वैरायमाणाऽम्बरस्था विद्याधराः स्वस्वबलगर्वितवचोभिरमिलन्। द्वयोरपि सैन्ययोर्मागधाः स्वस्वसैनिकान् प्रशंसन्ति स्म। सैनिकवीरा रणोत्साहिता मागधेभ्यः स्वर्णरत्नभूषणानि ददति स्म। सैन्यद्वयेऽपि स्वस्वभर्तुरादेशात् प्रधनेच्छवोऽपि सुभटा वेत्रपाणिभिर्ध्रियन्ते स्म।

"पीयूषांशुमयं मुखैः कुवलयश्रेणीमयं लोचनैर्नानारत्नमयैर्विमाननिवहैः सन्ध्याऽम्बुदालीमयम्।
कुर्वद्भिः कुरुपाण्डवेयसमरव्यालोकनव्याकुलैर्गन्धर्वामरखेचरैर्वियदलञ्चक्रे तदानीं क्षणात्" ॥ १ ॥

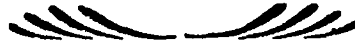
इति श्रीमत्तपागच्छाधिराजभट्टारकश्री ५ श्री हीरविजयसूरिपट्टालङ्कारसंप्रतिविजयमानभट्टारकश्रीविजयसेनसूरिराज्ये पण्डितदेवविजयगणिविरचिते गद्यबन्धबन्धुरे श्रीपाण्डवचरित्रे दूतसोमकशल्यनृपागमनपाण्डवकौरवप्रयाणकबलवर्णनो नाम द्वादश सर्गः समाप्तः।

युद्धभूमावागमनम्

१२ सर्ग.

अर्हम्

अथ त्रयोदशः सर्गः



"अथ तैः समयश्चक्रे सैनिकैरुभयैरपि ।
नावहारे प्रहर्तव्यं नाऽपशस्त्रे न च स्त्रियाम्" ।। १ ।।

धनञ्जयस्य पृच्छा

अथ प्रौढरथाऽऽरूढौ भीमार्जुनौ धृष्टद्युम्नं सेनान्यं कृत्वा सेनामुखे आजग्मतुः । ततः सेनामुखस्थो धनञ्जयः कुरुवाहिनीं समालोक्य तत्स्वरूपं जिज्ञासुर्हरिं पप्रच्छ—हे हरे ! अस्यां कुरुसेनायां के के सुभटाः ?, कथं ज्ञायन्ते ? । हरिणोक्तम्—एष तालध्वजो वैरिवारनिराकरणक्षमो जगदेकवीरो महारथी श्वेतवाजि-समन्वितरथस्थो गङ्गासूनुर्गाङ्गेयः । अयं रक्ताश्वरथस्थः कलशकेतनः समिद्धुरीणो महारथी भवद्गुरुः, अविद्राणकीर्तिर्द्रोणाचार्यः, एष दुर्योधनो धन्वी नीलाश्वो नागकेतनो वीरव्रातपरिवृतः सुवर्णरथराजितो महारथी भवच्छत्रुर्ज्ञेयः । एष दुःशासनो लम्बकेतुरथस्थः क्रूरकर्मा पीततुरङ्गमो दुर्योधनानुजो द्रौपदीचीराकर्षणलोलुपकरो विशेषतस्त्वया ज्ञातव्यः । सोऽयं सौबलो रक्तपीताऽश्वमण्डितरथो गबलध्वजो भुवनैकवीरमानी ।

अयमश्वत्थामा द्रोणपुत्रो रक्ताश्वरथस्थः सिंहलाङ्गूलकेतनो महारथस्तवाऽभिमुखो वारं-वारं विलोकते । स एष भवन्मातुलः शल्यनामा माद्रीबान्धवो भवन्तं विहाय वारितोऽपि तत्र गतो भवत्प्रतिपक्षीभूय पुनः समागतो वन्धूकबन्धुरैरश्वैर्विराजितरथः सीताकेतुमण्डितो वैरिशल्यो भवच्छल्यो ज्ञेयः । अयं लोहिताश्वरथो जयद्रथो

नाम हृतारातिचैतन्यः कोलकेतनो भवता ज्ञेयः । असौ कोलाहलपरः पञ्चकल्याणाश्वरथस्थो यूपकेतनो भूरिश्रवा नाम राजा दृश्यते । अयं सुप्रतीकगजारूढः प्रौढस्तम्बेरमध्वजः कीर्तिकोलाहलो भगदत्तो नाम वर्तते । एवमनेके सुशर्माद्या महाराजा रथस्थाः, वाजिसमारूढाः; केचन गजाधिरोहिणो भवत्पुरतः संग्रामाय समुपस्थिता वर्तन्ते । एतावन्तो वीरा भवत्पुरतो निधनं यास्यन्ति ।

इमां विष्णुवाचं निशम्य धनञ्जय उज्झितदयो रथक्रोडे संग्रामसज्जो निषसाद । पुनः स्वभावसदयो धनञ्जयो गुरुबान्धवादीन् समालोक्य गोविन्दं जगाद—हे हरे ! एतान् गुरुबान्धवान् हन्तुं मम मनो नोत्सहते, तत् किं राज्येन ?, सृतं श्रिया, किं मम पौरुषेण ?, किमनया विद्यया ?, यया गुरुबान्धवादीन् हत्वा पापेन लिप्यते, यस्मिन् गाङ्गेयपितामहाङ्के क्रीडतो मम एतावन्ति दिनानि गतानि, तस्मिन् ब्रह्मचारिणि गाङ्गेये मम बाणाः कथं पतेयुः ? ।

अयं द्रोणो मम चापाचार्यः, येन तुष्टेन मम सकला बाणकला दत्ता, तं चापाचार्यं कथं हन्मि ? । अयमश्वत्थामा मम गुरुबान्धवो गुरुवात्सल्याद् बन्धोरप्यधिकः, तं कथं रणे हन्मि ? । हे हरे ! एतेषां गुरुबान्धवादीनां हन्तुं मम बाणास्त्रपन्ते । एतद्वचनं श्रुत्वा हरिर्जगाद—हे वीरावतंस ! हे धनञ्जय ! कोऽयं तव कृपाङ्कुरः क्षत्रधर्मविलक्षणः ? । यतः कृपया क्षत्रियधर्मो न वर्धते । क्षत्रियधर्मस्यैतल्लक्षणम् ।

यतः—:'गुरौ पितरि पुत्रे वा बान्धवे वा धृतायुधे । वीतशङ्कं प्रहर्तव्यमिति हि क्षत्रियव्रतम् ॥ १ ॥
बान्धवा बान्धवास्तावद् यावत् परिभवन्ति न । पराभवकृतस्तूच्चैः शीर्षच्छेद्या भुजावताम् ॥ २ ॥
वैश्वानरः करस्पर्शं मृगेन्द्रः श्वापदस्वनम् । क्षत्रियाश्च रिपुक्षेपं न सहन्ते कदाचन" ॥ ३ ॥

अतः क्षत्रियव्रते वैरिणो बान्धवा अपि हन्तव्याः, त्वयि विश्वैकधानुष्के सत्यपि तव भ्रातुर्लक्ष्मीः शत्रुभिर्गृह्यते, साऽपि तवैव महती त्रपा भवति। अतः कृपां शिथिलीकृत्य पाणिना चापमादाय भवान् शत्रुवर्गक्षयं कर्तुमर्हति। भो अर्जुन! एते तव शत्रवः स्वपापैरेव क्षयं यास्यन्ति, त्वं तु केवलमेवैतेषां वधे हेतुमात्रं भविष्यसि। धनुष्मन्तो जिघांसन्तं जिघांसन्त्येव। अतो भो धनञ्जय! करे बाणान् गृहाण, द्रुतं चापमारोपय। अन्यथा एतैः शत्रुभिस्तव बान्धवा हनिष्यन्ते। इत्यादि हरिणोक्तं श्रुत्वा संग्रामायोत्साहितोऽर्जुनः करे कार्मुकं कलयन् संग्रामाय समुत्तस्थौ। उभयोः कौन्तेयकौरवानीकयोर्धन्विनोर्धनूंषि प्रत्यञ्चाऽऽस्फालनाद् घोरनिर्घोषाण्यध्यारोपयन्, उभयोः सैन्ययोर्वीराः स्वान् स्वान् शङ्खान् दध्मुः। तान् शब्दान् शृण्वन्तः सर्वेऽपि सैनिकाः सज्जीबभूवुः।

अथ युधिष्ठिरो रथादुत्तीर्य पद्भ्यामुपेत्य भीष्मं द्रोण कृपं चानमत्। तेऽपि गुरवस्तं युधिष्ठिरं लज्जावनम्राः सन्त आशीर्भिरभ्यनन्दन्। तत एवं भाषन्ते स्म—हे वत्स! भवतोऽस्मासु भक्तिरस्ति, अस्माकमपि भवदुपरि स्नेहोऽस्ति, पर किं कुर्महे?—हे वीर! कौरवैर्भूरिभक्तिभिस्तोषिता वयं, कौरवान् हातुं न सहामहे, अस्माभिर्लोकानुवृत्त्या कौरवान् विहातुं न शक्यते, अस्मिन् युद्धे युष्माकमेव जयो भविष्यति, अत्र कश्चित् सशयो नास्ति यस्य सैन्ये न्यायधर्मौ विसर्पतः; इत्यादि गुरुभारतीं समादाय पुनः समागत्य स्वरथं समारुरोह। अथोभयोः सैन्ययोः सैनिकाः कोदण्डेषु बाणान् सदधुः। गाण्डीवधन्वनाऽपि धन्वाकर्षणात् टणत्कारशब्देन विद्विषां प्राणाः प्रावासिका विहिताः। व्योम्नि व्योमचराः, भुवि भूचराश्चान्योन्य युयुधिरे।

यथा—"पत्त्रिणां पत्त्रिनिर्ह्रादैः शिञ्जिनीनां च शिञ्जितैः।
क्ष्वेडाभिर्दोर्भृतां चाभूत् संभ्रमक्षुभितं जगत्" ॥ १ ॥

अर्जुन-
स्योत्साह

१३ सर्ग

तीक्ष्णबाणमिषात् प्रेतराजो जिह्वासहस्रं विधाय सर्वान् भटान् लेलिह्यते स्म, खेचरैः सार्धं खेचराः, भूचरैः सार्धं भूचराः, रथिभिः सार्धं रथिनः, खड्गपाणिभिः खड्गपाणय, हस्तिपकैः हस्तिपकाः, पदातिभिः पदातय एवं पत्तियुद्धेन परस्परं युध्यन्ते स्म। स्तम्बेरमाः स्तम्बेरमान् प्रति धावन्तः उत्पातपवनोत्पाटिताः शैला इव चकासिरे, वाजिनोऽपि संग्रामशूराः प्रक्षरैः परिकलिता विततपक्षैः पक्षिराजा इव रेजिरे, रथानां पङ्क्तयः पवनोद्धूतैर्ध्वजैः कृत्वा प्रतिरथानाह्वायमानानामिव चेरुः, शौर्याद्रूर्ध्वमूर्धजाः कोपारुणितलोचना कालकिङ्करा इव परस्परमुभयोः सैन्ययोः पत्तयो वलगन्ति स्म। अत्युत्कटभटकलित एकस्मिन् पार्श्वे धृष्टद्युम्नो द्रौपदीबान्धवः, अन्यस्मिन् पार्श्वे गङ्गातनयो गाङ्गेयः, उभावपि सैन्यनायकौ सेनापरिकलितौ योधान् योधयामासतुः। शौर्यव्रतप्रवालाङ्कूरा इव वीरकुमारा अभिमन्यूत्तरकुमारघटोत्कचद्रौपदीपुत्रादयो नवबाहवो रणाङ्गणे कुरुवाहिनीं जगाहिरे।

"मद्रराजस्य शल्यस्य वैराटेरुत्तरस्य च।
जज्ञेऽथ समरो घोरः स्यन्दनस्थगजस्थयोः" ॥ १ ॥

सैन्ययो परस्पर-युद्धारम्भ

मद्रवैराटौ शल्योत्तरकुमारौ परस्परं युयुधाते, उत्तरेण दुर्वारं शरासारं वर्षता शल्यस्तिरश्चक्रे, तोयदेन भानुमानिव। ततः प्रकुपितः शल्यो जितानेकसंग्रामः क्रोधारुणलोचनो वैराटतनयमुत्तरकुमारं शक्त्या न्यपातयत्। उत्तरकुमारं हतं ज्ञात्वा पाण्डवसैन्येषु महान् हाहाकारतुमुलारव आसीत्। अथ धर्मसूनुधनुर्धरा अत्यर्थं भीष्मसेनया सममयुध्यन्त। भीष्मपराक्रमो भीष्मो रथारूढोऽतुलबलकलितः पाण्डवसेनायां स्वयं प्रससार। तस्मिन् सैन्ये प्रसृतो गाङ्गेयः केषाञ्चित् शिरांसि चिच्छेद, केषाञ्चिद् मानैः सह बाणान् चिच्छेद, केषाञ्चिद् धनुर्बद्धाः शिञ्जिनीश्चिच्छेद, केषाञ्चिद् बाणैः सार्धं पाणी चिच्छेद, केषाञ्चित् करात् खड्गान्, केषाञ्चित्

सारथीन्, केषाञ्चित् तनुत्राणानि, केषाञ्चित् शिरस्त्राणानि, केषाञ्चिदातपत्राणि, केषाञ्चिच्चामराणि, केषाञ्चिदोजसा समं शस्त्राणि ।

केषाञ्चिद्रथेषु प्राणैः सार्धं युग्याः पलायन्ते स्म । केषाञ्चिद् वस्त्राण्याच्छिदत्, केषाञ्चित् प्राणानाच्छिदत् । एवं गाङ्गेयेन विद्राविते पाण्डवसैन्ये केचन गजा विनाऽऽधोरणा इतस्ततः पर्यटन्ति स्म । एवं हते सारथिसुभटे रथा इतस्ततः पर्यटन्ति स्म । एवमश्वरक्षके हते अश्वा इतस्ततः पर्यटन्ति स्म । एवं गाङ्गेयेन पाण्डवानां चमूरत्याकुला चक्रे । गाङ्गेयवद् धृष्टद्युम्नोऽपि निर्जिताऽरातिविक्रमः कौरवीयबले सहस्रशो भूपान् संजहार ।

यथा—"शैवलिन्यः कचै रक्तोत्पलिन्यः सुभटाननैः । रथस्तोमैस्तरीमत्यो मीनवत्यः करांह्रिभिः ॥१॥
सितच्छत्रैः कुमुद्वत्यो वेतसवत्यश्च केतुभिः । प्रावर्तन्त ततः कूलङ्कषाः शोणितसिन्धवः" ॥२॥
(युग्मम्)

तस्यां नद्यां महामत्तमतङ्गजाः शैलायन्ते स्म । तस्मिन् संग्रामसमये क्वापि तुरङ्गाङ्गमयी, क्वाऽपि द्विपवपुर्मयी, क्वाऽपि वीरवर्ममयी, क्वाऽपि केतुदण्डमयी, क्वाऽपि चापदण्डमयी, क्वाऽपि सेल्लभिल्लमयी; एवंविधा रणक्षितिरभूत् । पृथ्वीं रुधिरप्रवाहमयीं विधाय उत्तरकुमारवधाल्लब्धजयो गाङ्गेयः स्वसैन्यमुपागमत् । तथैव धृष्टद्युम्नोऽपि उत्तरकुमारवधात् खेदमेदुरो पृथ्वीं रुधिरमयीं कृत्वा कौरवानीकपतिं गाङ्गेयं घातितवरीपुरुषं विधाय भास्वदस्तसमये स्वसैन्यसहितः स्वसैन्यमुपाययौ । प्रथमदिनमतीतम् । रात्रौ विराटदयितां सुदेष्णां पुत्रशोकाकुलां मिष्टवाक्यैर्धर्मसूनुरित्यसान्त्वयत् ।

हे कल्याणि ! त्वं वीरकान्ताऽसि, अद्यप्रभृति त्वं वीरसूरप्यसि; यतस्तव पुत्रो रणे वीरवारान् हत्वा
निधनं गतः, शल्येन हतस्तव पुत्रः, परं तं शल्यं तव पुत्रवैरिणं यदि शल्यवद् नोद्धरामि, तर्हि मे वाग् निष्फला
भवतु, इत्युक्त्वा सा तोषिता मौनमाश्रिता, यतः—उदात्तप्रकृतीनां हि शोकः स्तोकतरस्थितिर्भवति । द्वितीयेऽह्नि
तथैव गाङ्गेयो विशिखव्रातैर्नृपानीकान्यनेकशो निघ्नन् सप्त दिनानि यावत् पाण्डवसैन्यानां कल्पान्तकालाऽन-
लोपमोऽभवत् । तत्संग्रामसकलस्वरूपं संजयो रात्रौ सदाराय धृतराष्ट्राय नित्यमावेदयाञ्चक्रे ।
अथोदारधीर्युधिष्ठिरस्तद्विद्याधरार्पिताऽङ्गुलीयनीरमाहात्म्याद् निजानां सुभटानां प्रत्यहं व्रणरोहणं चक्रे । एवं
गाङ्गेयः स्वसैन्यसैनिकानां मन्त्रशक्त्या प्रत्यहं व्रणरोहणं चक्रे । एवं द्वयोः सैन्ययोः संग्रामे जायमाने
गजाश्वमनुष्याणामनेकाः कोटयो निधनं गताः । एवं सप्त दिनानि अतीतानि ।

तथैवाऽष्टमेऽह्नि पितामहे गाङ्गेये युद्ध्यमाने पाण्डवानीकभूभुजो गाङ्गेयेन सार्धं भृश योद्धुमारेभिरे ।
पाण्डवानीकभूभुजः ससैन्याः पितामहसेनया सार्धं युद्ध्यमानाः कस्यचिदेकेनैव बाणेन कनीनिकाकर्णज्या-
कराङ्गुलीर्विव्यधुः, यतश्चैते चत्वारोऽपराधिनः, अपराधिनो हि दण्डं लभन्ते, कनीनिकया दृष्टः, कर्णेन
श्रुतः, कराङ्गुल्या ज्याकर्षणं विहितम्, अतश्चत्वारोऽपि एकेन बाणेन विद्धाः । पितामही सेना बाणालङ्कृता
विहिता । एवमर्जुनबलधन्विनो गाङ्गेयवरूथिन्या धनुर्दण्डैकमण्डलीं निरुच्छ्वासां चक्रिरे । बाणव्रणितसर्वाङ्गं
तद्गाङ्गेयबलं जङ्गमबन्धूकवनमिवाबभौ । महीपालान् सहस्रशो हतवत्यपि गाङ्गेये ततोऽपि हताऽभ्यधिक-
भूपालाः पाण्डुनन्दनाः सानन्दा बभूवुः । हतवित्रासितबलाः कौरवाः क्षुरप्रबाणेन मुण्डितमस्तका गाङ्गेयसंयुक्ता
निजं निजं स्कन्धावारमष्टमेऽह्नि समाजग्मुः । गतमष्टमदिनम् । एवं पाण्डवा अपि सपरिकरा लब्धजया
अष्टमेऽह्नि स्वस्थानमगमन् । नवमेऽह्नि दुर्योधनो गाङ्गेयसमीपं समागत्य विनयाऽवनम्रशरीरः पितामहपुरः,
उपविश्य सोपालम्भमदोऽवदत् ।

यथा—"त्वं तु कौन्तेयदाक्षिण्यात् सङ्गरे तद्धनुर्धरैः। नित्यमास्माकवर्गीणान् हन्यमानानुपेक्षसे ॥ १ ॥
तेभ्योऽस्मदहितेभ्यश्चेद् दातु राज्यं तवेप्सितम्। तद्व्यापादय मां तात! सद्यः स्वेनैव पाणिना" ॥२॥

इति दुर्योधनवाक्यं श्रुत्वा गाङ्गेयो दुर्योधनं प्रति बभाषे—भो वत्स! त्वमेवं तुच्छोचितं वचः किं भाषसे?। यद्यप्येते मम वत्सलाः प्राणप्रियाश्च, तथापि मयेदं जीवितं त्वयि विक्रीतम्। तव भक्त्या तुष्टेन मया त्वमेवाङ्गीकृतः। अतोऽहं पाण्डवैः सार्धं योत्स्ये, परं यत्र धनञ्जयः करे धनुर्धरति, तस्मिन् समराङ्गणेऽस्माकं जयः सांशयिक एव स्यात्; तथापि आजन्माभ्यस्तनिस्तुषैश्चापकर्मभिः प्रातः निःशौण्डीरां वसुन्धरां करिष्यामि। एवं गाङ्गेयेनोन्मीलितप्रीतिर्दुर्योधनो निजमावासमाजगाम।

नवमेऽह्नि सज्जितश्चमूचक्रपरिवृतो गाङ्गेयः शरासारैः कौन्तेयानीकिनीभटान् मथ्नाति स्म। केचन पाण्डवसुभटा गाङ्गेयपुरतो धनुर्धर्तुं न शक्नुवन्ति स्म। केचन पाण्डवीयाः सुभटा रणे स्थातुं न शक्नुवन्ति स्म, केचन पश्चाद्गत्वा वरूथिन्यां प्रविशन्ति स्म; केचन सारथिमन्तरा कृत्वा आत्मानं पान्ति स्म। केचिदकीर्तिमुररीकृत्य धनुस्तूणीरौ मुक्त्वा संग्रामं विहायाऽन्यत्र व्रजन्ति स्म। एवं बाणधोरणीवर्षिणि गाङ्गेये पाण्डवीया धनुर्भृतो निर्जीवैर्धन्विभिः सार्धं निर्जीवा एव बभूवुः। तां पितामहीं बाणक्रीडां दृष्ट्वा दिनात्यये पङ्कजैरिव पाण्डवैः संकोचः प्राप्यते स्म।

तथा—"उभे अपि पताकिन्यौ वेत्रिवारितसङ्गरे।
सायंकाले ततः स्वं स्वं निवासमुपजग्मतुः" ॥ १ ॥

रात्रौ पञ्च पाण्डवाः कृष्णोऽपि परस्परं मन्त्रणां चक्रुः, यावद् जाह्नवीतनयः संग्रामे धनुर्धत्ते तावदस्माकं

रात्रौ पाण्डवाना मन्त्रणा-करणम्

जयो दूरेऽस्तु, परं जीविताशापि दुर्लभा वर्तते। एतत् पाण्डवोक्तं श्रुत्वा कंसारिर्जगाद भो—युधिष्ठिर! गाङ्गेयं हन्तुं स्वयमेव मम बाहुरुत्सहते, परं तैस्तैः शपथैरर्जुनेन निवारितोऽहं किं करोमि? तवाज्ञया प्रातर्निर्गाङ्गेयां पृथ्वीं करोमि। हरिणोक्तं श्रुत्वा युधिष्ठिरो जगाद—हे हरे! इदानीमपि इन्द्रोऽपि संग्रामं कर्तुं न समर्थः, तर्हि गङ्गासूनोस्तु का कथा?, किन्तु भवता पुरा प्रीतेन गान्धारीसुतवर्ग-वधोद्भवाः कीर्तयोऽस्मभ्यं दक्षिणीचक्रिरे, अथावेदय गोविन्द! किञ्चित् प्रकारान्तरम्; येन विश्वैकरथी गाङ्गेयो जीयते स्म। तत् श्रुत्वा युधिष्ठिरं प्रति हरिराह—भो युधिष्ठिर! इदं लोके विश्रुतं वर्तते।

यतः—"स्त्रियां पूर्वस्त्रियां दीने भीते षण्ढे निरायुधे। यद्भीष्मस्य समीकेषु न पतन्ति पतत्त्रिणः॥ १॥
तत्प्रातर्द्रुपदोर्वीशसुतं षण्ढं शिखण्डिनम्। पुरस्कृत्योपतिष्ठध्वं समराङ्गणसीमनि"॥ २॥

तस्मिन् गाङ्गेये नाराचनिचयान् अमुञ्चति रणे धनञ्जयबाणेन गाङ्गेयो निधनं यास्यति। इति कृष्णवाचिकं श्रुत्वा हर्षिताः पाण्डवाः सर्वे उत्थाय निजं-निजं स्थानं जग्मुः। गतं नवमदिनम्। अथ दशमेऽह्नि अतिचण्डं शिखण्डिनं रथे समारोप्य उभयोः पार्श्वे भीमार्जुनरथौ; मध्ये शिखण्डिरथं कृत्वा गाङ्गेयवधवाञ्छया संग्रामाऽवनीं सर्वेऽपि सेनाधिपतयः समाजग्मुः, सूर्येन्दुमध्ये स्थितो बुध इव शिखण्डी शुशुभे। अथ गाङ्गेयधनञ्जययोः परस्परं संग्रामवर्णनम्।

यथा—"शरजालतिरस्कृतदृष्टिपथं पथरोधसमाकुलतीव्रभटम्।
भटकोटिविपाटितकुम्भितटं, तटविभ्रमहस्तिशिरःरचितम्॥ १॥
रचितप्रथितोरुसुहस्तिघटं, घटनागतभीरुकृतार्तरवम्।
रवपूरितभूधरदिग्विवरं, वरहेतिनिवारणखिन्ननृपम्॥ २॥

॥३५१॥ पाण्डव- ... रिश्रम्

नृपभिन्नमदोद्धुरवैरिगणं , गणसिद्धनभश्चरघुष्टजयम् ।
जयलम्पटयोधशतैश्चटुलं , चटुलाश्वसहस्रविमर्दकरम् ॥ ३ ॥
करस्पृष्टशरौघविवर्णरथं , रथभङ्गविवर्धितबोलबलम् ।
बलशालिभटेरिर्तसिंहनदं , नदभीषणरक्तनदीप्रवहम्" ॥ ४ ॥

एवं परस्परं संग्रामे जायमाने केनापि सादिना प्रतिसादी लोहभल्लेन प्रोतः, उध्धृतश्च; ततः स वंशाग्रे स्थितः शैलूषकेलिमाकलयति। कश्चित् सादी मत्तवारणस्थो गजं प्रेरयन् गजाधिरूढेन वाजिसमारूढेन वा रथस्थेन वा केनापि न चस्खले, कस्यापि रथिनः क्रोधाद् धावतो विरोधिनं प्रति मार्गान्तराले रुधिरापगेवार्गलाऽभवत्। तस्मिन् संग्रामे जायमाने इषुव्रातैर्गाङ्गेयः कांश्चिज्जर्जरयन्, कांश्चित् समरादपसारयन्, कांश्चिच्छिन्दन् एवं पितामहो युध्यते स्म। परं तस्य गाङ्गेयस्य केऽपि पाण्डवानीकपतयः संयुगे संमुखीना नो भवेयुः। एव रणे भ्रमतो भीष्मस्य स्यन्दनस्थशिखण्डी संमुखमागात्, तत्पृष्ठे अन्ये धन्विनो भीमाऽर्जुनादयो महारथिनो रथारूढा दधावुः। अथ गाङ्गेयः कोदण्डचण्डपाणिः शिखण्डिनं पुरो विलोक्य तत्क्षणादेव पितामहो रणसंरम्भमन्दो बभूव। भीष्मो-परि-बाणवृष्टि.

यतः–"कोटिशो भटसंभारसंहारविहितश्रमम् ।
धनुर्विश्रमयाञ्चक्रे कृपयैव पितामहः" ॥ १ ॥

१३ सर्गः

ततो मन्त्रस्तब्धपावक इव, अथवा रत्नसानुमानिव स्थिरो निश्चलो गाङ्गेयः सर्वैः पाण्डवसैनिकैर्ददृशे, तं स्थिरं ज्ञात्वा हरिणा प्रेरितः शिखण्डी शितैर्बाणैर्भीष्मं ताडयामास। अथ शिखण्डिदर्शनाद् मीलितनेत्रो ॥३५१॥

गङ्गातनयस्तं शिखण्डिबाणप्रहारं मदोन्मत्तगजेन्द्र इव किमपि न विवेद। तस्मिन्नन्तरे हृष्टा धृष्टद्युम्नादयः सर्वे वीरा सर्वाभिसारेण तं पितामहं बाणेन ताडयामासुः। तान् बहून् दारुणान् प्रहारान् वीक्ष्य गङ्गासुतः कोपकम्प्राधरः पुनश्चापमारोपयत्। ततो गाङ्गेयरक्षकौ दुर्योधनदुःशासनौ वेगाद् बाणैर्ववृषतुः, तच्छरासारैर्न दिशो, ददृशिरे; एवं न विदिशः, एवं नाकाशम्, एवं नैवं काश्यपी, किन्तु केवलं लोकैः शराद्वैतमयं जगद् ददृशे, तं तथाविधं प्रलयकालोपमं संग्रामं दृष्ट्वा धनञ्जयं प्रति गोविन्दो जगाद—

भो धनञ्जय! किं मुधा सैन्यक्षयमुपेक्षसे? शिखण्डिपृष्ठे स्थित्वा कुरुश्रीलतामूलं भीष्मं स्वयं बाणघातेनोन्मूलय। मुञ्जकेशिनस्तं निदेशं कथमप्यङ्गीकृत्य धनञ्जयः शिखण्डिरथमारुरोह। ततः किरीटिना शिखण्डिपृष्ठे स्थितेन त्रपया भक्त्या स्नेहेन च सार्धं काण्डमण्डली मुमुचे। तैर्लोहनाराचैर्मर्मणि हतो गाङ्गेयो रथक्रोडे निपतन्नेवं बभाषे—भोः! सूत! नैते शिखण्डिबाणाः, शिखण्डिबाणैर्नाहं कदापि म्रिये, किन्त्वेते मर्मभिदोऽलक्ष्यगतयोऽर्जुनबाणाः। एवं यावता कथयति तावत्त्यक्तधनुर्निषङ्गस्त्रपया विनम्रदेहः पितामहे वर्धितस्नेहो धनञ्जयः पितामहसमीपे समाजगाम। एवमन्येऽपि पाण्डवाः कौरवाश्च दुर्योधनादयः पितामहे गाङ्गेयं घातप्रहारजर्जरं परिवव्रुः, स्थिता भृशं रुरुदुः, ततो गाङ्गेयः सर्वेषां पश्यतां एवमवोचत्—अहो! मया किं कृतं बाल्यत्वे ब्रह्मव्रतं गृहीत्वापि संयमो नाङ्गीकृतः, अथ किं करिष्ये?; एवं यावता सर्वेषां पुरतो वारं-वारं कथयति तावदाकाशे मित्रविद्याधरवाणी बभूव—भो गाङ्गेय! गुरुकथितां गिरं मा स्म विस्मर।

दुर्योधनः पितामहसमीपे समागत्य भीष्मं पप्रच्छ—हे तात! दिवि विद्याधराः कां गुरोर्गिरं स्मारयन्ति?। अथाह गाङ्गेयो मया मातामहगृहे वसता चारणश्रमणाद् बाल्येऽपि वयसि श्राद्धधर्मः सम्यक्त्वपूर्वोऽग्राहि, तैः कृपालुभिस्तथा मे जिनधर्म उपदिष्टो यथा मे आबाल्यादपि अर्थकामयोः कामो नाऽभूत्, तद्दिनादारभ्य प्राणिवर्गमात्मवत् सर्वं पश्यामि, वाचंयमवत् सत्यपवित्रितां वाचं ब्रुवे, तथा परद्रव्येषु मे चित्तं

सर्वथा पराङ्मुखमभूत्, ब्रह्मव्रतं तु यावज्जीवमङ्गीकृतं सर्वं स्त्रैणं मम तृणवत्, परिग्रहविनिग्रहं प्रियसंतोषोऽकार्षम्। जैनधर्मवासितचेतसां प्राणिनां किमपि दुष्करं नास्ति। अहं विशेषतो जैनं धर्मं कुर्वाणो यावता विचरामि, तावत् सर्वसङ्गपरित्यागं कर्त्तमना अपि पवनवेगेन मातुलेन सकलाः कलाः शिक्षितोऽस्मि; तथापि मम षट्कर्म-निरतस्य दिनानि यान्ति।

यतः—"देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने दिने" ॥ १ ॥

एवं दिनानि यान्ति। अथैकस्मिन् दिने मातामहेन सार्धं त्रिकालज्ञं मुनिचन्द्राभिधं महामुनिं वन्दितुं वने गतोऽस्मि। वन्दितो मुनिः। धर्मलाभो दत्तः। ततस्तेन वैराग्यानुसारिणी पीयूषानुकारिणी पुण्यकारिणी धर्मदेशना दत्ता। देशनानन्तरं मया पृष्टम्—भो मुने! मोहान्धकारसविता सर्वसंयमो मम कदा भविता?। मुनिनोक्तम्—भो भद्र! तव सत्यवती माता भविष्यति?, तदात्मजानुरोधेन त्वं सुचिरं गृहे स्थातासि। यतः पृथुचेतसां परार्थे एव स्वार्थः प्रथते। त्वं पितुः प्रीत्यर्थं ब्रह्मचारितामाकालं कलयन् गृहिधर्मेऽपि स्थितो भीष्मव्रतत्वाद् भीष्म इति नाम लप्स्यसे।

मुनेर्धर्म-देशना

आर्तस्य दुर्योधनस्य रणे धनञ्जयघातजर्जरो ममान्तेवासिभद्रगुप्ताचार्यसमीपेऽतिश्रद्धावान् द्रव्यशल्यव्यथा सहमानो वर्षमात्रावशेषायुः प्रव्रजिष्यसि। ततः प्रव्रजितः सम्यगाराधनां विधाय शमनिर्मग्नमानस उद्धृतभावशल्यो तद्दिनादारभ्य वर्षान्ते त्वमच्युतं स्वर्गलोकं गन्तासि। इत्याख्याय मुनिरन्यत्राऽगमत्। एष मे वृत्तान्तः। हे दुर्योधन! आकाशभारत्याऽमी खेचरा मम मित्राणि दक्षा दीक्षासमयं स्मारयन्तीति—भो गाङ्गेय! त्वं सावधानो भव, तव दीक्षावसरः समागतः। गाङ्गेयं बाणघातजर्जरं दीक्षातत्परं ज्ञात्वा सर्वे

पाण्डवकौरवाः दुःखाक्रान्ता बाढं पूत्कुर्वन्ति स्म। तद्दुःखमसहमानो रविर्द्वीपान्तरं प्राप। गतं वशमदिनम्।

तस्मिन् दिनावशेषे पाण्डवकौरवैः संभूय गाङ्गेयं समुत्पाट्य, भद्रगुप्ताचार्यैरलङ्कृतामासन्नगिरिकन्दरां तैर्विनीतैर्निन्ये। एतद् वृत्तान्तं संजयमुखादुपश्रुत्य धृतराष्ट्रोऽपि रोदनं कुर्वन् भीष्मान्तिकमुपाययौ। पाण्डवकौरवैर्बहूपचारे क्रियमाणे गाङ्गेय उवाच—भो वत्साः! ममायुरेतावदेवास्ति, सृतमुपचारेण। अथ धर्मोपचारं कुर्वन्तु येन परलोके सद्गतिर्भवति। भो वत्साः! मे शिरोधरा निराधारा बाढं बाधते। तत् श्रुत्वा कौरवेण सुखनिधानानि तुलमयानि उच्छीर्षकगण्डूपधानान्यानीतानि। गाङ्गेयो मूर्धकम्पेन तानि निषिध्य स्मिताननो धनञ्जये दृष्टिं न्यस्यति स्म। धनञ्जयः पितामहाभिप्रायं ज्ञात्वा कङ्कपत्रत्रयं चापे आरोप्य पृष्ठे न्यधात्। यथा शिरोधरा सुखेन तिष्ठति तथा कृतमर्जुनेन। ततः संतुष्टो गाङ्गेयः।

पुनर्युधिष्ठिरः पितामहं प्रणम्य एवं जजल्प—हे तात! यदि तवाज्ञा भवति, तर्हि, ऊर्मिकावार्भिरहमेतानि तव शल्यानि नीरन्ध्राण्युद्धरामि, व्रणसंरोहणं च करोमि। ताताङ्गे एतानि शल्यानि दृष्ट्वा मम मनो भृशं दुनोति, ततः प्रसीद, सीदन्तं मां शल्योद्धाराज्ञयाऽनुगृहाण, यथा शल्योद्धारं कृत्वा व्रणसंरोहणं च विधाय प्रसन्नो भवामि। अथ भीष्मो धर्मात्मजं बभाषे—हे वत्स! एतानि बाणशल्यानि मनागपि ममाङ्गे न व्यथयन्ति, किन्तु पूर्वभवोपार्जितानि, अस्मिन् भव उपार्जितानि च पापशल्यानि दुरुद्धराणि वर्तन्ते। तानि भावशल्यानि अधुना एष भद्रगुप्ताचार्यो गुरुः समुद्धरिष्यति।

पाप-शल्यानि दुरुद्धराणि

अथ क्षणं विलम्ब्य सर्वेषां पश्यतां पाण्डवकौरवान् भीष्मोऽवादीत्—हे वत्साः! मामप्यधिकं पिपासा क्लमयते। अतो मदर्थं सुरभि शीतलं पानीयमानीयतां, यथा मे तृषा शाम्यति। इत्याकर्ण्य ते पाण्डवकौरवाः

स्वच्छं सुरभि शीतलं नीरमानाययामासुः। तन्नीरं सुवर्णमये पात्रे कृत्वा तैः पुरो ढौकितम्। तद् वारि दूरे निवार्य पितामहः पुनरूचे—यत्तिर्यग्भिरनुच्छिष्टं, यद् रवेः करैरस्पृष्टं, तत्पयः पातुं मच्चेतः स्पृहयालुतां वहति। तच्छ्रुत्वा ते सर्वेऽपि चिन्तयन्ति—ईदृगम्भोऽतिदुर्लभम्।

इति किंकार्यतामूढान् पाण्डवकौरवान् ज्ञात्वा भीष्मः पीयूषवर्षिणी दृशं पार्थेऽक्षिपत्। गाङ्गेयाभिप्रायं ज्ञात्वा धनञ्जयः शस्त्रशास्त्रकोविदः कोदण्डं मण्डलीकृत्य वारुणं शरं संदधे। अधो दृष्टिं विधाय बाणं मुमोच। तदैव तत्कीर्तिवत् स्वच्छा निर्मलोज्ज्वला धरातलात् सर्वेषां पश्यतां वारिधारा निर्ययौ। पुनस्तद्वारि स्वर्णमये पात्रे कृत्वा पितामहपुरस्तेन ढौकितम्। गाङ्गेयोऽपि तद्वारि नेत्रपुटैः पीत्वा प्रीतः पार्थमभाषत—हे वत्स! एवमिदं वारि, आनयन्नेव त्वं मे तृष्णाच्छेदकोऽसि। हे वत्स! याहि, स्वभ्रातुरन्तिके सुखं निषीद, तथा त्वं भुवनातिगैरेभिर्गुणैर्विजयी भूयाः। अथ पितामहो हितां वाचं दुर्योधनं प्रत्युवाच—हे वत्स! पार्थबलं विलोकितम्। अधोमुखो दुर्योधन सर्वं शृणोति।

"अस्मिन् कुरुकुले जन्म वत्स! पुण्यैरवाप्यते।
अनुत्तरेषु संभूतिर्न सम्यग्दर्शनं विना" ॥ १ ॥

एतत्कुलोचितास्त्वयि गुणा वर्तन्ते। अतो मया वत्स! वात्सल्यादिदानीं किञ्चिदुच्यते—एको विनयः, अपरो नयश्च; एतौ गुणौ पुरस्कुरु। यतो विनयार्हेषु विनयः परां कीर्तिमावहते, रामे नम्रस्य लक्ष्मणस्याऽद्यापि यशः पोस्फुरीति, तथा त्वमपि युधिष्ठिरे विनयं कुरु। न्यायः कः?, समाप्तेऽवधौ कपटद्यूतेन गृहीतं राज्यं प्रत्यर्पय।

यथा—"तत् तवार्पयितुं न्याय्यं राज्यं ज्येष्ठे युधिष्ठिरे ।
स्वयं पूर्वमिव स्थातुमिन्द्रप्रस्थे तु युज्यते" ॥ १ ॥

पुनर्गाङ्गेय आसन्नवर्तिनं जनमुत्सार्य एकान्ते दुर्योधनमभ्यधात्—भो वत्स ! बलाधिकैः सार्धं बुधा विग्रहं निषिध्यन्ति । अतस्त्वमपि विग्रहं मा कुरु । पाण्डवैः सार्धं विग्रहे तव जयो न भविष्यति । आबाल्यादपि त्वया किं भीमकिरीटिनोर्बलं नावलोकि ? । तथा चित्राङ्गदविद्याधराद् धनञ्जयेन मोचितस्तद् विस्मृतम् ? । तथा वैराटनगरे, उत्तरगोग्रहे मोहनास्त्रेण मोहयित्वा तव शस्त्रवस्त्राणि गृहीतानि, तदपि विस्मृतम् ? । साम्प्रतमनेन वारुणं शरं मुक्त्वा एकेन बाणेन पातालाज्जलमानीतं, तदपि त्वया किं न दृष्टम् ? ।

अतो मया प्रोच्यते—भो भद्र ! यदि जीवितेन कार्यं, तथा यदि राज्येन च कार्यं भवति, तर्हि युधिष्ठिरेण समं संधेहि । एवं वारं-वारं वारितः पापात्मा दुर्योधनस्तस्मात् संग्रामपापाद् न विरराम । अथ गाङ्गेयपितामहस्तां भवितव्यतां संभाव्य मौनमाश्रितः । पुनः स्नेहप्रेरितो धृतराष्ट्रादिज्ञातिवर्गं पृथक् पृथक् संभाष्य सर्वेषां पुरतो हरेः स्वरूपं समाख्याति—यत एष हरिर्जरासन्धं हत्वा सकलां महीं ग्रहीष्यति, त्रिखण्डाधिपतिर्वासुदेवो भविष्यति, भवद्भिः सर्वैरपि अस्याज्ञया प्रवर्तितव्यम्, इत्यादिशिक्षां दत्त्वा संसाराद् विरराम ।

आलोच्य पापकर्माणि स्वादयन् शमताऽमृतम् ।
श्रीभद्रगुप्तसूरीणामन्तिके व्रतमाददे" ॥ १ ॥

अथ निर्भयो गङ्गातनयो मोहराजेन समं संग्रामयितुमारेभे । तत्र प्रथमं ज्ञानचक्रेण मिथ्यात्वसेनान्य-

भीष्मस्य मोहराजेन सह युद्धारम्भ

मुन्मूलयन्, शमताशक्त्या रागद्वेषमतङ्गजौ भिन्दन्, ध्यानकुन्तेन दुर्दान्तानिन्द्रियतुरङ्गमानुपद्रवन्, क्षमादिबाणैः क्रोधादियोधसङ्घातं निघ्नन्, श्रद्धासन्नद्धसर्वाङ्गः पितामहो विजितमोहमल्लो गतस्नेहशल्यो भद्रगुप्ताचार्यान्तिके आराधनामकरोत्। साऽऽराधना पञ्चदशसर्गे कथयिष्यते। साम्प्रतं प्रस्तुतमेवाह। पुनः संग्रामवर्णनं क्रियते।

यथा—"मुनिमेकैकशो नत्वा तत्त्वैकमनसं ततः।
सास्राः सर्वे निजावासान् जग्मुः पाण्डवकौरवाः" ।। १ ।।

दुर्योधनस्य म्लान-वदनम्

अथ प्रभाते गाङ्गेयवधात् प्रम्लानवदन दुर्योधनं दृष्ट्वा द्रोणाचार्यः कौरवेश्वरमभ्यधात्—राजन्! सत्त्वनिषण्णोऽपि विषण्ण इव किं लक्ष्यसे?। शान्तनुसूनोर्गाङ्गेयस्य जगत्येकवीरस्य वीरव्रते निषण्णस्य किं शोच्यं, येन बाह्यान्तरङ्गो वैरिव्रातो निर्जित?, स न हि शोच्यः। तर्हि, अहं द्रोणो यदि तवाज्ञया रणे युधिष्ठिरं धनञ्जयसहितं बद्ध्वा तवार्पयामि। एव कथयित्वा तोषितो दुर्योधनः।

अथ प्रस्तुतकार्ये पुनः सज्जो भव, एव द्रोणेन गुरुणोत्साहितो दुर्योधनः पुनः संग्रामसज्जस्त द्रोणगुरुं पृतनापतिं तदैव सूत्रयामास; यतो दन्तीन्द्रव्यापारे दन्तीन्द्रस्यैवाऽलम्भविष्णुता। प्रातर्द्रोणो व्यूहरचना-रञ्जिताशयः सग्रामाय कुरुक्षेत्राऽवनीं स्वयमवातरत्। कौन्तेया अपि गाङ्गेयदुर्दशादुर्मनसो जयाशासप्रमोदाश्च सेनापरिवृता द्रोणगुरुसंमुखीनाः संग्रामे उपतस्थिरे। तत उभयोः सैन्ययोः परस्परं सग्रामः संजज्ञे।

"शरैः शिरसि लूनेऽपि द्वयोरप्येकहेलया। कबन्धावप्ययुध्येतां तथैव कुपितौ मिथः ।। १ ।। १३ सर्ग
समं निस्त्रिंशनिस्त्रिंशघातोच्छलितसङ्गते। कयोश्चिच्छिरसी व्योम्नि दन्तादन्ति वितेनतुः" ।। २ ।।

केचन वीराः प्रतिवीरैस्तरवारिणा मौलौ विलूनेऽपि युद्धाद् न विरेमुः। एवं परस्परं महति युद्धे जायमाने द्रोणाचार्यो धनञ्जयं बाणकलयाऽऽत्माधिकं ज्ञात्वाऽऽचार्यान्तरसंस्कारं मेने। उभे, अपि सैन्ये शस्त्रघातजर्जरे रुधिरारुणे फुल्लकङ्केल्लिकाननशोभां चक्रतुः। द्वे अपि वरूथिन्यौ परस्परं युद्ध्वा तुल्यपराक्रमे जयाजयरहिते सन्ध्यासमये स्वं स्वं शिबिरं जग्मतुः। गतमेकादशदिनम्। अथ धर्मजगोप्तारमर्जुनं प्रति रात्रौ दुर्योधनशासनात् संसप्तकाख्यास्त्रिगर्तभूभुजः समागत्याऽहंकारपर्वता एवं व्याजह्रुः:—

भो धनञ्जय ! त्वं सामान्यवीरवत् सैन्यपृष्ठिस्थित उदासीनवत् किं युध्यसे ?। त्वं जगदेकवीरः, तव भुजवैभवो विश्वातिरेकः श्रूयते। ततस्तस्मात् सैन्यात् पृथग्भूय कुरुक्षेत्ररणक्षितौ प्रभातेऽस्माभिः सह युध्यस्व, यदि धर्मातिमजबान्धवोऽर्जुनोऽसि। अथाऽर्जुनः संसप्तकराज्ञामेतद्वचनं श्रुत्वा प्रत्युत्तरं जगाद—भोः संसप्तकाः ! युष्माकं वाचः पुनः कदलीस्तम्भस्य संनिभाः सांप्रतं मा भूवन्, यतो मद्बाणाः सुभटप्राणानास्वाद्याऽतिपिपासिता भवच्छोणितासवं पीत्वा किञ्चित् संतुष्यन्ति। अतोऽहमेकाक्येव कुरुक्षेत्रावनीं समेष्यामि। युष्माभिः सर्वैः संभूय भूयसा बलेन संयुक्तैः प्रगे द्रुतमागन्तव्यम्।

इत्यर्जुनवाचं श्रुत्वा प्रमोदभरमेदुराः संसप्तकभूभृतः परावृत्य स्वस्थानमगमन्। युधिष्ठिरं बद्ध्वा समानयामीति कृतप्रतिज्ञं द्रोणं श्रुत्वा युधिष्ठिररक्षार्थं धृष्टद्युम्नं भीमं नकुलादींश्च नियुज्याऽर्जुनो युधिष्ठिराज्ञया सैन्यसमूहैः परिवृतः संसप्तकान् जेतुं द्वादशेऽथ दिने कुरुक्षेत्रावनीं समाययौ। तदैव कौरवीयापि सेना तथैव तत्रागता। निस्वाननादैरुत्साहिताः परस्परं सर्वेऽहंपूर्विकया युद्धयन्ते स्म।

तस्मिन् महति संग्रामे जायमाने जयश्रिया दोलायितम्। धृष्टद्युम्नः ससैन्यो गजानीकपरिवृतः कुरुवाहिन्यां प्रविष्टो जलधौ मेरुमन्था इव तां कुरुवाहिनीं ममन्थ। स्वां वाहिनीं मथितां ज्ञात्वा द्रोणः

पाण्डवेयपताकिनीं स्वयं प्रविष्टः। स्वबलेन तृणम्मन्यमानो बाणासारं वर्षंस्तां सेनां विलोडयामास। कौन्तेयवाहिनीं बाणघातजर्जरां कुर्वंस्तस्मिन् सैन्ये प्रससार। सुप्रतीकगजारूढो भगदत्तनरेश्वरोऽपि द्रोणानुगः पाण्डवसैनिकैः सह युयुधे। सुप्रतीकगजोऽपि पाण्डववाहिन्यां प्रविष्टस्तामत्याकुलां चकार।

यथा—"जीवतोऽप्सरसां दातुमिवाभि गगनाङ्गणम्।
कानण्यभिमुखान् वीरान् स करेणोदलालयत्" ॥ १ ॥

सुप्रतीकगजस्य यमस्येव रणे संचरतो मार्गे कोऽपि संमुखीनो नाऽभवत्। यतोऽसौ गन्धद्विपो गजांस्त्रासयन्, तुरङ्गमान् करेणोल्लालयन्, रथनिकरान् शुष्कपत्रसमूहानिव चूरयन्, वीरवरान् करे धृत्वा गगने क्षिपंस्तस्यां रणक्षितौ केनाप्यनिवारितः स्वैरं बभ्राम। एवं तेन गजेन्द्रेण विलोडितायां पाण्डवसेनायां महान् कोलाहलः संजज्ञे। अथाऽर्जुनस्त कोलाहलं श्रुत्वा हतप्रायान् संसप्तकान् राज्ञः कृत्वा तान् परित्यज्य, प्राग्ज्योतिषेश्वरं भगदत्तं सुप्रतीकगजारूढं प्रति दधावे। भगदत्तोऽपि गजारूढो धनञ्जयं प्रति संग्रामे समुखीनो बभूव। ततो भगदत्त ऊरुभ्यां गजं प्रेरयन् निजां महामात्रकलां दर्शयन् धनञ्जयं प्रति धावति स्म। तत उभावपि बाणप्रहारैः परस्पर युयुधाते।

तदा भगदत्तबाणैर्धनञ्जयं प्रति मोघीभूतम्। मोघीभूतबाणो भगदत्तो विलक्षो जातः। धनुष्टणत्कार कुर्वन् धनञ्जयो बाणश्रेण्या सकुञ्जरं प्राग्ज्योतिषेश्वरं भगदत्तं जघान। तदा दिवि देवा धनञ्जयोपरि पुष्पवर्षममुञ्चन्। तस्मिन् सकुञ्जरे भगदत्ते राजकुञ्जरे हते तत्सैन्यं म्लानिमापत्। द्रोणदुःखमसहमानो रविरप्यस्तं ययौ। द्रोणो भगदत्तप्रमुखाननेकसुभटव्रातान् रणे मुक्त्वा सन्ध्यासमये वेत्रपाणिभिर्युद्धसंरम्भात्

प्रतिषिद्धः स्वं स्कन्धावारमुपेयिवान् । एवमर्जुनोऽपि धृष्टद्युम्नादिसहितः ससैन्यः सन्ध्यासमये भगदत्तवधाल्लब्धजयः स्वसैन्यमुपागमत्, सागरं सरित्प्रवाह इव । गतं द्वादशदिनम् ।

इतश्च पाण्डवानां चारनरा मध्यरात्रौ समागत्य कौरवानीकवार्तामिवमकथयन्—भो राजेन्द्र ! भगदत्तवधक्रुद्धो भारद्वाजो भवद्गुरुर्युधिष्ठिरमादातुं प्रगे चक्रव्यूहं रचयिष्यति । इति चारनरोक्तं श्रुत्वा चक्रव्यूहभेदनविधिं सर्वैः पार्थिवैः सह पाण्डवा आलोचयाञ्चक्रुः । तेषां सर्वेषां पाण्डवानां पश्यतामभिमन्युरवादीत्—भोस्तात ! युष्माकं प्रवासे द्वारकायां स्थितोऽहमेकस्मिन् दिने कृष्णसंसदि केनापि प्रोच्यमानं चक्रव्यूहप्रवेशमश्रौषम्, न तु निर्गमम् । अतोऽहं चक्रव्यूहे प्रवेशं जानामि, परं निर्गमं न जाने । तत् श्रुत्वा भीमो भाषते स्म—वयं चत्वारोऽपि बान्धवा भटान्निर्भिद्य हठाच्चक्रव्यूहं भित्त्वा बहिः समागमिष्यामः । भवतां चक्रव्यूहचिन्तया सृतम् ।

अभिमन्युना सार्धं चक्रव्यूहं भित्त्वा जयं लप्स्यामहे । तद् भीमोक्तं श्रुत्वा हर्षिताः सर्वेऽपि राजानो रात्रौ निजं-निजं स्थानं जग्मुः । प्रातर्धनञ्जयो भीमादीन् बान्धवान् युधिष्ठिराऽभिमन्युरक्षार्थं नियुज्य स्वयं संसप्तकजयाय ययौ । इतश्च सर्वसैन्यपरिवृतो द्रोणाचार्यः कुरुक्षेत्रावनिं समुपागतः । तत्रागत्य धर्मसूनोर्जिघृक्षया दुरुत्तरं संसारचक्राभं चक्रव्यूहं चक्रे । पाण्डवा अपि तस्यां रणक्षिताविभिमन्युं पुरस्कृत्य समाययुः । ततो द्वयोः सैन्ययोर्महान् संग्रामः संजज्ञे । अभिमन्युं पुरस्कृत्य चत्वारः पाण्डवा वीरपरिवृता बाणवृष्टिं कुर्वाणाश्चक्रव्यूहं भिन्दन्ति स्म ।

यथा—"ते यमा इव पञ्चापि द्रोणं निर्जित्य कर्मवत् ।
दुर्भेदं बिभिदुश्चक्रव्यूहं संसारचक्रवत्" ॥ १ ॥

अभिमन्युसहितांश्चतुरोऽपि पाण्डवान् संग्रामं कुर्वाणान् जयद्रथोऽरौत्सीत्। तं जित्वाऽभिमन्युस्तु चक्रव्यूहमध्ये विवेश। अभिमन्युरेकोऽप्यनेकान् सुभटान् रणे निहन्ति स्म।

यथा-"निहन्ति स्म स एकोऽपि कोटिशः सुभटान् रणे। उद्वेलो हि महाम्भोधिः सर्वान् प्लावयते गिरीन्।१।
तस्यैकधन्विनो भूपाः शरैर्विव्यथिरेऽधिकम्। अकालजलवाहस्य सलिलैरिव शालयः" ॥ २ ॥

शल्यकर्णकृपद्रोणाश्वत्थामादिभिः परिवृतः सुयोधनः सज्जितः शरासारैर्विपक्षलक्षौघेषु बाणवृष्टिं कुर्वन् तमभिमन्युं दुर्जयं ज्ञात्वा स्वयं रुरोध, शार्दूलं शृगाल इव। पाण्डवाः ससप्तकैः सह युयुधिरे। शल्यकृपकर्णादिभिः सार्धं दुर्योधन. सबान्धवोऽभिमन्युना सार्धं युयुधे। एवं संग्रामे जायमाने कर्णोऽर्धचन्द्र-बाणेनाऽभिमन्युधनुरखण्डयत्। कृपः सारथिं, कृतवर्मा रथं चाखण्डयत्। अश्वत्थामा च मण्डलाग्रमखण्डयत्। ततः क्रुद्धोऽभिमन्युर्गदाघातेन दुःशासनरथं पिपेष। ततो दुःशासनसुतेन महारथिभिः सर्वैः संभूयाऽभिमन्युर्बाण-प्रहारैर्जर्जरो विहितः। चक्रव्यूहमध्यगतोऽपि मार्गमलभमानो घातसंपातजर्जरो यावद्भूमौ पपात, तावद् दुरात्मा जयद्रथः स्वकीर्त्या सममभिमन्युशिरोऽच्छिनत्।

तदा द्वयोः सैन्ययोर्हाहारवोऽभवत्। अहो! अकार्यं जातम्, बालोऽप्यबालपराक्रमो घातजर्जरः पापिना जयद्रथेन शिरश्छेदान्निपातितः। तल्लोकोक्तिं श्रुत्वा सर्वेऽपि सैनिकाः स्वं-स्व स्थानमगुः। तद्दुःखमसहमानो रविरप्यस्तं ययौ च। उभे अप्यनीकिन्यौ प्रतीहारनिवेदिते स्वं-स्वं शिबिरमीयतुः। अर्जुनस्त्रिगर्तेश्वरभूभुजः ससप्तकान् राज्ञो हत्वा लब्धजयोऽभिमन्युमिलनायोत्सुकः सूर्यास्तसमये समाजगाम। तावत्सर्वं सैन्यं पूत्कुर्वदाक्रन्दतत्परं शोकसागरे निमग्नमिवापश्यत्। केनचित् पुरुषेण धनञ्जयस्य पुत्रवधोदन्तः कथितः। तत् श्रुत्वा दुःखाक्रान्तमानसो नृपावासं समागत्य युधिष्ठिरं नत्वा संसप्तकराज्ञो वधं

समाख्यायाऽभिमन्युवृत्तान्तं प्रपच्छ। युधिष्ठिरोऽपि चक्रव्यूहवृत्तान्तं, जयद्रथात् पुत्रवधस्वरूपं च सर्वं समाचख्यौ।

तत् श्रुत्वा शोकाकुलमानसोऽर्जुनोऽन्तःपुरे प्रविश्य रुदतीं सुभद्रां तैस्तैर्वचनैः सान्त्वयित्वाऽवोचत्—हे सुन्दरि! तव स्नुषा उत्तराऽन्तर्वत्न्यऽस्ति। तस्याः सुत आवयोर्नयनोत्सवदायी भविष्यति; त्वं चिन्तां मा विधेहि। तथा, प्रातस्तव पुत्रहन्तारं यदि न हन्मि, तर्हि निश्चितं वह्निं विशामि। सूर्यास्तसमये पुत्रस्यौर्ध्वदेहिकं समाप्य विश्रान्तो धनञ्जय. प्रियां प्रत्याह—वीराणां रणे मरणे का चिन्ता?, जिते राज्य लभ्यते, मृते सुराङ्गना लभ्यते। इत्याद्युक्त्वा प्रिया तोषिता। गतं त्रयोदशदिनम्। चतुर्दशदिने द्रोणाचार्यः किरीटिनो जयद्रथवधप्रतिज्ञां श्रुत्वा विकीर्णहृदयस्तूर्णं समरावनौ समागमत्। जयद्रथप्राणत्राणकृतेऽनेकराजन्यरक्षितं सैन्धवं शकटव्यूहं न्यवेशयत्। पाण्डवा अपि कोदण्डटणत्कारडम्बरैर्विपक्षौघं क्षोभयन्तो रणक्षोणीं समुपागमन्। अन्योन्यस्खलनादुभे अपि सैन्ये युयुधाते।

अथ द्रोणाऽर्जुनयोरन्योऽन्यं विजेतुमनसोरपि स्नेहाद् बाणे करौ न व्याप्रियेताम्। तदानीं धनञ्जयो गुरुत्वाद् गुरुस्नेहत्वाच्च द्रोणं प्रदक्षिणीकृत्य ततः सैन्धवं शकटव्यूहं विवेश, अरण्यमारण्यकद्विप इव, तं शकटव्यूहं धनञ्जयो विलोडयामास। सर्वे राजानस्तस्य सायकासारवर्षिणो रयं न सेहिरे, महावातस्य वृक्षा इव। सुतशोकाग्निना तप्तस्य धनञ्जयस्य क्रोधाग्निर्वैरिणां रुधिरैः सिक्तोऽपि न शशाम। एवं धनञ्जयेन विलोड्यमानां स्वां सेनां दृष्ट्वा दुर्योधनो महायोधो धनञ्जयेन सार्धं भृशं युयुधे।

धनञ्जयस्तेन सार्धं विलम्बं ज्ञात्वा दुर्योधनं त्यक्त्वा नदीवेग इव रणे स्वैरं प्रतस्थे। कोपदीप्रेण चक्षुषा पश्यन् धनञ्जयो सुभटकोटीर्निघ्नन् तस्मिन् रणे प्रससार। तदा कंसारिसारथिर्दूराज्जयद्रथं सुभटैर्भृशमावृत्य

सेव्यमानमपश्यन्नेवाऽन्यत्र ययौ। रथस्थो धनञ्जयो महारथीन् निघ्नन् जयद्रथविलोकनवाञ्छया दूरं ययौ। तस्मिन् दूरं गते आसन्नस्थे द्रोणे बन्धनभयात् शङ्कितो युधिष्ठिरः सात्यकिं सत्यविक्रमं पार्श्वेऽस्थापयत्। स सात्यकिर्द्रोणदृष्टिं वञ्चयित्वा तं व्यूहं प्रविवेश। इतस्ततो भ्रमन् सात्यकिर्भूरिश्रवसं राजानमासदत्। ततस्तयोः सात्यकिभूरिश्रवसोर्विश्वभयङ्करो रणारम्भोऽभवत्। तावन्योन्यध्वस्तरथौ मथितसारथी छिन्नावशेषशस्त्रौ केवलं खड्गखेटकधारिणौ परस्परमयुध्येताम्। द्रोणाचार्योऽपि युधिष्ठिरमादातुं व्यूहाद्बहिर्निःसृत्य मनुष्यलक्षाण्यवधीत्।

तदा द्रोणेन मथ्यमाना चमूर्लोकानां कोलाहलेन भयङ्कराऽभूत्। इतश्च भूरिश्रवा दुर्योधनभटः सात्यकिं युधिष्ठिरसेवकं केशे गृहीत्वा यावत् शिरश्छेत्तुमुद्यतोऽभूत्, तावत् कैटभारिर्धनञ्जयं बभाषे—भो अर्जुन! तव पश्यत एष सात्यकिस्तव सेवको भूरिश्रवसा मार्यते। अतोऽर्धचन्द्रबाणेन भूरिश्रवसो बाहू छिन्तस्व, आत्मीयः सात्यकिस्त्रातव्य एव। तद्धरेर्वचनं श्रुत्वाऽर्जुनः सात्यकेस्त्राणाय बाणैर्भूरिश्रवसः सकृपाणं करं चिच्छेद। ततः सात्यकिर्भूरिश्रवसं हन्ति स्म। भूरिश्रवसं हतं ज्ञात्वाऽङ्गाधिपः कर्णराट् कुण्डलीकृतकोदण्डो धनुष्टणत्कारं कुर्वाणः पाण्डवसेनां विवेश। तावद्भीमपराक्रमो भीमः करैः रथानुल्लालयन्, गदाघातैर्गजान् निघ्नन्, तुरङ्गमान् पादप्रहारेणाच्छोटयन्, सुभटान् मशकमुष्टिवच्चूरयन् कर्णाभिमुखं दधाव।

यथा—"कुर्वाणौ रणमुत्सर्पिमत्सरौ रेजतुस्तदा। सह्यविन्ध्याविवोत्तुङ्गावङ्गेशपवनाङ्गजौ ॥ १ ॥
पौरुषं पुरुषस्यैव दुर्बुद्धेर्विमुखो विधिः। कर्णस्य गदया भीमो निर्ममन्थ वरूथिनीम्" ॥ २ ॥

कर्णस्य चिन्ता

तदैवाऽङ्गेश्वरोऽपरं रथमास्थाय भीमपताकिनमभाङ्क्षीत्। ततो बाणश्रेणीभिर्भीमं निर्मथ्य कर्णश्चिन्तयति—अहो! मया प्रतिज्ञा कृताऽस्ति; यत् कुन्तीपुत्रेषु विनाऽर्जुनमन्यं न हन्मि, इत्यात्मीयप्रतिज्ञां

प्राग्विहितामनुस्मृत्य भीमस्य जीवितं न जहार। यतो महात्मनां प्रतिज्ञाभङ्गः कदापि न भवति। इतश्च धनञ्जयो दिनस्यान्ते जयद्रथं पश्यति स्म। तं जयद्रथं दृष्ट्वा धनञ्जयवपुः कोपकण्टकितं बभूव। सिन्धुदेशभूपो जयद्रथोऽपि धनञ्जयं दृष्ट्वा कोपारुणो बभूव। ततो द्वयोर्वीरावतंसयोः क्षणमात्रं शराशरि युद्धमासीत्। दुर्योधनादिभिस्त्रायमाणस्यापि जयद्रथस्य मस्तकं धनञ्जयोऽर्धचन्द्रबाणेनाऽच्छिदत्। तच्छिन्नं शिरो लुलितालकं राहुमूर्तिरिव भूमौ पपात। एवं रुण्डमुण्डमयीं पृथ्वीं कुर्वाणो धनञ्जयो जयं लब्ध्वा दिनान्ते स्वां वाहिनीं समाजगाम। एवमुभे अपि सैन्ये वेत्रपाणिभिर्वारिते स्वं-स्वं शिबिरमापतु`।

यथा—"चतुर्दश दिनान्येवं तन्वाना युद्धमुद्धतम्।
कौरवाऽक्षोहिणीः सप्त क्षपयन्ति स्म पाण्डवाः" ॥ १ ॥

चतुर्दशे दिनेऽस्मिन् सिन्धुपार्थिवे जयद्रथे मथिते द्रोणाचार्यस्त्रपयाऽवनतकन्धरो रात्रियुद्धाय बलमादिशत। ततो रात्रौ सज्जिता कुरुवाहिनी अतर्किता भिल्लधाटीव पाण्डवसैन्येऽपतत्। तत उभयोः सैन्ययोर्वीराणां दारुणो रणः संजज्ञे, दन्तिनां दन्तेषु खड्गखाट्कारनादेन निषादिभिर्द्विपानां पुरत आगता भटाः संलक्ष्यन्ते। तथा निजनिजस्वामिनामभिः कीर्तितैः परमात्मीयं च विदाञ्चक्रुः। कुरुवरूथिन्या मथितायां पाण्डववरूथिन्यां भीमपुत्रो घटोत्कचः प्रादुर्बभूव। सोऽनेकधा मायायुद्धं तन्वान एवं चचार।

यथा—"रथान् पिपेष पाषाणैर्जघान तरुभिर्गजान्। सवेगापातवातेन भटकोटीरपातयत् ॥ १ ॥
एकेनैव तदा तेन सर्वाऽपि कुरुवाहिनी। तिरश्चक्रेतरां प्रावृड्घनेनेव ग्रहावलिः" ॥ २ ॥

तस्मिन् घटोत्कचे युद्धोद्यते पाण्डुपुत्राणां प्रमोदोऽभूत्। कुरुवरूथिन्यां मथितायां द्विषां जीवित-

संशयोऽभूत् । संग्रामप्रेक्षकाणां कौतुकमभूत् । तं कल्पान्तकालोपमं घटोत्कचमङ्गाधिपः कर्णो रुरोध । ततः कर्णघटोत्कचौ परस्परं युयुधाते । घटोत्कचमार्गणाः कर्णस्य मार्गणान् मार्गे चिच्छिदुः । कर्णधनुषा कालपृष्ठनाम्ना यावन्तो बाणा मुक्ताः ततसहस्रगुणा घटोत्कचकार्मुकेन सुषुविरे । तस्मिन् समये घटोत्कचबाणाः कर्णाङ्गेषु रथेषु दण्डेषु वाजिषु सारथिषु सैन्येषु सममेव समापतन् । तद्घटोत्कचबाणवृष्टिं दृष्ट्वा क्रोधाज्जाज्वल्यमानोऽङ्गेश्वरः कर्णो घटोत्कचवधाय देवतादत्तां धनञ्जयवधाय रक्षितां शक्तिं समुद्दध्रे ।

यथा—"संक्रुधेव तया कामं स्फुरद्वह्निस्फुलिङ्गया ।
समं पार्थप्रमोदेन स जघान घटोत्कचम्" ॥ १ ॥

हतं घटोत्कचं ज्ञात्वा तदा मनाक् पाण्डवानां बले शोकः खेलति स्म । तदा कौरवेया वाहिनी पुनरुज्जीवितेवाऽभूत् ।

"भटोपरि भटाः पेतुस्तुरगास्तुरगोपरि ।
मातङ्गोपरि मातङ्गाः स्यन्दनाः स्यन्दनोपरि ॥ १ ॥

एवं चतुरोऽपि यामान् निशायां द्वयोः सैन्ययोः परस्परं युद्धमभूत् । तथापि मदोत्कटाः सुभटाः शान्तिं न प्रापुः । इतश्चारुणोदये सज्जितो द्रोणो रणे बाणवृष्टिं कुर्वाणः समरावनीं प्रससार । तदानीं विश्वोपकारिणौ सतां वल्लभौ मोदितविष्टपौ विराटद्रुपदौ संग्रामावनीं समागतौ । द्रोणबाणवेध्यतां गतौ । तौ द्रोण एकहेलया निहन्ति स्म । दिनरात्रिभ्यां कृत्वा अष्टप्राहरिकेण संग्रामेण गतं चतुर्दशं दिनम् । अथ पञ्चदशदिनारम्भे पूर्वस्यां भास्वानुदयं प्राप । तदनूभे अपि पताकिन्यौ सज्जिते कुरुक्षेत्रावनीं समाजग्मतुः ।

तदा तयोः पताकिन्योः परस्परं बाणाः प्रसस्रुः। आकाशे दिनकरस्य कराश्च प्रसस्रुः। उभावपि गगनाङ्गणं व्यापतुः। केचन वीरा बाणासारैर्दिवि मण्डपं वितेनिरे। केचन सुभटास्तस्य मण्डपस्याधो दीर्घनिद्रया सुप्ता भृशं शोभन्ते। केषाञ्चित् श्वेतखेटकेषु पतिता असियष्टयश्चन्द्रमण्डले राहुरसना इव रेजिरे। द्रोणगुरुसेनाब्धिमध्यस्थितो धनञ्जयो वडवाग्निरिव तत्सेनाजलं हेलया शुशोष। तस्मिन् नूतनसेनाऽम्भोदवत् शरासारं विमुञ्चति हंसैः सर्वशौण्डीरतनुदीर्घिकास्तत्यजिरे। राजानः संग्रामे कोदण्डदण्डधारिणं सैन्यसंहारकारिणं द्रोणाचार्यं विप्रमूर्त्या यमं मेनिरे।

यथा—"कल्पान्ताम्भोधिरुद्वेल इव विश्वम्भरातलम्। प्लावयन् पाण्डवानीकं निजनाराचवीचिभिः ॥१॥

व्योमाङ्कचुम्बिभिस्तैस्तैः सायकश्रेणिसेतुभिः। आचार्यः स्खलयाञ्चक्रे धृष्टद्युम्नेन तत्क्षणात्" ॥२॥

(युग्मम्)

तयोर्मिथस्तुल्ययोरिव द्रोणधृष्टद्युम्नयोश्चिरं संगरः समभूत्। तयोरेवं संगरे जायमाने आचार्य-बाणैरधिकीभूतं, ज्येष्ठाषाढरवेः करैरिव। द्रोणबाणाः सैनिकानां दुःसहा बभूवः। तदा तस्मिन् संग्रामे मालवेश्वरकुञ्जरः कालवद् बलसंहारकारकः केनापि वीरवरेण हतो मृतश्च। तं दृष्ट्वा सेनालोकैर्बाढस्वरेण पूत्कृतं हतोऽश्वत्थामा। तस्मिन् लोकवाक्ये द्रोणकर्णमूलमुपगते द्रोणः स्वहृदयेऽश्वत्थाम्नि निजसूनौ मृत्यु-शङ्कामकरोत्। भीमार्जुनादिभिर्बन्धिवैर्हरिणा च भाषितं तथैव, तदपि वाक्यं गुरुणा श्रुतं, युधिष्ठिरोऽपि नीचैः स्वरेण कथमपि तथैव व्याजहार—हाहेति हतोऽश्वत्थामा। युधिष्ठिरोक्तं श्रुत्वा मृतो मत्तनयोऽश्वत्थामा इति निश्चयं ज्ञात्वा युधिष्ठिरवचनाद् नैषोऽसत्यवाग् धर्मपुत्रत्वात्। पश्चात् किं कृतं द्रोणेन ? पुत्रेण विना जीवितेन किम् ?, गतायां जीविताशायां शस्त्रेणापि किम् ?

द्रोणस्य कोप

इति चिन्तयित्वा द्रोणाचार्यः सर्वाणि शस्त्राणि तत्कालं संत्यजति स्म। त्यक्तास्त्रो भारद्वाजो हरिणा दृष्टः, ततो हरिर्धृष्टद्युम्नं प्रत्याह—भो धृष्टद्युम्न! किं पश्यसि, तव जनकघातिनं यमरूपं विप्रं मारय। तदैव तीक्ष्णैर्विशिखैर्हतो द्रोणो भूमौ पपात। तं पतितं दृष्ट्वा युधिष्ठिरः पुनर्वाचमुवाच—भो द्रोण! अश्वत्थामा मालवपतिगजो हतः, न तु तवात्मजः, त्वं किमर्थं त्यक्तशस्त्रो जातः। तत् श्रुत्वा कुपितो द्रोणगुरुरित्यभ्यधात्।

यथा—"त्वया राजन्निदं सत्यव्रतमाजन्म धारितम्। ब्राह्मणस्यास्य वृद्धस्य मृत्यवे केवलं गुरोः ॥१॥
इत्याद्यन्यदपि क्रोधाद् भारद्वाजेऽभिधातरि। उन्मीलति स्म वाग् व्योम्नि तत्कालमशरीरिणी" ॥२॥

हे ब्रह्मन्! रुषं मुञ्च, शमामृतरसेनाऽऽत्मानं सिञ्च, अनादिकालिकं रौद्रध्यानं परित्यज, हृदये धर्मध्यानमाधेहि, धीमंस्तवाऽऽयुःक्षयमागतम्, सावधानो भव, यत्त्वं सम्यक्त्ववान् प्रत्यहं नमस्कारमन्त्रं परावर्तयसि, तेन पुण्येन ब्रह्मलोकसुखश्रियस्तवाऽध्वानं विलोकन्ते—इत्याकाशगिरा प्रतिबुद्धो द्रोणाचार्यो भवारण्यं भीषणं विभावयन् कषायांस्तिरस्कुर्वन्, अष्टादशपापस्थानान्यालोचयन्, बाह्यान्तरङ्गशत्रून् निराकुर्वन्, पञ्चपरमेष्ठिनमस्कारं परावर्तयन्, अर्हदादीन्नमस्कुर्वन्, तस्मिन्नेव दिने कृतानशनो द्रोणगुरुर्मृत्वा ब्रह्मलोक ययौ। तं मृतं ज्ञात्वा पितृवैरात् केशेष्वाकृष्य शालिस्तम्बमिव धृष्टद्युम्नस्तस्य मस्तकं कृपाणेन चिच्छेद। अस्मिन् हते कौरवानीके लोकाक्रन्दनादेन भीता इव बाणविद्या सर्वाऽपि अदृश्यीभूता। तदा कौरवीयबले सर्वतोऽपि द्रोणशोकतिमिरोर्मिकरम्बिते मध्याह्नमपि निशीथ इव पप्रथे। यथा चन्द्रसूर्याभ्यां विहीनं व्योम न विभाति, यथा लोचनाभ्यां विहीनं मुखं न विभाति, तथा भीष्मद्रोणाभ्यां विहीनं कौरवबलं न विभाति। सार्धचतुर्दशदिनान्ते द्रोणो मृतः। गतं सार्धचतुर्दशं दिनम्।

मध्यन्दिने द्रोणे मृते शल्य इवात्खाते द्रोणे पाण्डवा भृशं जहृषुः। तदानीं कौरवीये बले शोकार्णव इवाऽभूत्। तत् कौरवीयबलं शोकमग्नं ज्ञात्वा जनकवधं च दृष्ट्वा कुपितो द्रोणपुत्रोऽश्वत्थामा महारुषाऽऽकाशं पश्यन्निव, अमरान् भ्रंशयिष्यन्निव, क्षोणीं क्षोदयिष्यन्निव, अचलांश्चालयिष्यन्निव, अम्भोधीन् शोषयिष्यन्निव, भास्करं मिलिष्यन्निव, शीतांशुं मथिष्यन्निव, ग्रहान्निग्रहीष्यन्निव, पातालात् शेषं कर्षयिष्यन्निव, पाण्डवानीक जगाम। बाणासारं कुर्वाणो द्रोणपुत्रः पाण्डवसैनिकांस्तर्जयन् सैन्ये प्रससार। तस्मिन् द्रोणपुत्रे संग्रामे प्रसरति द्विषः प्रहारेभ्यस्त्रस्तैरिव प्राणैर्मुमुचिरे। यतोऽश्वत्थामशरोत्करं सोढुं कोऽलम्भूष्णुः?।

तत्कार्मुकविनिर्मुक्ताः शरा अरिभूभुजां सत्त्वसारमीक्षितुमिव तेषां हृदये विशन्ति स्म। स एव नैदाघभानुमानिव सैनिकवारीणि शोषयन्नम्भोधरेणेव धनञ्जयेन रुरुधे। तयोर्युद्धे जायमाने धनञ्जयेन च्छिद्रितध्वज उच्छिन्नसारथिः संभ्रान्ततुरगः, एवंविधो बाणासारैर्विदधे। एवं धनञ्जयबाणेन मथितमानसः क्रोधेन जाज्वल्यमानोऽश्वत्थामा मन्त्रशक्त्या नारायणीयास्त्रं कल्पान्तकालाऽग्नितुल्यं विश्वदहनक्षमं पाण्डवानी-कदहनाय मुमोच। तन्नारायणीयास्त्रमग्निज्वालारूपं दृष्ट्वा सैनिकलोकैस्तर्कितं किं पातालादग्निरुत्थितः?, किंवा ईश्वरलोचनादग्निः प्रादुर्बभूव?, किंवा सिन्धुमध्याद् विश्वं ग्रसितुं वडवानलः प्रादुर्बभूव?, किंवाऽर्ककरा ज्वालात्वं प्राप्ताः?, सैनिकैरित्याद्यनेकविकल्पास्तेनिरे।

तदस्त्रं दृष्ट्वा रथक्रोडस्थो हरिरूर्ध्वबाहुरित्युवाच—भो भो लोकाः! शस्त्राणि उज्झत-उज्झत, रथान् मुञ्चत मुञ्चत, तथा, भक्तिनम्राः सन्त एनं विप्रं नमत; यथा विश्वघस्मरमस्त्रं क्षणात् शाम्यति। इति विष्णुगिरा सैनिकलोका आयुधानि रथात्, अस्त्राणि च सर्वाणि तत्यजुः। भीमे आयुधान्यमुञ्चति सति कृष्णार्जुनौ बलाद्बाहौ गृहीत्वा मोचयतः स्म। तदनन्तरं तदस्त्रं शाम्यति स्म। अथ स्मयातिरेकवान् द्रोणपुत्रः पुनरपि कार्शानवं नवं शस्त्रमस्मरत्। तेनास्त्रेणाग्निज्वालालीढाः स्तम्बेरमा दावानलव्याप्ताः पर्वता इव

शुशुभिरे। प्रज्वलज्ज्वलनाः सर्वे रथाऽश्वभटकिङ्करा वह्निव्याप्ताः काञ्चनैर्निर्मिता इव निरीक्षाञ्चक्रिरे। तन्नारायणीयास्त्रं विश्वदहनसमर्थं ज्ञात्वाऽर्जुनो तन्निराकरणार्थं वारुणास्त्रममुञ्चत्।

पुष्करावर्तमेघ इव तदस्त्रं सर्वं तत्क्षणादेव शमयति स्म, मुनिर्ध्यानेन कर्म इव। तद् नारायणीयास्त्रं शमितं ज्ञात्वाऽश्वत्थामा ग्रहग्रस्त इव, दस्युभिर्लुण्ठित इव वा खेदमेदुरमानसश्चिरं तस्थौ। पुनर्द्रोणपुत्रो हरिं धनञ्जयं च दृष्ट्वाऽधिकाधिकं क्रोधारुणस्ताम्यति स्म, फणीवाऽगदमान्त्रिकम्। ततः क्रोधेन ज्वलन्मानसो द्रोणपुत्रो यावच्चिन्तां करोति तावदाकाशे देवतया प्रोक्तम्—

यथा—"किमेवं खिद्यसे क्रोधादन्धम्भूष्णुर्द्विजोत्तम !। देवा अप्यनयोर्जिष्णुकृष्णयोर्न प्रभूष्णवः ॥ १ ॥
प्राचि जन्मन्यमूभ्यां हि तेपे किमपि तत्तपः। येनाऽभूतामिमौ लोके विजित्वरभुजोर्जितौ" ॥ २ ॥

तया देववाचाऽश्वत्थामा फालभ्रष्टद्वीपीव विलक्षो वभूव। देवोऽप्येवं कथयित्वा खेदेन च तिरोदधे। द्विप्रहरं यावद् द्रोणपुत्रेण संग्रामो विहितः, एवं द्वादशप्रहरान्ते निर्वर्तिते संग्रामे उभे अपि पताकिन्यौ कृतश्रमे स्वं-स्वं स्कन्धावारमुपेयतुः। गतं पञ्चदशदिनम्। अथ षोडशदिने दुर्योधनो द्रोणे हते कर्णं पताकिन्या आधिपत्येऽभ्यषिञ्चत्। ततस्तेन वीरकुञ्जरेण कर्णेन सङ्गराय गमिष्यता यथारुचि याचकेभ्यो दानानि प्रवर्त्यन्ते स्म। तस्मिन्नूतने जीमूत इवात्यर्थं प्रवर्षति अर्थितडागाः कमलाऽऽकुला अभवन्। एवं दानं दत्त्वा कर्णनरेन्द्रः सङ्गरोत्सङ्गमगमत्।

पाण्डवा अपि तमेव द्रुपदात्मजं धृष्टद्युम्नं सेनान्यं पुरो निधाय सानीकाः समुपस्थिरे। एवं द्वे अपि पताकिन्यौ संग्रामावनौ समुपस्थिते रणतूर्याणि वादयतः स्म। तत उभयेऽपि पूर्वाऽपरमरुत्प्रेरितवार्धितरङ्गाः

इव परस्परं भटाः स्वैरं मिलन्ति स्म। केषाञ्चित् सुभटानां खड्गा वैरिरुधिराङ्किता भान्ति स्म, अलक्तकाङ्किता जयश्रीपादा इव। कस्मिंश्चित् सुभटेऽप्सरोभिर्मुक्ता पुष्पवृष्टिर्वातवशादन्यस्मिन् पतिता।

तथा—"भूरिशो वीरसंहारं सूत्रयन् पत्रिणां गणैः।
राधेयो युद्धमाधत्त धनुर्वेद इवाङ्गवान्" ॥ १ ॥

विश्वं संहर्तुं प्रलयकालोपमो दुःशासनो ज्यानादं वितन्वानः पाण्डवसैन्ये प्रससार। तस्मिन् सैन्ये प्रसृते मानसं नाकदन्तीव पाण्डवानीकं जगाहे। एवं पाण्डवानीकं गाहमानो दुःशासनो भीमपराक्रमेण भीमेन ददृशे। ततस्तौ धनुष्टङ्कारं कुर्वाणौ युयुधाते। तयोः कङ्कपत्रा इतरेतरं न्यपतन्। भीमबाणा दुःशासनं, दुःशासनबाणा भीमं च विव्यथिरे। एवं दुःशासनेन समं संग्रामं कुर्वाणस्य भीमस्य द्रौपदीकेशांशुकाकर्षणं स्मृतिमायातं, तेन क्रोधमहाम्बुधिकल्लोलप्रेरितो भीमः सारथिं हत्वा मनोरथेन समं गदाघातेन रथं भङ्क्त्वा दुःशासनं भुजाभ्यां धृत्वा भूमिमानयत्।

ततः प्रोक्तम्—रे कर्मचण्डाल! रे कुरुगोत्रहालाहलद्रुम! रे दुरात्मन्! रे क्षत्रियकुलकलङ्ककृत्! रे अकीर्तिकन्दलीमूलकन्द! रे दुर्नयसेवधे! द्रौपदीकेशांशुकाकृष्टिकारकं तव कर दर्शय, यस्याऽहमन्यायकारिणः शिक्षां ददामि। इत्युक्त्वा भूमौ निपात्य हृदये पादौ दत्त्वा द्वाभ्यां कराभ्यां दुःशासनकरं मूलादुद्मूलयत्। एवं तस्मिन् सङ्गरे भीमो जयं लब्ध्वा दुःशासनवध विधाय सन्ध्यासमये स्वस्थानमगमत्। तदैवांशुमान् दुःशासनवधं ज्ञात्वा दुःखाक्रान्त इवाऽस्तं ययौ। ततोधिकृतपुरुषैर्निषिद्धे उभे अपि वरूथिन्यौ स्वं-स्वं सन्निवेशमगच्छताम्।

अथ भीमः सैन्यमागतः सहर्षो द्रौपदीमालिङ्ग्य सर्वं दुःशासनवधोदन्तं न्यवेदयत्। कर्णराडपि

दु शासनस्य पराक्रमः

भीमेन कृतो दु शासनस्य वध

स्वसैन्यमागतो दुःशासनवधोदन्तं सर्वं दुर्योधनाय समाचख्यौ । पुनः कर्णेनोक्तम्—राजन् ! पाण्डवीये बलेऽर्जुनो महावीरः, तस्मिन् हते तत्सर्वं सैन्यं हतम्, तस्मिन् जीवति, अन्यस्मिन् हते तस्य किमपि गतं नास्ति, तस्मिन् हते तत्सैन्यं शवकल्पतां याति, स मामके बाणपावके प्रथमैवाऽऽहुतिर्भवति, परं सारथिबलेन जयं लभते ।

मम पुनस्तथाविधः कश्चित् सारथिर्नास्ति । तद् मे मातलितुल्यं शल्यं सारथिं समर्पय, यथाऽर्जुनं हत्वा ते बन्धुशोकं मूलादुन्मूलयामि । ततो मद्रेन्द्रशल्यं समाहूय गौरवात् कौरवाधिपो दुर्योधनः कृताञ्जलिः कर्णस्य सारथित्वेऽर्थयाञ्चक्रे । शल्य उवाच—राजन् ! त्व किमनुचितं भाषसे ? । क्वाहं राजन्यकुलीनः ?, क्व चायं सूततनयो हीनकुलीनः ?, अस्याऽहं सारथित्वं कथं प्रपद्ये ? ।

यतः—"किं नाम त्रपे काममस्याहं सारथीभवन् ।
काकोले कलहंसस्य दास्यं हास्यं न किं भवेत् ?" ॥ १ ॥

तद्वचनं श्रुत्वा कौरवेन्द्रो बभाषे—हे मद्रेश ! एवं मा वद, आतुरे सुहृद्वाचामनौचित्यं न विचार्यते, यतो महान् विचार्य मित्रार्थमकृत्यमपि कुरुते । अतस्त्वमपि मम कार्ये कर्णस्य सारथ्यमङ्गीकुरु । शल्योऽब्रवीत्—एतद्भवद्वचोऽहं करिष्ये, किन्तु रणे मम स्वैरजल्पः कर्णेन सोढव्यः । कर्णेनोक्तं भवदुक्तं सर्वं सहिष्ये । पुनः कर्ण उवाच—भो राजेन्द्र ! दुर्योधन ! यद्यहं प्रभाते काश्यपीमकपिध्वजां न करोमि तदाऽहं भवत्पुरतो हव्यवाहं विशामि । इति प्रतिज्ञां कृत्वा स्वोत्तारके गतः । गतं षोडशं दिनम् । रात्रिं कथमपि गमयित्वा कर्णः शल्यं सारथित्वे नियोज्य सेनाधिपत्यं चाङ्गीकृतवान् । सूर्योदये उभे अपि पताकिन्यौ कुरुक्षेत्रावनौ संग्रामाय समुपागमताम्, पुनस्तयोः परस्परं भीषणो रणः प्रववृते ।

यथा—"वीरप्रहारमूर्च्छालचेतसः पतिता अपि । हुंचक्रिरे चिरं शून्यक्षिप्तकौक्षेयकाः परे ॥ १ ॥
क्व रे पार्थ क्व रे पार्थ इति जल्पन्तमुच्चकैः । सधैर्यमथ राधेयमभ्यधाद् मद्रभूपतिः" ॥ २ ॥

शल्य उवाच—हे कर्ण ! ते मूर्ध्नि कर्णौ न स्तः, तथा तव हृदये विवेकिता नास्ति, तवात्मनि चैतन्यं नास्तीति मे मतिः प्रोस्फुरीति, यत् त्वमेवंविधां प्रतिज्ञामकार्षीः—यद्यहमद्य धनञ्जयं न हन्मि तदाहं वह्निप्रवेशं करोमि । भोः कर्ण ! स कोप्यऽस्ति विश्वे, येन धनञ्जयो जीयते ? । तदोत्तरगोग्रहे त्वया धनञ्जयपराक्रमं किं नादर्शि ?, तदपि ते विस्मृतम् । एवं ज्ञात्वापि त्वया धनञ्जयवधे कथं प्रतिज्ञा कृता ? ।

गान्धर्वेन्द्रेण चित्राङ्गदविद्याधरेण त्वां बाणैर्हत्वा दुर्योधनो बद्धो धनञ्जयेन मोचितः, तदपि ते विस्मृतम् ? । एवं बहून्युदाहरणानि दर्शितानि । ततः प्रकुपितः कर्णः शल्यमेवमवोचत्—मद्राणां म्लेच्छवृत्तीनामिदं वचोऽनुरूपं यत् त्वया प्रत्यपादि, इत्युक्त्वा कर्णश्चिन्तयति—अहो ! कर्मणो वैचित्र्यम्, यद्रथस्थः सारथिरप्येवं वक्ति । भोः शल्य ! यदि मयि कुण्डलीकृतकोदण्डे रणे प्रसृते धनञ्जयोऽग्रे स्थास्यति, तदा पौरुषं ज्ञास्यते, किं बहूक्तेन ? । इति कथयन् राधेयो बाणवृष्टिं कुर्वन् धनञ्जयं प्रति दधाव, नदीवेगो द्रुमानिव मार्गे सहस्रशो वीरान् संहरन्, तावत् शल्यः कर्णं बभाषे ।

यथा—"पार्थः सोऽयं रथारूढः कृष्णसूतः कपिध्वजः ।
अभ्येति निघ्नन् सैन्यानां ध्यानवह्निरिवैनसाम्" ॥ १ ॥

इति शल्यवाणीं श्रुत्वा कर्णः क्रोधेन जाज्वल्यमानस्त्वरितं धनञ्जयाभिमुखं दधाव, तावद् मार्गे तयोरन्तरा धर्मजोऽपतत् । ततः कर्णो युधिष्ठिरेण समं सोत्साहो युयुधे । ततस्तयोः शरासारपूरितदिगन्तरो

कर्णस्य कोप

रणः प्रववृते। एवं तयोः कर्णयुधिष्ठिरयो रणे जायमानेऽनेके वीरा निधनं गताः। कल्पान्तकालोपमैः कर्णशिलीमुखैर्युधिष्ठिरोऽत्यर्थमाकुलोऽकारि, यत् तूणात् बाणमाकृष्टं सन्धातुं मोक्तुं नेश्वरोऽभूत्, केवलं कर्णनिर्मुक्तबाणव्रणशोणितैर्भीमाग्रजो पुष्पितकिंशुकपुष्पमिव रक्तमङ्गं बभार। तं युधिष्ठिरं कर्णेन मथ्यमानमालोक्य केशवो वाग्भिस्तर्जयन् धनञ्जयमभाषिष्ट।

यथा—"धिक् ते कोदण्डपाण्डित्यं धिक् च दोर्दण्डचण्डताम्।
धिग्धिक् शौण्डीरमानित्वं धिग्धिक् च पुरुषव्रतम्॥ १॥
अखण्डभुजदण्डस्य पश्यतो यस्य वैरिभिः। ज्येष्ठबन्धुः किमप्येवं प्राप्यते प्राणसंशयम्"॥ २॥

भो अर्जुन! द्रोणेन गुरुणा आत्मनोऽप्यधिका धनुर्विद्या त्वयि न्यस्तपूर्वा वर्तते, अथेन्द्रसदसि गतो द्रोणो ज्ञायते ध्रुवं गुरुर्लज्जिष्यते। इत्यादिवचनैर्हरिणा तर्जितो धनञ्जयो मूर्तिमानऽमर्ष इव कर्णं प्रति धावति स्म। अथ कर्णो युधिष्ठिरं त्यक्त्वा धनञ्जयाभिमुखो बभूव। कर्णं समायातं दृष्ट्वा हरिर्धनञ्जयं प्रत्युवाच—भो धनञ्जय! एष कर्णः।

यथा—"पार्थ! नन्वेति राधेयः श्वेताश्वः शल्यसारथिः। नागकक्षाध्वजः साक्षादिव वीरो रसः पुरः॥१॥
आजन्मकार्मुकाभ्यासतारतम्यं द्वयोरपि। इदानीं युवयोर्जन्यदक्षयोर्लक्षयिष्यते"॥ २॥

भो अर्जुन! राहुणाक्रान्तस्येव भानोस्ते कर्णरुद्धस्य तेजः समस्तमपि क्वचिद् मा गात्, इत्युक्त्वा मुकुन्देन धनञ्जयाज्ञया कर्णं प्रति रथो नोदितः उभावपि कर्णधनञ्जयौ रथस्थौ महाधन्विनौ रुषारुणौ दिनादौ तुषारांशुभास्कराविव रेजतुः। क्रोधपाटलाक्षो राधेयः किरीटिनमभ्यधात्—भो धनञ्जय! इयत्कालमावयोः

शस्त्राभ्यासः शिक्षामात्र एवाऽभूत्। तयोः फलं त्वद्य भावि। अतः प्रोच्यते—भो अर्जुन ! द्रोणगुरुणा त्वयि न्यासीकृतां कार्मुकोपनिषदं मा विस्मर। तं गुरुं मा स्म लज्जयेथाः। मद्बाहुयुगान्तार्कस्तव महिमार्णवं पीत्वाऽद्यैव पाण्डुकुलं निर्दग्धुमीहते।

धनञ्जयोऽवोचत्—भो राधेय ! सद्भिरात्मगुणा आत्मनैव प्रकाशिता लघुतायाः कारणं भवन्ति, शौण्डीराणां शौण्डीर्यं दोष्णोर्वसति, नो गिरि, बाढस्वरेण प्रोक्तेन किं भवति ?। अथोभयोर्बलाबलं ज्ञास्यते। इत्युदीर्य उभावपि धनुःपृष्ठौ शरं संदधाते स्म। सिन्धोरूर्मय इव रवेर्बिम्बात् करा इव कर्णस्य कार्मुकात् शिलीमुखाः शत्रूनाक्रामन्ति स्म। समग्रकुरुभूभुजां जीवितव्येन सार्धं धनञ्जयोऽपि धनुःसिञ्जिनीमाचकर्ष। ततस्तया मुक्ता बाणाः प्राणापहारिणो विश्वं व्याप्नुवन्ति स्म। तथैव कर्णस्यापि बाणैर्व्याप्तम्।

यथा—"न रथ्या न रथो नापि सारथिर्न च केतनः।
न देहमपि पार्थस्य ददृशे तत्तिरोहितम्" ॥ १ ॥

राधेयस्य तां बाणधोरणीं प्रसृतां धूमरीमिव किरीटिनः शरा उष्णांशोः करा इव मुष्णन्ति स्म। ताभिर्बाणधोरणीभिरन्धीभूतश्चम्पेशः कियत्कालं यावदभूत्, तावत् कर्णो धनञ्जयवधाय आहेयमस्त्रमाजूहवत्, तेनास्त्रेण सर्पसमूहाः समागताः, दिव्यानुभावतस्तेन मुक्ता बाणा अपि पन्नगभावं लेभिरे। तान् महाकायान् पन्नगान् समालोक्य नारायणो गाण्डीवधन्विनो बन्धशङ्कातङ्काकुलोऽभवत्। अथ धनञ्जय आहेयास्त्रसंहारहेतवे तार्क्ष्यदैवतं कार्मुके सायकं संदधे, तेन विश्वं गरुडमयमभूत्। गरुडदर्शनात् ते भुजङ्गमपुङ्गवाः नेशुः, पुण्यात् पापानीव। बलोत्कृष्ट धनञ्जयं ज्ञात्वा कर्णश्चिन्तयति—अहो ! मया किं कृतं धनञ्जयवधक्षमं शक्तिप्रहरणं घटोत्कचवधे मुक्तम्। अयमर्जुनो दुर्जयः केनापि न जीयते, नूनमस्मादहं मरिष्यामि।

धनञ्जय-कर्णयो-र्युद्ध

धनञ्जय-स्याद्भुत-पराक्रम

यथा—"निश्चिकायाऽऽत्मनः कायव्ययं कर्णः कपिध्वजात् ।
भाग्यभङ्गं कुरूणां च पाण्डवानां च संपदम् ॥ १ ॥
अथ सर्वाभिसारेण शराणामनर्णूजितः । मृत्युमेवोररीकृत्य स योद्धुमुपचक्रमे" ॥ २ ॥

तयोः कर्णकिरीटिनोः परस्परं संग्रामं मुदा दिवि देवा ददृशुः, वसुधायां मानवा ददृशुः, तयोः सिंहनादेन भीता दूरेण गजा नेशुः, वाजिवृन्दानि पलायाञ्चक्रिरे । पलायमानैर्वाजिवृन्दैः रथिकानां मनोरथैः साकं रथा बभञ्जिरे । कर्णफाल्गुनयो रथाश्वान् मद्रेशकेशवौ सारथ्यकलया बलात् सम्यग् धारयाञ्चक्रतुः । उभयोः सर्वस्मिन्नप्यनीके पलायिते तौ वीरकुञ्जरौ रणासक्तौ रेजतुः, महाटव्यां मदोत्कटौ वनेभाविव ।

एवंविधे कर्णधनञ्जययोः सग्रामे जायमाने पुण्यक्षयात् कर्णस्य घनकर्दमाकुलायामिव क्षितौ रथो नाभि यावद् निर्ममज्ज । ततः शल्येन सारथिना प्रेरिता अपि वाजिनस्तमुद्धतुं नेशते स्म, दुर्धियो विवेकमिव । ततः कर्णस्तद्रथादवततार । तदानी धनञ्जयः पुनरुत्साहमारोहत् । ततः कर्णो बाणधोरणीवर्षिणं धनञ्जयमीषद्दैन्यगिरा बभाषे । कर्णस्य दीन-वचनम्

यथा—"क्षत्रियक्षिप्तमक्षत्रमिदमर्जुन ! मा कृथाः । न खल्वयुध्यमानेषु प्रहारः सत्त्वशालिनाम् ॥१॥
क्षात्रं धर्ममिमं वीर ! यदि त्वमपि लुम्पसि । तदानीमपरित्राणः कुत्राऽयमवतिष्ठताम् ?" ॥२॥

भोः सुभटशिरोमणे ! तावद् मुहूर्तमात्रं प्रतीक्षस्व, शरान् मा मुञ्चस्व, यावदहं धरामग्नमिमं रथं समुद्धरामि, तमेवं कृपणालापं श्रुत्वा कर्णं प्रति शल्यो बभाषे—भो राधेय ! भवान् सूतकुलं मा कलङ्कय । यतः क्षत्रियो महीयसि प्राणसंदेहेऽपि त्वमिव शत्रूणां पुरो दीनं वचो नोदीरयेत् । अहो ! दुर्धिया दुर्योधनेन किं

कृतम् ?, यत्त्वयि भीरुशिरोमणौ गोमायुदेशीये सिंहसंभावना कृता। एष धनञ्जयस्तव मित्रं नास्ति, यत्पुरस्त्वमेवंविधां दीनां वाचं भाषसे, एष शत्रुर्धनञ्जयः किं त्वां दीनवाक्येन मुञ्चति ?, समागतं मरणं, सूतं दीनवाक्येन, कातरेणाऽपि मर्तव्यं, शूरेणापि मर्तव्यम्, अतः शूरो भव, इति शल्यगिरा कर्णो यावत् सज्जो भवति तावत् केशवः कर्णं बभाषे—भो राधेय ! धर्मसर्वस्वं त्वां विना कोऽन्यो वेत्ति ?, परमभिमन्युवधे तानि नीतिशास्त्राणि सर्वाणि तव किं विस्मृतानि ?

यद् युष्माभिः सर्वैः संभूय एकोऽपि लघीयान् बाणव्रणाङ्कितो हतः, तदा ते नीतिः क्व गता ?। एवं कर्णमुपालम्भ्य कृष्णो धनञ्जयं प्रोवाच—भो अर्जुन ! किं विमृशसि, प्राणापहारान् बाणान् मुञ्च, तव पुत्रघातकं घातय, विलम्बं मा विधेहि, भूयो ह्ययं सज्जो रथमारूढोऽत्यन्तं दुर्जयो भविष्यति, यतः कन्दरान्तरसञ्चरः केसरी केन जीयते ?। अत्र किञ्चित्तव क्षत्रव्रतं न याति, अत्र कश्चिद्धर्मव्यतिक्रमो नास्ति, किन्तु जयैषिभिर्बलवान् विरोधी रन्ध्रे हि हन्तव्यः। इति विष्णुवाचं श्रुत्वा क्रोधारुणलोचनोऽर्जुनो गाण्डीवं धनुरादाय क्षिप्रमेव क्षुरप्रबाणेन राधेयस्य शिरोऽच्छिनत्। मया मित्राय दुर्योधनाय शिरो दत्तमिति हर्षादिव तदा कर्णकबन्धेन प्रीत्या ननृते। तदा पाण्डवबले आनन्दचन्द्रमा उदेति स्म। तत्कालं कौरवाम्भोजकाननं मीलति स्म। तच्चम्पाधिपतेः शिरश्छिन्नं सद् वियत्युत्पतितं वीक्ष्य राहुभयात् त्रस्त इव सूर्योऽस्ताद्रिकाननेऽविशत्। कर्णस्य कर्णकुण्डले भुवि निपेतुषी भूगते चन्द्रसूर्ययोर्बिम्बे इव भीमेनाऽऽत्ते। ततः कौरवाः कर्णं रणे मुक्त्वा सूर्यास्तसमये मन्दपदक्रमाः स्वं शिबिरं समाजग्मुः।

तत् कुण्डलयुगलं समादाय पाण्डवाः पुनरत्यन्तं मुदिताः स्वं स्कन्धावारं समाययुः। ताभ्यां कुण्डलाभ्यां मातुश्चरणद्वयीमभ्यर्च्य राधेयवधप्रीताः पाण्डवा मातरं प्रणेमुः। ततः कुन्त्याऽऽत्मीये कुण्डले प्रत्यभिज्ञायाऽक-स्मादश्रुबिन्दुभिर्वारं वारं सा ववर्ष। तां मातरं रुदतीं दृष्ट्वा युधिष्ठिरोऽवादीत्—हे मातः ! तव आनन्दपर्वणि केयमकाण्डेऽपि शोकशङ्काकुलता ? ! नन्वद्य महाहवे कर्णं हत्वा जयं कृत्वा समागतो धनञ्जयस्तवानन्ददायकः

किं न बभूव ? । तत् श्रुत्वा कुन्ती जगाद—भोः पुत्राः ! भवज्जयस्तु ममानन्दायैव स्यात्, तथाप्यहं मन्दभाग्या भवतः पुरतः किञ्चिद् निवेदये ।

यथा—"कर्णो हि पाण्डुदेवस्य तेजसामाद्यकन्दलः । सोदरो भवतां बन्धुः सिन्धुरौर्जित्यवारिणः ॥ १ ॥
किन्तु हेतोः कुतोऽप्याशु जातमात्रोऽप्यसौ मया । कुण्डलाभ्यां किलैताभ्यां सनाथीकृत्य तत्यजे" ॥ २ ॥

हे मातः ! एष मे बन्धुः कर्णस्त्वया केन हेतुना कुण्डलेन सार्धं त्यक्तः ?, इति विस्मयचेतोभिः पाण्डुजन्मभिः पृष्टा कुन्ती स्त्रीस्वभावाल्लज्जावनम्रा यावत् किञ्चित् प्रत्युत्तरं नादत्त, तावत् ज्ञातपूर्ववृत्तान्तो हरिः सर्वमखिलं कर्णवृत्तान्तं पाण्डवानामग्रे कथयामास । पाण्डवैरुक्तम्—भोः कृष्ण ! यद्येष कर्णोऽस्मत् सहोदरस्तर्हि त्वयैतावन्तं कालं कथं न ज्ञापितः ? । तथा, त्वयेमां भ्रातृहत्यां वयं किं कारिताः ? । अस्माकमस्य भ्रातृवधपापस्य विशुद्धिः कथं भविता ? । इत्यार्त्तहृदयान् पाण्डुनन्दनान् बन्धुहत्यया मलीमसाञ् ज्ञात्वा स्पष्टाक्षरं गोविन्दोऽभाषिष्ट—भोः पाण्डवाः ! अस्मिन् भ्रातृवधकल्मषे मा ताम्यत, यतो दोष्मतामेतद्धर्मो वर्तते—'जिघांसन्तं पुरुषं जिघांसीयात्' । अत्र काचिद् विचारणा न विधेया । एष कर्णो भवद्वैरी निश्चितं हन्तव्य एव । यतस्तदानीं दूत्याय मया यातेन हस्तिनापुरे कुन्त्योक्ते कर्णपुरतः कर्णोत्पत्तिवृत्तान्ते कथितेऽपि तस्य मनागपि तुष्टिर्न जाता । ततः पुनर्मयोक्तम्—भोः कर्ण ! तवेदानीं सोदर्यसंगतिर्युक्ता, न तु तद्विरोधिनः । कुरवः सेवितुं तव न युज्यन्ते । कर्ण उवाच—हे हरे ! यत् त्वयोक्तं पाण्डवास्तव बान्धवास्तत्सर्वं सत्यमेव, परं कर्ण कर्ण इति ख्यातिं येनाऽहं प्रापितः, चम्पाराज्ये स्थापितश्च, तं दुर्योधनं कथं मोक्तुमर्हामि ?, यतस्तस्य रेखा साधुषु न दीयते, य आपदि काले मित्रं मुञ्चति ।

अत एनं न मुञ्चामि। मया दुर्योधनाग्रे एषा प्रतिज्ञा कृताऽस्ति यद् भवत्कार्ये निश्चितं मया प्राणास्त्याज्याः, किं पुनः?। फाल्गुनादन्यं हनिष्यामि न बन्धुषु। भोः पाण्डवाः! इति वैरायमाणं कर्णं निश्चित्य मया भ्रातृसंबन्धादिवृत्तान्तो युष्मभ्यं नाख्यायि। बन्धुस्नेहे ज्ञाते धनञ्जयः कर्णं न हन्यात्। अहते कर्णे दुर्योधनाद् राज्यमादातुं न शक्यते। अतो बन्धुसंबन्धो नोक्तः। शार्ङ्गपाणेरिति गिरमाकर्ण्य बाष्पायितेक्षणाः पाण्डवाः कर्णस्य सर्वमौर्ध्वदेहिकं चक्रिरे।

तावत् केचिद् देवा दिव्यस्फटाटोपमण्डिता दिव्यरूपधराः पञ्चाङ्गप्रणामपराः कुड्मलीकृतपाणयो: युधिष्ठिरं विज्ञपयामासुः—हे देव! पूर्वं तस्मिन् दिव्ये पन्नगेन्द्रसरोवरे यैस्तव विप्रियं वितेने, ते वयं नागलोका: देवाः, तदाऽस्मत्स्वामिना तुष्टेनेति वरो दत्तः, भो धर्मात्मज! यत्तुभ्यं रोचते तद् याचस्व।

तदा समातृभिर्युष्माभिः प्रोक्तम्—कर्णकिरीटिनोर्युद्धे किरीटिनः साहाय्यं कार्यं, तदद्य युवयोर्युद्धे जायमाने पन्नगेन्द्राज्ञया धनञ्जयस्याऽस्माभिः साहाय्यं कृतं यत् कर्णरथस्य चक्रद्वयं नाभिं यावत् क्षितौ मग्नम्। अथ यूयं प्रातः कौरवेन्द्रं सपरिवारं हत्वा संग्रामाम्बुधिपारीणा भविष्यथ इति देवोक्तं श्रुत्वा हर्षिताः पाण्डवास्तान् देवानाभाष्य बहु संपूज्य शीघ्रं विससृजुः। इतश्च कौरवेन्द्रो दुर्योधनो रणार्णवकर्णधारं कर्णं हतं ज्ञात्वा शोकं कुर्वन् स्वं शिबिरमागत्य पल्यङ्केऽवाङ्मुखोऽपतत्। अथ शोको।

यथा—"मुमूर्च्छ क्षणमुच्छ्वासविकलो मुकुलेक्षणः। सोरस्ताडं क्षणं मुक्तकण्ठमुच्चै रुरोद च ॥ १ ॥
नामग्राहं च हा कर्ण कर्णेति विलपन् क्षणम्। क्षणं तस्थौ च तूष्णीकस्तदा दुर्योधनः शुचा" ॥ २ ॥
(युग्मम्)

एवं शोकार्णवमग्नं दुर्योधनं दृष्ट्वा द्रोणपुत्रोऽश्वत्थामा एवमवादीत्—भो महाराज ! त्वादृशा अपि महात्मानो यदि शोकपिशाचेन गृह्यन्ते, तर्हि अस्मादृशस्य हीनसत्त्वस्य किं कथ्यते ? अतो धैर्यं विधेहि, यतोऽद्यापि त्वयि संग्रामसीम्नि तस्थुषि के वराकाः काका इव पाण्डवाः ? । नंष्ट्वा यास्यन्ति । पाण्डवाः किमपि दुर्जया न सन्ति । अतो मद्रदेशाधिपो वैरिशल्यः शल्यराट् सेनानीत्वे स्थाप्यते ।

इत्याद्यश्वत्थामादिवचनैर्दुर्योधनः शोकं स्तोकं विधाय विलूना दूर्वेव पुनः प्ररोहितेव सज्जो जातः । तां रात्रिं कथमपि गमयामास । गतं सप्तदशं दिनम् । सूर्योदये मद्रदेशाधिपं शल्यं सेनाधिपत्वे संस्थाप्य कृतवर्मकृपाचार्याश्वत्थामादिपरिवृतः कौरवेन्द्रो रणभुवमागात् । ततः प्रभाते शल्यवत् शल्यमुन्मूलयितुं भीमादिबान्धवान्वितः सपरिकरो युधिष्ठिरो रणक्षेत्रक्षोणीमुपागमत् । ततो द्वे अपि सैन्ये परस्परं स्वस्वामिभ्यामुत्साहिते युद्धयेते ।

यथा—"त्रुटत्सुभटकण्ठास्थिष्ठात्कारमुरजध्वनिः ।
कबन्धताण्डवोच्चण्डस्ततोऽभूत् सङ्गरोत्सवः" ॥ १ ॥

ततस्तयोः सैन्ययोर्बाणा वीररुधिरासवं पीत्वा पुष्टा इव क्षितौ लुठन्ति स्म । ततो नकुलो वैरिकुलान्तकः कौरवीये सैन्ये प्रससार । तेन नकुलेन तीव्रपातैरिषुव्रातैराकुलीकृतां स्वां सेनां समालोक्य मद्रेशः शल्यनृपः क्रोधावेशाद् दधाव । शल्यस्याऽत्युद्धुरैः शरैस्ताडिता पाण्डवीया सेना पराङ्मुखीबभूव, सागरतरङ्गैर्निम्नगेव । ततः शल्येन वध्यमानां पाण्डवसेनां दृष्ट्वा युधिष्ठिरं प्रति हरिरुवाच—भो युधिष्ठिर ! शल्येन वैरिणा हन्यमानां स्वां सेनां दृष्ट्वा योगीन्द्र इव किमुपेक्षसे ? । पूर्वं शल्येन राज्ञा शक्त्या वैराटतनय उत्तरो हतः । तदा त्वया सुदेष्णामुत्तरमातरं प्रत्युक्तम्—हे सुदेष्णे ! मा रोदीः, तव सुतं स्तोकदिनान्ते शल्योदरादहं क्रष्टास्मि । तामपि वाचं सत्यां कथं करिष्यसि, यत् त्वं सविधीभूतेऽपि शल्ये बाणश्रेणीं न मुञ्चसि ? ।

तर्हि सज्जो भव, धनुष्टङ्कारं कुर्वन्नेनं शल्यं कीनाशदासतां नय । इति विष्णुवाचं निशम्य युधिष्ठिरो राड् मद्रभूभर्तुः शल्यस्य वधे आमध्याह्नात् प्रतिज्ञां व्यधात् । ततस्तयोः शल्ययुधिष्ठिरयोः समरः समभूत् । प्रलयकालदावानलोपमं युधिष्ठिरं शल्यं प्रति धावन्तं दृष्ट्वा शल्यत्राणकृतेऽन्ये राजानो धावन्ति स्म । तदन्तरे प्रविष्टो धनञ्जयस्तान् राज्ञो ममन्थ । मध्यन्दिने समायाते तयोः शल्ययुधिष्ठिरयोः संग्रामे जायमाने तयोर्बाणश्रेणीनिरीक्षणाय दिनाधीशः स्वं रथं मन्दं-मन्दं व्योमाध्वना वाहयति स्म । तं शल्यं युध्यमानं बाणैरजेयं ज्ञात्वा युधिष्ठिरः शल्यं शक्त्या न्यपातयत् ।

शल्य-
वधस्य
प्रतिज्ञा

तदानीं भीमपराक्रमो भीमस्तस्मिन् युधि अनेकान् कौरवान् भिनत्ति स्म । तदा सा भू रुधिरापगाभि-र्दुस्तराऽभूत् । तथा, क्वचित् करैराकीर्णाऽभूत्, क्वचित्पादैः, एवं क्वचिद् अङ्गैः, क्वचिद् मुखैः सा पृथ्वी विधेः कर्मशालेवाऽभूत् । हतं शल्यं ज्ञात्वा क्रोधारुणलोचनो दुर्योधनोऽशेषैर्नृपैः सार्धं पाण्डवसेनया समं युयुधे । तदानीं पाण्डवीया सेना दुर्योधनपराक्रमं न सहते स्म । ततस्तयोः कौरवपाण्डवयोः परस्परं देवानामपि दुःसहो संगरोऽभूत् । अथ कुरुराज्ञः कूटबुद्धिप्रदः शकुनिः सहदेवमरौत्सीत्, महेभाः कलभमिव । सहदेवोऽपि दुर्योधनादि-सुभटसमूहान् रौद्रबाणासारैर्ववर्ष । तेऽपि राजानस्तं सहदेवं बाणश्रेणिभिर्व्यग्रं चक्रुः ततो माद्रेयोऽपि बाणैर्बाणान् खण्डयन् संग्रामे दुर्धर्षो बभूव । शकुनिसहदेवौ पणीकृतप्राणौ समरद्यूते दिव्यन्तौ शुशुभाते । ततो माद्रेयः समरद्यूते क्षुरप्रैरक्षैरिव शकुनिं जयति स्म । क्षुरप्रैराहतं शकुनिं ज्ञात्वा दुर्योधन उच्छ्वसन्नपि भस्त्रावच्चैतन्य-विकलोऽभवत् । ततः कथमपि पुनर्लब्धचैतन्यो गान्धारेयो गतबल आकुलतां जगाम ।

दुर्योधनस्य
युद्धभूमि-
त्याग

"अथ सैन्यरथोद्धूतैः सोऽन्धकारपटोपमैः । तिरोहितवपुः पांशुपूरैः स्वैरमपासरत्" ॥ १ ॥

तत्सैन्याद् नष्टे दुर्योधने तत्सैन्यमनायकमभूत् । ततः कृपः, कृतवर्मा, अश्वत्थामा अमी त्रयोऽपि

दुर्योधनमपश्यन्तो विषण्णास्तमितस्ततोऽत्यर्थं गवेषयामासुः। ते राजान इतस्ततो भ्रमन्तो दुर्योधनपदावलिं तत्रासन्नसरोवरे ददृशुः। ततस्ते राजानो दुर्योधनाऽनुपदीनं पाण्डवबलं समालोक्य 'मा जानातु दुर्योधनम्' इति दुर्योधनसैनिकास्तत्रासन्नगिरिगह्वरे क्वापि विविशुः। तदानीं केनापि वनेचरेणागत्य पाण्डवाग्रे प्रोक्तम्—भोः पाण्डवाः! भवच्छत्रुदुर्योधनो नंष्ट्वा भवद्भीत्याऽस्मिन् सरसि प्रविष्टः। तं दुर्योधनं भीत्या तस्मिन् सरसि प्रविष्टं ज्ञात्वा क्रोधारुणनेत्राः पाण्डुपुत्राः शेषैकाक्षौहिणीस्वबलसम्भारभासुरास्तत्सरः परितः समावृत्य तिष्ठन्ति स्म। तत्सरस्तीरे स्थित्वा युधिष्ठिरो दुर्योधनं बभाषे—भो दुर्योधन! त्वमात्मानं मुधा वीर मन्यसे स्म। श्रृगालः कदापि सिंहो भवति?। त्वया श्रृगालेन सैन्यबलात् सिंहवदाचर्य पुनः श्रृगालायितं, यत् पलायितम्। त्वया पलायमानेन निष्कलङ्कितताधृतराष्ट्रकुलं कलङ्कितम्।

यथा-"घातयित्वा समित्येवं सुहृत्संबन्धिबान्धवान्। यदिदानीं निजप्राणत्राणायाऽम्भसि मज्जसि ॥१॥
मग्नस्यापि जले किन्तु जीवितव्यं न ते क्वचित्। मुहूर्तोऽपि गमी नैतत् सरः शोषयतां हि नः" ॥२॥

पुनर्युधिष्ठिर उवाच— युधिष्ठिरस्य वचनम्

"किञ्चात्र शक्यते स्थातु रुष्टे सम्यक्किरीटिनि। यः शोषयितुमीशोऽस्ति विद्यास्त्रैरपि वारिधिम् ॥१॥
क्वाऽद्य ते स भुजादर्पस्तृणीकृतजगत्त्रयः। येनाऽवमत्य नः सर्वास्त्वं महीं भोक्तुमैहथाः?" ॥२॥

हे अनात्मज्ञ! हे मृत्युकातर! यदि त्वं मरणाद् बिभेषि, तर्हि गोत्रवृद्धोक्तैः सन्धि कथं न कृतवान्?। शार्ङ्गिणापि मार्ग्यमाणाः पञ्च ग्रामास्त्वया कथ न दत्ता?। अथ गुरुवाक्यं विलङ्घिनो भवतः साम्प्रतं मरणं समागतं, जीवितं नास्ति। तथा, त्वया पूर्वं कृष्णाकेशाऽम्बराकर्षणाद्यनुचितं यत्कारितं तस्याप्यस्य प्राणापहारेण तव प्रायश्चित्तं गदया भीमो दास्यति। तन्निर्गत्याऽम्भसोऽस्माभिः सह युध्यस्व, यथा स्वकुलस्य भुजयोश्च

लज्जा नायाति। तथा, यदि सरसो न निर्यास्यसि, तर्हि धनञ्जय आग्नेयबाणेनाऽदः सरः शोषयिष्यति, तदा त्वं क्व यास्यसि ?! अतोऽस्माभिः सह युद्ध विधेहि। यदि सर्वैर्बन्धुभिः सार्धं युद्धं कर्तुं न शक्नोषि, तर्हि कमप्येकं बन्धुमङ्गीकुरुष्व। येन सार्धं युद्धेच्छा वर्तते तं वृणीष्व। तस्मिन् जिते वयं सर्वेऽपि जिताः। ततस्त्वं सकलामिमां पृथ्वीं भुञ्जीथाः।

एवंविधां श्रवणक्रोडविषवृष्टिसहोदरां युधिष्ठिरभारतीं श्रुत्वा भीमेन सार्धं गदायुद्धं प्रपेदे। भीमेनापि तदप्यङ्गीकृतम्। ततो दुर्योधनः सरोवरान्निर्ययौ, अभ्राद्दिवाकर इव। अथ पाण्डवेयास्तं समावृत्य रणक्षेत्र-मुपानयन्, गजा मत्तगजेन्द्रमिव। ततस्तौ भीम-दुर्योधनौ बद्धकच्छौ वरेभाविव मदोन्मत्तौ करे धृतगदायुधौ यमकिङ्कराविव दुर्धर्षौ स्वस्वसेनालोकैः कुतूहलेन विलोकितौ बलभद्रादिभिर्यादवैरपि निरीक्षितौ रणरङ्गाङ्गणे लोकैः परितः परिवेष्टितौ। कौरवपक्षीयाः सैनिकाः कौरव प्रशंसन्ति, पाण्डवपक्षीयाः सैनिकाः महाकायं भीमं प्रशंसन्ति। एवं स्वस्वबन्धुभिः प्रशसितौ सुरखेचरैर्विमानस्थैर्निरीक्षितौ परस्परं युद्धयेते स्म।

भीम-दुर्योधनयो-र्गदा-युद्धारम्भ

ततस्तौ उच्छ्रितबाहुभ्यां धृतगदौ सिंहनाद वितन्वानौ मण्डलिवाताविव द्वावपि भ्रेमतुः। कदाचिद्गदाघातेन घातं विभ्रतुः, कदाचिद् द्वावपि मिलित्वाऽपसस्रतुः, कदाचिद् युद्धं विधाय चेलतुः, कदाचिद्भूताविष्टाविव शिरः कम्पयित्वा कुर्कुटाविवोत्प्लुत्य गदाघातं वितेनतुः, कदाचिद्गदयैव गदां ररक्षतुः। तयोरेवं युध्यमानयोर्जयलक्ष्मीः करधृतवरमाला दोलान्दोलितमनास्तौ तुल्यपराक्रमौ दृष्ट्वा 'कं वृणोमि ?' इति चिन्तासागरे यावता ममज्ज, तावता दुर्योधनः कौरवेन्द्रः कथञ्चन भीमदृष्टिं वञ्चयित्वा मौलिदेशे ताडयामास।

तेन दुर्योधनगदाघातेन ताडितो भीमः पाण्डुपुत्रो भ्रमितेक्षणः क्षोणीमद्राक्षीत्, पुनः क्षणान्तरेण स्वस्थचित्तः क्रोधारुणेक्षणो गदां समुत्पाट्य कौरवदृष्टिं वञ्चयित्वा तं गदाघातेन हृदि प्रजह्रे। तेन घातेन

दूनो दुर्योधनः क्षणं मूर्च्छां लब्ध्वा पुनर्लब्धचैतन्यो गदां समुत्पाट्य समुत्तस्थौ। ततः क्रोधारुणलोचनो वृकोदरं पुनर्मूर्ध्नि गदाघातेन ताडयामास। तत्पीडाभिरभिभूतो नयनद्वयेनान्धंभविष्णुरिव भीमः सर्वाङ्गे पीडामवाप। तं पीडाप्राप्तमालोक्य मलिनमुखो धनञ्जयो कैटभद्विषमभाषिष्ट।

"हन्त ! गोविन्द गोविन्द ! किमस्माकमुपस्थितम् ? । उत्तीर्य पाथसां नाथमिदं गोष्पदमज्जनम् ॥१॥
जिते भीष्मे जिते द्रोणे जितेऽथ सूतनन्दने। शल्ये निर्मूलिते सिन्धुराजादिषु हतेषु च ॥ २ ॥
पश्यतामेव नः सोऽयं सर्वेषामपि जीवितम्। धृष्टेन धार्तराष्ट्रेण मारुतिर्यद् निहन्यते" ॥ ३ ॥

इत्यर्जुनोक्तं श्रुत्वा कंसविध्वंसनो बभाषे—भोः पार्थ ! दुर्योधनो भीमेन दुर्जयोऽस्त्येव, यतोऽयं खुरलीरङ्गे नित्यं गदया श्रमं कुर्वाणो लोहमयं भीमं पुरा भस्मसादकरोत्। अतोऽसौ दुर्योधनो भीमगदाप्रहारैरपि दुर्जयो दृश्यते, किन्तु कथमप्यमुं दुर्योधनं भीमो गदाघातेन ऊरुदेशे प्रहरति तदा जयो भवति, नान्यथेति तत्त्वार्थः। फाल्गुनो वनमालिनोक्तां भारतीं निशम्य दुर्योधनोरुप्रहाराय भीमं सकेतमकारयत्। कौरवाग्रणीः सुयोधनोऽपि तं सकेतं विदाञ्चक्रे। तथैवोभौ भीमदुर्योधनौ मण्डलीं भ्रमन्तौ परस्परं प्रहारं वञ्चयन्तौ दुर्योधनस्य गदाघाताद् बिभ्यतो मण्डूकवद् भूतलादुच्छलतो भीमो गदाघातेनोभावप्यूरू मृद्भाण्डे इवाऽभाङ्क्षीत्। ततो भग्नोरुः क्रोधधूमायमानो दुर्योधनो गिरेः कूटमिवावनावपतत्। तथावस्थोऽपि कौरवः पुनः क्रोधाज्जाज्वल्यमानो भीमे गदाघातानमुञ्चत्। भीमोऽपि तं दुर्योधनं गाढप्रहारीकृत्य स्वस्थचित्तोऽभवत्। तदवस्थे दुर्योधनेऽथ जयप्राप्ते च भीमे प्रीताः सुराः पुष्पाणि ववृषुः। गदाप्रहारपीडितो दुर्योधनो निमीलितविलोचनः क्रमाद् नि.सहतामगात्।

दुर्योधनस्य भग्नोरु-करणम्

तदानीं भीमो दुर्योधनान्तिके समागत्य मस्तकं यावता पादेन दलयाञ्चक्रे, तावद्बलभद्रो मस्तकपेषणं

समालोक्य रोषारुणलोचनो भीमं बभाषे—भो बकारे ! ते पौरुषं धिक्, मृतस्य मारणं किं पुरुषव्रतं भवति ? । यद् म्लेच्छेष्वपि न भवति तत् त्वया कृतम् । अहं कस्याप्यन्यायं नैव सहे । सर्वेषामप्यनाचारदोषे वैद्योऽस्मि । ममैतद्धलमुशलौ भवदन्यायेन पञ्चानामपि पाण्डुपुत्राणां फलं दर्शयिष्यतः । इत्याद्युक्त्वा क्रोधायमानो बलभद्रो निजावासं त्वरितं ययौ । बलभद्रानुवृत्त्या सूर्योऽपि क्रोधारुण इवाऽरुणो भूत्वा द्वीपान्तरमगमत् । तथैव पतिते कौरवाधीशे वेदनाविमनीकृते मुराराति: शिबिररक्षार्थं धृष्टद्युम्नशिखण्डिनौ नियुज्य पाण्डुनन्दनान् समादाय बलभद्रं वशमानेतुं तत्राऽगात् । धृष्टद्युम्नशिखण्डिनौ तां सेनां समादाय सैन्ये समाजग्मतुः । अथ दुर्योधन-सैनिका दुर्योधनं समुत्पाट्य स्वसैन्यं निन्युः । ततः कौरवसैनिका निशायां दुर्योधनं घातजर्जरं कण्ठगतप्राणं समावृत्य तस्थुः । तं दुःखिनं दीनाननं दृष्ट्वा कृतवर्मा कृपोऽश्वत्थामा च कुरुपुङ्गवं दुर्योधनं कथयन्ति स्म—राजेन्द्र ! वयं कर्मचाण्डालाः कृतघ्नैकधुरन्धरा येषां ते पश्यतां त्वमस्मत्स्वामी पाण्डवैरिमां दशां लम्भितोऽसि । अथ वयं भवदाज्ञया सुखसुप्तान् रणोत्तीर्णान् पाण्डुपुत्रान् जित्वा पाण्डुपुत्रशिरांसि च्छित्त्वा तव दर्शयित्वाऽऽनृण्यं प्राप्नुमः ।

"इत्येतैर्वचनैस्तेषां पीयूषरसवर्षिभिः । विस्मृत्य वेदनावेगमाकृष्याश्लिष्यति स्म तान्" ॥ १ ॥

ततस्तुष्टो दुर्योधनोऽश्वत्थामादिपुरो बभाषे—भो वीराः ! भवद्भिरुक्तं यद् द्विषां शिरांसि च्छित्त्वा भवतो वयं दर्शयिष्यामहे, तत्सर्वं युष्माभिर्भविष्यत्येव, यतस्तत्किमपि नास्ति यद् युष्माभिर्न भवति, यथा चिन्तारत्नस्यापि किमपि दूरेऽस्ति ? । इत्याद्युक्त्वा तोषितास्ते वीरवराः । तद् जवाद् यूयं गच्छत, द्विषां पाण्डवानां मौलींश्छित्त्वा शीघ्रं दर्शयत यतो मम प्राणाः शीघ्रं गन्तुमिहन्ते, तेषां द्विषां मौलीन् दृष्ट्वा सुखं यान्ति, यतस्त्वं द्रोणतनय औरसः, अहं तु मानसः पुत्रः, अतस्त्वं मम बन्धुः, बन्धुत्वाद् वारं वारं विज्ञप्यते, मम प्राणैः स्थातुं नेशिष्यते । अतस्त्व शीघ्रं गत्वेद कार्यं कुरुष्व । मय्यनुग्रहं विधाय युधिष्ठिरादीनां पञ्चानां

कृतवर्मादीना पश्चात्ताप

बन्धूनां मौलींश्छित्त्वा समानय, यथा मम परलोकप्रस्थितस्येदं पाथेयं भवति। एवं कृते मम प्राणैः सुखेनैव गम्यते, यतस्त्वमजेयोऽसि, त्वमप्येकोऽपि शात्रवाणां शतैरपि न जीयसे, किं पुनः कृपाचार्यकृतवर्मादिसंयुतस्योच्यते ? ।

इत्यादिवचनैर्द्रोणपुत्रमाभाष्य पाण्डववधाय रात्रौ प्राहिणोत्। ते त्रयोऽपि कतिचित्सुभटशतैरावृता अह्नाय पाण्डवेयानां स्कन्धावारमुपागमन्। रात्रौ सेनामध्ये समागत्यैवं तर्जिताः पाण्डवीयाः सुभटाः— रे कौन्तेयचमूसैन्याः ! सत्वरमायुधं कुरुत, अधुना भवतामुपरि रुष्टोऽश्वत्थामा यम इव, यूयं क्व यास्यथ ? । एतद्वचनं श्रुत्वा पाण्डुजन्मनां शिबिरं सर्वमुन्निद्रमुच्छलत्तुमुलारवं क्षुभ्यति स्म। ततः पाण्डवसैन्यात् कोदण्डमतिमौर्वीकं कुर्वाणौ धृष्टद्युम्नशिखण्डिनौ महाभुजौ धावतः स्म। ततस्ताभ्यां दुष्टग्रहाभ्यामिव कृपादीनां बाणवृष्टेरवग्रहः क्रियते स्म। ततोऽश्वत्थामादिभिर्वीरैर्दुर्योधनप्रेरितैरविच्छिन्नबाणश्रेण्या तयोर्व्यग्रं चित्तं विधायाऽर्धचन्द्रबाणेन द्वयोर्मूर्धानावच्छिद्येताम्। तौ हत्वा द्रोणभीष्मयोः कामं वैरनिर्यातनाऽकारि। एवं तयोर्निहतयो रागद्वेषयोरिव ततस्तत्सैन्यं कर्मेव सर्वमनेशत्। अथ पाण्डवपुत्राः पञ्चापि पाञ्चालीकुक्षिकासारपुण्डरीकास्तौ धृष्टद्युम्नशिखण्डिनौ हतौ ज्ञात्वा कामस्य बाणा इव दुर्जयाः पञ्चाप्यश्वत्थामानं हन्तुमधावन्। ततोऽश्वत्थामादयः पाण्डवेयभ्रान्त्या पाण्डवपुत्रैः सार्धं क्रोधारुणा भृशं युयुधिरे। ततस्तयोरितरेतरं प्राणप्रयाणप्रवणो रणः संजज्ञे। पाण्डव-पुत्राणा वध

तस्यां रात्रौ तयोर्भीषणातिभीषणे रणे जायमाने पाण्डवपुत्रैस्तेऽश्वत्थामादयः कौरववीरा गाढप्रहारीकृताः न्यक्क्रियन्ते स्म। अथ तर्जितास्तेऽश्वत्थामादयो वीरा द्रौपदीतनयान् सर्वाभिसारेण प्रहर्तुमुपचक्रमिरे। एवं तेषां संग्रामे जायमाने द्रोणपुत्रो बाणासारैर्मन्त्राभिषिक्तप्रहरणैश्च हत्वा पाञ्चालीकुक्षिजानां पञ्चानामपि पञ्चत्वं प्रापयत्। पाण्डवेयधिया तच्छिरांसि छित्त्वाऽश्वत्थामादिभिः प्रीतैः कौरवान्तिकं निन्यिरे। तदा

श्वासमात्रावशेषो दुर्योधनो वेदनातिशयाद् मूर्च्छाकुलितेक्षणस्तत्र तैर्ददृशे । ततस्तेऽश्वत्थामादयः श्वासमात्रावशेषस्य दुर्योधनस्य सुखोत्पादनाय पाञ्चालीकुक्षिजानां शिरांसि सानन्दास्तस्य पुरो मुञ्चन्ति स्म ।

पुरः शिरांसि मुक्त्वा एवमूचुः—हे दुर्योधन राजेन्द्र ! उन्मीलितलोचनो भूत्वा पाण्डवानां मौलीनालोक्य निर्वृतो भव । तत् श्रुत्वा मनाग् लोचने उद्घाट्य तान् मौलीनालोक्य विलक्षमुखो दीर्घं निःश्वस्य सहसा भुवि भूयोऽपि तथैव निपपात । भो मूर्खाः ! भवद्भिरज्ञानवशतो विरूपमाचरितम्, यत् खलु युष्माभिरेते पाण्डवपुत्राः स्तनन्धया जघ्निरे । अत्र कोऽयं युष्मत्पराक्रमः ? । ये दुष्टाः सन्ति ते पाण्डवा अखण्डा एव तिष्ठन्ति । ईदृशं मे भाग्यं नास्ति, यन्मदीयैर्लोचनैरमून् हतान् पश्येयम् ।

इति मन्दं-मन्दं वदन्नेवाऽतुच्छमूर्च्छाभिरातुरः क्रूराध्यवसायो दुर्योधनो मृत्वा सप्तमनरके जगाम । मृतं कौरवेन्द्रं ज्ञात्वाऽश्वत्थामादयो महावीराः किंकर्तव्यतामूढा लज्जिताश्च भीताश्च कौरवपुङ्गवं तथासंस्थं परित्यज्य विषण्णमनसः क्वापि पृथक्-पृथग् जग्मुः । एतद् दुर्योधनमरणवृत्तान्तं समासाद्य सदारस्य धृतराष्ट्रस्यान्तिके समागत्य संजयः कथयामास । तं वृत्तान्तं पितरौ कर्णक्रोडे पविपातोपमं दुःखदायकं श्रुत्वा धृतराष्ट्रगान्धार्यौ सहसैव मुमूर्च्छतुः । ततस्तौ मूर्च्छामीलितलोचनौ कथञ्चित् शीतैर्निशामरुद्भिश्चेतनां समासाद्य बाष्पार्द्रलोचनावेवं विलापं वितेनाते ।

यथा-"हा ! वत्स ! धीरधौरेय ! हा ! मानैकनिकेतन ! । हा ! गुणोर्वीरुहाराम ! हा ! यशःक्षीरनीरधे ! ॥१॥
हा ! कौरवकुलोत्तंस ! हा गुरुष्वेकवत्सल ! । हा ! निःसामान्यसौजन्य ! हा ! दुराक्रमविक्रम ! ॥२॥
हा ! कृपाणपयःपूरप्लाविताराातिमण्डल ! । हा ! नताखिलभूपालमौलिमालार्चितक्रम !" ॥ ३ ॥

हा ! दुर्योधन ! त्वमावां विहाय क्व गतवानसि ? । हे दुर्योधन ! ते बलं क्व गतं, यस्य पुरतो वासवोऽपि संग्रामे स्थातुं न समर्थः, तस्य भवतः केयं दशाऽभवत् ? । अहो ! दैवेन किं कृतम् ? । आवयोरन्धयोरेषा कराद् यष्टिराकृष्टा ? । हे वत्स ! भवन्तं विनाऽऽवयोरद्याऽखिलं जगदप्येतत् शून्यं बभूव । अहो ! विधिना भवत्पुरतः प्रथममावां कथं न संगृहीतौ ?, परं एवं ज्ञायते विधेरपि गृहेऽन्धयोः कृपा नास्ति । एवं वारं-वारं विलापं वितन्वानौ दुर्योधनमातापितरौ मूर्च्छामवापतुः । पुनर्लब्धचैतन्यौ क्ष्मापीठे लुलुठतुः । तदानीमिदं जगत् तयोर्हालाहलमयं, वह्निमयं, मृत्युमयं, गान्धारीधृतराष्ट्रयोः सुतशोकेऽभूत् ।

इतश्च पाण्डवाः क्रुद्धं बलभद्रं प्रसन्नं विधाय स्वां सेनां प्रति संचेलुः, तावदर्धपथे संमुखमागत्य सात्यकिः पाञ्चालादिधृष्टद्युम्नशिखण्डिवधोदन्तमामूलादकथयत् । तद्वृत्तान्तं समाकर्ण्य वज्रपातोपमं वाक्यं श्रुत्वा शोचयतः पाण्डवान् मुरारातिरवोचत्—भोः पाण्डवाः ! ज्ञातसंसारतत्त्वा यदि यूयमपि शोचास्पदं भविष्यथ, ततोऽन्येषां किमुच्यते ? तथा युष्मासु सत्सु पुत्रा नातिदुर्लभाः संभवेयुः । तद्विमुच्य शुचं सेनां प्रति गच्छामो यथा भ्रातृपुत्रवधार्दितां द्रौपदीं सान्त्वयामः । इति नारायणगिरा पाण्डवाः शोकं शिथिलीकृत्य निजं शिविरमागमन् । तत्र स्थाने-स्थाने महाक्रन्दं शृण्वानाः पाण्डवा द्रौपद्यन्तिके स्वसदने समाजग्मुः । द्रौपदी रुदती भ्रातृपुत्रान् स्मृत्वैवमुवाच—

"हा ! वत्साः हा ! महावीराः ! हा ! जनन्येकचेतसः ! ।
क्व नाम यूयं याताःस्थ मन्दभाग्यां विमुच्य माम् ?" ॥ १ ॥

तां तथावस्थां रुदतीं द्रुपदतनयां दृष्ट्वा हरिरुवाच—हे कल्याणि ! वीरपत्नीनां न खल्वेष विधिः

द्रौपद्याः रुदनम्

संग्रामस्त्वेवंविध एव स्यात्, तव तौ बान्धवौ धन्यौ, ते पुत्रा अपि धन्याः, यैः संग्रामे सर्वानरातीन् हत्वा पितुर्जयो दत्तः, येनात्मीया कीर्तिर्लोकालोकविलोकिनी चक्रे, पाण्डवे विद्यमाने तव बहवः पुत्रा भविष्यन्त्येव।

यतः—"बान्धवा अपि हन्यन्तां म्रियन्तां तनया अपि।
नन्दन्ति दयितानां तु कुशलेन पतिव्रताः" ॥ १ ॥

हे वीरतनये ! हे वीरभगिनि ! हे वीरवधु ! हे वीरमातः ! त्वं धीरा भव, मा रोदीः, यतो लोकैरुच्यते—

"जिते च लभ्यते लक्ष्मीर्मृते चापि सुराङ्गना।
क्षणविध्वंसिनि काये का चिन्ता मरणे रणे" ॥ १ ॥

हरिणेत्याद्युक्त्वा तोषिता द्रुपदात्मजा सापि शनैः शनैः शोकश्यामिकां मुञ्चति स्म। गतमष्टादशं दिनम्। अष्टादशभिर्दिनैः समाप्तं महाभारतम्। महाभारतस्यार्थः प्रोच्यते—

यथा—"भाति सर्वेषु शास्त्रेषु रतिः सर्वेषु जन्तुषु।
तरणं सर्वभूतानां तस्माद् भारतमुच्यते" ॥ १ ॥

समाप्त महा-भारत-युद्धम्

अथ प्रभातसमये पाण्डवसहितो नारायणः सपत्नीकं धृतराष्ट्रमपशोकयितुं समाययौ। तत्रागताः पाण्डवाः। तौ दुर्योधनमातापितरौ शोकमग्नौ दृष्ट्वा महाक्रन्दपराः पाण्डवा नमस्यन्ति स्म। भक्तितत्परेष्वपि पाण्डवेषु नमस्कारपरेष्वपि तेषु तयोः शोकः पीनो बभूव। तदा तत्पादतले लुलितमौलिषु पाण्डवेषु तयोर्गदाग्रज

एव जगाद—हे धृतराष्ट्रराजन् ! हे गान्धारि ! अमी पाण्डुनन्दना युवयोः सूनवः किं न भवन्ति ?, एतेऽपि पाण्डवा युवयोः पुत्राः ।

दुर्योधनस्य संग्रामे यदमङ्गलं जातं तत्र मन्ये—अयं दुरात्मा विधिरेव बलवान्, येन विधिना परस्परविरोधं विधाय एवं विहितम् । अत्र कस्याऽपि दोषो नास्ति । तदानीं मया सन्धिमिच्छता दुर्योधनान्तिके पञ्च ग्रामा मार्गिताः, परं दुर्योधनेन ग्राम एकोऽपि न दत्तः, तत्रापि विधेर्बलवत्ता । तथा, तेन तव पुत्रेण युष्मादृशामपि गीर्नाङ्गीकृता । एतादृश्येव भवितव्यता । युधि कौरवे दुयोधने समागते यत् पाण्डवा धरित्रीं त्यक्त्वा यान्ति, साऽपि तवैव लज्जा भवति ।

"तत् प्रसन्नं मनः कृत्वा, विस्मृत्य च रुषं मनाक् ।
उभावपि युवां दत्तं, पृष्ठेऽमीषां करं मुदा" ॥ १ ॥

इत्यादिदामोदर्या गिरा मन्दीकृतामर्षौ धृतराष्ट्रगान्धार्यौ पाण्डवेयानां पृष्ठे कृच्छ्रेण करं ददतुः । भोः पुत्राः ! एष भवतामपराधो नास्ति, अस्मत्तनूरुहामप्यपराधो नास्ति, अयं दैवस्यैवापराधो यद् दैवेनैवंविधां दुर्बुद्धिं दत्त्वा सर्वे एते गाङ्गेयदुर्योधनाद्या महावीरा विनाशिताः । एवमुक्त्वा तौ दुर्योधनमातापितरौ बहुदिनसमागतान् पाण्डवानालिङ्गतः स्म । अथ तान् पाण्डवान् गान्धारी व्याजहार—हे वत्साः ! यदि यूयं वत्सलाः, तर्हीदानीं मां सग्रामसीमानं द्रुतं नयत, यथाऽहमात्मजन्मनो विप्रोषितप्राणस्याऽन्त्यमाननदर्शनं करोमि ।

ततस्ते पाण्डवा धृतराष्ट्रं कथचन तत्रैव समवस्थाप्य गान्धारीमुदश्रुनयनां भक्त्या स्वयं दत्तहस्तावलम्बनां विधाय समराङ्गभूमिकां निन्युः । देवनारीभिः सार्धं राजन्यानां राज्ञीभिः सार्धं च दुर्योधनप्रिया भानुमती राज्ञी गान्धार्या अन्वचलत् । ताः स्त्रियो क्रमेण मार्गे गच्छन्त्यो मृतानेकवीरनिकरैरलङ्कृतां भुवं समालोक्य हृदये

मृशं दुद्रुवुः। ततस्ताः स्त्रियः शोकविवलवाः मृतान् स्वान् स्वान् भर्तॄन् समालोक्याऽन्तिममालिङ्गन्ति स्म।

गान्धारी पुत्रं दुर्योधनं गदाघातेन चूर्णीकृतजङ्घायुग्मं समालोक्य पुत्र पुत्रेति कृत्वा रोदिति स्म। भानुमती पतिं तथास्थं समालोक्य कण्ठे लगित्वा रोदिति स्म। काचिद् मोहावेशपरवशा कान्ता कान्तं समालिङ्गति स्म। काचिद् मुग्धाऽन्यत् पतित शिरोऽन्यत्पतितं कबन्धं प्राणप्रियस्यैकीकृत्य प्रेम्णा चालिङ्गति स्म। कस्याश्चिद् कान्ताया अन्यत् कबन्धमन्यत् शिरो योजयन्त्या कयाचित्कान्तया सह परस्परं विवादोऽभूत्।

काचिन्नायिका लब्धं भर्तृमूर्धानं करे कृत्वा भर्तृकायगवेषिणी शोकावेशाद् मुक्तकेशा इतस्ततो भ्राम्यन्ती कालिकेव शुशुभे। कापि सर्वाङ्गसंसक्तैः रुधिरैर्व्यक्तप्राणप्रियभ्रमादन्यं पुरुषं पुनः पुनश्चालिलिङ्ग। कापि भर्तृमुखं रुधिरैर्लिप्त स्वाञ्चलेनोन्मृज्य चुचुम्ब। के अपि सपत्न्यौ भर्तुरङ्गेषु शुश्रूषां कुर्वाणे कलहायेते स्म। कापि मृतं पतिं चुम्बति स्म। कापि समालिङ्गति स्म। एवं तेषु वीरेषु मृतेषु तेषां पत्न्यो मोहविलसितानि कुर्वत्यः शुशुभिरे। अथ गान्धारी दुर्योधनं सुतं प्रेम्णाऽऽलिङ्गनं दत्त्वा अङ्के समारोप्य तारस्वरेणैवं पूच्चक्रे। , गान्धार्याः , पुत्कार ,

यथा—"हा ! वत्स ! हा ! महोत्साह ! हा ! शौण्डीरशिरोमणे !।
हा ! वीररसकासार ! हा ! कुलाम्बरभास्कर !" ॥ १ ॥

भोः पुत्रक ! दुर्योधन ! मयि प्रेमपरायणोऽपि भूत्वा साम्प्रतं प्रेमपराङ्मुख एव किं लक्ष्यसे, यद् मया सार्धं किमपि न भाषसे !। किं रुष्टोऽसि, यद् मुनीन्द्रवद् मौनमाधाय स्थितोऽसि ?। अथवा, तव किं निद्रा समायाता ?। भोः पुत्रक ! त्वं मया कदाप्येवंविधां निद्रां प्राप्तो न दृष्टः। साम्प्रतं किमेवंविधां दीर्घनिद्रां निषेवसे ? सावधानो भूत्वा मम किमपि प्रत्युत्तरं देहि, यथाऽहं स्वस्थचित्ता स्वगृहे यामि। हे वत्स ! त्वं किं

मयि रुष्टोऽसि, यत्प्रत्युत्तरं न ददासि ?। हे वत्स ! मातरि वत्सलस्य तव कोपः कः, येनोच्चैः क्रन्दन्त्यामपि नोत्तरं मयि दीयते ?। एवं मातरि स्वयं विलपन्त्यां भानुमत्या दुर्योधनप्रियया स्वैरं प्रियांह्री शिरसि न्यस्य वारं-वारं रुदत्यैवमभाष्यत ।

यथा—"हा नाथ ! हा रिपून्माथ ! हा ! मानैकनिकेतन ! ।
हा ! सोभाग्याऽमृताम्भोधे ! हा ! रूपग्लपितस्मर !॥ १ ॥
हा ! कल्पपादपौदार्य ! हा ! सुधामयवाङ्मय ! ।
हा ! विश्वकमलादित्य ! हा ! नेत्रतुहिनद्युते !" ॥ २ ॥

हे नाथ ! त्वं रुष्ट इव मयि कथं न भाषसे ?। अथवा त्वया मदीयं किञ्चिदलीकं श्रुतं, दृष्टं वा भवति, तदपि प्रकटीकुरुष्व, यथाऽहं दिव्यादिना तदपि प्रत्याययामि। हे नाथ ! मां विहाय त्वं कदापि लीलावने पूर्वं नाऽगाः, तर्हि सांप्रतं मां विनाऽद्य सुरलोकाय कथं प्रस्थितोऽसि ?। हे प्राणेश ! एवमनाथां दीनां तवाऽनुरक्तां भक्तां मां मुक्त्वा गन्तुं तव न युक्तम्। हे प्राणप्रिय ! त्वद्वियुक्ताया ममैष सूर्यस्तमोमयोऽभूत्। तथा हे स्वामिन् ! एते प्राभातिकाऽनिलास्तव विरहे दवप्राया जाताः। हे नाथ ! त्वयि देवलोकं गते तवाऽनुजीविनः कं पुरुषं श्रयिष्यन्ति ?, जगतीरुहे ध्वस्ते तदाश्रयिणः पक्षिण इव ।

अथ गान्धारीधृतराष्ट्रतनूद्भवा दुःशल्या दुर्योधनस्वसा रुदती एवमवचत्—हे अभिरामगुणमणिरोहणाचल ! हे वाचा अविचल ! हे वीर ! वीरशिरोमणे ! त्वयि दिवं गते मम पितृश्वशुरजे कुले अस्तमिते, दर्शयामिन्यां रविचन्द्रमसोर्मण्डले इव। हे वीर ! मन्दमेधसा वेधसा त्वामद्य हरता तव प्रियायाः शृङ्गारहास्यविलासरतयश्च ह्रियन्ते स्म। इति दुर्योधनभगिनीदुःशल्याविलापाः। एवमन्या अपि निजं निजं

भानुमती-विलापा

प्राणनाथं प्राप्य विलापतुमुला मृगदृश्य उच्चैश्चक्रन्दुः। ततस्तासां नारीणां युधिष्ठिरः संसारभङ्गुरीभावदर्शनैर्धर्मवचनैस्तुतोष।

यतः—"तित्थयरा गणहारी सुरवइणो चक्किकेसवा रामा।
अवहरिआ हयविहिणा अवरजीवाण का वत्ता?" ॥ १ ॥
वज्रकायशरीराणामर्हतां यद्यनित्यता। कदलीगर्भसारेषु का कथा शेषजन्तुषु?" ॥ २ ॥

इत्यादिधर्मोपदेशैस्तासां वीरपत्नीनां मनांसि धर्मात्मजो निर्वापयामास।

"अथादेशादजातारेर्भूभुजां प्लवगध्वजः। आग्नेयास्त्रेण सर्वेषामग्निसंस्कारमादधे ॥ १ ॥
तेषां च धार्तराष्ट्राणामन्येषां च पृथासुताः। सरस्वतीनदीतीरे प्रेतकार्याणि चक्रिरे ॥ २ ॥
स्कन्धावारं ततोऽभ्येत्य भ्रातृणामौर्ध्वदेहिकम्। सहैव धृतराष्ट्रेण पाण्डवेया वितेनिरे" ॥ ३ ॥

अथ पाण्डवास्ताभिर्बन्धुक्रियाभिरन्तःपुरीणां शोकं दूरे क्षिप्त्वाऽन्तःपुरीस्तोषयामासुः। ततः सात्यकिं सहायीकृत्य धृतराष्ट्रं सर्वाभिः पत्नीभिः सार्धं हस्तिनापुरे युधिष्ठिरः प्रेषयामास; तथा चोक्तम्—भोः सात्यके! पाण्डोः पुरो गत्वा प्रणामं विधाय कुशलं पृष्ट्वा जयोदन्तं शंसयेः, ततः कथयेः—यावज्जरासन्धवधं विधाय हरेर्निदेशादहं नाभ्युपैमि, तावत्त्वयैषात्मीया प्रजा यत्नतो रक्षणीया। इत्थं क्रोधावेशपरवशाः पाण्डुनन्दना दुर्योधनादिबन्धूनां द्रोणगुरुप्रभृतिमहावीराणां गाङ्गेयादिमहापुरुषाणां जयद्रथादिमहाराज्ञां वधं विधाय पश्चात्तापपरायणाः कंसारिणा सार्धं क्रीडापरा विहरन्ति स्म।

इति श्रीमत्तपागच्छाधिराजभट्टारकश्री ५ श्री हीरविजयसूरिपट्टालङ्कारसंप्रतिविजयमानभट्टारकश्रीविजयसेनसूरिराज्ये पण्डितदेवविजयगणिविरचिते गद्यबन्धबन्धुरे श्रीपाण्डवचरित्रे पाण्डवकौरवयुद्धवर्णनो नाम त्रयोदश. सर्गः समाप्तः।

हस्तिनापुरागमनम्

अर्हम्

अथ चतुर्दशः सर्गः



"दुर्योधनवधक्रुद्ध-मगधेशनिदेशतः ।
दूतः समेत्य वाक्पूतः कंसारातिमथाभ्यधात्" ॥ १ ॥

जरासन्धस्य दूतागमनम्

भोः कृष्ण ! त्व कौरवान् समाप्य मदोन्मत्तो मा भव । अद्यापि त्रिखण्डमण्डलेश्वरो विजयी जरासन्धो वर्तते । अयमत्युत्सुको जरासन्धः कंसं जामातरं, सुहृदं च सुयोधनं द्वावप्येतौ तवोदरात् स्वकरेणाक्रष्टुं समीहते । जरासन्धः किन्तु त्वामेवं व्याहरति—इयं कुरुक्षेत्रभूरष्टादशाक्षौहिणीरुधिरै रक्ता शोणितोर्मिपिच्छिला वर्तते । अत एनां कुरुक्षेत्रमहीं त्यक्त्वा सनपल्ल्याह्वये ग्रामे आवयोः संग्रामो भविष्यति । तत्राप्यावयो रणसाक्षिणीयमेव सरस्वत्यऽस्ति । इत्युक्त्वा दूते विरते सावज्ञं केशवोऽब्रवीत्—अस्माकं बुभुक्षितानामेतदेवामन्त्रणं यत्तव स्वामिनोक्तम्, कौतुकाद् मया कंसध्वंसो विहितः, तथापि मम बाहोरद्यापि संपूर्णा तुष्टिर्न जाता, तव स्वामिनो जरासन्धस्य वधं विधायाऽथ तुष्टिर्भविष्यति । भो दूत ! त्वं याहि, तव स्वामिनोऽग्रे निवेदयेः—तत्रैते वयमायाता एव ज्ञेयाः, सोऽप्येतु सत्वरम्, यथाऽऽवयोः संगमः सनपल्ल्यामेव भवति ।

एवमुक्त्वा विसृष्टो दूतः समागतो नत्वा जरासन्धं धराधीशमेवं व्यजिज्ञपत्—हे देव ! मया सर्वोऽपि तवादेशः केशवाय निवेदितः । पुनर्जरासन्धो राड् दूतं पप्रच्छ—ब्रूहि, गोपः स किंरूपः, किंवयाः, किंनयः,

किंबलान्वितः ? । दूतेनोक्तम्—राजेन्द्र ! रूपेण मकरध्वजतुल्यः, वयसा मध्यवयाः, नयेन सकलश्रेष्ठः, बलेन वज्रितुल्यपराक्रमः। अथ बलवर्णनं पुनः करोति, यथा—यस्य विष्णोः कनिष्ठबान्धवः समुद्रविजयात्मजोऽरिष्टनेमिनामा एकोऽप्यनेकवैरिवर्गनिर्दलनसमर्थो वर्तते, तथा तस्य विक्रमं किं ब्रवीमि ?, यः स्वकीये दोर्दण्डशिखरे धात्रीं छत्रीकर्तुं समर्थो वर्तते। तस्य विष्णोर्वृद्धो बन्धुर्बलभद्रनामाऽक्षौहिणीशतैरप्यजय्यो यो नष्टानां वैरिणां रणे शरणं वर्तते। हरिः, नेमिः, बलभद्रश्चेति त्रयोऽप्यमी अतिरथिनो वर्तन्ते। तदीयतनुजन्मानः कोटिशो महारथिनो वर्तन्ते। तथा, कृतज्ञाः पञ्चापि पाण्डुतनया उद्दामरणतेजसः स्वप्राणैरपि हरेः प्रियं कर्तुं समीहन्ते।

यथा—"तारकैरिव नः सैन्यैः सूर्याचन्द्रमसाविव ।
तेजस्विनौ सहिष्येते कथं भीमाऽर्जुनौ युधि ?" ॥ १ ॥

एवं हरिसैन्ये भ्रातृपुत्रपरिवृते हराविवाऽच्छेद्यभेद्ये दुर्जये कथमस्माकं जयो भविष्यति ? इति मम मानसे महती चिन्ता वर्तते। आस्माकीनध्वजिन्यां त्वमेकोऽतिरथी वर्तसे, येऽप्यन्ये राजानः सैन्यमेलापके मिलिताः सन्ति, ते तु स्वलोभलम्पटा लाभं दृष्ट्वा तत्रैव यास्यन्ति। अतस्तव सैन्येऽहं किञ्चिदपि बलं नावलोकयामि। पुनः सोमकेन दूतेनोक्तम्—हे राजन् ! एष मुरारिर्महानीतिज्ञो यो भवज्जामातरं कंसं हत्वा, त्वां बलीयांसं ज्ञात्वा, आत्मानमबलं च विज्ञाय पलायाञ्चक्रे। ततः पश्चिमपारावारकण्ठे गत्वा सुस्थितं लवणाधिपं समाराध्य इन्द्राज्ञया धनदनिर्मितां स्वर्णप्रासादमण्डितां जिनभवनभूषितां स्वर्णप्राकारोपगूढां तां द्वारकां पुरीं वासायाऽकरोत्। सोऽपीदानीं कोटीशः स्वान् सुतान् बन्धून् समादाय दायादवद् भवदागमनं श्रुत्वा संयुगे संमुखीनः सांप्रतं समागमत्।

दूतस्य वचनम्

स्वामिन् ! ततोऽस्मात् संयुगाद् विमृश्याऽऽशु विरम्यताम् । इति सोमकस्य दूतस्य वाचं निशम्य क्रोधारुणविलोचनो मगधाधिप एवमभ्यधात्—आः सोमक ! त्वमप्येवमविचार्य भाषसे, क्वाहं भरतार्धपतिः ? क्व च गोपः कूपभेकः ?, त्वं मम पुरतस्तस्य गुणान् वक्तुं किं नो लज्जसे ? । भोः सोमक ! तर्हि अहं जरासन्धो यदि सर्वेषां राज्ञां पश्यतामेनं हरिं मूलादुन्मूलयित्वैकच्छत्रां महीं करोमि । इत्याक्षेपं विधाय प्रयाणाय सर्वेषां राज्ञां विशामीश आदिदेश । तत् सनपल्लीग्रामाय जरासन्धसैन्यं चलितं दृष्ट्वा हरिचारनराः शीघ्रं समागत्य कंसारातये सर्वं वृत्तान्तं विज्ञपयामासुः, हे हरे ! हे राजेन्द्र ! तवारातिर्जरासन्धः सनपल्लीसमीपस्थे सरस्वतीतीरे सैन्यसमन्वितः समागत्य तस्थिवान् ।

अतो भवानपि ससैन्यस्तत्र संमुखो गत्वा कार्मुकं गृह्णातु, यथाऽसौ तव बाणैः प्राणप्रयाणानुगो जामातुरन्तिकं यातु । तद्वचनं गूढपुरुषमुखात् श्रुत्वा कुन्दोज्ज्वलमुखो मुकुन्दश्चलनोपक्रमं व्यधात् । पाण्डवा अपि जरासन्धेन सार्धमस्माभिर्योद्धव्यमिति कृतोत्साहा हरिणा सार्धं चेलुः, कौतुकोत्तालमानसा यादवकुमारा अपि संग्रामशूराः स्वबलगर्विताः पुरतश्च चेलुः । एवं समायान्ती जनार्दनपताकिनी सनपल्ली-वनान्तेषु संग्राममहोत्सवसमुत्सुका समाजगाम । मगधेशेन हरिं समागतं ज्ञात्वा चक्रव्यूहरचनया निजं सैन्यं निवेशितं, केशवोऽपि गरुडव्यूह गरुडाकारेण निजसैन्यं स्थापयामास ।

पुरा वसुदेवेन वैताढ्ये विचरतोपकारेण मित्रत्वं प्रापिता ये विद्याधरराजानस्ते तदानीं साहाय्यकृते हरिसैन्ये समाजग्मुः । ततस्तैर्विद्याधरैः समुद्रविजयाग्रे प्रोक्तम्—भो राजन् ! जरासन्धस्यापि बहवो विद्याधराः वैताढ्यात् समेष्यन्ति । तेष्वागतेषु जरासन्धो बलवान् भविष्यति । अतस्तद्रोधाय अत्युत्कटसुभटकोटिपरिवृतो वसुदेवस्तत्र प्रेष्यताम् । एतद्वचनं श्रुत्वा संग्रामाऽवसरं विज्ञाय समुद्रविजयो राट् प्रद्युम्नशाम्बाभ्यां सह वसुदेव वैताढ्ये विद्याधरसैन्यजयाय प्राहिणोत् । विद्याधरजयाय प्रस्थित वसुदेवं ज्ञात्वा श्रीनेमिनाथेनाऽरातीनामायु-

धौघविनाशिनी देहरक्षाकारिणी यौषधी पूर्वं जन्ममहे देवेन्द्रेण बाहौ बद्धा, सा वसुदेवरक्षाकृते औषधी वसुदेवबाहौ स्वामिना स्वहस्तेन बद्धा। ततश्चलितो वसुदेवः। अथ सौधर्मेन्द्रेण स्वामिकृते एको वज्रसन्नाहो दिव्यशस्त्रभृतश्च रथो मातलिसारथिना सार्धं प्रेषितः।

तेनागत्य स्वामिनो विज्ञप्तम्—हे स्वामिन्! एष वज्रसन्नाहः, एष शस्त्रभृतो रथस्तवाऽर्थे मघोना प्रेषितः। परिधेहि संनाहं; शस्त्रभृतं दिव्यं रथमारोहस्व। तवाहं सारथी भवत्सेवक आदेशकारकः, यदादिशसि तत्करोमि। स्वाम्यपि तत् श्रुत्वा तं वज्रसंनाहं परिधाय तं रथं समारुह्य सज्जो जातः। अथोभयोः सैन्ययोर्भुजास्फोटं वितन्वानाः सुभटाश्चतुरङ्गिण्या सेनया सहिताः स्वस्वस्वामिजयकाङ्क्षिणः सकलसामन्तपरिवृताः राजानः परस्परं युध्यन्ते स्म। ततस्ते द्वे अपि सैन्ये पीवरहयहेषाभिरुत्साहिते गजगर्जितैर्निस्वाननिनादैश्च पूरितदिगन्तरे रणतूर्यशब्देन द्विगुणायातक्रोधे देवदानवसैन्ये इव संग्रामं चक्रतुः। तदानीं मुकुन्देन पाञ्चजन्यः शङ्खो दध्मे, अर्जुनेनापि देवदत्तः शङ्खो दध्मे।

ततस्तयोरुभयोरपि व्यूहयोः प्रसृमरैः शरैर्विश्वमेकच्छत्रमजायत। मगधेश्वराग्रसैनिकर्बलीयांसोऽपि हरिसैनिका अभज्यन्त, मत्तगजैः प्रतिगजा इव। ते पलायमानाः केशवशरणं प्रपेदिरे। केशवोऽपि त्रिपताकेन पाणिना तानाश्वासयामास। तदानीं बलभद्रः केशवं जगाद—भो बान्धव! एष चक्रव्यूह इतरैः सुभटसमूहैर्बाणासारैरभेद्यो दक्षिणतो महानेमिः, वामतो धनञ्जयः, मुखेऽनाधृष्णिः, तेषामनुपदमन्ये सैनिकाः प्रविशन्ति, एवं कृते चक्रव्यूहस्य भेदो भविष्यति, अन्यथाऽन्यैर्बहुभिरप्येष चक्रव्यूहः प्रभूतेनापि कालेन दुर्भेद्यः। कृष्णेन ते त्रयोऽपि सबलवाहनास्तथैव नियुक्ताः।

तदानीं महानेमिना सर्वं जरासन्धराजकं निर्जित्य चक्रव्यूहो द्विधा चक्रे, जरासन्धमनोरथैः सार्धम्। एवं

परस्पर-
युद्धारम्भ

ते त्रयोऽपि चक्रव्यूहे प्रविष्टास्तज्जरासन्धसैन्यं विलोडयामासुः, गजाः सर इव। ततो नेमिजिनेन सार्धं रुक्मी योद्धुमढौकत, गजेन्द्रेणेव कुर्कुरः। तदानीं महानेमिसमीपवर्तिना श्रीनेमिना धनुष्टणत्कारश्चक्रे, तेन नादेन भीतो रुक्मी पलायनं चक्रे। एवमपरेऽपि भूमिभुजो नेमिधनुष्टणत्कारकातराः पलायामासुः।

अथ दयानिधिर्देवः श्रीनेमिः करुणापरः परसैनिकानां पलायनकृते स्वसैन्यानां बलवृद्धिकृते दिव्यं शङ्खमापूरयामास, तेन शङ्खनिनादेन कर्णविवरप्रविष्टेन द्विषतां पाणितलाद् निखिलान्यायुधानि भूमौ पेतुः। ते त्यक्तशौण्डीर्यव्यापाराः प्रभोः पुरः संमुखीनाः स्वामिरूपं पश्यन्तश्चित्रलिखिता इव लोकैर्ददृशिरे। चक्रव्यूहमुखे तदानीमनाधृष्णिरधाविष्ट हिरण्यनाभादिभूभुजां हन्तुं, करिणां केसरीव। अनाधृष्णिना हता अनेके जरासन्धवीरास्तत्पुरतः पलायामासुः। अनाधृष्णेरपि तदानीं क्रोधमिषाद् भृशं स्वेदः प्रादुर्बभूव। तेन क्रोधाद् विलोडिता जरासन्धवाहिनी पश्चाद्गामिनी बभूव। तदानीमुत्तरतोऽर्जुनो मण्डलीकृतकोदण्डो यादवसैन्यसमावृतश्चक्रव्यूहं विवेश। तेन चक्रव्यूहे प्रविशता कौरवाऽऽहवः क्रीडामात्रमगण्यत, पुनर्जरासन्धरणः किञ्चित् तस्य बाह्वोरिष्टमपूरिष्ट।

यथा—"सन्धानाकृष्टिविच्छेदविषये तस्य लाघवम्।
दृष्ट्वा सुमनसो व्योम्नि सत्यं सुमनसोऽभवन्" ॥ १ ॥

एवमेकोऽप्यनेकैरजेयो धनञ्जयस्तदानीमभवत्, किं पुनर्बन्धुभिर्युतः?। तावद्भीमपराक्रमो भीमः कराभ्यां गदामुल्लालयन् पविना पर्वतानिव प्रत्यर्थिपार्थिवान् गदया दलयामास। एवं नकुलसहदेवावपि युधिष्ठिराज्ञया तस्यां जरासन्धसेनायां प्रसृतौ तां सेनां प्राणापहारैर्बाणैः कांश्चिद् वीरांस्त्रासयामासतुः; कांश्चिद् कीनाशदासतां प्रापयामासतुः। केचन वीराः प्राणसंशयं मत्वा हिरण्यनाभं सेनान्यं शरणं समुपाययुः।

अथ हिरण्यनाभो जरासन्धसेनानी समराम्बुधौ यादवयादांसि ममर्द। हिरण्यनाभे समरावनौ प्रसृते यादवैस्तस्य पराक्रमो न सेहे, सिंहस्येव मतङ्गजैः। हिरण्यनाभतो भीता यादवाः केचन नेमिमहानेमिशरणं ययुः। केचनाऽनाधृष्णिशरणं चक्रुः। एवं हिरण्यनाभेन मथ्यमानां यादवसेनां समालोक्य भीमो भीमपराक्रम एवमभाषत।

यथा—"जरासन्धचमूनाथ ! किं मथ्नासि वृथा बलम् ? ।
मामेहि येन दोर्दण्डकण्डूमपनयामि ते" ॥ १ ॥

इत्याहूतो भीमेन हिरण्यनाभः सेनानी सङ्गरसागरं प्राविशत्। ततस्तयोः परस्परं शराशरि चिरं संग्रामः प्रावर्तत। निष्ठितायुधयोस्तयोस्ततः परं मुष्टामुष्टि मल्लयोरिव युद्धं बभूव। तस्मिन् युधि भीमेन च्छलं लब्ध्वा वज्रकर्कशमुष्टिना हतो हिरण्यनाभः प्राणांस्तत्याज। हरिरामाभ्यां यथा चाणूरमुष्टिकौ हतौ तथा भीमेन स हतः। मागधक्ष्मापतेर्हिरण्यनाभसेनापतौ पतिते तदनीककाननं यादवदवैस्तत्क्षणादेव दग्धम्। तदानीं लब्धजये भीमे सर्वेषां यादवानां दृष्टयः पेतुः। तदानीं रविणा चिन्तितम्—भीमपराक्रमः कश्चिदन्योऽस्ति ?। इति चिन्तयित्वा भानुरन्यं वीरं विलोकयितुमिव द्वीपान्तरं प्राप। सन्ध्यासमये राजानः स्वस्वस्वाम्यादेशं प्राप्य स्वं स्वं शिबिरं समाययुः। मगधेशकृष्णयोः संग्रामे गतं प्रथमं दिनम्। तस्यां रात्रौ हरिसैन्ये एकान्तमुदाऽऽसीत्, मगधेशसैन्ये एकान्तशोक आसीत्। अहो ! विधेर्विलसितम्।

यतः—"कुमुदवनमपश्रि श्रीमदम्भोजखण्डं त्यजति मुदमुलूकः प्रीतिमांश्चक्रवाकः।
उदयमहिमरश्मिर्याति शीतांशुरस्तं हतविधिलसितानां हि विचित्रो विपाकः" ॥ १ ॥

हरिसैन्यस्याद्भुत-पराक्रम

अनाधृष्णिना समाख्याते पाण्डवपौरुषे सर्वेऽपि यादवाः प्रीताः समालिङ्ग्य पाण्डवं प्रशशसुः । अथ हते हिरण्यनाभे प्रभ्रश्यद्धैर्यविभवो मगधाधिपो भृशं शुशोच, यतस्तादृशे सहाये गते को न शोचति ? । तस्मिन् समये तत्र समागतेन शिशुपालेन धैर्यं धारितो मगधाधिपः पुनस्तथैव संग्रामाय सज्जो बभूव । ततः शिशुपालमहीपालं सेनानीत्वेऽभ्यषिञ्चत् । स्वयमपि संनाहसंयुतः साम्परायिक शस्त्रभृत रथं समारूढो यादवसैन्यजयाय प्रभातसमये प्रतस्थे । तदानीं तस्य प्रस्थानसमये विरूपशकुनैर्वारितस्तदध्यवसायाद् न विरराम ।

यथा—"स्वपादयानस्खलनं दशानां भङ्गः क्वचिद् यानपलायनं च ।

द्वाराभिघातध्वजवस्त्रपाताः प्रस्थानविघ्नं कथयन्ति यातुः" ॥ १ ॥

विविधापशकुना

इत्याद्यपशकुनैर्वारितोऽपि यमगृहाभिमुखमिव संग्रामाभिमुखं चचाल । क्व रे कृष्णः क्व रे कृष्ण इत्यादि मुखे प्रोच्चरन् उद्धतो मगधाधिपो वेगात् सग्रामाय यादवसैन्ये समागात् । पुनश्चक्रव्यूह रचयन् पुनस्तथैवाऽनाधृष्णिः कृष्णसेनानी चक्रव्यूहे प्रविवेश । सोऽनाधृष्णिः केसरी कुञ्जरानिव तान् जरासन्धसैनिकान् सग्रामे रुरोध । तावदुत्तालः शिशुपालो मरणाभिलाषुक इव केशवान्तिके समागात् । केशवमुवाच—भोः कृष्ण ! यदि युद्धे निपुणोऽसि, तर्हि आयुध गृहीत्वा सावधानो भव ।

हसन्नुवाच गोविन्दः—हे शिशुपाल ! तव माद्रीमातुःपुरतो मयाऽभाणि, यदहं अपराधशतेनापि तव सुते क्रोधं न करोमि । इति तव मातृपुरतः पूर्वं मया प्रतिपन्नं, तदहं प्रतिज्ञां पूर्णां विधाय ततस्तव शिक्षां दास्ये । पितृष्वसुस्तनयत्वात् तवापराधशतं सहिष्ये । एवं कृष्णे वदत्येव निस्त्रपश्चेदिपोऽनुत्तरैः शरैरेव प्रत्युत्तरं विततार । नारायणस्तस्य बाणावलीं छित्त्वा ततो बाणेन धनुर्जीवां चिच्छेद । तदानीं चेदिराजः शीघ्रं द्वितीयं चापमारोपयत् । पुनरपि कृष्णाभिमुखं बाणान् मुमोच । पुनरपि कृष्णो बाणेन बाणांश्चिच्छेद ।

ततो राज्यश्रीनिकेतनं केतनमच्छिदत्। एकेन बाणेन सारथिम्, एकेन खड्गं, एकेन खेटकं, एवं कुतूहलेनानेकशो बोधितोऽप्यासन्नमरणो नाऽबुध्यत। तदानीमेकेन बाणेन चेदिराज्ञः शिशुपालस्य मुकुटसहितं सकुण्डलं च शिरश्चिच्छेद। तदानीमाकाशे एवंविधा गीरुच्छलिता—धन्य एष नारायणो येन पितृष्वसुर्गिरा भ्रातुरपराधशतं क्षमित्वा ततोऽर्धचन्द्रबाणेन शिशुपालशिरश्छिन्नम्। दमघोषजं शिशुपालं हत्वा यदुसैन्यसमावृतो नारायणो जरासन्धसैन्येन समं युयुधे।

तं प्रलयकालोपमं दृष्ट्वा मगधाधिपः सोमकं दूतं पप्रच्छ, 'भोः सोमक ! त्वया ममाज्ञया दौत्येन गतवता ये ये राजानस्त्वया ज्ञाता भवन्ति तेऽस्मभ्यमभिज्ञानपूर्वं वाच्याः'। तत् श्रुत्वा सोमकोऽवोचत्—हे स्वामिन् ! एष सेनार्णवमध्यस्थितो मेरुरिव निश्चलः स्वर्णरथस्थो नीलध्वजः सुवर्णवर्णाश्वः समुद्रविजयो दृश्यते। अस्यैव समीपवर्ती वामपार्श्वे शुकनीलाश्वरथो वृषध्वजः समुद्रविजयतनयो मातलिसारथिसहितो नेमिजिनवरोऽतिरथी सकलसैन्यरक्षाकरो वर्तते। अयं धवलैरश्वैर्विराजमानरथो गरुडध्वजो गवलमेघवच्छ्यामशरीरः सैन्याग्रे वर्तमानो नारायणस्तवाऽरातिर्देवराज इव राजते।

अस्यैव दक्षिणपार्श्वेऽरिष्टवर्णैस्तुरङ्गैर्विराजमानरथस्तालध्वजोऽतिरथी जङ्गमहिमवानिव सङ्ग्रामे निश्चलो रजतद्युतिः कृष्णज्येष्ठबान्धवो रामो बलभद्राऽपरनामा शत्रून् जयति। एष नीलाऽश्वरथ. पाण्डुतनयो युधिष्ठिरो महारथी सैन्यपरिवृतो वर्तते। श्वेतवाजिना रथेनाऽयं धनञ्जयो जयलक्ष्म्या निकेतनं भवत्पुर आभाति। नीलोत्पलदलाभाश्वरथस्थो महाकायो महिषस्कन्धो दुर्योधनाऽन्तको भीमपराक्रमो भीमनामा महावीरो दृश्यते। अयं वैरिकुलान्तको रक्ताऽश्वरथो नकुलनामा। तस्यैवान्तिके पीताऽश्वरथः श्वेतध्वजः सहदेवनामा। एते पञ्चापि पाण्डवा महारथिनः कौरवकुलान्तं कृत्वा भवत्संमुखीना वर्तन्ते। अयं कृष्णाऽश्वरथो हरिबान्धवः सेनानीत्वपदारूढो महारथी जगत्येकवीरो गजध्वजो मेरुरिवाऽकम्प्रस्तवाऽभि-

जरासन्ध-सैन्येन सह युद्ध

मुखोऽनाधृष्णिनामा दृश्यते । अयं कर्बु रैरश्वैरक्रूरः कदलीध्वजः । अयं नेमिबान्धवो महानेमिरेकोऽप्यनेकयोधी कुमुदाभतुरङ्गरथारूढस्तवाभिमुखं वारं वारं निरीक्षते । अयमुग्रसेनो राट् शुकतुण्डनिभैरश्वैर्विराजितरथो मथुराधिपो धनुष्टणत्कारं कुर्वन् विरेजे । एष तित्तिरकुल्माषैस्तुरङ्गमैः सात्यकी रथारूढो वर्तते । अयं कनकाभपृष्ठाऽश्वरथो मृगध्वजो जराकुमारो महावीरो विकटभ्रकुटीभीषणः । अयं मरुत्कुमारः कपिलरक्ताऽश्वरथः शिशुमारध्वजः । अयं काम्बोजैर्वाजिभिः सिंहलेश्वरः । अयं पद्माभैर्वाजिभिर्युक्तरथः पद्मरथः पद्मवदनस्तव पद्माभिलाषुकः अयं सारणो राट् पारापतसमप्रभाऽश्वरथः ।

"बहवो यदवोऽन्येऽपि नानाहयरथध्वजाः ।
सन्त्येते न तु शक्यन्ते सर्वेऽप्याख्यातुमाख्यया" ॥ १ ॥

सोमकदूतमुखाद् यादवसेनावर्णनं श्रुत्वा मगधाधिपः प्रवर्धमानक्रोधानलोऽनल इव सर्वान् यादवान् ग्रसितुमियेष । ततो यादवसैन्ये प्रसृतो जरासन्धो दुर्वारवीर्यः कल्पान्तकालानिलोपमस्तादृशीमपि यादवसेनां क्षणमात्रेण पश्चादनुगामिनीं चक्रे । अरिष्टनेमिस्तां यादवसेनां मथ्यमानां समालोक्य सारथिं व्याजहार—भो मातले ! एषा यादवसेना जरासन्धेन राज्ञा पीड्यते । मातलिरुवाच—हे देव ! इद तव भ्रातुः सैन्यं जरासन्धेन मथ्यमानं दृष्ट्वा तवोपेक्षितुं न युक्तम् ।

यतः—"भवेद् यद्यपि सावद्यं कर्मेदं निर्ममस्य ते ।
रथं तथापि वृत्रारेः किञ्चिदेनं कृतार्थय" ॥ १ ॥

इति मातलिना प्रोच्यमानो श्रीनेमिरनन्तबलपराक्रमो धन्वमधिज्यं निर्ममे । तस्य धन्वनष्टणत्कारशब्देन

सकला दिशो व्यानशिरे। ततः पुनः श्रीनेमिकुमारेण मारतुल्येन मुखवातेन शङ्खश्चापूरि। तस्य नादेन रिपुसैनिकाः मूर्च्छिताः सन्तो भुवं लुलुठुः। केचन पलायमाना गिरिगह्वरमाविविशुः, केचिद् नंष्ट्वा स्वस्थानमगुः, केचन पलायमाना मगधेशशरणं प्रापुः। एवं नष्टे समस्तसैन्ये मेरुवन्निश्चले जरासन्धे नेमिं प्रति मातलिराह—हे देव ! त्वया एषा सकलाऽपि वैरिचमूर्जिग्ये, तर्हि एनं मदान्धं जरासन्धं यादववैरिणं किमुपेक्षसे ?। एषोऽन्यैः राजन्यसमूहैर्दुरुच्छेद्य एकेनेषुणा भवता छेद्यः। मातलिनोक्तमेतद्वचनं श्रुत्वा सदयो नेमिजिनो जगाद।

यतः—"ततो बिभेद वाङ्मुद्रां समुद्रविजयाङ्गजः।

असौ राजन्यरोधोऽपि नोचितः सूत ! मादृशाम्" ॥ १ ॥

बन्धूपरोधेनाहमत्र समागतोऽस्मि। मम किं प्रयोजनं संग्रामेण ?। किञ्च, अयं शाश्वतो भावो वर्तते यद् विष्णुभिः प्रतिविष्णवो हन्तव्या एव। भो मातले ! ममोक्तं त्वं स्तोकदिनमध्ये पश्यसि। इत्युक्त्वा स्वामिना मातलिर्मौनं कारितः। ततो मातलिना स्वाम्यादेशाद् रथे सैन्यपरितश्चतुर्दिक्षु भ्रामिते यादवसैन्यरक्षा कारिता। पुनः सज्जिते उभे अपि सैन्ये युद्धाय सज्जीबभूवतुः। दृप्तैरेकोनसप्ततिजरासन्धसुतैः पितुरग्रे भूत्वा जनार्दनो रुध्यते स्म। तथाऽष्टाविंशतिजरासन्धपुत्रैर्बलभद्रो रुध्यते स्म। ततस्तौ द्वौ हरिबलभद्रौ जरासन्धसुतैः सार्धं युध्येते स्म। तैः सह युध्यमानो बलभद्रो हलमुशलाभ्यां तानष्टाविंशतिमगधेशपुत्रांश्चूरयामास। तान् पुत्रान् निर्दलितान् दृष्ट्वा रुष्टो जरासन्धो गदया रामं वक्षसि ताडयामास।

तत्प्रहारव्यथापीडितो रामो भृशमाकुलितो भूमौ पतितो मुखे रुधिरं ववाम। तदानीं यादववाहिन्यां हाहाकारो जातः। तं हाहारवं श्रुत्वा क्रोधारुणलोचनो धनञ्जयो मागधं नृपं स्खलयामास। तैरर्जुनस्य शितैर्बाणैस्ताडितो जरासन्धो जरया ग्रस्त इव जर्जरो बभूव। जरासन्धेन चिन्तितम्—अहो ! बलवान्

फाल्गुनो यः कुरुवाहिन्या अन्तं विधाय मम सैन्यस्याऽप्यन्तकारको जातः। अथ गदाप्रहारविधुरं बलभद्रं विज्ञाय नारायणस्तान् मगधेशितुरेकोनसप्ततिपुत्रान् यमगृहं नयति स्म।

अथ जरासन्धः कृष्णान्तिके समागत्य एवमवोचत्—रे गोपालबालक! अद्याऽस्मिन् संयुगेऽहं तवोदरात् कंसकालादीन् कुमारान् कर्षयिष्यामि, अतस्त्वं सज्जो भव, सन्नाहं परिधेहि, करे शस्त्रं गृहाण, अपशस्त्रमहं कदापि न हन्मि। तर्ह्यहं जरासन्धो यदद्य भवन्तं हत्वा मम सुताया जीवयशसः प्रतिज्ञां पूरयामि। एवं विरोधिनं जरासन्धं ब्रुवन्तं श्रुत्वाऽप्राप्तक्षोभो जनार्दन एवं जगाद—राजन्! त्वमपि जामातृमिलनायोत्सुको वर्तसे यद् मया सार्धं संग्रामाय सज्जो जातः।

एवमुभावपि वाग्भिः परस्परं तर्जयित्वा धनुष्टङ्कारं वितन्वानौ बाणवृष्टिं चक्राते। जरासन्धो बाणवृष्टया यदूंस्तर्जयन् शरदभ्रवद् गर्जयन्नर्कमण्डलं पिदधे। नारायणोऽपि बाणासारैर्वर्षन् मगधेशवाहिनीं पश्चाद्गामिनीं विधाय जरासन्धं व्याकुलीचक्रे। तयोर्युद्धे जायमाने रामरावणसंग्रामदर्शिना देवानां तादृगेव रसोऽजायत। यत् शस्त्रं जरासन्धः कंसारये मुमोच, तद् मार्गे मार्गणौघैः कंसारिर्जहार। तयोः सग्रामे जायमाने दिवि देवैः कोलाहलश्चक्रे। मुरारिर्मगधेशितुर्बाणान् खण्डयित्वा तं विलक्षं चक्रे।

ततो विलक्षो मगधेश्वरः कुन्तखड्गतोमरादिप्रहरणैरभेद्यान् शत्रून् ज्ञात्वा पूर्वसाधितां स्वसिद्धां जरासुरसुन्दरीं स्मृत्वा यादवसैन्यहननाय रात्रावमुञ्चत्। जरासन्धेन मुक्ता सा जरासुन्दरी देवी राम हरिं नेमिं च विना सकलसैन्याङ्गेष्वपरा कालरात्रिरिव प्रससार। तया जरादेव्या स्वैरं विजृम्भमाणया सा चमूः सर्वथा भ्रष्टचैतन्याऽपीषदुच्छ्वासमात्राऽभूत्। अथ प्रातः प्रबुद्धो विष्णुस्तद् निजं सैन्यं तथाविधं दृष्ट्वेषद् म्लानाननो नेमिं प्रोवाच—हे बन्धो! किमिदं जातम्?, तव पश्यतो ममैतत् सैन्यं मूर्च्छितमिव दृश्यते। स्वामिना

श्रीनेमिना कृष्णवाक्यं श्रुत्वाऽवधिज्ञानं प्रयुक्तम्, तेन ज्ञानेन जरासुरसुन्दरीचेष्टितं ज्ञातम्। तज् ज्ञात्वा स्वामिनोक्तम्—हे हरे ! तव सैन्यं जरारूपया जरादेव्या ग्रस्तं वर्तते।

हरिणोक्तम्—अथ किं कर्तव्यम् ?। स्वामिनोक्तम्—शृणु, हे हरे ! पाताले धरणेन्द्रस्य देवताऽऽलये महिमाधिका भविष्यत्पार्श्वनाथस्य त्रयोविंशतितमजिनस्य प्रतिमा विद्यते। अतस्त्वं त्रिभिरुपवासैस्तं धरणेन्द्रमाराध्य तां प्रतिमां याचस्व। स तु आराधितो भवत्प्रार्थितं पार्श्वबिम्बं दास्यति। तस्य पादाम्बुज-स्नात्रपयसा सिक्तं तवेदं सैन्यं क्रमाद् मोहमुज्झित्वोत्थास्यति। पुनः श्रीनेमिं प्रति हरिरुवाच—हे बन्धो ! दिनत्रयं यावद् मयि ध्याननिरते, एनां सेनां कः पास्यति ? जिनोऽप्याह—हे हरे ! तावत्कालं शत्रुसङ्कटात् तव सेनारक्षकोऽहं भविष्यामि, त्वं निश्चिन्तो भव। तज्जिनवचनं श्रुत्वा हर्षोत्कर्षितमानसो हरिरष्टमेन तपसा पौषधागारे पौषधं विधाय ध्यानतत्परो धरणेन्द्रं तोषयति स्म।

जराग्रस्तं हरिसैन्यम्

अथ प्रातर्जरासन्धो हर्षपूरितमानसो जराग्रस्तं हरिसैन्यं ज्ञात्वा चतुरङ्गचमूयुक्तो बाणवृष्टिं वितन्वानो यादवान् यावद् हन्तुं दधाव, तावद् नेमिनिदेशादिन्द्रप्रेषितो मातलिर्नेमिरथसारथिर्यादवसैन्यपरितश्चतुर्दिक्षु संवर्तकसमीरण इव स्वैरं नेमिस्यन्दनं भ्रामयामास। स्यन्दनस्थः स्वाम्यपि शीघ्रं सङ्ख्यातिगान् शरान् सर्वतोऽप्युच्चैर्मुमोच। तां स्वामिप्रेषितां बाणधोरणीं दृष्ट्वा जरासन्धसंबन्धिनो राजानस्तद्रणे साक्षिणः इव दूरे तस्थुः। अथ सदयोऽरिष्टनेमिर्बाणैः केषांचित् कवचानि चिच्छेद, केषांचिद् मुकुटध्वजसायकादींश्च, सदयत्वाद् न पुनः प्राणांश्चिच्छेद। इतो ध्याननिलीनस्य नारायणस्य तृतीयेऽह्नि प्रभापुञ्जान्तरस्थिता धरणेन्द्रानुज्ञया धरणप्रिया पद्मावती प्रकटीबभूव। तां पद्मावतीं सुरीगणसमन्वितां समालोक्य पादौ प्रणम्य नारायणः स्तुतिपूर्वमिदं प्राह।

यथा—"धन्योऽद्याहं कृतार्थोऽस्मि पवित्रोऽद्याऽस्मि पावने ! ।
अद्य मे सफलाः कामा यदभूद् दर्शनं तव ॥ १ ॥
वर्णयामि कियद् देवि ! वैभवं ते स्वजिह्वया ।
शक्रादयोऽपि यद्वक्तुं शक्ता नो विबुधाधिपाः" ॥ २ ॥

इति नारायणभक्तिवचःप्रीता परमेश्वरी हरिं प्रत्याह—हे हरे ! यत्कृते त्वया मत्पतिः संस्मृतः, तत् कार्यं ब्रूहि, यथाऽहं तवेप्सितं शीघ्रं संपादयामि । देव्योक्तं श्रुत्वा हरिरुवाच—हे भगवति पद्मे ! यदि तुष्टासि तर्हि तव भवनस्थितमद्भुतं पार्श्वार्हद्बिम्ब मह्यं देहि, यथैतज्जरया ग्रस्तं मम सैन्यं तत्स्नात्रवारिभिः सज्जीकरोमि । हरिणोक्तं श्रुत्वा पुनः पद्मावती प्राह—हे हरे ! सा पार्श्वप्रतिमाऽत्र नायाति, तां विनैवाऽहं भवत्सैन्यं सचैतन्यं करिष्ये । पुनर्जरासन्धं ससैनिकं बद्ध्वा क्षणादेव तव पुरतः समानयामीत्यादि यद् यद्भवदीप्सित वदसि तत् सर्वं क्षणादेव संपादयामि, न पुनः पार्श्वप्रतिमां समानेतुमहं समुत्सहे । तत् श्रुत्वा पुनः कृष्णोऽवदत्—हे देवि ! त्वयैतत् सकलं भवति, दरमित्थं कृतेऽस्माकं किञ्चित् पौरुषं न, केवलं जनापवादो भवेद् यद् देवतया सर्वं संहारादि कृतम् । अतो यदि प्रसन्नासि, तर्हि मे पार्श्वप्रतिमां देहि, यथाऽहं भवत्प्रसादेन स्वयमेव रणे रिपून् हन्मि । विष्णोरित्याग्रहतो भक्त्या च तुष्टा पद्मावती पार्श्वप्रतिमां समानीय दत्त्वा स्वस्थानमगमत् ।

प्रतिमाया स्नात्रजल-सिञ्चनम्

अथाच्युतः श्रीपार्श्वप्रतिमार्चां कृत्वा स्नात्रजलं लात्वा समग्रसैन्यमसिञ्चत् । तेन जलेन सिक्तं सैन्यं पुनः सुप्तोत्थितमिव तथैवोत्तस्थौ । तदुत्थितं सैन्यं सज्जीभूतं दृष्ट्वा सहर्षोत्कर्षमानसो रुक्मिणीपतिः परबलत्रासकरं स्वबलबलकरं पाञ्चजन्यं शङ्खं दध्मौ । तेन त्रासितं रिपुबलम्, मुदितं च यादवसैन्यम् । अथ प्रभाते सकले सैन्ये रणसज्जे जाते श्रीनेमिजिनेश्वरः प्रतिविष्णुर्विष्णुना वध्य इति जगत्स्थितिं ज्ञात्वा स्वयं भगवान् रणाद्

विरराम। तथैव रणसज्जो हरिर्मगधेशं बाणगोचरं ज्ञात्वा एकेन बाणेन केतुं चिच्छेद, एकेन च्छत्रं, द्वाभ्यां चामरे, एकेन मुकुटं, एकेन बाणेन सारथिशिरश्चिच्छेद। ततोऽतिरुष्टो जरासन्धः सुदर्शनं चक्रं सस्मार। तदपि चक्रं देवताधिष्ठितं स्मरणमात्रेण मगधेशकरे समुपस्थितम्।

ततः प्रोत्फुल्लवदनाम्बुजो मगधेशो हरिं प्रोवाच—रे गोप! मां भजस्व, अन्यथाऽहं भवन्तं हत्वाऽनेन चक्रेण कंसवैरनिर्यातनं करिष्ये। एवं जरासन्धेनोक्ते कंसध्वंसी एवं बभाषे—भो मागधेश! लोहखण्डे करप्राप्ते किं मुधैवाऽभिमानमावहसि ?। एतत्तवैव चक्रं गतपुण्यं त्वामेव हनिष्यति। इति श्रुत्वा क्रोधारुणो जरासन्धः कराग्रे भ्रमयित्वा हरये चक्रं मुमोच। ततो व्योम्नि सूर्यमण्डलमिवोद्द्योतमानं चक्रं समालोक्य यादवैर्हाहारवश्चक्रे। नभश्चरा अपि चक्रं समापतद् विलोक्य तन्मार्गादितस्ततः परिभ्रेमुः। देवानामपि तदन्तराद् विमानानीतस्ततो नेशुः। हरये चक्रप्रेपणम्

हरिश्चक्रं समापतद् दृष्ट्वा शस्त्रैस्ताडयामास, तथैवार्धपथे बलभद्रो हलमुशलाभ्यां ताडयामास, रुष्टोऽनाधृष्णिः परिघेण जघान, समुद्रविजयादयो यादवा बाणादिशस्त्रेणाऽऽपतज्जघ्नुः, युधिष्ठिरः शक्त्या चक्रं ममार, वृकोदरो गदया ममार, धनञ्जयो देवबाणैः सुदर्शनमहन्, नकुलः कुन्तेन, सहदेवो बाणैः। एवं सर्वेऽपि यादवाः स्वशक्त्या तच्चक्रं जघ्नुः, तथापि केनाप्यस्खलितमखण्डितमनिवारितं स्फुलिङ्गमालितं वह्निकणान् वर्षद् मार्तण्डमण्डलमिवोद्द्योतयद् दिग्वधूनां वदनानि, समागच्छद् दृष्ट्वा यादवैरेवं तर्कितम्—नूनमद्याऽकेशवं जगज्जातम्। समुद्रविजयादियादवैरेवं विचिन्त्यमाने सति तच्चक्रं समापतत् कंसारिवक्षसि तुम्बेनाऽऽहत्य केशवसव्येतरकरमलश्चक्रे। तदानीं यादवानीके सानन्दे जाते प्रत्यनीकानीके निरानन्दे जाते स केशवस्तेन चक्रेण करगतेनाऽतीव शुशुभे, वज्रेणेन्द्र इव।

अम्भोजमिव तच्चक्रं करे कृत्वा कंसविध्वंसी मगधाधिपमभ्यधाद्—भो मगधाधिप! भो

भूपालशिरोरत्न ! समागतं मरणं, साम्प्रतं मरणे यत्नं विधेहि, पुण्ये गते तव सवमपि गतम् । यथा शस्त्रहीनः शूरो न शोभते, मन्त्रहीनो मन्त्री, चक्रहीना गन्त्री, प्राकारहीनं नगरं, स्वामिहीनं बलं, दन्तहीनो गजः, दण्डहीनो ध्वजः, कलाहीनः पुमान्, तपोहीनो मुनिः, तेजोहीनो मणिः, बाणहीनं धनुः, धाराहीनः कृपाणः, प्रतिज्ञाहीनः सत्पुरुषः, लज्जाहीना कुलवधूः, तरुहीना वाटिका, फलहीनस्तरुः, दानहीनं धनं, स्वामिहीनो देशः, पुत्रहीनो वंशः, गन्धहीनं कुसुमं, नयनहीनं वदनं, लवणहीना रसवती, सत्यहीना सरस्वती न शोभते, तथा त्वमपि पुण्यं विना न शोभसे। अतः पुण्यं विधेहि, अथवा मां नत्वा स्वप्राणरक्षार्थं ममाज्ञां शिरसा समादाय स्वस्थानं याहि, वृद्धत्वादनुकम्प्योऽसि, अद्याऽपि तव किमपि गतं नास्ति।

यथा—"नष्टं न किञ्चिदद्याऽपि मेदनीश ! विमृश्यताम् ।
श्रुतं किं न त्वया जीवन् नरो भद्राणि पश्यति ?" ॥ १ ॥

इति हरिणोक्ते मगधेशो बभाषे—रे रे गोपालबालक ! मम चक्रे करप्राप्ते त्वं किं माद्यसि, यथा सारमेयोऽस्थिखण्डे प्राप्ते संतुष्टो भवति, तथा त्वमपि लोहखण्डे प्राप्ते तुष्टो जातः ? । एवं तर्जितः कृष्णः प्रथमं बाणासारैरम्बरमाच्छाद्य तत आगमोक्तं विचार्य करे चक्रं कुलालवद् भ्रमयित्वा जरासन्धवधाय चिक्षेप।

जरासन्धस्य शिरश्छेद

"तेन ज्वालाजटालेन सकिरीटं सकुण्डलम् ।
एत्य प्रसभमम्भोजच्छेदमच्छेदि तच्छिरः" ॥ २ ॥

तेन चक्रेण जरासन्धशिरश्छेदं विधाय पुनरेव हरेः करः समलञ्चक्रे। यथा सेवकेन स्वामिकार्यं विधाय पुनः स्वामिसमीपे समागम्यते, तथैव तेनापि सुदर्शनचक्रेण स्वामिकार्यं कृत्वा विष्णुकरे समायातम्। जरासन्धं

विष्णुना हतं ज्ञात्वा दिवि देवैर्विष्णुशिरसि मुदा पुष्पवृष्टिः कृता। 'समुत्पन्नोऽयं नवमो वासुदेवः' इति देवैरुद्घोषणा विदधे। पुनस्तैर्देवं केशवोदयं भूर्भुवःस्वस्त्रयीलोके शंसद्भिर्देवदुन्दुभिध्वानैश्च विश्वं शब्दाद्वैतं वितेने। मगधेशसेवका राजानो हतं स्वामिनं ज्ञात्वा केचन नेमिशरणं प्रपन्नाः, केचन बलदेवशरणं प्रपन्नाः, केचन केशवशरणं प्रपन्नाः। केशवोऽपि तान् सर्वान् जरासन्धसैनिकानभयदानादिना भृशं तुतोष, यतः संसारे मरणसमं भयं नास्ति। कुन्दावदातयशसि मुकुन्दे कुपितेऽस्माकं जीवितं नास्ति, इति कृत्वा सर्वेऽपि मगधेशसेवकाः कृष्णं प्रणेमुः। नेमिराश्रितान् नृपान् कृष्णोपान्ते नीत्वा तेषां पृष्ठे हस्तमदापयत्।

मृतानाग्नेयशस्त्रेण सस्कार-करणम्

अत्रान्तरे मगधेशमहामात्या जरासन्धपुत्रं सहदेवं कृष्णस्याङ्के निचिक्षिपुः। माधवस्तं सहदेवं मगधेशस्वामिनं जरासन्धपदे राजानं विदधे, यतः 'प्रणिपातावसानो हि कोपो विपुलचेतसाम्'। अथ कृष्णाज्ञयाऽनाधृष्णिः सर्वेषां सुभटानां घातव्रणजर्जराणां व्रणचिकित्सां चक्रे। अथ मृतानां सर्वेषां समुद्रविजयाज्ञयाऽनाधृष्णिराग्नेयशस्त्रेण संस्कारमकरोत्। सहदेवो जरासन्धपुत्रो बन्धुभिः सार्धं जरासन्धस्य मृतकार्यं चन्दनादिभिश्चक्रे। अथ रुदन्तो जरासन्धपक्षीया बन्धुपुत्रादयो बलभद्रवासुदेवप्रभृतिभिर्निवारिताः सन्तः किंचिद् मुदमापुः। अहो! सर्वेषामेतादृश्येव स्थितिः।

यतः—"तित्थयरा गणहारी सुरवइणो चक्किकेसवा रामा।
अवहरिआ हयविहिणा अवरजीवाण का वत्ता" ॥ १ ॥

इत्यादिवचनैस्तोषिताः सहदेवादयो जरासन्धपुत्राः स्वस्वकार्यकरणायोद्यता अभूवन्। अथ केशवो लब्धजयः श्रीपार्श्वपूजाकृते जयभूम्यां शङ्खेश्वरं नाम नगर निवेशयामास।

यतः—"कृष्णोऽथ वामेयजिनस्य मूर्त्तिममेयभक्तिर्यदुभिः प्रणुन्नः ।
अस्थापयत् तत्र निजां च मूर्त्ति तच्छासने तच्च पुरं चकार" ॥ १ ॥

ततः सकलसैन्यपरिवृतः स्वशिबिरमभ्यगात् । अथ सर्वे यदवः समुद्रविजयादिभिः प्रभुत्वोत्साहगर्वितैरपि बलकेशवनेमयो मन्यन्ते । मातलिः सर्वं सैन्यं स्वस्थं ज्ञात्वा नेमिनाथानुज्ञां लब्ध्वा मुदितमानसो देवलोक जगाम । तच्चरित्रं सर्वं पुलकं वहन् शक्रायाऽऽचख्यौ । अन्येद्युः समुद्रविजयादियादवैः परिवृतः कृष्णः सभासीनो दिवि तुर्यरवान् शुश्राव, यावत्ते सर्वे यादवा उच्चैर्वदना विलोकन्ते, तावद्विमाननिकरैर्गगनाङ्गण व्याप्तम् । तस्माद्विमानाद् वसुदेवः प्रद्युम्नशाम्बाभ्यां सहितो निर्ययौ । समुद्रविजयादिवृद्धान् नत्वा वसुदेवप्रद्युम्नशाम्बादयो यथास्थानमुपविविशुः । वसुदेवसहागताः खेचराः समुद्रविजय नत्वा केशवं बलभद्रं च नत्वा यथास्थानमासीना विद्याधिकवसुदेवबलं वर्णयन्तः कौस्तुभाद्यैः रत्ननिकरैः केशवमपूजयन् ।

हे स्वामिन् ! वय सेवकाः किंकराः पूज्यैरस्मभ्यं कार्यं प्रसादीकार्यम् । तद्वचनं श्रुत्वा हरिणाप्युचितप्रतिपत्त्या संमान्य अत्यासन्नासनेषु निवेशिताः । तेऽपि केशवसेवापराः शुशुभिरे देवेन्द्रदेवा इव । अथ केशवः सैन्यसमूहैः परिवृत आखण्डलप्रतिमोऽखण्डं त्रिखण्डं वशीकर्तुं प्रतस्थे, यतः केशवानामयमाचारः । मार्गे गच्छन् कांश्चिदुत्थापयन् कांश्चिदुत्खातप्रतिरोपितानकरोत् । एवं मार्गे विचरन्नखण्डां त्रिखण्डां पृथ्वीं साधयामास । अनया रीत्या विचरन् कोटिशिलां गतः ।

कोटि-शिलोपरि-गमनम्

यथा—"उच्चत्वविस्तरायामे विदुर्यामेकयोजनाम् । यया च वासुदेवस्य बलं बाह्वोः परीक्ष्यते ॥१॥
पश्यतां सर्वभूपानां भूतलाच्चतुरङ्गुलीम् । मुकुन्दः कन्दुकोत्क्षेमुच्चिक्षेप क्षणेन ताम्" ॥२॥

ततो जयजयारावपूर्वकं गीर्वाणखेचरैः प्रहृष्टैः कृष्णोपरि पुष्पवृष्टिर्निचिक्षिपे । अखण्डितोदयो नारायणः षड्भिर्मासैर्दिग्विजयं विधायाऽरिबलैर्भूपालैः सहाऽखण्डां त्रिखण्डां पृथ्वीं भुञ्जानो बन्दिजनैः स्तूयमानो देवविद्याधरयादवादिस्तूयमानयशा द्वारे द्वारे धवलमङ्गलवादित्रादिभिः प्रारब्धमङ्गलो द्वारकां पुरीमाविशत् । ततो भरतार्धमहीपते राज्याभिषेकाय देवसमूहैर्मागधवरदामप्रभासादितीर्थानां जलान्यानिन्यिरे । समुद्रविजयादि-यादवैरुग्रसेनादिषोडशसहस्रनृपैर्बलभद्रयुधिष्ठिरादिबान्धवैरर्धभारतवास्तव्यैरन्यैरपि व्योमचरैर्देवविद्याधरैरपि सर्वैः संभूय शुभैस्तीर्थोदकपूरितैर्मणिमाणिक्यहेमरजतमृन्मयैः कुम्भैर्मन्दारदामवेष्टितैर्नीलोत्पलपिधानैः कृष्णमुच्चैः सिंहासने निवेश्य राज्याऽभिषेकश्चक्रे । हरे राज्याभिषेकसमये शिवादेवी रोहिणीदेवकीकुन्त्याद्या मातरो मङ्गलगीतानि गायन्ति स्म ।

केचिद् राजानो हयानुपदीचक्रिरे, एवं केचन गजान्, केचिद् मणिमाणिक्यराशीन्, केचित् कन्यादीन्युपदी-चक्रिरे वासुदेवस्य । एवं तस्मिन् राज्याभिषेकसमये तेषां सर्वेषां भूभुजां दानानि वितरन् हरिः कल्पशाखीव शुशुभे । एवं बलभद्रस्याऽपि बलदेवत्वाभिषेको जातः ।

अथ बलदेववासुदेवैः राज्याभिषेकानन्तरं सर्वे राजानो दानमानसंमानपूर्वं बहु संभाष्य प्रेषिताः स्वस्थानमगुः । एवं देवाः खेचराः पूजिताः सत्कृताः स्वस्थानमगुः । युधिष्ठिरो राड् हरिणा विसर्जितो बान्धवैः समन्वितः कतिपयैर्नृपैः परिवृतोऽन्येद्युर्हस्तिनापुरं प्रति चचाल । पाण्डवाऽनुरोधतो रामो विष्णुर्नेमिरना-धृष्णिप्रद्युम्नशाम्बप्रभृतयश्च कुमाराः पाण्डवैः सह प्रतस्थिरे । तदानीं प्रीतिपल्लवितैश्चित्राङ्गदादिविद्याधरैर्मार्गे चेलोत्क्षेपादिमहामहो विदधे । कुन्त्या सह शिवादेवीदेवकीरोहिणीप्रभृतयो यादवाङ्गनाः सस्नेहचेतसः सहैव चेलुः । मार्गे संचरन्त्यः कुन्त्या सह पाण्डववध्वो यादवाङ्गनापुरतो मिथः संकथा एवं पप्रथिरे—वय विष्णोरानृण्यं कथ यास्यामो येनाऽस्माकं बहूपकाराः कृताः ? ।

कृष्णस्य राज्या-भिषेक.

इत्यादिवार्तां कुर्वाणा मार्गे संचरन्ति । इतश्चाग्रगामिभिर्विद्याधरैः पाण्डोरग्रे विज्ञप्तम् । पाण्डुराट् तेषां पारितोषिकं दत्त्वा सपौरः पुत्राणां मित्राणां यादवानां च संमुखमागात् । तेषां पाण्डवानां स्फीतिमालोक्य फुल्लारविन्दवदनः पुलकोत्करं पुपोष । पत्या सह समागता माद्री पाण्डुपत्नी सुतानुद्वीक्ष्य हर्षाश्रुवर्षेण नूतनं प्रावृषं व्यधात् । मातापित्रोः समालोके पाण्डवाः शीघ्रं वाहनानि विहाय विकसितवदनाः पितरावबन्दत । माद्री उन्निद्रप्रणया गाढाश्लेषपुरःसरं स्वपाणिभ्यां कुन्त्याः क्रमावग्रहीत् । पाञ्चाली पञ्चाङ्गीचुम्बितावनिः पाण्डोश्च माद्रयाश्चरणौ प्रणेमे, अन्याभिरपि पाण्डवपत्नीभिर्यथौचित्यं प्रणम्येते स्म । ताभ्यामपि पाण्डवपत्नीनामाशीर्दत्ता ।

हस्तिनापुरे पाण्डवानां प्रवेश

हस्तिनापुरे पाण्डवप्रवेशदिने नागरिकलोकैः स्वर्विमानातिरेका आमुक्तमौक्तिकोच्चूला मञ्चातिमञ्चा निर्ममिरे । प्रत्यट्टं प्रतिपद्यं प्रतिमन्दिर तोरणानि लोकैरबध्यन्त । स्वस्वगृहाऽट्टादिषु कुङ्कुमच्छटा विरच्यन्ते स्म । नगरप्रवेशसमये पाण्डुराट् पाण्डवकृते स्थाने-स्थाने नगरनायिकाभिर्नाटयान्यकारयत् । अथ जयकुञ्जरारूढो राजा, ऐरावणारूढ इन्द्र इव दीप्यमानः, तुरगारूढेन पुरतः पाण्डुना शोभमानः, विष्णुबलभद्र-नेमिप्रद्युम्नशाम्बादिभिः सह गजारूढैः राजमानः, भीमादिबन्धुभिरन्वीयमानः, मागधादिभिः स्तूयमानः, वारनारीभिर्धृतातपत्रः, चारुवाराङ्गनाभिरुद्धूतचामरः पीयूषवर्षिण्या दृशा प्रजालोकैर्वीक्ष्यमाणः प्रजानां लाजनिक्षेपं प्रतिगृह्णन्, प्रमोदोत्फुल्लनेत्रैर्नागरिकैर्गीयमानगुणो गवाक्षलक्षेषु निर्गताङ्गनावक्त्रैर्विलोक्यमानो युधिष्ठिरो हस्तिनापुरं प्रविवेश ।

तत: प्रथमं जिनमन्दिरे गत्वा जिनान् नत्वा, ततः साधूपान्ते गत्वा तत्रापि धर्मोपदेश श्रुत्वा, ततः स्वगृहद्वारे कृतमङ्गलोपचारैः प्रविश्य स्वर्णसिंहासने पूर्वाभिमुखो राजा युधिष्ठिरः पाण्डुना बलिविष्णुभ्यां राज्ये स्थापयांचक्रे । तदा युधिष्ठिरेण राज्ञा यथाऽर्हं सर्वेभ्यो राजलोकेभ्यो दानानि दत्तानि । तदानीं सर्वैः राजसमूहै-

युधिष्ठिरस्य राज्ञो गजवाजिरथरत्नानि प्राभृतीकृतानि। तदानीमागत्यागत्य नगरनार्यस्तौर्यत्रिकमनोहरं गीतनृत्यवाजित्ररम्यं संगीतं सूत्रयामासुः। धर्मात्मजे गाढरागाऽनुरक्तां प्रजां वीक्ष्य हरिस्तादृक्पुत्रप्रसविनीं मातरं कुन्तीं श्लाघते स्म।

युधिष्ठिरस्तद्दिनादारभ्य यादृशीं कुन्त्याः पाण्डोश्च भक्तिं वितेने, तादृशीं गान्धारीधृतराष्ट्रयोरपि व्यधत्त। अथ युधिष्ठिरः स्वान् बन्धून् आत्मतुल्यान् मेने। बन्धुभिः सहितो युधिष्ठिरः पञ्चेषुरिव शुशुभे। तत्र युधिष्ठिरगृहे स्थित्वा कतिचिद्दिनान्ते स्वस्थानगमनाय पुनर्युधिष्ठिरमपृच्छत्—भो युधिष्ठिर! भवदाज्ञयाऽहं द्वारकां यामि। तद्धरिणोक्तं श्रुत्वा युधिष्ठिरो विनयावनम्रदेहः सभायां सर्वेषां पश्यतामञ्जलिं बद्ध्वा एवं बभाषे—हे दामोदर! अयं तवैवाऽनुभावो विद्यते यदस्माभिः पुनरेव हस्तिनापुरसाम्राज्यं लब्धम्। तवाऽनुभावतोऽस्माभी रणे गाङ्गेयद्रोणदुर्योधनादयो महावीरा जिताः। इयं राज्यलक्ष्मीस्तवैवाऽस्ति। मम प्राणास्तवैव सन्ति। अन्यदपि यत् किमप्यस्ति तत्तवैवाऽस्ति। हे विष्णो! तत् किमस्ति येन त्वां वयं सत्कुर्महे, तथापि भवता पृथुचित्तेन निर्निमित्तोपकारिणा मल्लक्षणो जनः स्वसेवको विचिन्त्यः।

"इति विज्ञेन विज्ञप्य विष्णवे पाण्डुजन्मना।
स्वर्णरत्नगजाश्वादि सर्वस्वमुपदीकृतम्" ॥ १ ॥

तत् सकलं वस्तु दृष्ट्वा वासुदेवो युधिष्ठिरं जगाद—भो युधिष्ठिर! तावकीनं सर्वं वस्तु मामकीनमेवाऽस्ति, यतस्तव मम च किञ्चिदन्तरं नास्ति, एतद्वस्तुजातं सर्वं मम त्वया दत्तं त्वमेवाऽलंकुरुष्व। इत्युक्त्वा हरिणा युधिष्ठिराय सर्वं तद्दत्तम्। युधिष्ठिरादिसर्वान् समनुज्ञाप्य द्वारकां प्रति प्रतस्थे। धर्मात्मजोऽपि कतिचिद्भुव कृष्णेन बन्धुना सह गत्वा कृच्छ्राद् न्यवर्तत। मार्गे कृष्णो युधिष्ठिरादीनां प्रशंसां कुर्वाणः

स्वर्गपुरीतुल्यां स्वपुरीं द्वारकां समाययौ। युधिष्ठिरः स्वसेवकान् राजादीन् दानमानादिना संतोष्य स्वगृहे प्रेषयामास। एवं चित्राङ्गदादयोऽपि खेचराः पाण्डुपुत्रैः संमानिताः स्वस्थानमगुः।

न्यायेन-राज्य-करणम्

कौन्तेयो द्यूतव्यसनेनाभिभूतः स्वदेशे सर्वाणि व्यसनानि न्यवारयत्, एकस्याप्यपराधे हि ज्ञातिरुच्छिद्यते यतः। तथा स्वदेशेऽमारिपटहो दापितः। तथा स्वदेशे दानानि प्रवर्तितानि। तथा स्वदेशे नानाभोज्यविचित्राणि सत्रागाराण्यकारयत्। तथा धर्मात्मजः समस्तजिनवेश्मसु यात्रां सूत्रयामास, यतो महात्मान उदारां श्रियं लब्ध्वा सुकृतार्जने यतन्ते। तत्रस्थ एव धर्मात्मजो नासिक्ये नगरे श्रीचन्द्रप्रभचैत्ये प्रत्यहं पूजामहोत्सवमकारयत्। एव पुण्यपरायणाः पश्चापि पाण्डुतनयास्तैस्तैः सुकृतैः प्रत्यह सकले भूवलयेऽखिलनृपतिभिः श्लाघ्यं पुण्यं यशश्च लेभिरे।

इति श्रीमत्तपागच्छाधिराजभट्टारकश्री ५ श्रीहीरविजयसूरिपट्टालङ्कारसप्रतिविजयमानभट्टारकश्रीविजयसेनसूरिराज्ये पण्डितदेवविजयगणिविरचिते गद्यबन्धबन्धुरे श्रीपाण्डवचरित्रे जरासन्धवधवर्णनो नाम चतुर्दश सर्गः समाप्तः।



अर्हम्

अथ पञ्चदशः सर्गः



"दीक्षाप्रपन्नमन्येद्युरुद्यद्भक्तिः पितामहम् ।
नन्तुं यियासुरादिक्षत् सपौरान् बान्धवान् नृपः" ॥ १ ॥

ते लोकाः, भीमाद्याः सर्वेऽपि बान्धवाश्च तुरगारूढा युधिष्ठिरं प्रति समागत्य द्वारदेशेऽभ्युपेत्यावतस्थिरे । अथ युधिष्ठिरो राट् पञ्चकल्याणं वाजिनं समारुह्य तैः परिवृतो गाङ्गेयमुनिपावितां कुरुक्षेत्रप्रत्यासन्नां गिरिगुहां प्रति प्रतस्थे । क्रमेण मार्गे संचरन्, छत्रसमूहैः रविमाच्छादयन्, वन्दारुविमानैरम्बरमाच्छादयन् भीष्मालङ्कृत-शैलान्ते स्वसैन्यं न्यवेशयत् । ततश्चरणचारेण गच्छन् नरपतिर्युधिष्ठिरः पर्वतगुहामध्ये बाणशय्याशयानं गीतार्थैर्मुनिवरैश्च कमलकोमलैः करैः संवाह्यमानसर्वाङ्गमात्मध्यानपरायणं देहतोऽपि स्नेहरहितं धर्मध्यानैकाग्रचित्तं देहदक्षिणभागस्थं भवभञ्जकमुद्गररजोहरणमण्डितं मुखवस्त्रिकामण्डितमुखं नरखेचरनारीभिः स्तूयमानगुणं देववधूभिः प्रारब्धदिव्यनृत्यमानन्दमग्नं नासाग्रन्यस्तलोचनमेवंविधं गाङ्गेयमुनिमद्राक्षीत् । तथाविधपितामहं गाङ्गेयं संवीक्ष्य युधिष्ठिरस्यावनीपतेरानन्दशोकाभ्यां शीतलोष्णजलाविले लोचने अभूताम् ।

गाङ्गेय-मुनेर्दर्शनम्

अथ पाण्डवाः किरीटं पादुके छत्रं कृपाणं चामरे एतानि राजचिह्नानि त्यक्त्वा पञ्चाभिगमनेन, यथा—सच्चित्ताणं दव्वाणं विउस्सरणयाए, अच्चित्ताणं दव्वाणं अविउस्सरणयाए, एगसाडियउत्तरासङ्गकरणेणं

अञ्जलिमउलिअग्गहत्थे, मणसो एगत्तिकरणेणं, कृतपञ्चाङ्गप्रणामाः पञ्चापि पाण्डवा गाङ्गेयमहामुनिं वारं वारं नेमुः। एवं सर्वेऽपि राजानोऽमात्याः पौरलोकाश्च भीष्मं महामुनिं नेमुः। पुनर्वारं वारं धर्मात्मजः कृतोत्तरासङ्गः त्रिः प्रदक्षिणीकृत्य गाङ्गेयमुनेः पादयोरपतत्। एवं चत्वारोऽपि पाण्डवास्तस्य वात्सल्यं स्मरन्ति—अङ्के निवेशन, बाहुभ्यां धृत्वा मुखचुम्बनं, अर्धचर्वितस्य मुखे ताम्बूलस्यार्पणम्। इत्यादि वारं वारं स्मरन्तः पाण्डवा गाङ्गेयमहामुनेश्चरणौ मूर्धनि न्यधुः।

यथा—"तत्तातस्य कृतादरस्य रभसादाह्वानकं दूरतो यच्चक्रे विनिवेश्य बाहुयुगलेनाश्लिष्य संभाषणम्।
ताम्बूलं च तदर्धचर्वितमिति प्रेम्णा मुखेनार्पितं पाषाणोचित! हा कृतघ्नहृदय! स्मृत्वा न किं दीर्यसे"॥१॥

भीष्मचरणे स्वं स्वं शिरो धृत्वाऽश्रुधाराभिर्निरन्तरं स्नपयन्त इव भक्तिप्रह्वाः पाण्डुनन्दनास्तं महामुनिं सिषेविरे करुणारससागरो महामुनिर्गाङ्गेयस्तेषां पाण्डुतनयानां शनैर्धर्मलाभाशिषमदात्। तेऽप्युपेत्य प्रमोदेन मुनिमुखाग्रे न्यषीदन्। मुनिरपि नासाग्राच्चक्षुषी आकृष्य चक्षुषी तेषु चिक्षेप। तथा मुनिपुङ्गव आजन्मचापसंपर्कात् कर्कशं स्वपाणिं तेषां पृष्टे वारं वारं व्यापारयामास। तदानी गाङ्गेयमुनेर्दर्शनासक्तस्त्यक्त-मनस्तापो धनञ्जयो मुनिं गाङ्गेय व्यजिज्ञपत्—हे तात! मया तदानीं राज्यलोभेन महाहत्यादिपापानि समाचरितानि। तैः पापैर्मलिनस्य मे कथं शुद्धिर्भविष्यति?। मया राज्याय बान्धवध्वसोऽकारि। गजवाजिपदातिसमूहाः मया हताः। एवमन्येऽपि मनुजनिवहाः विध्वस्ताः। तथा मया ज्येष्ठयोः पित्रोर्गान्धारीधृतराष्ट्रयोस्तनयानां वाचामगोचरं दुःखमदायि।

हे तात! त्वं संसाराम्बुधिपारं प्रस्थितो मामपि धर्मोपदेशदानेनाऽनुगृहाण, यथाऽहमपि तवानुपदिको

भवाऽब्धिपारगो भवामि, तथाऽमुष्माद् बान्धवादिपापबन्धाद् मुच्येऽहम् त्वया मम पुरा राज्यधर्मोपदेशोऽप्यदायि, यथा प्रजापालनं, देवगुर्वोर्भक्तिकरणं, आर्तस्यार्तिहरणं शरणागतरक्षणं, इत्यादि। राज्ये वसता भवता राज्यधर्मो यथोपदिष्टः, तथा सांप्रतमपि पथ्योपमं धर्मोपदेशं समादिश। मुनिना गाङ्गेयेनोक्तम्—धर्मोपदेशं शृणु—दानं, शीलं, तपो, भावश्चेति धर्मो जिनैर्नोदितो यो धर्मः सेवितश्चतुर्वर्णानां शिवंकरो जायते। तत्र। दानम्—

"काले दानं सुपात्रेभ्यः सद्गुरूणां समागमः। भवाब्धौ बोधिलाभश्च भाग्यलभ्यमिदं त्रयम्" ॥ १ ॥

अथ शीलम्—

"दानमातन्यते पापपीवरैः पामरैरपि। न तु पालयितुं शीलं शक्यते येन केनचित्" ॥ १ ॥

अथ तपः—तपो द्वादशधा, बाह्यान्तरङ्गभेदात्। तत्र बाह्यम्—

यथा-"अणसणमुणोयरिआ वित्तीसंखेवणं रसच्चाओ। कायकिलेसो संलीणया य बाहिं तवो होई ॥१॥

पायच्छित्तं विणओ वेयावच्चं तहेव सज्झाओ। झाणं उस्सगो विअ अब्भंतरं तवो होई" ॥२॥

एष द्वादशधा समाचीर्णो मोक्षदायको भवति।

अथ भावना—

"निच्चुण्णो तंबोलो पासेण विणा न होई जह रङ्गो।
तह दाणसीलतवभावणाओ अहलाओ भावविणा हुंति" ॥ १ ॥

"चक्री श्रीभरतो बलाऽनुगमृगः श्रेयानिलापुत्रको, जीर्णश्रेष्ठिमृगावती गृहपतीर्यो भावदेवाभिधः ।
सा श्लाघ्या मरुदेवता नवमुनिः श्रीचण्डरुद्रस्य चेत्याद्याः कस्य न चित्रकारिचरिता भावेन संभूषिताः"?।१।
"न काष्ठे विद्यते देवो, न शिलायां न कर्दमे । भावेषु विद्यते देवस्तस्माद् भावो हि कारणम्" ॥२॥

भोः कौन्तेयाः ! एतस्माच्चतुष्प्रकारधर्मात् क्रमेण चारित्राऽवाप्तिः स्यात् । ततः कर्मक्षयो भवेत् । कर्मक्षयात् केवलं लभेत । ततो यथाख्यातचारित्रं लब्ध्वा चतुर्दशगुणस्थानमारूढोऽन्ते मोक्षमवाप्नुयात् । इत्यादि गाङ्गेयमुनिमुखाद् धर्मदेशनां श्रुत्वा युधिष्ठिरादयः पाण्डवाः पर्जन्यगर्जिते शिखण्डिन इव कृतानन्दताण्डवा मुदमापुः । एवमभ्यधुः—हे प्रभो ! त्वया साधु संबोधिता वयम् । तवानुभावतो वयं कृतकृत्या जाताः । एवं यावद्वदन्ति तावत् तस्मिन् समये भद्रगुप्ताचार्यो महामुनिं भीष्ममुनिं बभाषे—भो महाभाग ! तव पर्यन्तसमयः प्रत्यासन्नो वर्तते । अतस्त्वमाराधनां कुरुष्व, यथा तवाराधनातः स्वर्गावाप्तिर्भवेत् । तदा महामुनिना गाङ्गेयेनोक्तम्—हे प्रभो ! मामाराधनां कारय । भद्रगुप्ताचार्यो गुरुराराधनां कारयति स्म । यथा—ज्ञानदर्शनचारित्राद्याचारे प्रत्येकमष्टविधे यत्किमपि वितथमाचरितं तत्र मिथ्या दुष्कृतं भवतु । तदेवाह,

चतु-
ष्प्रकार-
धर्मात्
चारित्र-
प्राप्ति

यथा—"काले विणए बहुमाणे उवहाणे तह य निन्हवणे ।
वंजणअत्थतदुभये अट्ठविहो नाणमायारो" ॥ १ ॥

दर्शनाचारमाह—"निस्संकिअ निक्कंखिअ निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य ।
उववूहथिरीकरणे वच्छलपभावणे अट्ठ" ॥ १ ॥

चारित्राचारानाह—"पणिहाणजोगजुत्तो पंचहिं समईहिं तीहिं गुत्तीहिं ।
एस चरित्तायारो अट्ठविहो होइ नायव्वो" ॥ १ ॥

एवं द्वादशविधतपोविषया काचिद् विराधना कदाचिल्लग्ना भवति, तामपि प्रयत्नतोऽधुना निन्द । एवं सूक्ष्मबादरत्रसस्थावरप्राणातिपातविषयमाजन्मतोऽपि त्वया यत्किमपि पापमाचरितं तत्ते मिथ्या भवतु । संग्रामादिविषये मनुष्याश्वगजादिषु हत्यादिकं तदपि ते पापं मिथ्या भवतु । एवं सर्वतो हास्यलोभभयक्रोधादिभिः परस्य पीडाकारि यद् मृषा भाषितं तदपि ते पापं मिथ्या भवतु । अल्पमल्पेतरं यत् किंचित्परकीयमाबाल्यादपि धनं गृहीतमदत्तं, तदपि ते पापं मिथ्या भवतु । त्वं तु आबाल्यादपि ब्रह्मव्रतवान्, तथापि तैरश्चं मानुषं दिव्यं यत्किमपि मैथुनं त्रिविधेन त्रिधा समाचरितं भवति तदपि ते पापं मिथ्या भवतु । समस्तवास्तुधनधान्यस्वर्णरत्न-मणिमाणिक्यादिषु परिग्रहेषु नवविधेषु या कापि मूर्च्छा कृता भवति तदपि ते पापं मिथ्या भवतु । आबाल्यादपि यत्किमपि चतुर्विधाहारेण रात्रौ भुक्तं भवेत् तदपि ते पापं मिथ्या भवतु ।

मिथ्या-
दुष्कृतम्

"महाव्रतानि चत्वारि सूत्रतोऽप्यर्थतोऽपि च । परावर्त्य तदेकाग्र्यः पुनरुज्ज्वलतां नय" ॥ १ ॥

देवनारकमनुष्यतिर्यग्भवेषु ये केचन जीवा पीडितास्ते त्रिविधत्रिविधेन क्षाम्यन्तु । भो महामुने ! अस्मिन् संसारे एतत् सर्वं चञ्चलं जानीहि ।

यथा—"लक्ष्मी रूपं प्रियैर्योगो जीवितं यौवनं बलम् ।
वातोद्धूताऽब्धिकल्लोलचञ्चलं सकलं खलु" ॥ १ ॥

भो मुने ! अस्मिन् संसारेऽसारतरं शरीरं यद् मधुराहारैः पोषितं शुचिवस्त्रादिभिस्तोषितं

भूषणादिभिर्भूषित तदपि शरीरं रोगादिभिस्तत्क्षणादेव विनश्यति। इदं वपुर्विनश्वरमवश्यमेव मोक्तव्यम्। वीरस्य कातरस्यापि मरणं समानमेव। अतस्तथा म्रियते यथा पुनर्मरणं न भवति। भो महामुने! तवार्हदादिचतुर्णां शरणं भवतु।

यथा—"अर्हन्तो निखिलाः सिद्धाः साधवः स्वगुणोन्नताः।
अर्हद्धर्मश्च शरणं भवन्त्वशरणस्य ते" ॥ १ ॥

भो मुने! त्वं पञ्चपरमेष्ठिनमस्कारं कुरुष्व,

यथा-"सद्भ्योऽथ भूतभाविभ्यस्तरण्डेभ्यो भवार्णवे। शाश्वतेभ्यश्च मे शश्वदर्हद्भ्योऽस्तु नमोनमः ॥१॥
कर्मकाष्ठे क्षणाद् येषां ध्यानेन दहनायितम्। तेभ्यो भवतु सिद्धेभ्यस्त्रिविधेन नमोनमः ॥२॥
पञ्चधाऽऽचारचारिभ्यो भानुभ्यः शासनेऽर्हताम्। कृतभव्यौघबोधेभ्य आचार्येभ्यो नमोनमः ॥३॥
एत्याऽन्तेवासिनो नित्यं येभ्यः सूत्रमधीयते। उपाध्यायपदस्थेभ्यस्तेभ्यो मेऽस्तु नमोनमः ॥४॥
असहायसहायेभ्यः साधुभ्योऽस्तु नमोनमः। चारित्रयानपात्रे ये दधते कर्णधारताम्" ॥५॥

एवं पञ्च परमेष्ठिनो नत्वा बाह्याभ्यन्तरोपाधीन् परित्यज्य ततस्त्रिविधेन त्रिविधेन सावद्ययोगविरतिं कुरु। ततश्चतुष्प्रकारमाहारं प्रत्याख्याहि। समाधिना चरमोच्छ्वासनिश्वासे तनुमपि व्युत्सृज। एवं गुरुणोक्ते पुनर्व्रतारोपणं विधाय, आराधनां कृत्वाऽनशनं च कृत्वा त्यक्तसर्वसावद्यश्चरमोच्छ्वासे शरीरं त्यक्तुकामो गाङ्गेयो महामुनिः सर्वान् साधून् क्षमयामास। तत उच्छ्रायबाष्पाविललोचनाः पाण्डवा मुनिराजं भीष्मं नत्वा

एवं व्यजिज्ञपन्-तात ! त्वया बालरसालशाखिन इव लालिता वयं पाठिताः, ततो द्रोणाय दत्ताः। द्रोणेनापि विद्यापारं प्रापिताः। अस्माभिस्तव तस्योपकारः कृतो यद्रणसंरम्भे द्वयोर्जीवितमग्राहि। अहो ! प्रत्युपकारस्य चूलिका। अथ किं बहुना, अस्माकमपराधः क्षम्यतां, स्तनन्धयानां डिम्भानां तातैरिव। एवं क्षमयित्वा चत्वारः पाण्डवास्तूष्णीका बभूवुः, तावदेको धनञ्जयो निष्कपटं व्याजहार।

यथा–"एते त्वदङ्गसंसक्ता मन्नामाङ्काः पतत्रिणः। दुष्कर्मतर्जनीकल्पास्तात ! मां तर्जयन्त्यलम् ॥१॥
समरं संस्मरन्नेवं तात ! खिद्ये पदे पदे। संप्रत्येतां ततोऽवज्ञामविज्ञस्य क्षमस्व मे" ॥२॥

एवं विज्ञापितो मुनिगाङ्गेयः करुणैकसागरः क्षमितसकलजन्तुजातस्त्यक्तक्रोधो गतमत्सरः समशत्रुमित्रस्तेषां पाण्डवानां प्रसादपिशुनं करपल्लवं पृष्ठेऽदात्। ततः शुक्लध्यानमारूढो महामुनिर्गाङ्गेय आत्मानं संसारार्णवपारगं मेने। स गाङ्गेयो महामुनिरर्जुनबाणप्रहारदिनादारभ्य वर्षं यावत् संयमं प्रपाल्य मासिकानशनेन समाधिना मृत्वाऽच्युतं प्राप। सुरैर्नभश्चरैः पाण्डुनन्दनैरपि साश्रुभिर्गाङ्गेयमहामुनेर्गोशीर्षचन्दनैर्देहसंस्कारोऽकारि। गाङ्गेयमुनिशोकभराक्रान्तान् पाण्डवान् धर्मोपदेशेन प्रतिबोध्य श्रीभद्रगुप्तसूरयोऽन्यत्र विहारं सूत्रयामासुः। तस्य महामुनेर्गुणान् गायन्तः खेचराऽमरगन्धर्वा यथाऽऽगतास्तथा स्वस्थानमगुः। पाण्डवा अपि गाङ्गेयगुणान् गायन्तो हस्तिनापुरं समाययुः।

इति श्रीमत्तपागच्छाधिराजभट्टारकश्री ५ श्रीहीरविजयसूरिपट्टालङ्कारसंप्रतिविजयमानभट्टारकश्रीविजयसेनसूरिराज्ये पण्डितदेवविजयगणिविरचिते गद्यबन्धबन्धुरे श्रीपाण्डवचरित्रे गाङ्गेयस्वर्गगमनवर्णनो नाम पञ्चदश. सर्गः समाप्तः।

अर्हम्

अथ षोडशः सर्गः



कोरक-दूतस्यागमनम्

इतश्चैकस्मिन् दिने द्वारकातो हरिसेवकः कोरकनामा हस्तिनापुरे युधिष्ठिरान्तिके समागात्। सभासीनं युधिष्ठिरं प्रणम्यान्तिके समुपाविशत्। ततो युधिष्ठिरः प्रियोक्तिभिस्तं समाभाष्य कुशलोदन्तं पृच्छति— भोः कोरक ! महाराजाधिराजबलविष्णोः सपरिकरस्य कुशलमस्ति ?। हे राजेन्द्र ! भवत्सौम्यदृशा सर्वेऽपि यादवाः कुशलिनः सन्ति, यथा—केचित् कुमारा उद्यानवापीषु विलसन्तो विचेरुः, केचित् क्रीडोद्यानाद्रौ नवोढदयितान्विताश्चिक्रीडुः। परं नेमिकुमारः सकलगुणमणिरोहणो विश्वविलक्षणः शान्तचेता अन्यकुमारवत् क्वचिन्न व रमते। तस्य विषयेभ्यः पराङ्मुखत्वमलौकिकं समालोक्य समुद्रविजयशिवादेवी-मातापितरौ एवमूचाते।

यथा-"धन्यास्ता मातरः सार्धं वधूभिः खेलतः सुतान्। पश्यन्त्यो याः सुधामैत्रीं सूत्रयन्ति स्वनेत्रयोः ।।१।।
एकैवाहमधन्याऽस्मिञ्जगत्यद्यापि हन्त ! या। न पश्यामि स्वपुत्रस्य वधूटीवदनाम्बुजम्" ।।२।।

अथ शिवादेवी समुद्रविजयं राजानं प्रोचे—हे स्वामिन् ! पुत्रं नेमिकुमारमाहूय पाणिग्रहणाय संबोध्य परिणाय्यतां, यथाऽहं पूर्णमनोरथा भवामि। ततः समुद्रविजयेन पुत्रं नेमिकुमारं समाकार्योत्सङ्गे निवेश्य प्रोक्तम्—भो वत्स ! त्वमेकं मातापित्रोर्मनोरथं पूरय, यदेकां कामिनीमङ्गीकुरु। तस्याः पाणिग्रहणेनाऽहं तव

माता च वध्वा वदनं समालोक्य प्रीणितौ भवावः। एतद्वचनं श्रुत्वा नेमिराह—भोस्तात ! नाहमुद्वाहभङ्गुरः, किन्तु यदाहं स्थिरप्रेमाणं ममानुरक्तामखण्डसुखदां ममानुरूपां कन्यां लप्स्ये तदाहं भवत्तोषाय तां वरिष्ये।

इति पुत्रवचनं श्रुत्वा शिवादेव्युवाच—हे वत्स ! त्वया किमुक्तम् ?। अस्यां नगर्यां द्वारवत्यां रूपनिर्जिताप्सरसो बह्व्यो यादवकन्यका वर्तन्ते। अस्यां नगर्यामुग्रसेनस्य राज्ञः पुत्री राजीमतीनामा कन्या तव योग्या रूपेण वयसा तवानुरूपा वर्तते। ततस्तामुद्वह। नेमिरूचे—हे पितरौ ! मायाचतुरचेतसो नार्यो मम न रोचन्ते, यतस्ता दुःखैकखानयस्तुच्छा निर्विवेकाः, किन्तु या निस्तुषसौहार्दा महानन्ददायिन्यः सुधानद्युपमाः, तासु मे मनो वर्तते, नाऽन्यासु। ततोऽहं समये तवाज्ञया परिणेष्यामि। अतः पितरौ ! कियान् कालः प्रतीक्ष्यताम्। एवमुक्त्वा तोषितौ मातापितरौ।

एवं गतेषु बहुषु वर्षेष्वन्यदाऽऽस्थानीमास्थिते हरौ एवंविधः कश्चिद् महाध्वनिः प्रादुर्बभूव। ध्वनिः किं कुर्वन् ?, निःशेषध्वनिं पीडयन्। प्रासादशिखरश्रेणिं स्रंसयन्, द्यावाभूम्युदरंभरिः, क्रोधोद्धुरसिन्धुरानितस्ततो भ्रमयन्, त्रोटितबन्धनान् तुरङ्गमांस्त्रासयन्, द्वारवतीवप्रं कम्पयन्, अम्बुराशीन् क्षोभयन्। तदा भीत्या त्रस्ताः नार्यः स्वान् प्रियानालिङ्गन्ति स्म। केचिद् नरा मेघगर्जारवातिरेकं ब्रह्माण्डस्फोटसदृशं महाध्वनिं श्रुत्वा नेशुः। सुरेन्द्राः भीतिभीता इतस्ततो विचेरुः। कैश्चिद् यादवेन्द्रैरपि मूर्च्छितम्। हरिपार्षद्याः केचिद् भीता इतस्ततो नेशुः। तं ध्वनिं श्रुत्वा हरिश्चिन्तयति, यथा असौ पाञ्चजन्यजन्यो ध्वनिः, नायमगोविन्देन वाद्यते; तर्हि किं कोऽपि ममारिवासुदेवः समुत्पन्नः, यस्यायं पाञ्चजन्यशङ्खध्वनिः ?।

इत्याकुलितमानसो हरिर्यावद् बभूव, तावदायुधगृहारक्षक एत्य हरिं विज्ञपयति स्म—हे देव ! तव बान्धवो नेमिकुमारः कुमारावृतो विचरंस्तवायुधशालामाजगाम। तत्र सुदर्शनं चक्रं दृष्ट्वाऽङ्गुल्यग्रेण

भ्रमयित्वा मुक्तम् । ततः शार्ङ्गधनुः समादाय कमलनालवद् वलयित्वा मुक्तम्, ततः कौमोदकी गदा करेण समादाय यष्टिवदितस्ततो भ्रमयित्वा स्वस्थाने मुक्ता ।

पाञ्चजन्यशङ्खं करे व्यापारयन् नेमिस्तव बन्धुर्मया निषिद्धः—स्वामिन् ! एष शङ्खो विष्णुं विनाऽन्यः कोऽपि वादयितुं नालंभूष्णुः । एवं मया बहु वारितोऽपि करेणुवल्लम्बकरेण पाञ्चजन्यं पुण्डरीकमिवाग्रहीत् । ततः स रक्तोत्पलनिभे बन्धूकवत् कोमले रक्ते चाधरे नेमिना शङ्खः स्थापितो भृशं शुशुभे, रक्तोत्पले खेलन् कलहंस इव । ततः प्रोत्फुल्लकपोलेन स्वामिना एष शङ्खः पूरितः । तन्नादेन वयं, सर्वेऽपि यामिकाश्च मूर्च्छामगच्छाम । ततः क्रमादवाप्तचैतन्योऽहं त्वदन्तिके समुपागतः । इत्याख्याय गते तस्मिन् हरिरचिन्तयत्-नूनमस्मत्कुलेऽसौ नेमिश्चक्रवर्त्युत्पन्नः, यतो मया ध्माते पाञ्चजन्ये नेदृग् नादः कदाप्यऽभूत्, अतः सकलवंशोत्तंसो हरिवंशः, यो वंश ईदृग्नररत्नैरलङ्कृतः । एवं प्रशंसन् कृष्णो नेमिनाऽलंकृतामायुधशालामाजगाम ।

तत्र नेमिं दृष्ट्वा हरिर्बभाषे—भो बन्धो ! तव स्थामविलोकने मम कुतूहलं वर्तते । अतोऽत्यर्थं मुहूर्तमात्रमावयोरेव युद्धं भवतु । निर्विकारेणापि नेमिना तत्प्रतिपन्नम् । ततो द्वावपि बन्धू सपरिकरौ खुरली समाययौ । तत्र गत्वा हरिर्मल्लयुद्धाय सन्नह्यते स्म । तं सज्जीभूतं दृष्ट्वा गम्भीरगिरा श्रीनेमिर्बभाषे—हे भरतार्धपते ! एतद्युद्धं नीचजनोचितं, किं वृथा पृथ्वीरजोऽवगुण्ठिता तनुः क्रियते ? । भुजवालनेनैवावयोर्बलपरीक्षा किं न भवति ? । अतो द्वावपि बन्धू परस्परं बाह्वोरानमनेन युद्धं प्रपेदाते । तत्र प्रथमं नारायणः प्रलम्बं स्वभुजं तिर्यगधारयत् । तद्भुजं श्रीनेमिर्नलिनीनालमिवाऽवालयत् । ततः श्रीनेमिर्दक्षिणं स्वभुजं हिमवद्दंष्ट्रोपमं प्रसारयति स्म । ततः कृष्णो नेमेर्भुजवल्लरी वालयितुमुपाक्रमत ।

यथा-"आकुञ्च्य चरणौ पश्चात् सारसर्वाऽभिसारतः । ललम्बे नेमिदोस्तम्भे कृष्णः कपिरिव द्रुमे ॥१॥

न च नेमिभुजस्तम्भः सूत्रमात्रमपि क्वचित् । स्थानाच्चचाल किं मेरोश्चूला चलति वात्यया ?" ॥२॥

तस्य नेमेर्बलं समालोक्य हरिर्मोहितमानसो वारं वारं समालिलिङ्ग । आलिङ्गनं दत्त्वा एवमुवाच—यथा मामकीनेन दोर्बलेन रामः प्रमोदते, हे बन्धो ! तथा तावकीनेन दोर्बलेनाऽहं प्रमोदमेदुरो भवामि । एवं श्लाघां विधाय नेमिः स्वस्थाने प्रेषितः । मनसि भीतः केशवो रामं प्रोचे—हे बन्धो ! त्वयाऽऽश्चर्यकारि नेमेर्बलं दृष्टम् ? । अहो ! नेदृग् बलं चक्रिणो भवति, शक्रस्यापि न भवति । तदसौ नेमिः षट्खण्डां मेदिनीं कथं न साधयति ? । सीरपाणिरभाषिष्ट—हे हरे ! यदाऽसौ नेमिः श्रीशिवादेव्याः कुक्षाववातरत् तदानीं तया शिवया चतुर्दश स्वप्ना इमे ददृशिरे,

यथा—"गयवसहसीहअभिसेअदामशसिदिणयरं धयं कुम्भं ।
पउमसरसागरविमाणभवणरयणुच्चयसिहिं च" ॥

एतांश्चतुर्दश स्वप्नान् प्रधानान् दृष्ट्वा प्रभाते स्वप्नपाठकानामग्रे विज्ञप्तम् । ततस्तैरुक्तम्—अस्माकं स्वप्नशास्त्रे द्वासप्ततिः शुभाः स्वप्नास्तेषां मध्ये त्रिंशद् महास्वप्नाः, द्विचत्वारिंशत् स्वप्नाः शुभाः कथिताः सन्ति । तेषां मध्यात् तीर्थङ्करमातरश्चक्रवर्तिमातरश्च एतांश्चतुर्दश स्वप्नान् दृष्ट्वा जाग्रति, वासुदेवमातरः सप्त, बलदेवमातरश्चतुरः, मण्डलिकमातर एकं स्वप्नं दृष्ट्वा जाग्रति । अत एष तीर्थङ्करो यतस्त्वं वासुदेवो, अहं बलः, एकस्मिन् समये द्वौ चक्रधरौ न भवतः । अत्रान्तरे आकाशभारत्या देवेनोक्तम्—भो रामकेशवौ ! अनल्पविकल्पैः सृतम् । नेमितीर्थेऽत्रैव भारतेऽयं द्वाविंशो जिनो भावी । अयं नेमिः स्त्रैणं समस्तं तृणवद् गणयिष्यति, महानिरीहो राज्यं न ग्रहीष्यति । तदाकाशवाणीं श्रुत्वा तुष्टमना हरी राममापृच्छ्यान्तः

पुरमुपेयिवान् । अथ नारायणोऽन्तःपुरे विचरन् स्वप्रियापुरो नेमेर्गुणानाचख्यौ । ततो नेमिकुमारं निर्विकारं समाहूय प्रियाभिः सार्धं जलकेलिं करोति । ततो हरिणा सज्ञिता नार्यः स्वामिना सह स्वेच्छया क्रीडन्ति ।

यथा–"लीलावनेषु वापीषु क्रीडाद्रौ सरसीषु च ।
समं नेमिकुमारेण रेमे सान्तःपुरो हरिः" ॥ १ ॥

नेमिना सहक्रीडा-करणम्

एवं प्रतिदिनं नेमिना सार्धं प्रियाभिश्च सह क्रीडां कुर्वतोऽस्य हरेः कियान् कालो गतः । एकस्मिन् दिने हरिणा स्वान्तःपुररक्षकाग्रे कथितम्—भोः कञ्चुकिनः ! भवद्भिर्मद्बन्धुर्नेमिकुमारः सर्वत्राऽन्त.पुरादौ स्वेच्छया विचरन् कुत्रापि न निषेध्यः । पुनः कैटभारिः सर्वाः प्रियाः समाकार्य एवमवोचत्—हे प्रियाः ! युष्माभिर्नेमि-देवरोऽपशङ्कितं खेलनीयः । ततो नेमिरेकाक्यपि हरेरन्तःपुरं ययौ । यतो धीरा विकाररहिता विशेषतोऽन्तः-पुरादौ व्याप्रियन्ते । अथ सर्वा हरेरङ्गनाः सविकारा विकारं मान्मथं दर्शयामासुः, तथापि प्रभुस्ताभिर्निर्विकारः क्रीडति स्म । एकस्मिन् दिने हरिणा शिवासमुद्रविजयौ समाकार्य प्रोक्तम्—श्रीनेमेर्दारस्वीकारः कथं न कार्यते ? ।

ताभ्यामुक्तम्—एष नेमिः संसारविमुखः पाणिग्रहणं न करोति । ततो हरिणा प्रियाः प्रत्यभाणिषत—हे प्रियाः ! श्रीनेमि पाणिग्रहणाय प्रार्थ्यम्—यथा नेमिः पाणिग्रहणं करोति तथा कार्यम् । तत् श्रुत्वा सत्यभामाद्या हरिप्रिया नेमिना सह क्रीडन्त्यः पाणिग्रहणाय प्रार्थयामासुः । स्वाम्यपि तासां वचोयुक्त्या प्रत्युत्तरैस्तोषयामास । नेमेर्वचोलक्षविलक्षाणां गोपाङ्गनानां साहाय्याय वसन्तर्तु रवातरत् । ततः पौरान्वितो माधवो जगद्वल्लभः प्रियासहितो नेमिना सम रैवतकोद्यानमगमत् ।

तत्र वने परिपीतासवा यादवाः प्रियाभिः सार्धं नव्यैः कुसुमाभरणैः स्वैरं चिक्रीडुः। केऽपि यादवाः प्रयसीनां प्रियं कर्तुकामाः करपल्लवे वृक्षपल्लवं दर्शयित्वा क्रीडां कर्तुं समाकारयामासुः। केचित् पुष्पकन्दुकैः कृत्वा प्रियाः प्रति ताडयामासुः। कश्चन पुष्पहारं कृत्वा प्रियायाः कण्ठे स्वबाहुमिव चिक्षेप। एवं प्रिया अपि प्रेमपाशमिव कण्ठे स्वबाहुपाशं विधाय इतस्ततो वने विचेरुः। रेवतीसत्यभामाद्याः रामकेशवयोः पत्न्यो नेमिना समं रेमिरे, यथा—काचिन्नवैः कुरुबकैः पृष्ठन्यस्तस्तनी नेमेर्धम्मिल्लबन्धनं चक्रे, एवं कापि नेमेः कण्ठे पुष्पहारं वितेने, कापि स्वांह्रिप्रहारोत्थैः कङ्केल्लिकुसुमैः पुरो भूत्वा प्रकटितदोर्मूला दर्शितपयोधरा नेमेः शिरसि कुसुमापीडं रचयामास, एवं कापि कामवशं गता कटाक्षविक्षेपं वितन्वाना विरेजे, काचिद्धास्यं वितन्वानाऽत्यर्थं शुशुभे।

इति श्रीनेमिना सार्धं नारायणः प्रत्यहं क्रीडातत्परो विचचार, परं वसन्तस्तस्य नेमेर्मानसं निर्विकारं सविकारं न चकार। ततो मानमुत्सृज्य स्वस्थानमगमत्। ग्रीष्मर्तौ भीष्मरुचिर्भानुर्गते वसन्तर्तौ, अत्यर्थं जने तापकृज्जातः। तदानीं नारायणोऽन्तःपुरैः सार्धं रैवतकोद्यानवापीपुष्करिण्यादिषु जलकेलये विचचार। तत्र जलक्रीडादिषु भ्रातुर्जायादिभिराकृष्य नेमिरपि समं नीयते स्म। तस्मिन् सरोवरादौ जलकेलिं कुर्वाणा हर्यङ्गनाः सुवर्णशृङ्गिकानीरेण नेमिमाच्छोटयन्त्यो वारं वारं बभाषिरे—पाणिग्रहणं मानय, अन्यथा त्वां न मोक्ष्यामः। इत्युक्त्वा सुवर्णशृङ्गिकानीरेण सत्यभामा मुखाभिमुखमाच्छोटयत्। एवं रुक्मिण्यपि नेमेः कपोलाऽभिमुखं शृङ्गिकाया नीरमाच्छोटयन्ती अत्याक्षेपात् त्रुटत्कञ्चुकबन्धना लज्जावनम्रा हरेः पुरतो भूत्वाऽन्यत्र ययौ। एवं नेमिरपि ता जलैः सिषेच।

यथा—"कपोलफलके काचित् काचिद् वक्षोजकुट्टिमे।
आरोहपुलिने काचिद् नेमिना सिषिचे जलैः" ॥ १ ॥

तत्र जलकेलिभरे तासां नारीणां विभ्रमैर्नेमिनाथो मनागपि न चचाल, यतो महताऽपि वायुना किं सुदर्शनो मेरुश्चलति। मुदा जाम्बवती दत्तकरावलम्बा शनैः शनैर्नेमिं पुष्करिण्या उत्ततार। तस्याऽनुपदं दामोदर उत्ततार। अथ तयोः कार्ये रुक्मिणी चन्द्रकिरणैः स्यूतानि तोयोज्ज्वलानि देवदूष्याणि वस्त्राण्युपानैषीत्। काचिद्धरेः प्रिया नेमिं भद्रासने निवेश्य केशान् संस्मार्य धूपादिना वासयित्वा कुसुमैः संयुक्तां नवां कबरीं बबन्ध। काचित् स्वर्णसवर्णाङ्गी हरिप्रिया स्वर्णाद्याभरणैर्नेमिं भूषयति। काचिच्छिरसि च्छत्रं धृत्वा चामरैर्वीजयामास।

सत्यभामायाः प्रेरणा

अथ सत्यभामा हरेः पट्टराज्ञी नेमेः पादौ संवाह्य पुरस्सरं विनयावनम्रा एवमवोचत्—हे कुमार! अयं संसारो दारसंग्रहात् सारवान्, यतः श्रीमानपि पुमान् पत्नीं विना रेणुवदकिञ्चित्करः, पत्नीं विनाऽस्मिन् संसारे कोऽपि नास्ति, यथा—इन्द्रस्य इन्द्राणी, ब्रह्मणः सावित्री, हरेर्लक्ष्मीः, रुद्रस्य पार्वती, अनङ्गस्य रतिप्रीत्यौ, चन्द्रस्य रोहिणी, रवेस्तारा। एवं सर्वेषां देवानामपि देव्यो वर्तन्ते। ऋषभाद्यास्तीर्थङ्करास्तेऽपि कृतोद्वाहा मोक्षं जग्मुः। अतस्त्वमप्येकान् दारान् परिणय। यथाऽस्माकं मनोरथाः संपूर्णा भवेयुः।

यतः—"तवेदमीदृक् सौभाग्यमिदं रूपमिदं वयः।
गुणोदारान् विना दारान् सर्वं जानीहि निष्फलम्" ॥ १ ॥

तथा, धर्माऽर्थकामेषु पुरुषार्थत्रयेषु विना स्त्रीं कामार्थो न भवति, स्त्रीं विना पुत्रोत्पत्तिर्न जायते, विना पुत्रं कुलसन्ततिः कथं भवति?, शब्दादयोऽपि विषयाः प्रकामं स्त्रीजनेनैव भवन्ति, लवणेन रसा इव। त्वयि पाणिगृहीते मातापितरौ भ्रात्रादयोऽपि स्वजनवर्गाः सर्वे भृशं मुदिता भविष्यन्ति। एवं विष्णुसवान्त·पुर्यः

पादौ निपत्य वारं वारं कथयामासुः। तदनु जनार्दनोऽपि तथैवाऽकथयत्, तदानी तत्रायातौ शिवासमुद्रविजयौ तावपि तथैव पूत्कुरुतः स्म।

अथ नेमिश्चिन्तयति—अहो ! अस्मादृशामपि महत्सङ्कटं समागतम्। अथ किं करिष्यते, एकतो यादवाङ्गनानां पाणिग्रहायाग्रहः, एकतो हरेराग्रहः, अन्यतो मातापित्रोराग्रहश्च। अथ केवलिभिर्दृष्टो भावो भविष्यत्येव, तथापि मनस्विभिरवश्यं मातुराज्ञाऽनतिक्रमणीया, इत्यालोच्य नेमिः सानन्दो मातुर्वचः प्रत्यपद्यत। ततः केशवः सपरिवारो द्वारकां पुरीं प्राविशत्। द्वारकां प्रविष्टो हरिश्चतुरामात्यान् प्रहित्य नेमेर्योग्यां सर्वाऽभिमतामुग्रसेनतनयां रूपनिर्जिताप्सरसं राजीमतीमयाचत। साऽपि नेमेर्गुणान् श्रुत्वा दर्शनाच्च विशेषादप्यनुरागिण्यभूत्। सोऽप्युग्रसेनः प्रहर्षुलो हरिमन्त्रिणा याचितां रागिणीं राजीमतीं नेमिकुमाराय ददौ।

अथ कंसारिणा लग्नं पृष्टः क्रोष्टुकिरभ्यधात्—हे देव ! संप्रति वर्षाकालो वर्तते, वर्षाकाले कुशलैः पुरुषैर्वैवाहिकादिशुभकार्याणि न कार्याणि, तर्हि पाणिग्रहणमहोत्सवस्तु कथं कार्यः ?। अथ वर्षाकालं विलम्ब्य ततः पाणिग्रहणमहोत्सवः कार्यः। तत् श्रुत्वा समुद्रविजयो बभाषे—भो हरे ! नेमिः पाणिग्रहणाय कथमपि मानितो मा वृथा भवतु, अतः शीघ्रं लग्नं विलोकय, यद्भावि तद्भवतु। तत् श्रुत्वा क्रोष्टुकिरब्रवीत्—तर्हि श्रावणस्य श्वेतषष्ठ्यां लग्नं वर्तते; तल्लग्नोपरि स्थाने स्थाने प्रहिताः स्वपुरुषाः स्वजनसमाकारणाय। तदासन्नं दिनं विज्ञाय भवदामन्त्रणाय युष्मदन्तिकं मां प्राहिणोत्। किञ्च,

"इत्युक्त्वा मृगनाभ्यङ्कं कोरकः कङ्कुमाक्षराम्। आर्पयत् तपसः सूनोः करे कुङ्कुमपत्रिकाम् ॥१॥
घनसारकराकीर्णां स्नेहचूर्णाङ्कितामिव। तामुद्वेष्ट्य प्रकृष्टात्मा सभायां सोऽप्यवाचयत्" ॥२॥

स्वस्तिश्रीद्वारकापुरीतः सस्नेहं केशवो गजपुरे धर्मनन्दनमालिङ्ग्य कुशलोदन्तं पृच्छति, यथा—अत्र वयं

राजीमत्या याचनम्

कुशलिनः स्मः, भवद्भिरपि स्वकुशलवार्तया वयं प्रमोदनीयाः। अथ चात्र मया समुद्रविजयादिभिश्च संभूय भूयसाऽऽग्रहेण श्रीनेमिर्जितेन्द्रियो बलात्कारेण विवाहाऽङ्गीकारं कारितोऽस्ति। तदसमानसौजन्यैर्भवद्भिः सपरिकरैः सानुजैर्लग्नस्योपरि वेगेनाऽत्रोपस्थातव्यम्। किञ्च, भ्रातृव्योद्वाहकर्मण्यधिकारिणी देवी कुन्त्यपि सहाऽऽनेतव्या।

एवंविधां लेखपद्धतिं वाचयित्वा कोरकोक्तं श्रुत्वा च तं दानमानादिभिस्तोषयित्वा पञ्चापि पाण्डवाः समातृपत्नीकाः ससैन्याः सबलवाहना हस्तिनापुराच्चेलुः। एवमन्येऽपि राजानः कृष्णेनाहूताः सपरिकरा द्वारकां प्रति चेलुः। सत्कृतः कोरको द्वारकां समागत्य पाण्डवागमनं शशंस। तत् श्रुत्वा नारायणः सतोरणां ध्वजपताकापरिमण्डितां प्रतिमन्दिरमारब्धधवलमङ्गलालङ्कृतामुत्तुङ्गकदलीस्तम्भमण्डितामेवंविधां द्वारकां व्यधात्।

लग्नार्थ प्रयाण

अथ क्रमेण केशवाहूताः पाण्डवाः सतोरणां द्वारकां समुपागमन्। एवमन्येऽपि राजानो नेमिविवाह-महोत्सवे द्वारकां समाजग्मुः। सर्वेषां पाण्डवप्रभृतीनां राज्ञां समाहूतानां सपरिकराणां नारायणः संमुखं गत्वा महामहेन पुरीप्रवेशमकारयत्। ततस्तेषां समागतानां राज्ञां वैवाहिकक्रियारम्भसंयुक्तानां सुखोत्तारकभक्त-पानादिसत्कारं हरिश्चक्रे। ततः शिवादेवी समुद्रविजयान्विता युधिष्ठिरान्विते हरिमन्दिरे गत्वा युधिष्ठिरं समातृकं बन्धुसहितं तोरणमण्डितं निजं सौधमानैषीत्। ततः शिवा कुन्तीपादोपगूढमानम्य यथौचित्यमभाषत।

यथा—"असौ देवि ! त्वदीयाशीर्वादपादपपल्लवः।
यदीदृशस्य पुत्रस्य मातृशब्दं वहाम्यहम्" ॥

हे पितृस्वसः ! निजभ्रातृतनूजस्य पाणिग्रहणोचितानि माङ्गल्यकृत्यानि सर्वाणि कुरुष्व। अनेन वचनेन पाण्डवेयानां जननी कुन्ती भर्तृस्वसा पीयूषेण सिक्ता वल्लरीवोच्छ्वसितमानसा बभूव। ततः सर्वाः देव्यः कुन्तीशिवादेवकीरोहिणीप्रभृतयस्तारमधुरस्वरेण धवलमङ्गलानि पेठुः। एवं रेवतीरुक्मिणीसत्यभामाप्रमुखा नेमेर्भ्रातृजाया धवलमङ्गलानि पेठुः, अथ सर्वास्ताः स्त्रियः स्वर्णमये स्नानपीठे पूर्वाभिमुखं नेमिवरं निवेश्याऽऽराद् धवलमङ्गलपूर्वं स्नपयामासुः। स्नानकरणानन्तरं सिंहासने निवेशितं पाणावर्पितं सशर धनुर्धरन्तं नेमिपुत्रं प्रेक्षमाणा शिवा नेत्रतृप्तिमाप।

ततो वध्वाः प्रसाधनकृते शिवाकुन्त्यादयः प्रेमकल्लोलोल्लसितमानसा उग्रसेनगृहं ययुः। तत्र गत्वा राजीमतीं कन्यां स्नानपीठे तथैव स्नपयित्वा वस्त्रनेपथ्याद्यलङ्कारं परिधाप्य लक्ष्यानुकारां कृत्वा सिंहासने संस्थाप्य करे सायकं दत्त्वा दृग्दोषापनोदाय वृद्धस्त्रियो मङ्गलानि प्रचक्रमिरे। पुनरपि धवलक्षौमवसनां कृत्वा प्रसाधिकाभिः सैरन्ध्रीभिः चतुष्किकां निवेश्य षोडशभिर्भूषणैर्भूषिता।

यथा–आदौ मज्जनचारुचीरतिलकं नेत्राञ्जनं कुण्डलं, नासामौक्तिकपुष्पहारकटकं झङ्कारकृन्नूपुरम्।
अङ्गे चन्दनचर्चितं कुचमणिः क्षुद्रावलिर्घण्टिका, ताम्बूलं करकङ्कणं चतुरता शृङ्गारकाः षोडश॥१॥

एतैः शृङ्गारैः शृङ्गारिता कन्या राजीमती शुशुभे। तां कन्यां रम्भातिरेकां इन्द्राण्यधिकां रूपनिर्जितसुराङ्गनां समालोक्य शिवा चिन्तयति—नेदृशानि मम भाग्यानि यदीदृशी वधूर्मम गेहमलङ्करोति। ताः शिवादेवीप्रभृतयो यादवाङ्गना वधूं मातृकागारे मणिमयसिंहासने संस्थाप्य प्रमोदेन सम्यग्लक्ष्मीनिकेतने वरागारे वरान्तिके समुपाययुः। अथ ताः सर्वाः स्त्रियः शिवाप्रभृतयो नेमिं प्रसाधयामासुः।

राजीमत्याः शोभा

यथा—"ततश्चन्दनलिप्ताङ्गो मुक्ताभरणभूषितः । वरः प्रीणितनेत्राणि पारिणेत्राणि पर्यधात् ॥ १ ॥
मौलौ धृतसितच्छत्रो वारस्त्रीधृतचामरः । परिणेतुं प्रतस्थे स स्थितो रथवरे वरः" ॥ २ ॥

ततः पुरतः केऽपि गजारूढाः, केऽपि रथारूढाः केऽपि तुरङ्गमारूढाः प्रौढलक्ष्मीकाः कुमाराः सह चेलुः, रामकृष्णौ गजारूढौ नेमिपृष्ठे विरेजाते, तदनु समुद्रविजयादयो यादवाः कुञ्जरारूढाः शुशुभिरे । एवमन्येऽपि राजानो वाजिवारणरथारूढाः परस्परं वार्तां कुर्वाणा देवा इव दिदीपिरे । तदन्वमात्यादयो वाहनारूढा विचेरुः । एवं मौक्तिकाङ्कितशिबिकारूढाः कुन्तीशिवाप्रभृतयो विरेजुः । एवं यानारूढा यादवाङ्गना वैवाहिकधवलमङ्गलगीतगानपरास्तदनु गच्छन्ति । गजानां गर्जितैः, हयानां हेषितैः, रथानां चीत्कृतैः, सुभटानां जल्पनैः, घण्टानां क्वणितैः, तूर्याणां नादैः, भूषणानां ध्वनितैः, वातोद्धूतवस्त्राणां फटफटत्कारैः, नारीणां धवलमङ्गलगीतरवैः, गायनैर्गीयमानगुणोत्करैः, निस्वाननिस्वनैस्तदानीं मार्गे सचरति उग्रसेनस्य गृहाभिमुखं गच्छति श्रीनेमौ विश्व नादमयमभूत् ।

श्रीनेमिविलोकनाय गवाक्षलक्षेषु विनिर्गतवनितावदनैस्तदानीं लक्षचन्द्रमिव व्योम संजातम् । काश्चन नार्यो मङ्गलगीतानि गायन्ति, काश्चन मातापितरौ स्तुवन्ति, काश्चन गवाक्षस्था नार्यो लाजैर्वर्धापयन्ति, श्रीनेमेः पुरो दानमानैस्तोषिता वैतालिका मङ्गलानि पेठुः । एव स्तूयमानगुणग्रामः श्रीनेमिवर उग्रसेनगृहाभ्यर्णभूमिभागमभ्याययौ । तन्मनोहरं कोलाहलं श्रुत्वा राजीमती मुदं प्राप, मेघगर्जितैः केकिनीव । ततस्तस्याः सख्यौ चन्द्राननाप्रियदर्शने मार्गगवाक्षस्थे राजीमतीं समाकार्य नेमिं दर्शयतः । सा तमष्टभवभर्तारं नेमिकुमारं सस्पृहा समालोक्य एवं वर्णयति ।

यथा—"किं पायालकुमारो किंवा मयरद्धओ अह सुरिन्दो ।
अह चेव मुत्तिमन्तो महएसो पुण्णपब्भारो" ॥ १ ॥

यथा–"मा पहरसु मा पहरसु एयं मह हिअयहारिणिं हरिणो ।
सामी अम्ह मरणा वि दुस्सहो पियतमाविरहो" ॥ १ ॥

एतद्वचनं श्रुत्वा हरिणी हरिणं प्रति वक्ति—

यथा–"एसो पसन्नवयणो तिहुअणसामी अकारणबन्धू । ता विन्नवेसु वल्लह ! रक्खत्थं सव्वजीवाण ॥१॥
निज्झरणनीरपाणं अरणतिणभक्खणं वणे वासो । अम्हाण निरवराहाण जीविअं रक्ख रक्ख पहो ! "॥२॥

एवं सर्वे पशवः पूत्कुर्वन्ति । नेमिः कांश्चिद्गले बद्धान् ददर्श । एवं कांश्चित् पादे बद्धान् ददर्श, कांश्चित् पञ्जरस्थान्, सर्वान् दीनवक्त्रान् वाटके रुद्धान् दृष्ट्वाऽनुकम्पया कम्पमना वाटकरक्षकाय सारथये च पारितोषिके स्वाङ्गलग्नमाभरणादिकं दत्त्वा सर्वाञ् जीवान् गतबन्धनानकरोत् ।

यतः-"जीवांस्तान् मोचयामास नेमिः कारुणिकाग्रणीः । न्यवर्तयच्च निर्वेदात् स्यन्दनं सदनं प्रति ॥१॥
समुद्रविजयः कृष्णः सीरपाणिः परेऽपि च । शिवाद्याश्च स्त्रियस्त्यक्तयानास्ततपुरतोऽभवन्" ॥२॥

शिवासहितः समुद्रविजयो बभाषे—भोः पुत्र ! कस्मादेतस्माद् विवाहमहोत्सवाद्विमुखोऽभूः ? । नेमिरुवाच—हे पितरौ ! नरकाध्वनि शम्बलप्रायेण पाणिग्रहणेन सृतम् । एतैर्विषयैर्विडम्बितोऽहं चातुर्गतिक-संसारे नटितोऽस्मि, पुनरपि विषयासक्तससारे किं भ्रमामीति कृत्वा विषयाद् विरक्तो जातः । अथाहं भवदाज्ञया कर्मारीञ् जेष्यामि ।

यतः—"आरुह्य समितिश्लाघ्यमुच्चैः संयमवाजिनम् ।
तपःशस्त्रेण तीक्ष्णेन क्षपयिष्याम्यरीनमून्" ॥ १ ॥

इति नेमिनोक्तं वचनं श्रुत्वा मातापितरौ वज्राहताविव मूर्च्छामवापतुः । तौ शिवासमुद्रविजयौ समाश्वास्य कंसारिर्नेमिमवोचत् । हे कुमार ! त्वत्परोऽस्मिन् संसारे दयालुः कोऽस्ति, येन त्वया सर्वेऽपि जन्तवो दुःखाद् मोचिताः ?, तर्हि स्वमातापितरौ कथं न रक्ष्येते, यतो दुष्प्रतीकारौ मातापितरौ ?। तथा यत्र पित्रोर्मुदस्तत्राऽस्माकमप्यानन्दो वर्तते । सांप्रतं राजीमत्याः पाणिग्रहणं कृत्वा मातापितरौ प्रमोद्याऽस्मानपि हर्षमुत्पाद्य ततः संयमारामे त्वं विचरेः । जनार्दनोक्तं श्रुत्वा हसन्नेमिराह—हे हरे ! यमजिह्वोपमात् संसारात्, तथा ज्वालाजालप्रदीपनोपमात् संसारात् सुते निर्गच्छति पित्रोः किमानन्दो न जायते ?। भो मातापितरौ ! अहं संसाराद् बिभ्यत् तपः समाश्रये ।

यतः-"जम्मदुक्खं जरादुक्खं रोगाय मरणाणि य । अहो ! दुक्खो हु संसारो जत्थ कीसन्ति जन्तुणो ॥१॥
देवा विसयपसत्ता नेरइआ विविहदुक्खसंतत्ता । तिरिआ विवेगविगला मणुआणं धम्मसामग्गी" ॥२॥

एवंविधं दुःखागारं संसारं मत्वाऽहं दीक्षां समादास्ये, सृतं पाणिग्रहणेन । तत् श्रुत्वा मोहावेशपरवशा माता शिवा साश्रुलोचना सुकुमारं नेमिकुमारं कथयामास—हे वत्स ! अनातपत्रस्य दीक्षायामातपस्तव वपुर्बाधिष्यते, प्रावरणं विना हेमन्ते हहा ! शीतं बाधिष्यते, काननेष्वगारं विना वर्षावारिभरस्त्वया कथं सहिष्यते ?। तथा याश्वानाराचदुष्प्रेक्षां परीषहमहाचमूं संमुखमायान्तीमसहायः कथं सहिष्यसे ?। मया निजहस्तैः संचारित-सुगन्धितैलादिभिर्वर्धितं भ्रमरसंकाशं केशपाशं स्वहस्तेन कथमुत्पाटयिष्यसि ?। अथ नेमिर्जननीं प्रत्यूचे—

नेमे. संयम-ग्रहण-निर्णय-करणम्

हे मातः ! त्वयोक्तं सर्वं सत्यमेव, तथाप्ययं जीवः पराधीनो यां यां दुःखपरम्परां सहते, तां तां वक्तुमपि नो शक्यते । साधूनां गृहवासविरक्तानां यत्सुखमस्ति, लोभलम्पटानां मनुष्यसुराणां तत्सुखं नास्ति ।

यतः—"सन्तोषाऽऽयत्तचित्तानां यत्तु संयमिनां सुखम् ।
लोभलम्पटयोस्तन्न मानवेन्द्रसुरेन्द्रयोः" ॥ १ ॥

अतोऽहं मातः ! तवाज्ञया समतां प्रेयसीं करिष्ये, या सर्वदैव सुखोत्पादिनी स्थिरप्रेमा आनन्दैकमयी । एतद्वचनं सर्वैर्यादवैः श्रुतम् । ततो यादवैर्ज्ञातम्—नूनमेष नेमिः पाणिग्रहणं न करिष्यतीति ततः शिवासमुद्रविजयादिभिर्यादवैर्दत्तमार्गः सारथिप्रेरितरथश्चारित्रराजसुभटैः परिवृतो मोहवरूथिनीं जित्वा नेमिर्निजनिकेतनं समागात् । ततः सारस्वतादयो देवाः स्वाम्यन्तिके समागत्य 'तीर्थं प्रवर्तय' इत्युक्त्वा सांवत्सरिकदानावसरं ज्ञापयामासुः ।

सांवत्सरिकदान-वितरणम्

यतः-"सारस्सयमाइच्चा वन्ही वरुणा य गद्दतोया य । तुसिआ अव्वावाहा अग्गिच्चा चेव रिट्ठा य ॥१॥
एए देवनिकाया भयवं बोहिंति जिणवरिंदं तु । सव्वजगजीवहियं भयवं तित्थं पवत्तेह" ॥२॥

नेमिरप्यवधिज्ञानेन स्वदीक्षासमयं वर्षान्ते ज्ञात्वा सांवत्सरिकदानं प्रवर्तयामास, यथा—इन्द्राज्ञया धनदः स्वामिगृहे प्रत्यहं एककोटीमष्टौ लक्षाणि च मुक्त्वा याति, तत् प्रातः प्रहरान्तं यावत् स्वामी दानं ददाति । एवमेकस्मिन् वर्षे स्वामिना दत्तं दानं कथ्यते ।

यथा-"तिन्नेव य कोडिसया अट्ठासीई च हुन्ति कोडीओ । असीइं च सयसहस्सा एयं संवच्छरे दिन्नं ॥१॥
वरवरिआ घोसिज्जइ किमिच्छिअं दिज्जए बहुविहिअं । सुरअसुरदेवदाणवनरिन्दमहिआण निक्खमणे" ।२।

एवं स्वामिना वर्षं यावद् दानं प्रवर्तितम् । अथ राजीमती श्रीनेमिजिनं पशुव्यतिकरेण वलित ज्ञात्वा परशुच्छिन्ना लतेव भुव्यपतत् । सख्या कृतशीतोपचारेण लब्धचैतन्येति व्यलपत्—

"यादवराजवियोगे लूकाभिहतेव मालतीमाला ।
म्लाना मदनकराला विलपति राजीमती बाला" ॥ १ ॥

हा ! हा ! दैवेन किं कृतं दृष्टिर्दत्त्वोद्दालिता, मेरुमारोह्य पातिता, मया पूर्वमपि ज्ञातं भवति—न सन्ति मे एतादृशानि पुण्यानि, यदेष नेमिः पाणिग्रहणं कृत्वा मां कृतार्थयति, किं कटुतुम्बी कल्पमहीरुहमारोहति ? । हे स्वामिन् ! तव विरहेऽनेन मनोहरेणापि हारेण किं ?, तव विरहे इमे रत्नमये कुण्डले मे विडम्बना सम्प्रति एषा मेखला मे खलायते, तथैतौ बाह्वाभरणरत्नाङ्गदौ गदोपमौ प्रतिभासेते । एवं राजीमती नेमिं प्रति मुहुर्मुहुर्व्याहरन्ती सर्वाभरणानि तत्याज । पुनर्वारं वारं नेमेर्गुणान् स्मारयन्ती भूपीठे लुलोठ, विरहातुराऽभीक्ष्णं वक्षस्ताडनपूर्वकं चक्रन्द, तावत् सख्यावूचतुः—निस्नेहेऽस्मिन् वरे कोऽयं तव स्नेहः ?, तद्वरं जातं यदनेन न परिणीता, यदि पाणिग्रहणं कृत्वा त्यजन् स्यात्तर्हि कूपे क्षिप्त्वा दवरककर्तनं कुर्वन् स्यात् । हे सखि ! चिन्तां मा विधेहि, तवाऽन्यः प्रेमपरो भर्ता करिष्यते ।

तच्छ्रुत्वा भृकुटीभीषणा राजीमती बभाषे—हे सख्यौ ! केयं युवयोरविमृश्य वचस्विता ? । अस्मिञ् जन्मनि नेमिनाथं विनाऽन्यं नाथं प्राणान्तेऽपि न करोमि । यदि दक्षिणकरोपरि करो न जातः, तर्हि दीक्षासमये मम मस्तकोपरि करं कारयिष्यामि । तत् श्रुत्वा सर्वाः सख्यो राजीमतीं प्रशंसन्ति—हे सखि ! त्वं धन्या, सुलब्धं तव जन्मजीवितफलं, या त्वं स्वस्वामिहस्ते दीक्षामादास्यसि । एवं सर्वाः सख्यः प्रशंसां कृत्वा स्वस्थानमगुः ।

राजी-
मत्या
विषाद

अथ नेमिरद्भुतं वार्षिकं दानं दत्त्वा भवाब्धियानपात्राय चारित्रायोत्सुकोऽभवत्। तदानी चतुःषष्टिरपि सुरेन्द्रा दीक्षोत्सवे समाजग्मुः। ते चाऽमी—विंशतिर्भवनाधिपतयः, द्वात्रिंशद् व्यन्तरेन्द्राः, चन्द्रसूर्यौ, द्वादशदेवलोकाधिपतयो दश; एवं चतुःषष्टिदेवेशा नेमिदीक्षामहोत्सवे मिलिताः सन्तो यत् कुर्वन्ति तदाह—प्रथमं स्वामिन मणिपीठे मणिसिंहासने पूर्वाभिमुखं निवेश्य पञ्चवर्णाष्टसहस्रचतुःषष्टिकलशैः, यथा—स्वर्णरूप्यरत्न-स्वर्णरजतस्वर्णरत्नरूप्यरत्नस्वर्णरूप्यरत्नमृत्तिकामयैः क्षीरनीरभृतैः स्वामिनं स्नपयामासुः। ततः गन्धकाषायिकेन शरीरमुन्मृज्य चन्दनैर्विलिप्य भूषणैर्भूषयामासुः। ततो देवदूष्यं परिधाप्य उत्तरकुरां शिबिकां जिनमध्यारोपयन्।

राजीमत्या रुदनम्

अथ स्वाम्यग्रे शक्रेशानौ तत्र चामरे दधतुः। सनत्कुमारश्छत्रं, माहेन्द्रः खड्गं, ब्रह्मेन्द्रो दर्पणं, लान्तवेश्वरः पूर्णकलशं, शुक्रेशः स्वस्तिकं, सहस्रारः शतायुधम्, आनतप्राणताधीशः श्रीवत्सम्, आरणाऽच्युताधीशो नन्दावर्तं दधार। चमरादयः शेषेन्द्राः शस्त्राणि कलयामासुः। भगवति शिबिकारूढे समुद्रविजयादयो यादवाः, उग्रसेनप्रभृतयो राजानः, रामकेशवपाण्डवादयो बान्धवाः, शिवाकुन्तीदेवकीरोहिणीप्रभृतयो राज्यः स्वामिना सह यानाधिरूढाश्चेलुः। काश्चन मङ्गलगीतानि गायन्त्यः, शिवाद्याः साश्रुलोचना रुदत्यः सह चेलुः, यतो मोहस्याज्ञा महीयसी वर्तते। उग्रसेनगृहाभ्यर्णे समागतस्य श्रीनेमेर्दर्शनाद् जागरितशोका राजीमती दीनस्वरा पुनर्भृशं रुरोद।

तदा राजीमतीदुःख जानन्नपि जिनो रागवैरिणा नाभ्यभूयत। वाद्यमानेषु वादित्रेषु गायनैर्गीयमानः, वन्दिजनैः स्तूयमानः, सज्जनजनैरभिनन्द्यमानः, देवमनुष्यसङ्घपरिवृतो जिनः सहस्राम्रवने समागात्। तत्रागत्य जिनः शिबिकाया उत्तरकुराया अवातरत्। तत्राम्रतरोस्तले स्वामिना स्वाङ्गाभरणं मुकुटकुण्डलहारकेयूरादिक सर्वं मुच्यमानं सौधर्मेन्द्रो गृहीत्वा योजितोभयपाणये मुकुन्दायाऽदात्। अथ वर्षशतत्रयान्ते मासि श्रावणे

श्वेतषष्ठ्यां पूर्वाह्णे चित्रास्थिते चन्द्रे कृतषष्ठतपाः शिवात्मजः स्वयं कचान् पञ्चभिर्मुष्टिभिरुत्पाटयामास । तान् केशान् शक्रः क्षिप्रं क्षीराब्धौ क्षिप्त्वा समागतः । ततः शक्रः स्वाम्यंसे देवदूष्यं न्यधात् ।

ततः शक्राज्ञया निवृत्ते तुमुले स्वामी चतुर्महाव्रतरूपसामायिकचारित्रं प्रपन्नवान्; यथा—"करेमि सामईअं सव्वं मे अकरणिज्जं सावज्जं तिविहं तिविहेणं" इत्यादि । प्रतिपन्ने संयमे तत्क्षणादेव मनःपर्यायसंज्ञकं ज्ञानं प्रभोः प्रादुरभूत् । तदानीं क्षणमात्रं नारकाणामपि सुखमभूत् । तदानीं स्वामिना सार्धं सहस्रं वसुधाधिपाः प्राव्राजिषुः । नेमिं नत्वा शक्रगोविन्दपाण्डवाः स्वधाम समाययुः । ततः स्वाम्यपि विहृत्य षष्ठपारणे लक्ष्मीगोकुलाकुले गोकुले वरदत्तगृहे परमान्नेन पारणं चक्रे । तत्रेमानि पञ्च दिव्यानि जातानि, यथा—जलपुष्पयोर्वृष्टिः, स्वर्णवृष्टिः, चेलोत्क्षेपः, दिव्यो देवध्वनिः सुरैः कृतः 'अहोदानमहोदानं' इत्याघोषणा, देवकृतानीति पञ्च दिव्यानि जातानि सुवर्णवृष्टिमानं ।

यथा—"सड्ढदुवालसकोडी सुवन्नवुट्ठीइ होइ उक्कोसा ।
लक्खा सड्ढदुवालस जहन्निया होइ वसुहारा" ।। १ ।।

पारणं कृत्वा जिनोऽन्यत्र ग्रामादिषु विजहार । श्रीनेमिदीक्षामहोत्सवं कृत्वा विष्णुना सह द्वारकायां समायाताः पाण्डवाः क्रीडन्त आनन्दवशंवदा गतमपि कालं नाज्ञासिषुः । नेमिनाथोऽपि चतुष्पञ्चाशद् दिनानि विहृत्य पुनस्तत्रैव सहस्राम्रवन उपाजगाम । तत्राष्टमतपाः स्वामी । वेतसवृक्षतले आश्विनमासेऽमावस्यातिथौ चित्रानक्षत्रे श्रीनेमेः केवलज्ञानमजनि । तस्मिन् प्रभोः केवले उत्पन्ने आसनकम्पतः सद्यः सुरेश्वरा उपेत्य समवसरणं चक्रुः । अत्र समवसरणवर्णनं कार्यं । तस्मिन् समवसरणे शास्त्रवर्णिते स्वामी पूर्वद्वारेण प्रविश्य द्वादशगुणाऽशोकतरुं प्रदक्षिणीकृत्य 'नमस्तीर्थाय' इत्युक्तिपूर्वकं विधिवत्पूर्वाऽभिमुखः सिंहासने समुपाविशत् ।

नेमेर्दीक्षा-स्वीकार

पितृपितृव्यादिपरिवृतो गजादुत्तीर्य भगवति दृष्टे खड्गच्छत्रोपानद्मुकुटचामरादीनि राज्यचिह्नानि मुक्त्वा उत्तरद्वारेण समवसरणं प्रविश्य स्वामिनः प्रदक्षिणां विधाय स्तुतिपूर्वं वन्दित्वाऽनुशक्रं यथास्थानं न्यषदत्। अथ कृपार्णवः श्रीनेमिर्भवकूपोदराज्जन्तूनुद्धर्तुमनाः प्रभू रज्जुदेशीयां देशनामाततान—

"धर्मो जगतः सारः सर्वसुखानां प्रधानहेतुत्वात्। तस्योत्पत्तिर्मनुजात् सारं तेनैव मानुष्यम् ॥ १ ॥
वपुर्वपुष्मतां प्रायो विपदेकनिकेतनम्। पुत्रमित्रकलत्राद्याः प्रदत्तविविधाधयः ॥ २ ॥
संसारस्तदसौ सारवस्तुशून्यो न संशयः। सारं तु ज्ञानसम्यक्त्वचारित्राण्येव केवलम्" ॥ ३ ॥

ततः स्वामिना चतुर्महाव्रतरूपः साधुधर्मः प्रकाशितः। सम्यक्त्वमूलो द्वादशव्रतरूपः श्राद्धधर्मश्चापि प्रकाशितः। ततो हेयज्ञेयोपादेयपदार्थाः प्रकाशिताः; यथा—हेयानि सप्त व्यसनानि, ज्ञेयानि जीवाजीवादि-नवतत्त्वानि, निगोदानन्तकायकादीन्यपि; उपादेयानि ज्ञानदर्शनचारित्रादीनि पुण्यकर्तव्यानि। इमां पापघ्नीं देशनां श्रीजिनमुखात् श्रुत्वा वरदत्तनृप उत्थाय व्रतं प्रार्थयाञ्चक्रे। प्रभुस्तं नृपं दीक्षयामास। तदनु द्विसहस्रनरेश्वराः प्रव्रजिताः। तेषां मध्याद् वरदत्तप्रभृतीन् एकादश गणेश्वरान् प्रस्थापयत्। तेऽपि भगवन्मुखात् त्रिपदीमुत्पादध्रुवव्ययात्मिकां श्रुत्वा सर्वेऽपि महाप्रज्ञत्वाद् द्वादशाङ्गीं निर्ममिरे। तेषां नामान्यमूनि।

यथा—"आचाराङ्गं सूत्रकृतं स्थानाङ्गं समवाययुक्। पञ्चमं भगवत्यङ्गं ज्ञाताधर्मकथापि च ॥१॥
उपासकाऽन्तकृदनुत्तरोपपातिकाद् दशाः। प्रश्नव्याकरणं चैव विपाकश्रुतमेव च ?" ॥२॥

दृष्टिवादश्च; इति द्वादशाङ्गानि निर्मितानि। ततः सर्वावयवसुन्दरां भूरिकन्यान्वितां राजपुत्रीं

यक्षदिन्नानाम्नीं प्रव्राज्य प्रभुः प्रवर्तिनीं व्यधात्। तस्मिन् समये व्रतबद्धमनोरथां राजीमतीं वीक्ष्य केशवः प्रभुं पप्रच्छ—हे प्रभो! राजीमत्यास्तवोपरि वचनातिगा प्रीतिरस्ति, तत् किं कारणम्?। स्वामिनोक्तम्—हे केशव! अस्या ममोपरि भवाष्टस्नेहो वर्तते, तेनैषा मां सुचिरं निरीक्षते। केशवाज्ञया तस्या राजीमत्या दीक्षां दत्त्वा प्रेमनिष्क्रयमकरोत्। दशार्हैरुग्रसेनादिभिर्भूपैः, रामकेशवपाण्डवादिभिः, शाम्बप्रद्युम्नादिभिश्च कुमारैर्भगवदन्तिके श्राद्धधर्मोऽभ्यपद्यत। रोहिणीदेवकीसत्यभामारुक्मिणीप्रभृतयो नार्यो भगवत्पार्श्वे श्रावकत्वं प्रपेदिरे। एवमाद्यायां सभायां प्रभोश्चतुर्विधः सङ्घोऽभूत्। ततो नाथं नत्वा देवेन्द्रो दिवि जगाम। हरिः पाण्डवैर्बान्धवैश्च सार्धं द्वारकां पुरीं समागात्। प्रावृडृतुं शरदृतुं चाप्यतिक्रम्य भगवानपि वसुन्धरां विजहार।

प्रभो-विहार

"अथ कथमपि तेऽपि प्रीतमापृच्छ्य कृष्णं, त्रिभुवनगुरुवाचां सौरभं भावयन्तः।
त्वरिततरमवापुश्चारुक्लृप्तोपचारां, मुदितमुदितपौरां स्वां पुरीं पाण्डवेयाः" ॥ १ ॥

इति श्रीमत्तपागच्छाधिराजभट्टारकश्री ५ श्रीहीरविजयसूरिपट्टालङ्कारसंप्रतिविजयमानभट्टारकश्रीविजयसेनसूरिराज्ये पण्डितदेवविजयगणि-विरचिते गद्यबन्धबन्धुरे श्रीपाण्डवचरित्रे श्रीमन्नेमिविवाहोपक्रमदीक्षाकेवलज्ञानचतुर्विधसंघस्थापनावर्णनो नाम षोडश सर्ग. समाप्तः।



केकिनः पयोदमिव। स्वाम्यपि केवलज्ञानेन तन्मनोगतं विज्ञाय मह्यां विचरन् लोकान् पावयन् देवमनुजवृन्दैः परिवृतो नेमिजिनोऽष्टप्रातिहार्यविभूषितो हस्तिनापुरे समागात्। प्रातिहार्याण्याह—

"कङ्केल्ली कुसुमवुट्ठी दिव्वज्भुणि चामरासणाइं च।
भामंडलभेरिछत्तं जयन्ति जिण पाडिहेरेहिं" ॥ १ ॥

इत्यादिप्रातिहार्याऽष्टकैर्विराजमानो नेमिजिनस्तत्रागात्, तन्नगरोद्यानभुवं श्रीजिनपावितां प्रीतचेतसो वायुकुमाराः संवर्तकवातेन योजनं यावद् भुवं मार्जयामासुः। तस्यां भुवि पुण्यबीजानि वप्तुकामा इव मेघकुमाराः देवाः सुगन्धवारिभिस्तां भुवं सिषिचुः, आत्मनः कर्मणां बन्धं क्षिपन्तो व्यन्तरदेवास्तामखिलां महीं रत्नशिलाभिर्बबन्धुः, तस्मिन् पीठे चतुर्दिक्षु रत्नद्युतिद्योतिताम्बरां चतुस्तोरणीं ध्वजच्छत्रैरलंकृतां कारयामासुः।

तस्मिन् पीठे रत्नशिखाद्योतितदिग्मुखमभ्यन्तरं रत्नवप्रं मणिकपिशीर्षकं वैमानिका देवाश्चक्रुः। तृतीयो बहिर्वप्रो रजतमयः मध्यमवप्रो हरिण्मयो रत्नकपिशीर्षकैर्विराजितो ज्योतिष्कदेवाधीशैः कृतः। तृतीयो बहिर्वप्रो रजतमयः सुवर्णकपिशीर्षको भुवनाधिपनिर्मितः; माणिक्यशालभञ्जिकाभिर्भूषितानि प्रतिवप्रं चतुर्दिक्षु चत्वारि गोपुराण्यासन्। प्रथमद्वितीयवप्रान्तरे ईशानदिशि जिनेशितुर्विश्रामाय व्यन्तरेन्द्रा देवच्छन्दं वितेनुः, बहिर्वप्रचतुर्द्वारि विकचाम्बुजाश्चतस्रो दीर्घिका व्यन्तरामरा विचक्रुः, अभ्यन्तररत्नवप्रमध्ये चैत्यद्रुमतले चतुर्दिक्षु चत्वारि सिंहासनानि देवनिर्मितानि वर्तन्ते, तेषामुपरि प्रत्येकं सितां छत्रत्रयीं विचक्रुः, तत्सिंहासनाग्रे देवा धर्मचक्रं विचक्रुः, ततस्ते स्वाम्यग्रे माणिक्यरत्नमयं धर्मध्वजं व्यधुः।

ततो देवा देशनोर्व्यामधोनिक्षिप्तबन्धनां पुष्पवृष्टिं जानुदघ्नं किरन्ति स्म। अथ स्वामी नवसुवर्ण-

पङ्कजन्यस्तपादः पूर्वद्वारे प्रविश्य चैत्यपादपं प्रदक्षिणीकृत्य 'तीर्थाय नमोऽस्तु' इत्युक्त्वा पूर्वाभिमुखः सिंहासने उपाविशत्। तदैव मार्तण्डमण्डलतिरस्कारि भामण्डलं विभोः पृष्ठे प्रकटीबभूव। तदैवोद्यानपालकोऽन्तःसभं समागत्य योजितकरकमलो युधिष्ठिरं नरेश्वरं व्यजिज्ञपत्—हे राजेन्द्र! तवोद्याने देवमनुजसङ्घपरिवृतः श्रीमन्नेमिजिनः समवसृतोऽस्ति।

तत् श्रुत्वा प्रीतमानसो धर्मसुतस्तस्मै वनपालकाय सार्धद्वादशलक्षाणि रूप्यस्य दत्तवान्। ततः सर्वेऽपि भीमाद्या बान्धवा गजारूढाः शिरसि धृतातपत्रा वारवधूभिर्धूयमानचामराः सपरिवाराः देवैः परिवृता देवेशा इव स्वामिनं वन्दितुं जग्मुः। समवसरणासन्नं समागताः पाण्डवा मातृपितृवर्गं पुरस्कृत्य चामरादीनि राज्यचिह्नानि संत्यज्य समवसरणमाविविशुः। तत्र सुरनरव्रातसेवितं श्रीनेमिजिनं दृष्ट्वा मुदितमानसो युधिष्ठिरः सपरिकरो जिनं त्रिःप्रदक्षिणीकृत्य प्रीतिपर्यश्रुलोचनो योजितकरकमल एवं स्तोतुमारेभे।

यथा—"जय दुस्तरसंसारप्रान्तरप्रान्तपादप!। जयान्तरतमस्तोमनिस्तक्षणनभोमणे!॥ १ ॥

समग्रत्रिजगत्संपत्संपादनपटीयसी। नृणां त्वच्चरणाम्भोजभक्तिः कल्पलतायते॥ २ ॥

भवारण्यभ्रमिक्लान्तविश्वविश्रामपादपाः। सन्तु मे भवतः पादाः कल्याणफलदायिनः॥ ३ ॥

इत्यभिष्टुत्य साष्टाङ्गमानम्याश्रुकणान् किरन्। श्रीमन्नेमिजिनाधीशं नमति स्म तपःसुतः" ॥४॥

एवं युधिष्ठिरः स्वामिनं स्तुत्वा पितृबन्धुजनैः सार्धमनुशक्रमुपविशत्। अथ स्वामी तेषां सर्वेषां देवदेवीमनुजतिरश्चां पुरतो धर्मदेशनामारेभे।

यथा—"अहो ! किमप्यपारेयं संसाराख्या महाटवी । अनन्तेनापि कालेन लङ्घ्यन्ते यां न जन्तवः ॥ १ ॥
इदं शरीरं परिणामदुर्बलं पतत्यवश्यं श्लथसन्धिजर्जरम् ।
किमौषधैः क्लिश्यसि मूढ दुर्मते ! निरामयं धर्मरसायनं पिब ॥ २ ॥
अनित्यमारोग्यमनित्ययौवनं विभूतयो जीवितमप्यनित्यम् ।
अनित्यताभिः प्रहतस्य जन्तोः कथं रतिः कामगुणेषु जायते ?" ॥ ३ ॥

भो भविकाः ! एवंविधां संसाराऽसारतां परिज्ञाय धर्मे यत्नो विधेयः, यस्माद् धर्मात् स्वर्गमोक्षसुखानि लभ्यन्ते । इत्यादिभगवद्देशना श्रुत्वा प्रत्यासन्नमुक्तयो मनुजाः केऽपि भगवदन्तिके प्रव्रजिताः, केऽपि गृहीतद्वादशव्रताः तथा याः काश्चित्समरे मृतभर्तृका नार्यो वर्तन्ते ताः सर्वाः प्रभुपादान्ते मुदिता व्रतमाददिरे, गान्धारीधृतराष्ट्रौ श्रावकधर्मं द्वादशव्रतरूपं सम्यक्त्वपूर्वमगृह्णिताम्, केचिद्देशविरतिं, केचित्सर्वविरतिं प्रपेदिरे । ततः शक्रादयो देवाः स्वस्थानमगुः । युधिष्ठिरादयः प्रभोर्देशनां श्रुत्वा स्वामिनं नत्वा सभान्तः समुत्थाय सानुशयाः संयोजितकरकमलयामलाः श्रीनेमिजिन व्यजिज्ञपन्—हे विभो ! अस्माभिः राज्यलोभाभिभूतैः संग्रामसमये महाहत्यादिपातकानि कृतानि । यथा—प्रथमं तावत्पितामहो गाङ्गेयो हतः, तदनु धृतराष्ट्र-गान्धारीतनया दुर्योधनादयो बान्धवा निधनं नीताः, एवमनेके राजयुवराजाः शूराः वीराश्च, तथा गजवाजिपदातिसमूहाः संग्रामे निहताः । अथास्माकं का गतिर्भाविनी ? । प्रभुराह—भोः पाण्डवाः ! विहितश्रीशत्रुञ्जयतीर्थोद्धारयात्रातो यूयं संघाधिपतिपदं लब्ध्वा पापरहिता मोक्षं यास्यथ । एतत्तीर्थस्पर्शवशात् सकलपापक्षयो भवति ।

यथा—"यद्वज्जिनेष्वादिजिनो यद्वच्चक्रिषु तत्सुतः । यथा भवेषु मानुष्यं वर्णेषु प्रणवो यथा ॥ १ ॥

यथा सुराष्ट्रो राष्ट्रेषु शीलं यद्वद् व्रतेष्वपि । तथा शत्रुञ्जयं तीर्थं मुख्यं तीर्थेषु कथ्यते ॥ २ ॥ (युग्मम्)
दुरन्तदुरितव्यूहाऽऽतङ्कस्तत्र कथं भवेत् । यत्र सिद्धाद्रिरुन्निद्रदारिद्र्यद्रोहकृज्जयी ॥ ३ ॥
जिन एव हि जानीते माहात्म्यं शिवभूभृतः । पारावारस्य गाम्भीर्यं मन्दरो वेद नेतरः ॥ ४ ॥
तीर्थं त्रिभुवनेऽप्यग्र्यमेष सिद्धधराधरः । वीक्षितोऽप्यघसंघातघातनप्रत्यलोऽङ्गिनाम् ॥ ५ ॥
दुर्निवारतमोवारतिरस्कारविरोचनः । श्रीनाभिनन्दनजिनः शृङ्गे चास्य विराजते ॥ ६ ॥
तदेतदुभयं विश्वोत्तरातिशयसंभृतम् । वीक्ष्याऽङ्गी सर्वहत्यादिपातकेभ्यः प्रमुच्यते ॥ ७ ॥
टङ्कणेन यथा हेम जलेन लवणं यथा । तथा शत्रुञ्जयस्मृत्या कर्मपङ्को गलत्यहो ! ॥ ८ ॥
तमो यथोष्णरुचिना पुण्येनेव दरिद्रता । तथा शत्रुञ्जयस्मृत्या विनश्यति हि कर्म तत् ॥ ९ ॥
कुलिशेन यथा शैलः सिंहेनेव कुरङ्गकः । तथा शत्रुञ्जयस्मृत्या भिद्यते पूर्वकर्म तत् ॥ १० ॥
यथाग्निना सर्ववस्तु लोहेनेवान्यधातवः । तथा शत्रुञ्जयस्मृत्या ग्रस्यते सकलं तमः ॥ ११ ॥
मयूरसर्पसिंहाद्या हिंस्रा अप्यत्र पर्वते । सिद्धाः सिध्यन्ति सेत्स्यन्ति प्राणिनो जिनदर्शनात् ॥ १२ ॥
बाल्ये यौवने वार्द्धक्ये तिर्यक्जातौ च यत्कृतम् । तत्पापं विलयं याति सिद्धाद्रेः स्पर्शनादपि ॥ १३ ॥
तद्दानं तच्च चारित्रं तच्छीलं तत्तपस्त्रिधा । तद् ध्यानमेकवेलं यत् सत्शत्रुञ्जयसेवनम् ॥ १४ ॥
यात्रां पूजां सङ्घरक्षां यात्रिकस्तोमसत्कृतिम् । कुर्वाणोऽत्र सगोत्रोऽपि स्वर्गलोके महीयते ॥ १५ ॥
तावद्गर्जन्ति हत्यादिपातकानीह सर्वतः । यावत् शत्रुञ्जयेत्वाख्या श्रूयते न गुरोर्मुखात् ॥ १६ ॥

सिद्धाचल
माहात्म्य-
वर्णनम्

न भेतव्यं न भेतव्यं पातकेभ्यः प्रमादिभिः । श्रूयतामेकवारं श्रीसिद्धक्षेत्रगिरेः कथा ॥ १७ ॥
वरमेकदिनं सिद्धक्षेत्रे सर्वज्ञसेवनम् । न पुनस्तीर्थलक्षेषु भ्रमणं क्लेशभाजनम् ॥ १८ ॥
पदे-पदे विलीयन्ते भवकोटिभवान्यपि । पापानि पुण्डरीकाद्रेर्यात्रां प्रति यियासताम् ॥ १९ ॥
एकैकस्मिन् पदे दत्ते पुण्डरीकगिरिं प्रति । भवकोटिकृतेभ्योऽपि पातकेभ्यः प्रमुच्यते ॥ २० ॥
न रोगा न च संतापो न दुःखं न वियोगिता । न दुर्गतिर्न शोकश्च पुंसां शत्रुञ्जयस्पृशाम् ॥ २१ ॥
विशेषादादिदेवेन भूषितोऽयं नगोत्तमः । भिनत्ति घनपापानि दुष्कर्माणि तपो यथा ॥ २२ ॥
सर्वाण्यपि हि तीर्थानि सन्ति पुण्यानि भूतले । प्रकाश्यते पुनस्तेषां वाग्भिर्माहात्म्यमुच्चकैः ॥ २३ ॥
पुनस्तीर्थपतेरस्य माहात्म्यमिह केवली । वेत्ति वक्तुं समर्थो न सोऽपि दृष्टजगद्गुणः ॥२४॥ (युग्मम्)
श्रीतीर्थेऽस्मिन् नान्यनिन्दा न परद्रोहचिन्तनम् । न परस्त्रीषु लोलत्वं न परद्रविणेषु धीः ॥ २५ ॥
मिथ्यात्विषु न संसर्गस्तदुक्तेषु न चादरः । निन्दापि तेषां नो कार्या नाद्रियेत तदागमम् ॥ २६ ॥
अत्र ये यात्रिकान् भक्त्या वस्त्रान्नैः पूजयन्त्यपि । विपुलर्द्धिसुखं भुक्त्वा ते चान्ते मुक्तिभाजिनः ॥२७॥
स्वशक्त्याऽन्यानि पुण्यानि कृतान्यत्र सुमेधसाम् । भवद्वयविशुद्ध्यै स्युः कुकर्मोर्मिविकुण्ठनात्" ॥ २८ ॥

ते पश्चापि पाण्डवा इत्यादि श्रीनेमिमुखात् श्रीशत्रुञ्जयमहिमान श्रुत्वा स्वामिनं नत्वा गजवाजिरथारूढा निजं हस्तिनापुरं स्थानं ययुः । स्वाम्यपि देवसङ्घपरिवृतोऽन्यत्र देशेषु विजहार । अथ ते पाण्डुतनया. स्वजन्म सार्थकं कर्तु कामा यात्रामनोरथं चक्रुः । अथ प्रीतिशालिनः पाण्डवास्तदैव सर्वान् भूपतीन् यात्रायै न्यमन्त्रयन्, अथ

सहर्षास्ते भूपाला बहुपरिवाराः स्वस्वऋद्ध्या हस्तिनापुरं प्रापुः। ततस्ते राजानः पाण्डुसूनुभिः सत्कृताः सन्तो भृशं मुमुदिरे। सुदिने सुमुहूर्ते पाण्डवाः स्वर्णजिनालये स्थापितं जिनवरस्य मणिबिम्बं पुरस्कृत्य सबलवाहनाः श्रीविमलाचलं प्रति संचेलुः। मार्गे सार्धमिकाणां वात्सल्यं कुर्वन्तो गुरुज्ञानजिनार्चनं च विदधतो भ्रष्टार्हद्वनोद्धारं कुर्वाणास्ते प्राचलंश्च। एवं मार्गे सङ्घेन सार्धं संचरतः पाण्डवान् सौराष्ट्रसीम्नि समागतान् ज्ञात्वा कृष्णोऽपि यदुभिः समं समागत्य पाण्डवैः सममिलत्।

ततस्ते राजानो विधिना तीर्थपूजां सङ्घपूजां च विधाय शत्रुञ्जयमहाशैलं मुदाऽऽरुरुहुः, वासुदेवयुधिष्ठिरौ यावन्मिथो दत्तबाहू वरदत्तगुरुसंयुक्तौ मुदा चैत्यमपश्यतां, तावत् स्रस्तदृषत्सन्धि प्ररूढातितृणाङ्कुरं भगवत्प्रासादं दृष्ट्वा जराऽऽक्रान्तदेहमिव शिथिलसन्धि ज्ञात्वा तथाविधं च भगवद्बिम्बं दृष्ट्वा मनसि दूनो हरिर्धर्मसूनुं प्रत्याह—हे युधिष्ठिर! आवयो राज्यं कुर्वतोः कालमाहात्म्यतोऽप्यदस्तीर्थं सुजर्जरं जज्ञे। तदानीमवसरं ज्ञात्वा युधिष्ठिरः कृष्णं प्राह—हे हरे! त्वया पुरा रैवतोद्धारः कृतः, अथ पुण्डरीकोद्धारपुण्यं मह्यं ददस्व। हरिरूचे—हे युधिष्ठिर! अत्र का प्रार्थना ?, आवयोः किमप्यन्तरं नास्ति, त्वमेवैतत्पुण्यं गृहाण।

ततोऽत्यानन्दाद्धर्मसूनुः शिल्पिभिः शुभं नित्यचैत्यनिभं श्रीशत्रुञ्जयोद्धाररूपं महाचैत्यमकारयत्। ततः पारिजातद्रुशाखादिभिर्दिव्यैः शिल्पिभिरेकमृषभदेवबिम्बं निर्माय तद्धृदये एकं तेजःप्राग्भारशोभितं मणि न्यवेशयत्, ततः सुगन्धिभिर्द्रव्यैः रक्तवर्णं लेपमयं च कृत्वा सुलग्ने गणधारिणा श्रीवरदत्तेन तं प्रासादं बिम्बं च प्रतिष्ठाप्य तस्मिन् प्रासादे तद्बिम्बं प्रत्यतिष्ठपत्।

यतः—"तद्भक्तिरागरक्तं किं पुण्यांशूदयमत् किमु। भक्तिसीमन्तिनीभालकुङ्कुमाभं च तद् बभौ ॥१॥
ततः श्रीवरदत्तेन सुलग्ने गणधारिणा। तच्चैत्यमपि बिम्बं च धर्मसूः प्रत्यतिष्ठपत्" ॥ २ ॥

शत्रुञ्जयस्य तीर्थोद्धारकरणम्

विश्वालङ्करणस्यापि तस्य जिनस्य युधिष्ठिरोऽलङ्करणोत्करमुच्चै रचयामास। ततः पूर्णमनोरथो धर्मसूः प्रभोरष्टविधां पूजां विधाय जिनचैत्ये परमं धर्मलक्षणं महाध्वजं ददौ। ततः प्रमोदेन यथेच्छया जनेभ्यो यथाकामं दानं च प्रददौ, याचकेभ्यो दानं दत्त्वा युधिष्ठिरो वस्त्राभरणाद्यैः श्रीसङ्घं चापूजयत्। ततः शक्रोत्सवं कृत्वा श्रीजिनशिरसि च्छत्रं धृत्वाऽऽरात्रिकं समुत्तार्य मङ्गलप्रदीपं जिनस्य कृत्वा चामरैरवीजयत्, तथाऽखिलं धर्मकृत्यं कृत्वा च सर्वराजचक्रैरनुमोदितः शत्रुञ्जयनगादवातरत्।

ततश्चलिताः पाण्डवाः चन्द्रप्रभासे चन्द्रप्रभं, रैवतके श्रीनेमिजिनं च नत्वाऽर्बुदाचले श्रीयुगादीशं स्तुत्वा, एव वैभारगिरौ सम्मेताद्रौ चतुर्विंशत्यर्हतो दशत्रिकनिबद्धाभिः पूजाभिरपूजयत्। इत्थं सङ्घाधिपतिकर्तव्यं शुभं विधाय पुण्यपूतान्तराः पाण्डवा हरिणा समं द्वारकां पुरीं प्रापुः। तत्र द्वारकायां हरिं मुक्त्वा हरिणा सत्कृताः पाण्डवा नृपतिसङ्घसमावृताः कृतशत्रुञ्जययात्रा विहिततीर्थोद्धाराः स्वं नगरं समाजग्मुः। ततो युधिष्ठिरो राड् यात्रासमागतान् सर्वान् नृपतीन् जनांश्च विसृज्य हस्तिनापुरस्थितो बन्धुभिः सार्धं निजपुण्यानुसारिदानमानानि वितन्वानः सांसारिकसुखान्यनुभवन् विचरति स्म। एवं कालो याति।

एकस्मिन् दिने जगदालोककौतुकी नारदो महामुनिर्गगनाऽऽध्वना विचरन्नकस्माद् युधिष्ठिर-मन्दिरेऽभ्यागात्। तं नारदं दृष्ट्वा पाण्डवादिभिः सर्वैरुत्थितं नमस्कृतं च, परं तया द्रौपद्या नारदमसंयमिनं ज्ञात्वाऽभ्युत्थानादि न कृतं, ततोऽमर्षाद् रुष्टो नारदश्चिन्तयति—एषा द्रौपदी पञ्चभर्तृगर्विता ममाऽभ्युत्थानादि न करोति, तर्हि एनां गम्भीरे दुःखसागरे पातयामि, यथैषा ममावज्ञायाः फलं लभते। इति चिन्तयित्वा नारदो देवमुनिर्गगनगामिन्या विद्यया गगनाध्वनोत्पपात।

अन्यदा द्रौपदीं युधिष्ठिरगृहे उपरितनभूम्यां युधिष्ठिरेण सार्धं सुखनिद्रया सुप्तां कश्चिज्जहार। प्रातः

पाञ्चालीशून्यपल्यङ्कं दृष्ट्वा संभ्रान्तो युधिष्ठिरो बान्धवैः सार्धमितस्ततो वनादिषु भ्रान्त्वा-भ्रान्त्वा द्रौपदीं व्यलोकयत्, परं क्वापि न लब्धवान्। ततस्ते पाण्डवाः पाञ्चालीदुःखसंभारनिर्भराः कृष्णान्तिके द्वारकायां कुन्तीं प्रेषयन्ति स्म। तदानीं सा कुन्ती गजारूढा क्रमेण यान्ती द्वारकायां कृष्णेनाऽभिमुखमागत्य प्रवेशिता, ततो दानमानभोजनादिकं विधाय पृष्टम्—हे पितृष्वसः! किमागमनकारणम्?।

कुन्त्योक्तम्—हे हरे! युधिष्ठिरोपान्त्याद् निशायां सुखसुप्तां द्रौपदीं कश्चिज्जहार। ततस्तव बन्धुभिः पाण्डवैः सा वनारामादिषु सर्वत्र विलोकिता परं क्वापि न लब्धा, तस्याः प्रवृत्तिमानेतुं पुत्रैः प्रेषिताऽहं भवदन्तिके समागता। एतद्वचनं श्रुत्वा हरिर्बभाषे—हे पितृष्वसः! त्वं चिन्तां मा विधेहि, शुद्धिं विधायाहं द्रौपदीं समानेष्यामि, त्वं स्वस्था भव। प्रातः सभायां निविष्टो हरिः किंकर्तव्यतामूढश्चिन्तां करोति तावन्नारदो देवमुनिस्तत्रागात्। हरिणाभ्युत्थानं विधायाऽऽसनदानादिभिस्तोषितो नारदो हरेः कुशलं पप्रच्छ।

पुनः प्रोक्तम्—हे हरे! त्वं सांप्रतं किञ्चिद्विलक्षवदनो दृश्यसे, तत्किं तव चेतसि का चिन्ता वर्तते?। हरिणोक्तम्—भो देवमुने! हस्तिनापुराद् युधिष्ठिरोपान्त्याद् रात्रौ कश्चिद् द्रौपदीं जहार, सा न ज्ञायते केन हृता, कुत्र गता?, तस्याश्चिन्ता मनसि वर्तते। मुनिनोक्तम्—हे हरे! त्वमेकोऽपि नारीसहस्रान् रक्षसि, पञ्चपाण्डवैः सा एकापि किं न रक्षिता?।

एतन्नारदवक्रोक्तिं श्रुत्वा हरिणा चिन्तितम्—अस्यैव कर्तव्यं दृश्यते। तत एनं पृच्छ्यते, एष ममाग्रे सर्वं सत्यं व्याहरिष्यति। ततो नारदो हरिणा पृष्टः—भो महामुने! भवता कुत्रापि सा दृष्टा भवति तर्हि सत्यं समाख्याहि, सा कुत्रास्ति?। तत् श्रुत्वा नारद उवाच—भो हरे! एकस्मिन् दिनेऽहं गगनगामिन्या विद्यया परिभ्रमन् धातकीखण्डे द्वीपे गतः। तत्राऽमरकङ्कायां नगर्यां पद्मनाभो नाम राजाऽस्ति। तदीयसदने मया पाञ्चालीसदृशी काचिद् मृगाक्षी दृष्टा।

द्रौपद्या
अपहरण

इत्युक्त्वा विहायसोत्पपात। नारदोऽन्यत्र गतः। हरिणा चिन्तितम्—नूनमेतदस्यैव कर्म, एतत् सर्वमनेन नारदेन विहितम्। नारदोक्तं सर्वं हरिः कुन्त्यै न्यवेदयत्। ततः सा कुन्ती पाण्डवे पाण्डुसूनुभ्यश्च न्यवेदयत्। ततस्ते पाण्डवाः सैन्यसमन्विताः पितुराज्ञया हरिणा कुन्तीमुखेन कृतपूर्वोदधितटनिवाससंकेताः पूर्वाशाभिमुखाश्चेलुः। क्रमेण गच्छन्तः सिन्धुतटे निवासांश्चक्रुः। ततस्तत्रागतेन हरिणा समं मिलन्ति स्म।

अथ विष्णुर्लवणाधीशं सुस्थितमाराद्धुं लवणोदधेस्तीरे पौषधागारे कृतपौषधव्रतोऽष्टममकरोत्। तेन तपसाकृष्टो लवणाधिपः समागत्य हरिं प्रोवाच—हे हरे! किं प्रयोजनं यद् मां स्मरसि?। हरिणोक्तम्—केनचिद् द्रौपदी हृता। धातकीखण्डेऽमरकङ्कायां नगर्यां पद्मोत्तरराज्ञो गृहे तस्याः प्रवृत्तिर्नारदेनोक्ता। अतः सपाण्डवोऽहं तत्र गत्वा तां समानेतुमिच्छामि, सपाण्डवस्य मम लवणोदधौ मार्गं देहि, येन द्रौपदीं प्रत्यानयामि। हरिणोक्तं श्रुत्वा लवणाधीशो बभाषे—हे हरे! तवाज्ञया सानीकं पद्मनाभं हत्वा द्रौपदीं तवार्पये, भवत्सेवकस्य ममादेशं प्रयच्छ, अस्मिन् लघीयसि कार्ये स्वयं कोऽयमारम्भः?।

हर्यादीनां धातकीखण्डे गमनम्

ततो मुरारातिरब्रवीत्—एतत् सर्वं कार्यं त्वया सिद्धयति, परमेवं विहितं कार्यमस्माकमयशस्करम्, ततोऽस्माक षण्णां रथाना धातकीखण्डे विचरतां मार्गं देहि। सुस्थितेनोक्तम्—एव भवतु, तव रथानुगाः पञ्च रथाः पाण्डवानां लवणार्णवं तरन्तु। ततस्ते पाण्डवाः कृष्णरथं पुरो निधाय लवणाब्धौ पञ्चभी रथैः सचरन्ति। दिव्यानुभावतो धातकीखण्डेऽमरकङ्काप्रत्यासन्नवने सर्वेऽपि कृष्णादयः पाण्डवाः रथेभ्योऽवतेरुः। तत्र वने स्थित्वा मुरारिणा दारुकसारथिमनुशिष्य लेख दत्त्वा पद्मनाभान्तिके प्रेषयाञ्चक्रे। दारुको गत्वा पादपीठं वामपादेनाक्रम्य कुन्ताग्रेण पत्रिकां प्राभृतीचक्रे।

ततो भृकुटीभीषणो भूत्वा कृष्णसारथिर्दारुको बभाषे—भो भूपालपांसन! जम्बूद्वीपभरतार्धभुक् सपाण्डवः

षड्भी रथैर्नारायणो मन्मुखेनेदमाह—रे ! त्वया मद्बन्धूनां पाण्डवानां प्रियां हरता पापमाचीर्णं, यदि जीवितेन कार्यं भवति, तर्हि द्रौपदीं प्रत्यर्पय, यदि किञ्चिदपि दोर्बलमदोऽस्ति तर्हि सज्जो भूत्वा मया सह संग्रामं विधेहि, अहं पञ्चपाण्डवसहितः षड्रथेन युतस्त्वया सह रणकेलये स्थितोऽस्मि, अतस्त्वमुद्याने एहि, मया सह संग्रामं विधेहि। दारुकस्येति गिरं श्रुत्वा लेखं च वाचयित्वा तं लेखं पाटयित्वा तत्पुरश्चिक्षेप।

"ऊचे च भो मुकुन्दोऽसौ जम्बूद्वीपे भयङ्करः।
ममाग्रेऽसौ वराकोऽयं किङ्करो किं करिष्यति ?" ॥ १ ॥

त्वं याहि स्वस्थानं, तवानुपदिकोऽहमेव समेष्यामि। इति कथयित्वा विसृष्टो दूतः कृष्णाय पद्मनाभोक्तं सर्वं समाचख्यौ। ततः सज्जितः पद्मनाभः पृतनोर्मिभिर्दिशः पूरयन् हरिणा सह योद्धुकामो नगर्या निरगात्। तत्सैन्यं समागतं ज्ञात्वा पुण्डरीकाक्षः पाण्डवानभ्यधात्—भोः पाण्डवाः ! एतेन विरोधिना सह यूयं योत्स्यध्वे, अथवाऽहमेभिः सह युद्धं करोमि, यूयं विलोकयत। अथोचुः पाण्डवाः—हे स्वामिन् ! काके कोऽयं तवोद्यमः ?, भवदाज्ञया एभिर्वयं योत्स्यामहे भवत्पुरतः, अयं वा वयं वा जयभाजनं भविष्यामः। हरेः पश्यतः पाण्डवाः पद्मनाभपताकिन्या सार्धं संग्रामे संलग्नाः। ततस्तयोर्भुवनाभोगभासुरः संग्रामः संजज्ञे।

तस्मिन् महति संग्रामे जायमाने पाण्डवैस्ताः पद्मनाभपताकिन्यो नाशिता नंष्ट्वा पद्मनाभशरणं ययुः। ततः पद्मनाभो बाणासारैः पाण्डवान् वर्षन्नुतस्थौ। पद्मनाभबाणैस्तर्जिताः पाण्डवा अभङ्गा अपि वचनबलाद् भङ्गमापन्नाः समरावनीमुत्सृज्य हरेः शरणं ययुः, कथयन्ति—हे हरे ! वयमेनं विजेतुं नेश्महे, किन्तु एतस्य समराङ्गणे नूनं त्वमेव स्थास्यसि। अथ सहासो हरिरूचे—भो बान्धवाः ! यूयं द्विषा तदैव जिता यदा गच्छद्भिर्युष्माभिः 'अयं जयी वयं वा जयिनोऽद्य' इति वागुदीरिता।

दूता-ख्यानम्

अथ मदीयरणकौतुकं विलोकयध्वम्। अहमेन पद्मनाभं जेष्यामि परं स मां कथमपि न जेतुमीशः, इत्युदित्वा मुरारिः क्षोभितानेकराजन्यं पाञ्चजन्यं शङ्खमपूरयत्। तस्य शङ्खस्य नादेन पद्मनाभस्य राज्ञो बलत्रिभागोऽनेशत्। ततः शार्ङ्गी शार्ङ्गमारोप्य कोपादास्फालयत्। तन्नादेन तत्सैन्यत्रिभागोऽनेशत्। ततः पद्मनाभः शेषसैन्यसमावृतः प्रणश्य पुरीं प्राविशत्। ततो भीतः पद्मनाभः पुरीं प्रविश्य लोहकपाटमदापयत्। तदनु लोहार्गलां प्रतोलीं कृत्वा पद्मनाभो भीतो द्रौपद्याः शरणं ययौ, रथस्थो विष्णुः प्रतोलीं यावदागतः, ततस्तां प्रतोलीं दत्तकपाटार्गलां निरीक्ष्य कोपारुणलोचनो नारायणो व्यात्ताननं दंष्ट्राभीषणं नारसिंहं वपुर्व्यधात्। ततः पाददर्दुरेण काश्यपीतलं कम्पयन्, अचलांश्चालयन्, शिखराग्राणि पातयन्, मठदेवकुलप्रासादानलोठयत्।

तन्नादेन त्रासिता गजा वन्धनानि त्रोटयन्ति, केऽपि वीराः मूर्च्छयन्ति। भीतः पद्मनाभः पाञ्चालीपादपद्मे निपतन् कम्पमानाङ्गो बभाषे, हे देवि! मां त्रायस्व, तवाहं दासोऽस्मि। साप्यूचे, वधूवेषमाधाय मामग्रे कृत्वा शार्ङ्गिणः शरणं यदि यास्यसि तदा तव जीवितमस्ति, अन्यथा जीवितं नास्ति। इति श्रुत्वा पद्मनाभो भयातुरो नारीरूपं विधाय जनार्दनपादेऽपतत्। भयातुरा जीवाः किं किं नाङ्गीकुर्वन्ति ?। नारीरूपं दृष्ट्वा त्यक्तनरसिंहरूपेण हरिणा मुक्तः पद्मनाभो मा भैषीरिति संभाष्य। ततः स्वस्थमानसौ द्वावपि सभास्थानमाविशताम्। ततो हरिर्द्रौपदीहरणजा प्राक्तनीं कथां पप्रच्छ।

अथ पद्मनाभोऽब्रवीत्—हे देव! एकस्मिन् दिनेऽहमन्तःपुरे यावता प्रियाभिः सह स्वेच्छया क्रीडामि, तावत् सहसैव नारदो मुनिस्तत्रागाद् यत्राऽहं क्रीडामि, मयाऽभ्युत्थानादिना सन्मानितो नारदः प्रीतिमापन्नः। ततो पृष्टो मया—भो मुने! त्वया सकलमहीमण्डलं भ्रमता कुत्रापि कस्यापीदृशमप्यन्तःपुरं दृष्टमस्ति ममान्तःपुरतुल्यम् ?। ततः स किञ्चिद्विहस्य मां प्रत्यूचे—भो राजन्! त्वं कूपमण्डूकवत् किं भाषसे ?।

नगर्यां कृष्णनामा वासुदेवो मम पतेर्ज्येष्ठभ्राता त्रिखण्डाधिपः परिवसति, स यदि षण्मासाभ्यन्तरे शुद्धिं न करिष्यति, ततोऽहं तवाज्ञाकारिणी भविष्यामि । एतद्वचनं श्रुत्वा तुष्टमानसेन मया द्रौपदी कन्यान्तःपुरे क्षिप्ता । सापि तद्दिनादारभ्य षष्ठषष्ठेनाम्बिलपारणकेनाविक्षिप्ततपसा विचरति । ततोऽहमपि स्वस्थचित्तः सान्त पुरः स्वगृहमागाम् । मया चिन्तितम्—अत्र षण्मासान्तः कः समेष्यति ? । मम भाग्यवशाद् यूयमत्र समागताः ।

एतद्वचनं पद्मनाभोक्तं श्रुत्वा स्वहस्तेन द्रौपदीं लात्वा पाण्डवाय समर्प्य पद्मनाभं विसृज्य पाण्डवसहितो विष्णुर्लवणाऽभिमुखश्चचाल । तदानीं तत्र चम्पायां पूर्णभद्रारामे मुनिसुव्रतजिनोपान्ते देशनां शृण्वानः कपिलनामा वासुदेवो रणारम्भभवं कृष्णमुखवातपूरितं पाञ्चजन्यशङ्खशब्दं श्रुत्वा विस्मितमानसो मुनिसुव्रतं जिनवरं पृच्छति स्म—हे भगवन् ! सुस्वरो भुवनाभोगभासुर एष विष्णुपाञ्चजन्यशङ्खशब्दः पोस्फुरीति । ततः स्वामिना पद्मनाभमहीपालकथाः सर्वा अपि कथिताः । ततः कपिलेनोक्तम्–स्वामिन् ! तत्र गत्वाऽहं तस्य विष्णोः किञ्चित् स्वागतं करोमि ।

स्वामिनोक्तम्—भोः कपिल ! कदापि नैवं भूत, कदापि नैवं भवति, कदापि नैवं भविष्यति, यज्जिनौ चक्रभृतौ वासुदेवौ च द्वावप्येकीभूय वार्तां कुरुतः । तथापि त्वं तस्य विष्णोः पताकां वीक्षिष्यसे । इति विभोर्वाच निशम्याऽनुकृष्णमधावत् । कपिलो रथारूढस्तत्क्षणादेव लवणोदधेस्तटमाससाद, तावत् कृष्णोऽन्तर्लवणमागात् । ततः कपिलस्तदीयरथध्वजानैक्षिष्ट । मम स्वागतक्रिया प्रतीच्छ त्वमिति व्यक्ताक्षरं निज शङ्खं कपिलो दध्मौ । तत् श्रुत्वा कृष्णोऽपि शङ्खे एवं कथयामास ।

यथा—"स्वागतं लब्धमस्माभिः प्रणयेनाऽमुना तव ।
इति विस्पष्टवर्णं स्वं शङ्खं कृष्णोऽप्यपूरयत्" ॥ १ ॥

तच्छङ्खनादं श्रुत्वा कपिलः प्रत्यावृत्य अमरकङ्कामाजगाम। पतितमठदेवकुलशिखरप्रासादैरसुन्दराममरकङ्कां दृष्ट्वा पृष्टम्—भो पद्मनाभ ! तवेयं नगरी अमरकङ्का कथमीदृशी दृश्यते ?। पद्मनाभेन तथ्ये उक्ते रुष्टः कपिलस्तं देशान्निर्वास्य तत्पदे तत्पुत्रं स्थापयित्वा स्वयं चम्पानगरीं समाजगाम। समुद्रमध्ये गच्छन्तीं रथक्रोडे स्थितां द्रौपदीं युधिष्ठिरः पृच्छति स्म। हे प्रिये ! तस्य भूपालपांसनस्य पुरः कृतषण्मासावधिपर्यन्ते त्वया किमचिन्ति ?। हे देव ! मया ज्ञातं षण्मासान्ते मत्प्रियः समेष्यत्येव, तावदहं षष्ठपारणे आचाम्लं करिष्ये, षण्मासानन्तरमनागते भर्तरि अनशनमादाय मरिष्यामीत्यचिन्तयम्। ततस्ते षडपि रथाः पारावारपारं प्राप्ताः। ततः कृष्णः पाण्डवानूचे भो बान्धवाः ! यावदहं सुस्थितं लवणाधिपं विसृज्य समागच्छामि तावद् यूयमग्रे गत्वा द्वाषष्टियोजनीं पृथुप्रवाहां गङ्गामुत्तरत। हरेरादेशं लब्ध्वा पाण्डवा गङ्गां समागत्य काञ्चन नावं लब्ध्वा गङ्गामुत्तेरुः। ततस्ते पाण्डवाश्चिन्तयन्ति।

यथा—"बलानुजन्मनो बाहुबलं वीक्षिष्यतेऽधुना। इत्यालोच्य न ते नावं प्राहिण्वन् वनमालिने ॥१॥
ततः सुस्थितमापृच्छ्य न्यस्य वामे भुजे रथम्। दोष्णाऽन्येन हरिर्गङ्गां तरीतुमुपचक्रमे" ॥२॥

हरिर्मध्येगङ्गं समागत्य श्रान्तोऽचिन्तयत्—कौन्तेयाः श्लाघ्या यैरियं सुरनदी तीर्णा। हरेर्भावं ज्ञात्वा गङ्गादेव्या स्थलं चक्रे। तस्मिन् स्थले क्षणं विश्रम्य हरिर्गङ्गापारं ययौ। तत्र गङ्गातीरं गत्वा केशवः पाण्डवान् पप्रच्छ—भवन्तो जाह्नवीं कथमुत्तीर्णाः ?। तैरुक्तम्—वयं नावोत्तीर्णाः। ततोऽस्मभ्यं कथं नौर्न प्रेषिता ?। मुरारिणेति पृष्टे तैरुक्तं—तव दोःसारं वीक्षितुं नौर्न प्रेषिता। ततः कोपारुणः कृष्णः एवमवोचत्—भोः पाण्डवाः ! कंसकेशिजरासन्धादिवधे पद्मनाभजये च मम दोर्बलं न विलोकितं, मम दोर्बलं यूयमधुनैव दिदृक्षध्वे, इत्युदीर्य कोपकम्प्रो जनार्दनो लोहदण्डेन पाण्डवेयानां स्यन्दनानि लोष्ठचूरमचूरयत्।

कपिल-स्या-गमनम्

ततो नारायणः क्रोधावेशवशंगतः पाण्डवानेवं जगाद—भोः पाण्डवाः ! यदि मदीयां क्षोणीमधिवत्स्यथ तदानीं सपुत्रबान्धवानीका न भविष्यथ । इत्युक्त्वा कंसारिर्द्वारिकां समाययौ । श्यामीभूतमुखाम्भोजाः पाण्डवाः अपि हस्तिनापुरं समाययुः । गृहागताः पाण्डवाः मातापितृभ्यां पृष्टाः सन्तो गङ्गोत्तरणभवां वार्तां मातापित्रोर्निवेदयामासुः । पाण्डुराज्ञोक्तम्—भोः पुत्राः ! युष्माभिर्विष्णुकोपनेन विरूपमाचरितं, यतश्चैष त्रिखण्डाधीशो भरतार्धस्वामी, यूयं कुत्र यास्यथ ? युष्माकं विष्णुभुवं विनाऽन्यत्र कुत्रापि स्थानं नास्ति ।

अथ पाण्डुः कुन्त्या सह विमृश्य कंसारिक्रोधशान्तये पाण्डवनिवासाय च कुन्तीं प्रैषीत् । ततः कुन्ती गजारूढा द्वारकोद्यानं यावत्समागता तावत् तत्र श्रीनेमेः समवसरणं वीक्ष्य पद्भ्यां गत्वा स्वामिनं नत्वा भगवद्देशनां शुश्रुवे । देवक्यपि तत्रागता स्वामिदेशनां शृणोति । एवं सर्वे पार्षद्या भगवन्मुखाद् विनिर्गतं वचनामृतं कर्णपुटैः पीत्वा मुदमापुः ।

द्वितीयदेशनान्ते देवकी जिनं नत्वा योजितकरा एवं पप्रच्छ—हे प्रभो ! मद्धाम्नि सङ्घाटकत्रयं सदृग्रूपं समागत, पर मम प्रीत्युत्पादकं हरेः समानश्रीवत्सविराजमानवक्षःस्थलमन्योन्यभ्रमकारिरूपं, तत् किं कारणं, समाख्याहि, तथाचाहं बाल्यत्वेऽतिमुक्तेन मुनिना प्रतिपादिता, हे देवकि ! अत्युत्कृष्टरूपास्तवाष्टौ पुत्रा भविष्यन्ति, तत्सदृशान् सुतान् अन्या काचिन्नारी न प्रसविष्यति, तदप्यसत्य जातं, यतः कयापि नार्या न ते हरेः सदृग्रूपाः प्रसूताः ? । देवक्योक्तं श्रुत्वा स्वाम्याह—हे देवकि ! एते तवैव सुताः ।

यथा—"आख्याति स्म ततः स्वामी पुरे भद्रेऽस्ति भद्दिले ।
सुलसाऽनलसा धर्मे नागस्य श्रेष्ठिनः प्रिया" ॥ १ ॥

सा बाल्यत्वे तेनैव मुनिना प्रोक्ता—एषा बालिका मृतवत्सा भविष्यति । तत् श्रुत्वा तया सुलसाबालिकया कुमारत्वे हिरण्मयी हरिणेगमेषीदेवप्रतिमा कारिता, प्रतिष्ठापिता च । तद्देवपूजया प्रीतो हरिणेगमेषी । नागेन समं पाणिग्रहणकरणानन्तरं दिव्यानुभावतस्त्वां च सुलसां च द्वे अपि समऋतुफले अकरोत् । ततः समये सार्धं प्रसूतयोस्तयोर्गर्भास्तेन देवेन परिवर्तिताः । एते षडपि तवैव पुत्राः, न सुलसायाः । अतोऽमी षडपि विष्णुबान्धवत्वाद् विष्णुसदृशास्त्वद्दृशोरमृताञ्जनप्राया आनन्दकारकाः । श्रुत्वेति देवकी स्नेहमोहिता पुत्रान्तिके गत्वा स्नेहलया दृशा स्वान् पुत्रान् मुनिवरान् सुचिरं प्रमोदसाश्रुलोचना हर्षवशाद् रोमाञ्चितशरीराऽऽगतप्रस्नुता वारं वारं ववन्दे ।

ततः स्वाम्यन्तिकाज्जनार्दनो मुदितमानसः कुन्तीं पितृष्वसारं स्वगृहेऽनयत् । कतिचिद्दिनानि तत्र स्थित्वा कुन्ती अवसरं प्राप्य कृष्णमवोचत्—हे हरे ! तव बान्धवाः पाण्डवास्त्वया निर्विषयीकृताः क्व तिष्ठन्ति ?, इयं भरतार्धवसुन्धराऽशेषा तवैवास्ति, अतः प्रसन्नो भूत्वा स्वबन्धूनां किमपि स्थानं समादिश, यत्रैते पाण्डवास्तव च्छत्रच्छायायां सुखेन तिष्ठन्ति । केशवः कुन्तीं प्रत्याह—हे पितृष्वसः ! निर्विवेकिनः पाण्डवा अदृष्टसेवावर्तिनो भवत्प्रार्थनया दक्षिणसमुद्रोपकण्ठे तत्र नव्यां पाण्डुमथुरां निर्माय सुखेन तिष्ठन्तु ।

कुन्ती हरिमुखादेवं श्रुत्वा हस्तिनापुरं समागत्य तद्वृत्तान्तं सुतानामग्रेऽचीकथत् । ततस्ते पाण्डवास्तत्र दक्षिणाम्भोधिरोधसि गत्वा पाण्डुमथुरां नवां नगरीं निर्माय सुखेन तस्थिवांसः । अथ नारायणो हस्तिनापुरं निःस्वामिकं ज्ञात्वा स्वभागिनेयमभिमन्यूत्तरयोः पुत्रं सुभद्राऽर्जुनयोः पौत्रं परीक्षितनामान तस्मिन् राज्येऽतिष्ठिपत् । एवं नारायणपाण्डवपरीक्षितादीनां स्वं स्वं राज्यं पालयतां दिनानि यान्ति ।

एकस्मिन् दिने सहस्राम्रवने समवसृतो नेमिजिनः । भगवत्समवसरणं दृष्ट्वा उद्यानपालकेन वर्धितो

विष्णुस्तस्य दानं दत्त्वा वन्दनाय द्वारकातो विनिर्ययौ। भगवद्देशनां श्रुत्वा देशनानन्तरं स्वामिनं नत्वा एवं पप्रच्छ—हे भगवन्! अस्याः द्वारकायाः स्फीतश्रियः किंनिमित्ताद् विनाशो भविष्यति ?। ममापि मृत्युः कस्य हस्ते भविष्यतीति कथ्यताम्। स्वाम्याह—हे हरे! अस्याः पुर्या द्वारकाया मद्यकारणाद् द्वैपायनाद् विनाशो भविष्यति। यादवपुत्रा मद्यं पीत्वा द्वैपायनं तापसमुनिं पीडयिष्यन्ति। स पीडितो द्वारकाविनाशे निदानं कृत्वा मृतोऽग्निकुमारदेवेषूत्पन्न एनां द्वारकां सयादवां सलोकां भस्मसात् करिष्यति। अथ मृत्युरस्मात् पुरो निषण्णाज्जराकुमाराद् भवत्स्निग्धबन्धोस्तव भविष्यति। इत्यादि विभोर्वाचं निशम्य सर्वः पर्षज्जनो हृदये वैमनस्यमलीमसो जज्ञे। अहो! मरणस्य भीः।

यतः—"पंथसमा नत्थि जरा दारिद्दसमो अ परिभवो नत्थि।
मरणसमं नत्थि भयं खुहासमा वेअणा नत्थि" ॥ १ ॥

तथा सर्वेषां यादवानां क्रूरा दृष्टयस्तदानीं जराकुमारे निपेतुः, चिन्तयन्ति च—धिगेनं जराकुमारं यः स्नेहलं बन्धुं नारायणं हनिष्यति। धिक् संसारम्, एवंविधापि द्वारका देवनिर्मिता विनाशं यास्यति। अहो! अनित्यः ससारः।

यतः—"मस्तकस्थायिनं मृत्युं, यदि पश्येदयं जनः।
आहारोऽपि न रोचेत, किमुताऽकृत्यकारिता ? ॥ १ ॥
सम्पदो जलतरङ्गविलोला, यौवनं त्रिचतुराणि दिनानि।
शारदाभ्रमिव चञ्चलमायुः किं धनैः कुरुत धर्ममनिन्द्यम् ॥ २ ॥

अनित्यमारोग्यमनित्ययौवनं, विभूतयो जीवितमप्यनित्यम् ।
अनित्यताभिः प्रहतस्य जन्तोः, कथं रतिः कामगुणेषु जायते ?" ॥ ३ ॥

एवं संसाराऽसारतां ज्ञात्वा कैश्चिद् व्रतं जगृहे, केचन नरा नार्यो श्रावकव्रतानि जगृहुः, जराकुमारोऽपि 'भ्रातुर्घाताय अहं मा भूवम्' इति चिन्तयित्वा वनवासाय निर्ययौ। नारायणो विमनस्को द्वारकां समाययौ। द्वैपायनोऽपि स्वाम्युक्तं श्रुत्वा द्वारकां नगरीं त्यक्त्वा एकाक्येव रैवतकाचलाभिमुखश्चचाल। स उपशमवान् पूर्वाहृपातकाद्भीतः कान्तारमशिश्रियत्। तद्दिनादारभ्य केशवः पुरीक्षयकारणं मद्यपानं न्यषेधयत्। ततः सर्वोऽपि जनः कृष्णाज्ञया कदम्बकानने मद्यं तत्याज। तन्मद्यमेकस्मिन् कुण्डे पतितं, तत्कुण्डे वृक्षालिमण्डितं कुसुमपत्रभारेणाच्छादितं, तन्मद्यं तेन कुसुमामोदेन वासितं महामद्यं निष्पन्नम्। एवं दिनानि यान्ति। एकस्मिन् दिने बलभद्रबन्धुः सिद्धार्थसारथिर्बलभद्रं विज्ञपयति—हे बन्धो! तवाज्ञयाऽहं भवाद् विरक्तो नेमिजिनोपान्ते दीक्षां ग्रहीष्ये। बलदेवेनोक्तम्—हे बन्धो! तवाहं प्रव्रज्यार्थं विस्रष्टुं नोत्सहे।

सिद्धार्थेनोक्तम्—हे बन्धो! अस्मिन्नसारे संसारे कारागारोपमे रतिं न लभे, अतोऽहं भवदाज्ञया दीक्षां कक्षीकरोमि। पुनर्बलदेवेनोक्तम्—हे बन्धो! यदि त्वं मां धर्मे बोधयसि तर्हि ते विसर्जयामि। सिद्धार्थेनोक्तम्—हे बन्धो! देवो भूत्वाऽहं भवन्तं बोधयिष्ये। ततो बलदेवानुज्ञया सिद्धार्थेन दीक्षा गृहीता। स सिद्धार्थो मुनिः संयमं प्रपाल्य देवो जातः। अथ पाण्डवानां द्वारकावार्तां श्रुत्वा मनसि महद् दुःखं जातम्। पाण्डवानां मातापितरौ संसाराऽसारतां हृदि ध्यात्वा व्रतार्थिनौ भगवन्तं नेमिजिनं सस्मरतुः। नाथोऽपि केवलज्ञानेन तदभिप्रायं ज्ञात्वा देवसङ्घपरिवृतस्तत्रागात्। पाण्डुमथुरासमागतं जिनं नत्वा वर्द्धापकेभ्यो दानं दत्त्वा सोत्कण्ठं धर्मात्मजो मातापितॄन् पुरस्कृत्य स्वाम्यन्तिके गत्वा पञ्चाभिगमनेन जिनमानमत्। सर्वेऽपि

जरा-कुमारस्य वनगमनम्

देवा देव्यो राजानो राज्यश्च तथाऽन्येऽपि लोका भगवद्देशनां शृण्वन्ति। स्वाम्यपि सर्वभाषानुगां देशनां ददाति।

यथा—"देवा दैवीं नरा नारीं शबराश्चापि शाबरीम्। तिर्यञ्चोऽपि हि तैरश्चीं मेनिरे भगवद्गिरम् ॥१॥
भिल्लस्स तिण्णि भज्जा इक्का मग्गेइ पाणिअं देहि। बीआ मग्गइ हरिणं तईआ गवरावए गीअं" ॥२॥

भिल्लेनोक्तम्—सरो नत्थि। यदि भिल्लवचसोदृग् वचनपाटवं भवति, तर्हि भगवद्वाक्ये वचनपाटवं कथं न भवति ?। अथ देशना—

यथा—"श्रियो विद्युल्लोलाः कतिपयदिनं यौवनमिदं, सुखं दुःखाघ्रातं वपुरनियतव्याधिविधुरम्।
दुरापाः सद्गोष्ठ्यो बहुभिरथवा किं प्रलपितै-रसारः संसारस्तदिह निपुणं जागृत जनाः! ॥ १ ॥
भवारण्यं भीमं तनुगृहमिदं छिद्रबहुलं, बली कालश्चौरो नियतमसिता मोहरजनी।
गृहीत्वा ज्ञानासिं विरतफलकं शीलकवचं, समाधानं कृत्वा स्थिरतरदृशो जागृत जनाः! ॥ २ ॥
घनापायः कायः प्रकृतिचपला श्रीरपि चला, महारोगा भोगाः कुवलयदृशः सर्पसदृशः।
गृहे वासः पाशः प्रणयिषु सुखं स्थैर्यविमुख-मसारः संसारस्तदिह निपुणं जागृत जनाः! ॥ ३ ॥
माता नास्ति पिता नास्ति, नास्ति भ्राता सहोदरः। अर्थेनैव धनेनैव तस्माज्जागृत जागृत ॥ ४ ॥
जं कल्ले कायव्वं, तं अज्जं चिअ करेह तुरमाणा। बहुविग्घो हु मुहुत्तो मा आवरणं पडिक्खेह" ॥ ५ ॥

इत्यादि भगवद्देशनां श्रुत्वा संविग्नमानसौ पाण्डुकुन्त्यौ स्वामिनं नत्वा परिव्रज्यामयाचताम् । स्वाम्यपि पाण्डवाऽनुज्ञया तयोर्दीक्षामदात् । तावपि स्वाम्यन्तिके दीक्षां लात्वा स्वामिना सह पृथिव्यां विजह्रतुः । मातापित्रोर्विरहे कतिचिद् दिनानि पाण्डवैरुन्मनायितम्, परं शिवसौख्यदे धर्मे तु सुमनायितम् । तत्र मातापित्रोर्दीक्षावने चैत्यं निर्माप्य पाण्डवाः प्रत्यहं पूजयामासुः । एवं काले यात्येकस्मिन् दिने पाण्डवैः सह क्रीडन्ती पाञ्चाली गर्भं बभार, मेदिनी निधानमिव । सप्तदिनाधिकनवमासान्ते पाञ्चाली उज्जागरतेजसं सुतं सुषुवे ।

पाण्डु-कुन्त्योर्दीक्षा-स्वीकारः

तस्मिन् जगदानन्दने पुत्रे जाते धर्मनन्दनः कारागारान् शोधयामास, तथा दानानि ददौ । जिनगृहे पूजां कृत्वा स्वकुलोचितां स्थितिपतिकां विधाय पाण्डवैः पाण्डुसेन इति नाम विदधे । क्रमेण वर्धमानो बालत्वेऽपि कार्तिकेयवद्विक्रमी अष्टवर्षवयाः प्रज्ञावतामाद्यः सकलाः कला जग्राह । क्रमेण बह्वी राजकन्याः परिणायितः । ततस्तं जगच्चमत्कारिगुणगरिष्ठं ज्ञात्वा पाण्डवैर्यौवराज्यपदेऽन्वयुज्यत । एवं राज्यं कुर्वाणानां तेषां पाण्डवानां कियान् कालो ययौ ।

इतश्चैकस्मिन् दिने मषीश्याममुखः करात्तकौस्तुभो जराकुमारो विष्णुबान्धवः सदसि स्थितान् पाण्डवानुपतस्थे । ततो मिलनायोत्थितं युधिष्ठिरं समालिङ्ग्य बाढस्वरेण जराकुमारो रोदिति स्म । पाण्डवैर्ज्ञातं जिनवचनं सत्यं जातम्, अन्यथा कौस्तुभं रत्नं कथमस्य हस्ते आयातीति । तं रुदन्तं ज्ञात्वा तदानीं तत्सभास्थितैः सर्वैरपि बाढस्वरेण रुदितम् । ततः पाण्डवैः पृष्टम्—भो जराकुमार ! तव बन्धोर्नारायणस्य किं जातं, द्वारकायाः किं जातं ? यज्जातं तदस्माकं सर्वं निवेदय ।

जराकुमारेणोक्तम्—विभोर्वचनं किमन्यथा भवति ?, पूर्वं यत् स्वामिना नारायणाग्रे प्रोक्तं तत् सर्वं

सत्यं जातं। किं किं जातं, तदस्माकं सर्वं निवेदय। असौ पुनरुवाच—हे बन्धो! तदानीमहं हरिवधोदन्तं श्रुत्वाऽरण्यानीं शस्त्रसहायो गतः। तत्रारण्ये व्याधवृत्त्याऽहं कियन्तं कालं स्थितः। एकस्मिन् समये मया वने भ्रमता मृगे बाणोऽक्षेपि, स बाणः कस्यचित् पुरुषस्य पादतले लग्नः। ततः स उत्थितो बाढस्वरेण मां तर्जयन्नेवं जगाद।

अहो! केन पापेन निरागाः सुखसुप्तोऽनालपन् बाणेनांह्रितले विद्धः, येनाहं विद्धः स निजं नाम गोत्रं समाख्यातु। यथाऽहमपि तं प्रति नाराचं संदधे। एवंविधां धीरोदात्तां तस्य विदः पुरुषस्य वाचं श्रुत्वा मया चिन्तितम्—अहो! मृगभ्रान्त्या कश्चित् सुखसुप्तः पुमान् हतः, तर्हि समीपे गत्वा नाम गोत्रं कथयामीति विचिन्त्य किञ्चित्प्रत्यासन्नं समागत्य वल्लयन्तरितो भूत्वा भीतः कम्पमानाङ्ग एवमवोचम्।

यथा—"दशमस्य दशार्हस्य सूनुरानकदुन्दुभेः। नाम्ना जराकुमारोऽस्ति जरादेव्यास्तनूद्भवः ॥ १ ॥
निर्मानुषे वसाम्यत्र वने केनापि हेतुना। कोऽसि त्वं पुनरित्युच्चैर्दुरस्थस्तमवादिषम्" ॥ २ ॥ (युग्मम्)

एतद् वचनं श्रुत्वा हरिरुवाच—हे बन्धो! तव वनवासादिप्रवासो निष्फलो बभूव। स्वामिनोक्तं किमन्यथा भवति? एहि भ्रातः! आवां मिलावः, अस्मिन् जन्मनि आवयोरन्त्यमिलनमेतदेव। कृष्णेन इत्युक्तोऽहं समीपमागत्य कृष्णमालोक्य मूर्च्छन् मूर्च्छाकुलः पृथ्व्यां पपात। पुनर्लब्धचैतन्यः कृष्णस्य कण्ठे लगित्वा जराकुमारोऽहं भृशमरोदिशम् हा धिग् दैवेन किं कृतं, ज्येष्ठबन्धोर्हत्या दत्ता। एवमनेकशो दैवोपालम्भान् ददानो हरिणा तूष्णींकारितः। ततो मया जराकुमारेणोक्तम् हे बन्धो! भवतो मम गमनानन्तरं किं किं सञ्जात, यद् यज्जातं तत् त्वं निवेदय।

हरिरुवाच—प्रभुवाक्यादनन्तरं नागरिकैः समुज्झिते मद्ये सर्वेषां पौराणां षण्मासाः सुखेन प्रययुः। एवं काले याति वैशाखे मासि आयाते कदम्बवनपालको मम सभायां समागत्य एवं व्यजिज्ञपत्—हे स्वामिन्! कदम्बकानने लोकैस्त्यक्तं मद्यं तदेकस्मिन् दृषत्कुण्डे पिण्डीभूतम्। तन्मद्यं शाम्बप्रद्युम्नादिभिस्तव कुमारैः पीतम्। तां सुरां पुष्पफलादिवासितां पीत्वा यावता इतस्ततो भ्रमन्ति, तैः शाम्बादिभिर्भ्रमद्भिरेकान्ते तपस्यन् द्वैपायनः परिव्राड् ददृशे। दृष्ट्वा कुपिताः कुमाराः हन्यन्तां हन्यन्तामितिवादिनः परितो बभ्रमुः। एष व्यापादितः पुरीं द्वारकां कथं दग्धुमीशिष्यते? इति कथयित्वा सर्वेऽपि कुमारास्तं महामुनिं द्वैपायनं परिव्राजं घ्नन्ति स्म।

यथा—"इति शाम्बगिरा लेष्टुचपेटायष्टिमुष्टिभिः। हत्वा हत्वा मृतप्रायं तं व्यधुर्भवदात्मजाः ॥१॥
मृतोऽयमिति मूर्च्छालिं तं त्यक्त्वा गृहमाययुः। मूर्च्छाविरामे सामर्षं तं च वीक्ष्याऽहमागमम्" ॥२॥

इत्याख्याय स्थिते वनपालके सरामोऽहं तत्र वने गतः, तं महामुनिं कोपाटोपकडाराक्षं दृष्ट्वा करौ कुड्मलीकृत्य सविनयमवादिषम्—हे महामुने! शमं भजस्व, कोपं त्यज।

यतः—"क्रोधो मूलमनर्थानां, क्रोधः संसारवर्धनः। धर्मक्षयकरः क्रोधस्तस्मात् क्रोधं विवर्जयेत् ॥ १ ॥
दुस्तपं ते तपः क्वेदं, मुने! कोपः क्वचेदृशः। कथमेकत्र संवासस्तेजस्तिमिरयोरिव ?" ॥ २ ॥

हे महामुने! तव मुक्तिदायि महत्तपः क्रोधवह्निना भस्मीभावं मा यातु। हे मुने! अज्ञानाद् मद्यपानान्धैर्डिम्भरूपैरिदं यदपराद्धं तदद्य त्वं क्षन्तुमर्हसि। अथ क्रोधारुणनयनो मुनिरुवाच—हे विष्णो! तव शान्तवचनैः पर्याप्तम्, अधुनैव मया क्रोधान्धेन निदानं विदधे।

द्वैपायनस्य
कोप-
करणम्

यथा—"द्वारकाया यदूनां च क्षयाय स्यामतो हरे !।
सर्वस्य प्रलयो भावी लोकस्याऽस्य युवां विना" ॥ १ ॥

अतः सूतं मम भवतां प्रसादनेन। इति मुनिवाक्यं श्रुत्वा बलभद्रो नारायणं प्रत्यूचे—एष विरूपो हीनाङ्गो वक्रोष्ठनासिकः कदापि शान्ति न प्राप्नोति।

यतः—"वक्राङ्घ्रिनासिकाहस्ताः स्थूलोष्ठरदनासिकाः।
हीनाङ्गविषमाक्षाश्च शान्ति यान्ति न जातुचित्" ॥ १ ॥

मुनेर्निदानं श्रुत्वा विषण्णमानसौ बलविष्णू स्वगृहमाययौ। सर्वोऽपि लोको निदानं श्रुत्वा मुनेस्तिरस्कारं कुर्वन् तस्थौ। तद्दिनादारम्य द्वारकावासी सकलोऽपि नागरिकलोको ममाज्ञया प्रभोरुपदेशाच्च धर्मकर्मैकसज्जो बभूव। कालज्ञः स्वामी श्रीनेमिजिनो मह्यां विचरन् तदानीं तत्रागात्। देवैर्विहितसमवसरणे स्थितः स्वामी देशनां विदधे। तां देशना श्रुत्वा स्वाम्यन्तिके समुद्रविजयाद्या दशार्हाः सपत्नीका विना वसुदेवं प्रव्रजिताः। शाम्बप्रद्युम्नाद्याः कुमारास्तेऽपि प्रव्रजिताः। रुक्मिणीप्रमुखा मदीया महिष्योऽपि प्रव्रजिताः। तदनु लोकाः अपि प्रव्रजिताः। ततो मया स्वामी पृष्टः—हे प्रभो! अथ किं भावि?। स्वामिनोक्तम्—अद्यदिनादारभ्य द्वादशवर्षान्ते अस्या. द्वारकायाः क्षयो भावीति ममाग्रे कथयित्वा प्रभुरन्यत्र विजहार। चतुर्थषष्ठाष्टमादितपः कुर्वतां लोकानामेकादशाब्दानि निर्विघ्नं व्यति-चक्रमुः। ततो लोकैर्ज्ञातम्—तपाऽनुभावतो नष्टो द्वैपायनः पापात्मा यतो गतान्येकादशाब्दानि कुशलेन लोकानां। पुनर्मद्याद्यासक्तो लोकः स्वेच्छया विचचार; अहो! दुर्लङ्घ्या भवितव्यता।

यतः—"न स प्रकारः कोऽप्यस्ति येनेयं भवितव्यता। छायेव निजदेहस्य लङ्घ्यते जातु जन्तुभिः ॥१॥
सा सा संपद्यते बुद्धिः सा मतिः सा च भावना। सहायास्तादृशा ज्ञेया यादृशी भवितव्यता ॥२॥
अवश्यंभाविनो भावा भवन्ति महतामपि। नग्नत्वं नीलकण्ठस्य महाहिशयनं हरेः ॥३॥
अवश्यंभाविभावानां प्रतीकारो भवेद् यदि। तदा दुःखैर्न युज्यन्ते बलरामयुधिष्ठिराः ॥४॥
हरिणापि हरेणापि ब्रह्मणापि सुरैरपि। ललाटे लिखिता रेखा न शक्या परिमार्जितुम् ॥५॥

एवंविधायां भवितव्यतायां द्वादशे वर्षे प्रवर्तमानेऽनेके उत्पाता बभूवुः। अकाले गर्जितानि अकाले भूकम्पोल्कापातादयोऽभवन्। कदाचिद् विना कृशानुं गृहेभ्यो धूमो निर्ययौ, कदाचिच्चित्ररूपाणि ननृतुः, एवं शालिभञ्जिका जहसुः, अकाले सूर्याचन्द्रमसो राहुणा ग्रासोऽभूत्, यादवगृहेभ्यो रत्नानि नेशुः; ममापि चक्रादीनि रत्नानि नेशुः। एवं काले याति एकस्मिन् दिने संवर्तको वातः समन्ततः प्रावर्तत। तेन वातेन दूरात् पादपाः उन्मूल्य पुर्यन्तर्निचिक्षिपिरे; यादवानां द्वासप्ततिकुलकोटयो नगरीमध्ये वर्तन्ते, षष्टिकुलकोटयो यादवानां नगर्या बहिर्वर्तन्ते; ताः सर्वाः सम्पिण्ड्य स्थाने स्थाने वह्निमदीपयद् द्वैपायनदेवाधमः। तेन वह्निना व्याप्ते धूमे सा नगरी भृशं धूमाकुलाऽभूत्।

यतः—"दह्यमाना जनाः सर्वेऽप्यास्खलन्तः परस्परम्।
अशक्ता गन्तुममुचन् प्राणान् वेश्मधनैः सह" ॥ १ ॥

ततो मया वह्निव्याकुलेन बलदेवेन समं वसुदेवदेवकीरोहिण्यो रथे आरोपितः। स रथः पूर्वं

द्वारिकायामुत्पातारम्भ

वृषभैराकृष्टः। ततो बलिवर्दा अग्निना भस्मसाज्जाताः। तत आवाभ्यां स्कन्धार्पितयुगो रथः कतिचिद्भुवं नीतः। एवं मार्गेऽक्षाभ्यामभञ्जि, एवं युगेन चाऽभाजि, तथापि कथञ्चिदावाभ्यां रथो गोपुरं निन्ये, तदानीं केनचित् तौ कपाटावदीयेताम्, रामेणाऽङ्घ्रिप्रहारेण तौ कपाटौ दूरेऽक्षेप्साताम्। तत आवाभ्यामाकृष्यमाणोऽपि स रथस्तथा महीमग्नो यथा कृष्टोऽपि नाचलत्। ततोऽहं स्वपौरुषेऽत्यर्थं व्यषीदम्—धिगस्माकं पौरुषं, यन्मातापित्रोरपि त्राणं न विहितम्। तदानीं कश्चिद्देवो दिविस्थित उच्चैरुवाच—भोः कृष्ण! सृतं तव परिश्रमैः।

यथा—"यस्मादस्मि स एवाहं द्वैपायनवरः सुरः।
उत्पन्नोऽग्निकुमारेषु स्मृत्वा वैरं करोम्यदः" ॥ १ ॥

किन्तु एकादश वर्षाणि यावज्जनानामप्रमादेन आचाम्लादितपसामनुभावतो ममावकाशो नाभवत्। अथाऽह युवां विना कमपि न मोक्ष्ये। भवतोः प्रयासो मुधा भविष्यति, याता भवन्तौ, मम पुराख्यात मा स्म विस्मरताम्। इति देववाणीं श्रुत्वाऽप्यावां बलविष्णू स्नेहकातरौ पुनस्त रथमाकर्षावः। रथ आवाभ्यां समाकृष्यमाणो यावत् पदमात्रमपि न चचाल भूताविष्ट इव, तावत् ते जनकजनन्यावूचाते—हे पुत्रौ! युवयोः शिवमस्तु, भवतोः पन्थाः कुशली भवतु, अस्माकमत्रैव श्रीनेमिः शरणं भवतु, इत्युक्त्वा ते तत्रैव तस्थुः। ततस्तौ बलकृष्णमातापितरौ सम्यक्त्ववन्तौ आसन्नं मरणं ज्ञात्वा आराधना कुरुतः, यथा—मनसा वाचा कर्मणा यदस्माभिर्बद्धं पाप तत् त्रिविधेन मिथ्या भवतु, वयमखिलान् जीवान् क्षमयाम, तेऽपि सर्वे जीवा. मयि क्षाम्यन्तु, सर्वभूतेषु मे मैत्री वर्तते, केनचित् सह मे वैर नास्ति, अद्यप्रभृति यावज्जीवमस्माकं चतुर्विधाहारप्रत्याख्यानं भवतु, एवं कथयित्वा तैरनशनं विहितम्। विहितानशनास्ते वसुदेवदेवकीरोहिणीप्रभृतयो मुदा पञ्च परमेष्ठिनो वारं वारं स्मरन्ति।

आचाम्ल-तप-प्रभाव

एवं तेऽनशनेन स्थिताः। अथाहं तैर्विसृष्टो बलभद्रेण सहितो वलितग्रीवो व्रजामि, तदैव सार्धदग्धा प्रतोलिस्तेषामुपरि पतिता। ते त्रयोऽपि नमस्कारं परावर्तमाना मृत्वा देवलोकं गताः। ततोऽहं बलभद्रेण समं लोकानामाक्रन्दं शृण्वन्, महादुःखाक्रान्तो हाहाकारं कुर्वन्, ज्वलन्तीं द्वारकां पश्यन्, पुरवासिनां प्रलापं शृण्वन्, तेन विदीर्णकर्णः क्षुत्तृषाक्रान्तो जीर्णाराममुपागमम्। तत आवाभ्यां चिन्तितं हा हा! दैवेन किं कृतम्?। एवं विषादमापन्नं मां दृष्ट्वा बलभद्र उवाच—हे बन्धो! खेदं मा कृथाः, प्रभुणोक्तं संसारनाटकं किं न श्रुतम्?। यदि न श्रुतं, तर्हि पुनः सावधानो भूत्वा साम्प्रतं शृणु।

यथा—"अथ कर्मपरीणामः सूत्रधारो निरर्गलः। प्राणिनो नाटचपात्राणि नानानेपथ्यधारिणः ॥१॥

स खलूच्छृङ्खलोत्साहः स्वमतार्पितभूमिकः। हर्षशोकादिभिर्भावविवर्तैर्नर्तयत्यमून् ॥२॥

भवनाटचे ततोऽनेन सूत्रधारेण सूत्रिता। संस्था सर्वापि पात्राणां तद्विष्णो! मा स्म खिद्यथाः" ॥३॥

एवं बलभद्रोक्तं श्रुत्वा हरिरुवाच—हे बन्धो! आवाभ्यां किं कर्तव्यं?, कुत्र गन्तव्यं?, यत आवयोः सर्वेऽपि राजानो विरोधिनः। बलभद्र उवाच—अधुना आवाभ्यां पुनः पाण्डवेयान्तिके गन्तव्यं, यतस्ते महात्मानो बान्धवाश्च कृतोपकाराः कृतज्ञाश्च।

यतः—"दो पुरिसे धरउ धरा दोहि वि पुरिसेहिं धारिआ धरिणी।
उवयारे जस्स मई उवयरियं जो न पम्हुसेइ ॥ १ ॥
अपकारेऽपि सौजन्यं, सुजनो न विमुञ्चति।
जहाति दह्यमानोऽपि, घनसारो न सौरभम्" ॥ २ ॥

एवं विचार्याऽहं बलभद्रेण समं पाण्डुमथुरां प्रति प्रचलितः, मार्गे सञ्चरन्तावावां द्वावपि बन्धू क्रमेण मार्गे श्रमार्दितौ हस्तिकल्पपुरोद्यानमागच्छावः। ततः क्षुत्क्षामं मां वीक्ष्य रामेण भोजनानयनाय हस्तिकल्पपुरे प्रविशता मया सह सङ्केतो विहित, यथा हस्तिकल्पपुरे धृतराष्ट्रपुत्रोऽच्छदन्तनामा राजाऽस्ति, स पाण्डववैरेण मया सह भृशं वैरायते, यतः क्रूरात्मा, अतो हे बान्धव! अहं हस्तिकल्पनगरे तव भक्तपानार्थं यामि। परमहं तत्र गतः कदाचित्तेन रुद्धो यदा सिंहनादं करोमि तदा त्वया तत्र त्वरितं समागन्तव्यमिति। ईदृशं सङ्केतं कृत्वा नगरे गतः। गमनानन्तरं क्षणेन मया बलभद्रकृतः सिंहनादः श्रुतः।

"ततः क्रोधकरालोऽहमत्युत्फालमधाविषम्। पिहितां च पदाहत्य प्रतोलीमुदघाटयम्" ॥ १ ॥
"भिन्दन्तमच्छदन्तस्य चतुरङ्गवरूथिनीम्। अद्राक्षं कुञ्जरालानस्तम्भपाणिं च सीरिणम्" ॥ २ ॥

ततोऽहमपि पुरीपरिघमादाय अच्छदन्तं प्रति अधाविषम्। ततो मयोक्तम्—हे दुरात्मन्! कौरवान्तकरो हरिस्त्वयाऽहं किं न ज्ञातः? सज्जो भव, तत् श्रुत्वा मरणाद् भीतोऽच्छदन्तो मम करे यमदण्डतुल्यं परिघमालोक्य बद्धाञ्जलिरजल्पत्-हे हरे! सेवकस्य मम कुरङ्गमात्रस्योपरि तव सिंहस्येव कोऽयं कोपाटोप इत्याद्युक्तिभिस्तोषितोऽहं त तत्रैव मुक्त्वा नानामनोहराहारपाणिना सीरिणा समं पुनस्तद्वनमागमम्। तस्मिन् वने बलभद्रेण समं स्नानं कृत्वा भोजनं विहितम्। भुक्त्यनन्तरं द्वावपि बन्धू परस्परं वार्तां कुर्वाणौ स्वः। तदानीं मया पृष्टम्—हे बन्धो! त्वया नगरे गत्वा भोज्य कथमानीतम्?।

बलदेवेनोक्तम्—शृणु, भवदन्तिकादहं नगरे गतः। ततः कान्दविकापणे मया सुवर्णकटकं दत्त्वा भोज्यं गृहीतम्। गृहीतभोजनो यावदहं प्रत्यावृत्तस्तावत् कान्दविकेन राज्ञोऽग्रे गत्वा नामाङ्कं कटकं दर्शितम्। ततोऽच्छदन्तो बलभद्रं ज्ञात्वा सैन्यसमेतो मम मारणाय समागतः, तत्रागत्य मां प्रोचे—भोः पाण्डवबन्धो!

क्व यासि, यदि वसुदेवरोहिणीसूनुर्भवसि तर्हि सज्जो भव, पुनरप्यायुधं गृहाण। ततो मया भोजनपात्राण्येकत्र मुक्त्वा सिंहनादं वितन्वता गजालानस्तम्भं समादाय वैरिणा समं संग्रामाय ढुढौके। तेन सार्धं यावत् संग्रामं करोमि तावत् त्वं तत्र समागतः, एतन्मे चरित्रम्।

तत आवां विहिताहारौ तस्माद् वनात् प्रचलितौ क्रमात् कौशाम्बं नाम काननं समागाव। तस्मिन् वने न्यग्रोधपादपतले स्थितस्य पथश्रान्तस्य मे सलवणाहारात् पुण्यक्षयाच्च तृड् लग्ना। ततो मया बलभद्रस्योक्तम्—हे बन्धो! मां तृड् बाधते। बलदेवेनोक्तम्—विष्णो! यावदहं जलमानयामि तावत् त्वं प्रमादं मा कृथाः, सावधानो भूत्वा तिष्ठ; मामिति कथयित्वा वनदेवतां समर्प्य बलदेवो जलानयनाय जगाम। अहं तु पथश्रान्तो जानूपर्यंह्रिमारोप्य पीताम्बरेणाच्छाद्य यावता कञ्चित्कालं सुखं सुप्तस्तावत् त्वया मृगभ्रान्त्या पादतले विद्धः। हे जरासूनो! एषा तवाग्रे मूलतः कथा मया कथिता।

जराकुमारो विष्णुमुखादेवं द्वारकादाहकथां श्रुत्वा स्वहस्तेन बान्धवं हतं दृष्ट्वा दैवोपालम्भपूर्वकं एवमुवाच—हे विधे! धिक् ते विलसितम्, एवंविधां द्वारकां विधाय पुनस्त्वया भस्मसात् कथं विहिता? हे विधे! त्वया मम मातापितरौ हुताशने कथं दग्धौ? हे विधे! त्वया स्नेहबन्धुरा मामकीना बान्धवा वह्नौ कथं क्षिप्ताः?। हे हरे! त्वया राज्यं क्व हारितम्, हे बन्धो! तव क्व साऽवस्था, दासदासीभिः परिवृते सुवर्णपल्यङ्के शयनं क्व, पक्षिकुलाकीर्णे न्यग्रोधतले सिकतायां लुठनं क्व? हा! तत्राप्यस्य कुत्रेदं मया बाणेन ताडनम्? धिग्मां हन्त! सुखसुप्तभ्रातृहत्यामलीमसम्। एवं शोचन्तं मां प्रति वात्सल्यात् हरिरूचे—हे बन्धो! विलापेन सृतम्; भगवदुक्तं किमन्यथा भवति? यज्जिनेनोक्तं तत्तथैव भवति।

द्वारका-दाहकथा-श्रवणम्

इत ऊर्ध्वं निश्चितं मुहूर्तेन मम मृत्युर्भावी, तदिदानीमहं श्रीनेमिपदपङ्कजं स्मरिष्यामि। तत् त्वं

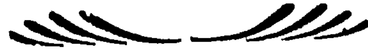
ममैतत्कौस्तुभरत्नमादाय वेगेन पाण्डवान्तिके याहि। ते त्वां बन्धुप्रीत्या राज्यं दास्यन्ति। अन्यथा बलवान् बलः समायातस्त्वां हनिष्यति। ततो हरिणा कौस्तुभं दत्त्वा विसृष्टोऽहं क्रमेण भवदन्तिके समायातः। इति जरासूनोर्वार्तां श्रुत्वा द्वारकाविनाशं हरेर्वधं च ज्ञात्वा परमसौजन्याः पञ्चापि पाण्डवाः महतीं शुचं प्रापुः। ततस्ते पाण्डवाः शोकं विधाय, मृतकार्यं च कृत्वा संसारासारतां विभावयन्तो वैराग्योत्तानमानसाः संसारपराङ्मुखाश्चिन्तयन्ति—यदि श्रीनेमिजिनो भव्यान् प्रतिबोधयन्नत्राऽऽयाति, तदा भगवदन्तिके वयं परिव्रजामः। एवंविधां भावनां भावयन्तः पञ्चापि पाण्डवाः राज्य कुर्वाणाः सुखमनुबभूवुः।

इति श्रीमत्तपागच्छाधिराजभट्टारकश्री ५ श्रीहीरविजयसूरिपट्टालङ्कारसंप्रतिविजयमानभट्टारकश्रीविजयसेनसूरिविजयराज्ये पण्डितदेवविजयगणिविरचिते गद्यबन्धबन्धुरे श्रीपाण्डवचरित्रे द्रौपदीप्रत्याहारणद्वारकादाहवर्णनो नाम सप्तदश सर्ग· समाप्त· ।



अर्हम्

अथ अष्टादशः सर्गः



"नेमिरण्यथ सर्वज्ञो धर्मघोषं महामुनिम् । प्रैषीत्पाण्डवबोधाय मुनिपञ्चशतीयुतम् ॥ १ ॥
अथ नेमिजिनादेशाद् देशनाक्षीरसागरः । धर्मघोषमुनिः पाण्डुमथुरोद्यानमाययौ" ॥ २ ॥

मुनेरागमनम्

अथोद्यानपालकस्तस्य मुनेः समागमं ज्ञात्वा युधिष्ठिरं वर्धयितुं शीघ्रं समाययौ । तस्योद्यानपालस्य वर्द्धापनीं दत्त्वा सपरिकरो युधिष्ठिरो वन्दनाय नगरान्निर्ययौ । वने गतो युधिष्ठिरः सुवर्णसिंहासनासीनं धर्मघोषं, विद्यापारगं महामुनिं, मुनीनां पञ्चशत्या परिवृतं, रूपस्य तपसोऽप्येकमाश्रमं, देवासुरमनुजपर्षदि धर्ममाख्यान्तं दृष्ट्वा, जराकुमारेण समं नत्वा, स्तुत्वा च धर्मात्मजः पुरो निषसाद । ततो मुनीन्द्रो धर्मघोषाभिधो पीयूषस्यन्दसादरया गिरा वैराग्योत्पादिनीं धर्मदेशनामुपचक्रमे । यथा—हा धिक् संसाराऽसारत्वम्,

"धी संसारसहावं चरिअं नेहाणुरायरत्ता वि । जे पुव्वण्हे दिट्ठा ते अवरण्हे न दीसन्ति ॥ १ ॥
मा सुअह जग्गिअव्वे पलाइअव्वंमि कीस वीसमह । तिण्णि जणा अणुलग्गा रोगो अ जरा अ मच्चू अ ।२।
भोगे रोगभयं सुखे क्षयभयं वित्तेऽग्निभूभृद्भयं, दासे स्वामिभयं जये रिपुभयं वंशे कुयोषिद्भयम् ।
स्नेहे वैरभयं नयेऽनयभयं काये कृतान्ताद्भयं, सर्वं नाम भयं भवेत् पुनरिदं वैराग्यमेवाऽभयम् ॥ ३ ॥

इति संवेगिनीं वाचमुपदिश्य मुनौ विरते युधिष्ठिरः सबान्धवः करौ कुड्मलीकृत्य मुनिपतिमुवाच—हे प्रभो ! भवद्देशनां पापनाशिनीं श्रुत्वा वयं प्रमुदिता भवदन्तिके प्रव्रजिष्यामः, पूर्वमपि स्वाम्यन्तिके दीक्षां ग्रहीतुकामैरस्माभिः श्रीनेमिर्मनसा ध्यातः। स्वामिनाऽस्मदनुग्रहं विधाय यूयं प्रेषिताः, भवदागमनेन वयं कृतार्था जाताः। अतः स्वामिन् ! पृच्छ्यते, यतो भवादृशां ज्ञानसागराणामतीन्द्रियार्थप्रकाशनपराणां किञ्चिदज्ञानं नास्ति। अतः स्वामिन् ! कथ्यतां कौशाम्बकानने वटवृक्षाधःसुखसुप्तस्य हरेर्जराकुमारेण पादतले बाणेन विद्धस्य पश्चात् किं जातम् ?, जलानयनाय गतेन बलभद्रेण किं किं कृतं, यद् यत् कृतं तत्तद् ज्ञानेनावलोक्य मम सर्वं समाख्याहि, भवदन्तिके सर्वं श्रोतुमिच्छामि।

युधिष्ठिरोक्तं श्रुत्वा मुनिर्ज्ञानेनालोच्य तयोः कथां सर्वां व्याजहार—भो राजन् ! श्रूयतां कौशाम्बवने हरिं मुक्त्वा स्वय बलभद्रो जलानयनाय जलाशये गतः। जलं लात्वा यावत् पश्चाद्वलितस्तावद् मार्गे समागच्छन् पदे-पदे विरूपशकुनैर्वारितश्चिन्तयति—हा ! किमेतद् अथ किं भविष्यति ?। इति विचारयन् जलभृतभाजनो बलदेवः कृष्णान्तिकमुपागमत्। सुखसुप्त हरिं दृष्ट्वा बलो बभाषे, यथा—हे बन्धो ! उत्तिष्ठ, सुरभिशीतलं पानीयं पिब, पथिश्रान्तो हस्तौ पादौ प्रक्षाल्य स्वस्थो भव, मया सह वार्तां कुरुष्व, किं रुष्ट इव मौनमाधाय सुप्तोऽसि ?, यज्जलानयने विलम्बो जातस्तेन रुष्टोऽसि, किं करोमि ?, जलं न लब्धं, ततोऽहं दूरे गतस्तेन विलम्बो जातः, अथाऽहं शीघ्रं समेष्यामि, उत्तिष्ठ, पानीय पिब, साम्प्रतं रोषावसरो नास्ति।

एवमुक्त्वा बाहुभ्यां धृतस्तथापि नोत्थितः, पुनस्तथैव स्रस्तरे सुप्तः। तदानी बलदेवोऽचिन्तयद्—नूनं मे बान्धवः पथश्रान्तः शयानोऽस्ति, प्रमीला समायाति तेनैषो निर्भरं स्वपिति। इत्यालोच्य बलदेवः कियतीं वेलां कृष्णमुखन्यस्तदृग्द्वन्द्वो यावत् तिष्ठति तावत् कृष्णमुखस्योपरि परितः कृष्णमक्षिकाः भ्रमन्तीर्वीक्ष्य चिन्तयति—किमेतद् दृश्यते ?।

ततः सर्वाङ्गं पश्यन् चरणपल्लवं शोणितलिप्तं बाणव्रणाङ्कितं पादतलं दृष्ट्वा बलो मूर्च्छितः। पुनः शीतलवनवातेन लब्धचैतन्यः कोपाटोपाद् बाढं सिंहनादं चकार, येन नादेन अरण्यमृगास्त्रेसुः, येन नादेन काश्यपी चकम्पे। एवंविधं सिंहनादं विधाय बाढस्वरेण बभाषे—अहो! केन पापेन सुप्तो मम बान्धवो हतः।

यथा—"सुप्तमत्तप्रमत्तेषु बालस्त्रीमुनिगोष्वपि।
क्रूरकर्मैकचण्डालोऽप्यभिज्ञः प्रहरेत कः ?" ॥ १ ॥

यदि कस्यापि ज्वरिण इव दोर्दर्पोत्कर्षो वर्तते स मत्पुरतः प्रकटीभवतु। यथाऽहं तस्य दर्पोत्कर्षं स्फोटयामि, एवं कथयन् वारं वारं मुमूर्च्छ। पुनः शीतलवातेन लब्धचैतन्य एवं विलपति।

यथा—"हा! विश्वेष्वेकशौण्डीर! हा! रिपुष्वेकरोषण!।
हा! गुणिष्वेकधौरेय! हा! गुरुष्वेकवत्सल!" ॥ १ ॥

हे बन्धो! त्वं तैस्तैर्जरासन्धशस्त्राघातैर्न मृतः, तर्हि अनेनांह्रिप्रहारेण तव मृत्युः कथं श्रद्धीयताम् ?। तस्मिन्नरण्ये बलवान् बलो नारायणस्नेहग्रथिलः स्नेहलं बन्धुं स्कन्धे समारोप्य इतस्ततः श्वापदाकीर्णे वने बभ्राम। भ्रमन्नेवमूचे—हे बन्धो! यदि चरणव्रणपीडाभिः मार्गे चलितुमशक्तः, मम स्कन्धं समारूढो मया वारं वारं भाषितोऽपि किं न जल्पसि ? तव स्नेहः कुत्र गतः, ममैवं क्रन्दतोऽप्युत्तरं न ददासि, अत उत्तरं देहि, तव वचोऽमृतं पातुं मम मानसं भृशमुत्सहते। पूर्वं त्वं मयि सापराधेऽपि कदाचिद् रोषं नाकार्षीः, तर्हि साम्प्रतं विनाऽपराधं मयि केयं ते दीर्घरोषता ?।

बलदेवस्य कृष्णानुराग

एवं कथयन् वृक्षं प्रति शत्रुधिया पार्ष्णिप्रहारेण प्रहरति, कदाचिद्बान्धवं वृक्षस्याधो निवेश्य तारस्वरेण गानं करोति, कदाचिल्लयमानयुतं नृत्यं करोति, कदाचिद् वृक्षेण समं शत्रुधिया युद्धं करोति, कदाचित् कृष्णशिरसि च्छत्रं धृत्वा सेवां करोति, कदाचिद्दण्डधरो भूत्वा पुरो निषीदति, कदाचित् स्रस्तरे द्वावप्येकीभूयाऽत्यालिङ्ग्य सुषुपतुः । पुनः प्रभाते सञ्जाते बान्धवं प्रतिबोध्य स्कन्धं समारोप्य मार्गे चलति ।

यथा-"स्कन्धन्यस्तहरिर्बन्धुस्नेहव्यामोहितो हली । भ्राम्यति स्म सरिच्छैलकाननानि दिवानिशम् ॥१॥
पुष्पैर्वन्यद्रुमाणां च नित्यमानर्च शार्ङ्गिणम् । एवं रामोऽतिचक्राम षण्मासान् पर्यटन् वने" ॥२॥

बलभद्र-प्रति-बोधाय विविध-प्रयोग-करणम्

इतश्च कश्चिद् हालिको वर्षासमये समागते मेघगर्जारवैः पूरितदिगन्ते शीघ्रं गिरिशिखरादवतरन् समभूभागे संचरन्तं चागत्य ग्रावमयं रथं भग्नं सारथिना सज्जीक्रियमाणं दृष्ट्वा सीरपाणिरभाषत—रे मूढ ! अस्मिन् रथे कणशो भग्ने, अथ कस्ते मुधा सन्धानश्रमः ? । तत् श्रुत्वा बलभद्रं प्रति सारथिरुवाच—संग्रामशतेषु लब्धजयः सांप्रत पादप्रहारेणाऽपि मृतः, एवंविधस्तव बान्धवो यदि जीविष्यति, तदा मे समभूभागभग्नो रथोऽपि सज्जीभविष्यति । बलभद्रो बभाषे—भो मूढ ! मे बन्धुः क्व मृतोऽस्ति, जीवन्नस्त्येव, ममोपरि रुष्टत्वान्न भाषते, त्वमितो याहि, मद्दृष्टितो दूरे अपसर । एवं कथयित्वा बलदेवः पुरश्चचाल ।

"रोपयन्तं निरूप्याऽथ शिलायां नलिनीं क्वचित् ।
सारम्भमभ्यधात् कञ्चिदुच्चैःशब्दं हसन् हली" ॥ १ ॥

तं प्रति हली बभाषे—भो मूढात्मन् ! जलाश्रये वप्तुं योग्या पङ्कजिनी किं कठिनशिलातले प्ररोहति ? ।

स बभाषे—यदि तव बान्धवश्चेतनां लप्स्यते, तदाऽत्रापि शिलातले पङ्कजप्ररोहो भविष्यति। इति तस्यापि भारतीमवज्ञाय मोहविवशाशयो मुसली तमुपेक्ष्य तथैव पुरश्चचाल।

"ततो दवाग्निनिर्दग्धं सिञ्चन्तमवनीरुहम्।
कञ्चिदारामिकं रामः पश्यति स्म व्रजन् पुरः" ॥ १ ॥

दग्धमहीरुहं सिञ्चन्तं कञ्चिदारामिकं दृष्ट्वा रामो बभाषे—भो मूढात्मन्! किं क्वापि दृष्टं श्रुतं वा यद्दग्धभूरुहोऽपि जलसिक्तोऽङ्कुरान् मुञ्चति?। स जगाद—यदि भवत्स्कन्धशवो जीविष्यति, तदाऽयमपि पादपो भूयः शाद्वलीभविता। एवंविधां तस्य तां वाचमवगणय्य पुनस्तथैव पुरश्चचाल।

"तामश्रुत्वैव तद्वाचमुच्चचाल हली पुरः।
दूर्वाश्च गोशवास्येषु क्षिपन्तं कञ्चिदैक्षत" ॥ १ ॥

कञ्चित् पुरुषं गोशवास्ये दूर्वाकवलकान् प्रक्षिपन्तं दृष्ट्वा बलदेव ऊचे—भो मूढात्मन्! मृता गौः किं दूर्वाकवलकान् भक्षयति?। तेनाप्यूचे—यदि तव स्कन्धस्थो हरिः पद्भ्यां चलिष्यति, तदैषापि मृता गौर्दूर्वाङ्कुरान् भक्षयिष्यति। वारं वारमेवं श्रुत्वा बलदेवो बान्धवाऽभिमुखं पश्यन् स्वस्थमानसश्चिन्तयति—नूनमयं ममानुजो मृतः, यदमी सर्वे लोका एकरूपं वचो वदन्ति। संप्राप्तचैतन्यो बलदेव एवं यावता चिन्तयति तावदुद्द्योतिताशः कश्चिद्देवो मुशलिनः पुरः प्रादुर्बभूव, एवमुवाच।

यथा—"सोऽब्रवीत् सीरिणं सोऽहं सिद्धार्थः सारथिस्तव।
प्रभावात् तपसस्तस्य देवभूयमुपागमम्" ॥ १ ॥

दग्धमहीरुहस्य सिञ्चनम्

यत् त्वया प्रव्रज्याकाले पुरा ममोक्तम्—भो बन्धो ! त्वं देवत्वं प्राप्तो व्यसनार्णवाद् मामुद्धरेः, तेनाहं तव बोधनाय शीघ्रमत्र समागतः। पूर्वं ते दृष्टान्तास्तव प्रतिबोधाय मया दर्शिताः। श्रीनेमिनाथेन पूर्वं जरासुताद् मुरारातेर्मृत्युर्य ऊचे स तथैवाऽभूत्, यतोऽर्हतां गिरः किमन्यथा भवन्ति ?। हे बन्धो ! जीवैर्निश्चितं जन्मनि बान्धवाः प्राप्यन्ते, किन्तु तव बन्धोरुपरि कोऽयं स्नेहः ? अस्मिन् संसारे धर्मः परमो बन्धुः।

यतः—"नित्यमित्रसमं देहं स्वजनाः पर्वसन्निभाः। नमस्कारसमो ज्ञेयो धर्मः परमबान्धवः ॥ १ ॥
यत्प्रातः संस्कृतं धान्यं मध्याह्ने तद्विनश्यति। तदीयरसनिष्पन्ने काये का नाम सारता ? ॥२॥

गर्भस्थं जायमानं शयनतलगतं मातुरुत्सङ्गसंस्थं,
बालं वृद्धं युवानं परिणतवयसं विश्वमार्यं खलं वा।
वृक्षाग्रे शैलशृङ्गे नभसि पथि जले कोटरे पञ्जरे वा,
पाताले वा प्रविष्टं हरति च सततं दुर्निवार्यः कृतान्तः ॥ ३ ॥

गर्भे जन्मनि बाल्ये च यौवने वार्धकेऽपि च। जन्तोर्जीवितरत्नानि हरते कालतस्करः ॥ ४ ॥

दिव्यज्ञानयुता जगत्त्रयनुता येऽनन्तवीर्या जिना,
देवेन्द्रासुरवृन्दवन्द्यचरणाः सद्विक्रमाश्चक्रिणः।
वैकुण्ठा बलशालिनो हलधरा ये रावणाद्याः परे,
ते कीनाशमुखं विशन्त्यशरणा यद्वा न लङ्घ्यो विधिः" ॥ ५ ॥

इति सिद्धार्थदेवोक्तां मोहविध्वसिनीं वाचं निशम्य लाङ्गली सिद्धार्थं प्रत्यूचे—हे बन्धो ! त्वया यदहं बोधितस्तद्वरं कृतम् । भो बान्धव ! सिद्धार्थ ! ब्रूहि, साम्प्रतं किमात्मनो हित करोमि । सिद्धार्थेनोक्तम्—साम्प्रतं भगवान्नेमिजिनो वर्तते दुःखार्दितानां सौख्यदायको मोक्षसुखनायकः, तत्पादान्तिके दीक्षामादाय मोक्षसुखाय यतस्व । तथेति कृत्वा बलभद्रः सिद्धार्थयुतो मुरारातेः शरीरस्याऽग्निकर्मादि निर्ममे । अथ बलभद्रोऽत्युद्विग्नमानसः संसाराद्विमुखो यावद् बभूव तावद् लाङ्गली पुरतो विद्याधरमहामुनिमद्राक्षीत् । बलदेवस्तस्य मुनेः संमुखं गत्वा वन्दनं विधाय हर्षोत्कर्षमनाः स्वागतं पप्रच्छ । मुनिर्बभाषे—भो भद्र ! श्रीमन्नेमिनाथेन भवदभिप्रायं ज्ञात्वा दीक्षाकृते वयं प्रेषिताः स्म । तन्मुनिमुखाद्धर्मोपदेशमादाय तस्यान्ते बलदेवो भावेन संयमं प्रपेदे । संयमं लात्वा तद्दिनादारभ्य शरीरेष्वपि निर्ममत्वः षष्ठाष्टमादि तपश्चक्रे ।

यथा—"वैरङ्गिकः शरीरेऽपि जीवितव्येऽप्यरागवान् । अरिष्वपि निरातङ्को निःशङ्को विपिनेष्वपि ॥१॥
धर्माऽमृतमयैः शान्तैस्तैस्तैर्वचनवीचिभिः । तत्र तत्र जनांस्तांस्तानुपकुर्वन्नखर्वधीः" ॥ २ ॥

अरण्यग्रामाकरनगरखेटककर्बटादिष्वप्रतिबद्धात्मा बलभद्रो मुनिः स्वैरं विचचार । बलभद्रमुनेश्छायावत् सिद्धार्थदेवः सेवां कुर्वन् वैयावृत्यकरोऽभवत् । एकस्मिन् पार्श्वे बलभद्रो महामुनिर्महीं पावयन् विचरति, अन्यस्मिन् पार्श्वे नेमिजिनो महीं पावयन् विचरतीति धर्मघोषमहामुनेर्मुखाद् बलभद्रकृष्णकथां श्रुत्वा वैराग्योत्तानमानसाः पञ्चापि पाण्डवा झटिति संसारं त्यक्तुकामाः पुनर्मुनिमानम्य स्वान् भवान् पुण्यानि च पप्रच्छुः । हे प्रभो ! वयं प्राग्भवे केऽभवाम ?, तत्र भवेऽस्माभिः किं पुण्यं विहितं ?, यैरिदृशी महर्द्धिः प्राप्ता, पुनरस्माभिः कानि कानि च तपांसि तप्तानि ?, यैस्तपोभिरीदृशानि शारीरबलानि लब्धानि ?, इति स्वज्ञानेन ज्ञात्वाऽस्मत्पुरः सर्वं सत्यं समाख्याहि ।

भगवान् धर्मघोषाभिधो मुनिरुवाच—हे पाण्डवा: ! यूयं सावधानीभूय भवान् पुण्यानि च शृणुत । यथा यूय प्रागभवे कस्मिश्चिन्नगरासन्नग्रामे कर्षुकाः सुरतिशांतनुदेवसुमतिसुभद्रनामानो बान्धवा अभूवन् । अन्यदा ते पश्चापि बान्धवा दारिद्रयकर्दमे मग्ना भवोद्विग्नाः सन्तो यशोधरमुनिदेशनातश्च लब्धवैराग्यास्तस्यैवान्ते संयमं जगृहुः । ततस्ते सम्यग् गृहीतसंयमा निजदेहेष्वऽपि निस्पृहास्तपोऽर्ककिरणैः कर्मपल्वलं व्यशोषयन् । आद्यः सुरतिर्नामा मुनिः कनकावलीतपश्चकार । तद्यथा—चतुर्थं करोति, ततः षष्ठं, ततोऽष्टमं, ततोऽष्टमाऽष्टकं, पुनश्चतुर्थं, ततः षष्ठ, एवमेकैकवृद्धया यावच्चतुस्त्रिशद्भक्तं, पुनश्चतुस्त्रिशदष्टमानि, पुनश्चतुस्त्रिशद्भक्तं, ततो द्वात्रिशद्भक्तम्, एवमेकैकन्यूनत्वेन चतुर्थान्त यावदुत्तार्यते पुनरप्यष्टमाष्टकं, ततोऽष्टमं षष्ठं, चतुर्थं चेत्येका लता। एकेन सवत्सरेण पश्चभिर्मासैर्द्वादशदिवसैरेका लता भवति। एवं चतुर्भिर्लताभिः पञ्च वर्षाणि नवमासा अष्टादश दिवसाश्च भवन्ति ।

प्रथमलतापारणके विकृतिः, एवं द्वितीयलताप्रतिपारणके निर्विकृतिः। एवं तृतीयलताप्रतिपारणके अलेवाडं, चतुर्थलताप्रतिपारणके आचाम्लं करोति। अथ द्वितीयः साधुः शान्तनुनामा रत्नावलीतपोऽकरोत्। यथा कनकावली तथा रत्नावल्यपि, नवरं त्रिष्वपि स्थानेषु षष्ठतपांसि करोति। एवं खलु एकस्यां लतायां कालो यथा—एकेन सवत्सरेण त्रिभिर्मासैर्द्वाविशत्यहोरात्रं सम्यगाराधिता भवति। एवं चतुर्भिर्लताभिः पञ्च वर्षाणि द्वाभ्या मासाभ्यामष्टाविंशतिदिवसेन सम्यगाराधिता भवति। तृतीयो देवनामा मुनिः मुक्तावलीतपः कृतवान्, यथा—एकद्विकादिकैरन्तरिता यावत् षोडश भवन्ति पुनः षोडशैकान्ता एकान्तरितोपवासैः षष्ठपारणकैश्चैका लता भवति। पूर्वोक्तपारणके क्रियमाणे चत्वारि वर्षाण्यस्मिन् तपसि भवति। चतुर्थो सुमतिर्नामा महामुनिः सिंहनिष्क्रीडिततपोऽकरोत्, यथा—प्राकृतबन्धेनैवोच्यते ।

"इगदुगइगतिगदुगचउतिगपणचउक्कपञ्चसत्तछगं । अट्ठगसत्तगनवगं अट्ठगनवसत्त अट्ठेव ॥ १ ॥

छगसत्तगपणचउक्कं चउपणतिगचउदुयतिगं । एगं दुगइक्कग उववासा लहु सिंघनिक्कीलिअतवम्मि ।२।
चउपन्नखमणसयं दिणाणि तह पारणाणि तित्तीसं । इह परिवाडी चउक्के वरिसदुगं दिवस अडवीसा ।३।
विगईओ निव्विगईअं जहा अलेवाडयं च आयामं । परिवाडिचउक्कम्मि अ पारणए विहेअव्वं" ।।४।।

इति लघुसिंहनिष्क्रीडिततपः ।।

"इगदुगइगतिदुगचउतिगपणसुचउछक्कपञ्चसत्तछगं । अडसत्तनवदसनवइक्कारसदसयं बारसगं ।।१।।
इक्कार तेर बारस चउदसतेरसय पनर चउदसगं । सोलस पनरस सोलाइ होइ विवरीअमिक्कन्तं ।।२।।
एए अ भत्तट्ठाइगसट्ठी पारणाणमिह होइ । एसा एगा लइआ चउगुणाए पुण इमाए ।। ३ ।।
वरिसछक्कं छमासतिगं दिवसाइं बारस हवन्ति । इत्थं महासीहनिक्कीलिअम्मि तिच्चे तवचरणे" ।।४।।

इति महासिंहनिष्क्रीडिततपः । पञ्चमो सुभद्रकनामा मुनिराचामाम्लवर्द्धमानाख्यं तपश्चकार, यथा—एकादिकान्याचाम्लान्येकैकवृद्ध्या वर्द्धितानि पर्यन्तोपवाससहितानि यावदाचाम्लपूर्णशतं भवति तदाचाम्लवर्द्धमानाख्यनाम तपो भवति । अस्मिन् तपसि कालः—चतुर्दश वर्षाणि, त्रयो मासा, विंशति दिवसानि च भवन्ति । इत्येष आचाम्लवर्द्धमानतपः । ततस्ते पञ्चाऽपि मुनयः पञ्चाक्षनिग्रहाद् महाव्रतानीव शुशुभिरे । एवं सुमतिगुप्तिमन्तः संयमाराधने तत्पराः कियता कालेनाऽनेकलब्धिमन्तो मह्यां विहरन्तोऽत्युत्कटतपोऽग्निना कर्मदेहं धातुदेहं च शोषयित्वाऽनशनेन मृत्वा प्रान्ते पञ्चाऽपि भ्रातरः सर्वार्थसिद्धिनाम्न्यनुत्तरविमानेऽहमिन्द्रत्वेन नाकिनोऽभवन् । यतः "अणसणमरणेण इंदत्तं" । ततस्त्रयस्त्रिंशत्सागराण्यायुः परिपाल्य देवभवाच्च्युत्वा इहास्मिन् भवे हस्तिनापुरे यूयं पञ्चाऽपि प्रीतिशालिनः पाण्डुराट्सुता अभवन् । इतो यूयं संयमं प्रपाल्यास्मिन्नेव हि भवे पञ्चाऽपि भ्रातरो मोक्षं यास्यथ ।

इति श्रीधर्ममहामुनिगिरं श्रुत्वाऽतिसवेगमनसः पाण्डवास्तं मुनिमानम्य स्वां पुरीं पाण्डुमथुरां पुनः प्राविशन्। ते पाण्डवाः शुभमुहूर्ते जराकुमारं वसुदेवपुत्रं कृष्णप्रीतये कस्मिश्चिद्राज्ये न्यवीविशन्। ततो युधिष्ठिरो द्रौपदीकुक्ष्युत्पन्न पाण्डुसेनं परीक्षिताऽपरनामानं स्वं पुत्रं पाण्डुमथुराराज्ये समारोपयत्। यतः कीदृशं द्वात्रिंशद्राजलक्षणोपेतम्। तानि लक्षणान्यमूनि, यथा—कुलीनः, शीलवान्, सुसंस्कृतः, शौर्यवान्, सततृव्ययः, प्रीतिमान्, सत्यरङ्गः, सावयवः, प्रियंवदः, कीर्तिमान्, त्यागी, विवेकी, श्रृङ्गारवान्, अभिमानी, श्लाघावान्, समुज्ज्वलगुणः, सकलकलाकुशलः, सत्यवाग्, जनप्रियः, सर्वदाता, स्वजनः, सुगन्धिप्रियः, सवृतमन्त्रः, क्लेशसहः, अनुगप्रियः, वाक्यप्रियः, पण्डितः, उत्तमसत्त्वः, धर्मिष्ठः, महोत्साही, गुणग्राही, सुपात्रसंग्रही, क्षमी, परिभावकश्चेति। अथ ते पाण्डवाः प्रव्रज्योत्सुकमानसाः प्रथमं गुप्तिगृहस्थान् बन्दीनमोचयन्। ततो दीनाऽनाथदुःस्थितेभ्यो यथेप्सितं स्वर्णरत्नमणिमाणिक्यादिदानं ददुः। ततस्ते जीर्णभ्रष्टानि नवीनानि च जिनचैत्यानि कारयामासुः। ततस्ते सप्तक्षेत्र्यां धनानि वपन्ति स्म।

यथा—

"जिणभवणबिम्बपुत्थयसंघसरूवेसु सत्तखित्तेसु। ववित्रं धणं पि जायइ सिवफलयमहो! अणन्तगुणं ॥१॥

किमन्यत्ते तथाऽवर्षन् सर्वतः कनकोत्करैः। लुम्पन्ति स्म यथा नामाप्युत्तमर्णाधमर्णयोः" ॥ २ ॥

एवं दानादि दत्त्वा प्रत्येकं कुञ्जरारूढा धृतश्वेतातपत्रा वारविलासिनीभिरुद्धूतचामराः, सपौरैः पाण्डुसेननृपमन्त्रिभिरनुगम्यमानमार्गाः, सामानिकाऽमरैर्देवेन्द्रा इव सैन्यसमूहैः परिवृताः, तूर्यनिनादैः पूरितदिगन्ताः, मङ्गलपाठकैः स्तूयमानगुणनिकराः, द्रौपदीप्रमृतिभिर्नारीसमूहैस्सुखासनासीनैरन्वीयमानमार्गाः, एवंविधा. पाण्डवाः परिव्रज्यामङ्गीकर्तुं गुर्वन्तिके प्रचेलुः। ते पाण्डवा मार्गे जनानां नेत्राश्रुकणान् मृगीदृशां वर्द्धापितलाज-

पाण्डवाना दीक्षा-स्वीकार

कर्णांश्च प्रतीच्छन्तो बाह्योद्यानमुपाययुः। तत्र वने गुर्वन्तिके गत्वा सिन्धुरादवतीर्य राजचिह्नान्यपास्य ते पञ्चापि सपत्नीकाः प्रभुं धर्मघोषाख्यं महामुनिमुपतस्थिरे। ते पाण्डवाः सपत्नीका धर्मघोषमुनिं प्रदक्षिणीकृत्य योजितपाणयो दीक्षां ययाचिरे। हे प्रभो! अस्मभ्यं प्रसन्नो भूत्वा दीक्षां देहि। ततः स्वामिना धर्मघोषमहामुनिना ते पञ्चापि पाण्डवाः सपत्नीकाः प्रव्राजिताः। तान् प्रव्रजितान् दृष्ट्वा सर्वः पौरादिको जनो मुदा वन्दित्वा पाण्डुमथुरां समाजगाम।

अथ ते पाण्डवा धर्मघोषगुर्वन्ते क्रियां शिक्षित्वा शरीरेऽपि निस्पृहा गुरुणा समं विजह्रुः। एवं ते पञ्चापि पाण्डवमुनयः संयमं प्रपालयमानाः कतिचिद्वर्षान्ते क्रमेण पठ्यमाना द्वादशाङ्गानि पेठुः। एवं तेषां सर्वसिद्धान्त-पठनाद् गीतार्थता जाता, तस्य मुनेः सङ्गमाद्, यथा रसेन्द्रसंस्कृताल्लोहधातूनां हेमता। एवं द्रौपद्यपि साध्वी प्रवर्तिन्याः समीपे क्रमेण एकादशाङ्गानि पपाठ। ते पाण्डवा मुनयः पञ्चापि गीतार्था धर्मघोषमुनीश्वरं समनुज्ञाप्य ग्रामनगरादिषु स्वैरं विचरन्तो विश्वकल्मषं हरन्ति स्म।

एकस्मिन् दिने भीमसेनो महामुनिः सकलकर्मोन्मूलनाय एनं महाभिग्रहमग्रहीत्—यदि कश्चित्पुरुषः कुन्ताग्रेण मण्डकादिभिक्षां दास्यति तदाहं पारणं करिष्ये, नान्यथा। तस्य भीममहामुनेः पुण्यानुभावतः सोऽभिग्रहः षड्भिर्मासैरपूर्यत। एवं तेषां पञ्चानामप्यभिग्रहं कुर्वतां, कर्मक्षयं च कुर्वतां दिनानि यान्ति। प्रतिग्रामं प्रतिस्थानं प्रतिकाननं तैस्तैर्वचोभिर्धर्ममयैरुपकुर्वतां स्वदेहेऽपि निरीहाणां पाण्डवमुनीनां भूयांसि हायनानि व्यतीयुः।

अथौचित्यविहारेण विहरन्तस्ते मुनयः कदाचित्तुङ्गीशैलान्तिकक्षितिं जग्मुः। मह्यां विहरन् तेषां गुरुरपि तत्रैव वने धर्मदेशनां ददानैस्तैर्ददृशे। देवमनुजपर्षदि द्राक्षापाकपेशलया गिरा विशदं धर्ममादिशन्तं त दृष्ट्वा

पाण्डवमुनयोऽपि तत्रैवाजग्मुः। गुरुरपि तानागतान् समालोक्य प्रीतितरङ्गितोत्फुल्ललोचनः सम्भ्रमादुत्थाय प्रत्युद्याति स्म, आनन्दाश्रुकणाकीर्णपक्ष्माणो गुरुपदाऽम्भोजक्षिप्तमौलयः पाण्डवमुनयो धर्मघोषमुनिवरं ववन्दिरे। गुरुरपि विकस्वरकपोलाक्षस्तेषां पाण्डवमुनीनां स्वागतं पप्रच्छ। ततः पुनरपि गुरुः स्वासने समासीनः सर्वेषां देवमनुष्यपशुवर्गाणां पुरतस्तथैव धर्मकथां वितेने। धर्मघोषगुरुदेशनानन्तर सकलोऽपि सभालोकस्तं प्रणम्य निजं निज स्थानं ययौ।

सभायां स्थितं पशुवर्गं समालोक्य विस्मेरमानसो युधिष्ठिरो मुनिधर्मघोषगुरुं पप्रच्छ—हे प्रभो! आरण्यपशवो यद् भवद्देशनां शृण्वन्ति तद् यौष्माकागमस्यैवानुभावः, अथवैतद् किमन्यदपि कारण वर्तते?, तन्मम त्वं प्रसन्नः सर्वं वृत्तान्त निवेदय। युधिष्ठिरमुनिभाषितं श्रुत्वा गुरुरभाषिष्ट—भो युधिष्ठिर! नगराकरपुर-ग्रामादिषु विहार कुर्वन्नस्मिन् शैले पूर्वं सिद्धार्थदेवकृतसाहाय्यो बलभद्रो महामुनिः समागात्। सोऽस्मिन् पर्वते मासक्षपणादितपः कुर्वाणः पारणकदिने प्रत्यासन्नग्रामपुरादौ भक्तपानार्थं याति।

एकस्मिन् दिने मासक्षपणपारणे कस्मिंश्चिद् ग्रामे प्रविशन् कूपकण्ठस्थया नार्या बलदेवरूपमोहितया व्यग्रचित्ततया घटभ्रान्त्या पुत्रगले दवरकपाशो दत्तः, यावता तं पुत्रं कूपे प्रक्षिपति तावता बलदेवमुनिना प्रोक्तम्—हे मुग्धे! त्वया किमारब्धमनौचित्यमिति कथयित्वा तत्पापान्निषिद्धा। ततो बलदेवो महामुनिः स्वं रूप निन्दन्नेवमभिग्रहं जग्राह।

बलदेवस्य स्व-रूप-निन्दा

यथा—"जग्राहाऽभिग्रहं चेति वने काष्ठादिहारिभिः। दत्तेनाऽन्नादिनाऽवश्यं पारयिष्यामि नान्यथा॥१॥
ततः प्रभृति तेनैव विधिना कृतपारणः। तप्यमानस्तपोऽत्युग्रं सोऽस्थादत्रैव कानने"॥ २॥

ततस्ते काष्ठफलादिहारिणो लोका गत्वा स्वस्वनरेन्द्रेभ्यस्तस्य मुनेस्तपस्तेजः शशंसुः। ते राजानो भीताः

सन्त एवं चिन्तयन्ति—नूनमेष मुनीश्वरस्तपांसि तप्यमानोऽस्मदीयानि राज्यान्याच्छेत्तुमिच्छति । तदेनं महामुनिं सम्प्रति वध हन्मः । इति विचिन्त्य ते राजानः ससैन्याः समागत्य तुङ्गीगिरिवरमवेष्टयन् ।

"तावत् सिद्धार्थदेवेन नित्यं रामोपसेविना । सिंहाः फालक्रियोत्फाला विक्रियन्ते स्म कोटिशः ॥ १ ॥
तैश्च वित्रासिताऽशेषसैनिकास्तेऽवनीभुजः । तत्क्षणात् क्षुभितस्वान्ता न्यवर्तन्त प्रणम्य तम् ॥ २ ॥

तद्दिनादारभ्य तस्य राममहामुनेर्लोके नृसिंह इति नाम पप्रथे । स उपशमवान् राममुनिः, तपस्यन् वनेचरान् व्याघ्रमृगशशसिंहजीवान् प्रतिबोधयन्नस्ति । एवं कियान् कालो गतः । तेनैते जन्तवः प्रतिबोधिताः केचन श्रावकाः जाताः, केचन भद्रकभावत्वं प्रपन्नाः, केचन सम्यक्त्ववन्तो वने विचरन्ति, केचन देशविरतिं, केचन पापकर्माणि तत्यजुः, केचन अनशनं चक्रिरे, केचित् कायोत्सर्गं व्यधुः, केचन रामर्षेरासेवकाः संजाताः सुशिष्याः इव सेवां कुर्वन्ति । एवं काले गच्छति कश्चिद् मृगो जातिस्मरः प्राग्भवप्रीत्या महाभक्त्या सुशिष्यवत् तं मुनिमुपासामास । स वने भ्रान्त्वा भ्रान्त्वा काष्ठहारसूत्रधारादिसार्थान् समालोक्य सङ्केतैः प्रणिपाताद्यैर्ज्ञापयति शुद्धान्नदायकान् ।

महामुनिरपि तदनुग्रहबुद्ध्या ध्यानं पारयित्वा तद्दर्शितमार्गः, सार्थे गत्वा तेभ्यः शुद्धान्नं समादाय पक्षान्ते मासक्षपणान्ते द्विमासान्ते पारणकं करोति । एवं कालो याति । एकस्मिन् दिने कश्चिद्रथकारसार्थः तुङ्गीगिर्यासन्ने वने समागात् । स मृग इतस्ततो वने भ्रमन् तं सूत्रधारसार्थं समालोक्य तस्मिन् सार्थे भ्रान्त्वा ततो निर्गत्य बलदेवान्तिकं समागात् । तत्र संज्ञया बलदेवं प्रेर्य अग्रे चचाल । मुनिरपि तस्याऽनुग्रहबुद्ध्या निराकाङ्क्षमानसोऽपि भिक्षार्थं ययौ । सूत्रधारसार्थे गतो बलदेवः । सूत्रधारोऽपि बलदेवमुनिं समालोक्य हर्षाश्रुलोचनः सन्मुखमागत्य दानभूषणपञ्चकभूषितेन दानदूषणपञ्चकरहितेन वाऽन्नपानादि दातुमुत्तस्थौ, दानभूषणानि ।

यथा—"आनन्दाश्रूणि रोमाञ्चो बहुमानं प्रियं वचः। किञ्चानुमोदना पात्रदानभूषणपञ्चकम् ॥१॥

दानदूषणानि यथा—

"अनादरो विलम्बश्च वैमुख्यं विप्रियं वचः।
पश्चात्तापश्च पञ्चाऽपि सद्दानं दूषयन्त्यमी" ॥ २ ॥

तस्मिन् दानावसरे सूत्रधारश्चिन्तयति—धन्योऽहं यदस्मिन्नवसरे भिक्षार्थं मम गृहे एष मुनिः समागतः। निस्तीर्णोऽहं भवार्णवात्। इति विचिन्त्य भक्तमादाय समुत्थितः बलभद्रमुनिः पात्रं बिभर्ति। सूत्रधारो दानं ददाति। ऊर्ध्वमुखो मृगः सूत्रधारदानं दृष्ट्वा मुदितमानसोऽनुमोदयति।

यथा—"भावण भावइ हरिणलो नयणे नीर झरंत।
मुनि वहरावत फरि फरी जइ हुं माणस हुंत" ॥ १ ॥

एवंविधां भावनां यावद्भावयति तावत् तेषां त्रयाणां भावपरां कोटिं प्राप्तानामुपरिष्टादर्धच्छिन्नो वाताहतस्तरुः पपात। तन्निपाताऽभिघातेन मृतास्ते त्रयोऽपि ब्रह्मदेवलोके तुल्यर्द्धिसम्पदो देवा अभूवन्। एवं तिर्यग्नराऽमरान् प्रबोधयता शतवर्षं संयमं पालयता तेन राममुनिना एते पशवः प्रतिबोधिताः। तत्प्रभृत्येष श्वापदगणः शान्तमानसो बभूव। तस्य धर्मघोषमहामुनेर्मुखादिति कथामाकर्ण्य पाण्डवमुनयो विषादकलुषात्मान एवं बभाषिरे।

यथा—"ईदृगद्ध तचारित्रपवित्रात्मा बलो मुनिः ।
हा ! धिगस्माभिरत्यन्तभाग्यवन्ध्यैर्न वन्दितः" ॥ १ ॥

अहो ! यस्य बलभद्रमहामुनेर्वार्ताऽपि श्रुतिपीयूषतुल्या वर्तते, स विश्वभद्रङ्करो महामुनिर्वन्दितः कल्मषापहः कथं न स्यात् ! । अथ श्रीनेमिपादारविन्दं वन्दामहे । स जिनवरो बहुभाग्यलभ्यः कदाचित् पुण्येन लभ्येत, तर्हि अस्माकं सर्वपापस्य सलिलाञ्जलिर्भवत्येव । आदौ व्रतग्रहणस्यापि कृतकृत्यत्वं भवति । ततस्त्रिजगद्वन्द्यो भगवान् साम्प्रतं कुत्रास्तीति ज्ञातुं भगवान् धर्मघोषमुनिः पृष्टः—हे भगवन् ! साम्प्रतं श्रीनेमिजिनः कुत्र विहरति ? । गुरुरूचे—भोः पाण्डवसाधवः ! भगवान् श्रीनेमिजिन आर्यानार्येषु देशेषु क्रमाद् विहृत्य आत्मनिर्वाणसमयं आसन्नं ज्ञात्वा देवमनुष्यसङ्घपरिवृतः साम्प्रतं श्रीरैवतकं गिरिमलंकुरुते ।

एवंविधां गुरोर्वाणीं निशम्य जगद्वन्द्यं नेमिजिनं वन्दनायोत्सुकाः पाण्डवमुनयो गुरुं जजल्पुः—हे प्रभो ! भवत्सहायाः वयं श्रीनेमिजिनं वन्दामहे । अस्मदभाग्ययोगतः प्रथमं निर्वृतं वयं मा स्म न वन्दिष्यामहीति । ततस्ते पाण्डवमुनयो गुरुणा सार्द्धं श्रीनेमिजिनं वन्दितुं रैवतकं प्रति प्रतस्थिरे । भगवद्दर्शनोत्कण्ठिता मार्गेऽविश्रान्तं व्रजन्तो मासक्षपणपारणके हस्तिकल्पपुरं समाजग्मुः । ततस्ते नगरे प्रविष्टा धर्मघोषमुनीश्वरं गुरुं प्रणम्य पारणकदिने इति विज्ञपयन्ति स्म—हे प्रभो ! अमुष्मात् पूर्वं भवता रैवतको द्वादशयोजनीं समाख्यातः । अतो वयं भवदाज्ञया जिने दृष्टे प्रगे पारणकं करिष्यामः । गुरूणोक्तम्—एवं भवतु । पाण्डवमुनयः तद्दिनं तत्रैव तस्थुः ।

तत्रस्था उर्ज्जयन्तगिरेः पन्थानं समालोकयन्तः श्यामीभूतास्यपङ्कजान् जनानागच्छतो वीक्ष्यामी पाण्डवाः किंचिच्चकितचेतसो यावत्तस्थुः, तावत्कश्चित् चारणश्रमणः परिम्लानमुखो विहायसा विचरन् धर्मघोषगुर्वन्तिके

पाण्डव-मुनीना रेवताचल प्रति-प्रयाणम्

समागात्। तेनागत्य प्रणता धर्मघोषगुरवः। ततः पाण्डवमुनिभिः पृष्टः भगवतः स्वरूपं विशिष्टधीश्चारण-श्रमणो मुनिर्व्याचष्टे, यथा—भगवान् श्रीनेमिजिनः स्वमासन्नं निर्वाणसमयं ज्ञात्वा रैवतकाचले सहस्राम्रवने समवासार्षीत्। तत्र चतुर्विधैर्देवनिकायैः स्वामिनोऽन्तिमं समवसरणं कृतम्। तत्र ते चतुर्दिक्षु भूरिमाणिक्य-भासुरां चतुरासनीं विकुर्वन्ति स्म। तस्मिन् सिंहासने पूर्वाभिमुखः स्वाम्यस्थात्। ततस्तिसृष्वपि दिक्षु व्यन्तरामरा विकृत्य स्वामिनः प्रतिरूपकाणि स्थापयामासुः। अथ स्वामी विश्वाऽनुग्रहकाम्यया अन्तिमां रैवताचलमहिमायुतां धर्मदेशनां चिरं चकार।

यथा—"स्पृष्ट्वा शत्रुञ्जयं तीर्थं नत्वा रैवतकाचलम्। स्नात्वा गजपदे कुण्डे पुनर्जन्म न विद्यते ॥१॥
पवित्रा भगवत्पादै रैवताचलरेणवः। पुनन्ति विश्वसंसक्ताः शुद्धिकृच्चूर्णजा इव ॥ २ ॥
पर्वताः सर्व एवैते जलस्थलखचारिणः। जीवाः सन्त्यत्र ये शैले भवत्रये समुक्तयः ॥ ३ ॥
भूरुहा दृषदो भूमिवाय्वबऽग्निशरीरिणः। अचेतना अपि शिवं यातारोऽत्र कियद्दिने ॥ ४ ॥
यथा स्पृष्टमयः स्पर्शोपलेनाप्नोति हेमताम्। तथाऽस्य स्पर्शतो देही भवेच्चिन्मयरूपभाक्" ॥५॥

एवं रैवताचलमाहात्म्ये प्रोच्यमानायां तस्यान्तिमदेशनायां कैश्चिद् व्रतमाददे। कैश्चित् श्रावकत्वं प्रपेदे। केचन भद्रकभावतां भेजुः। एवंविधां तामन्तिमदेशनां दत्त्वा ततो देशनान्ते श्रीनेमिजिनस्वामिना गिरिनारस्यैव शिखरे साधुनां षट्त्रिंशदधिकैः पञ्चभिः शतैः सार्धं पादपोपगमनं मासिकानशनं चक्रे। ततः श्रावणासिताऽष्टम्यां चित्रानक्षत्रस्थे चन्द्रे तैः साधुभिः परिवृतः, सकलं कर्मक्षयं कृत्वा स्वामी नेमिजिनो मोक्षं ययौ। कौमारत्वे त्रीणि शतानि वर्षाणि गृहवासे स्थित्वा, चतुःपञ्चाशद्दिनानि छद्मस्थपर्यायो मह्यां विहृत्य ततः चतुःपञ्चाशद्दिनन्यूनसप्तश-

तवर्षाणि केवलित्वे भव्यान् प्रतिबोध्य नेमिजिनो निर्व्याबाधसुखां निर्वाणपदवीं लेभे। तदैव कृष्णस्याष्टौ महिष्योऽपरा अपि साधुसाध्व्यो राजीमत्याद्याः भूयस्यः शिवमासदन्।

प्रभोर्मातरोऽपि शिवाप्रभृतयः, पिता समुद्रविजयः, अन्येऽपि दशार्हाः स्वामिना सहैव मृत्वा देवभूयमुपाययुः। तदानीमिन्द्राज्ञया धनदः शिबिकामकरोत्। ततः सर्वेऽपि देवेन्द्राः विधिवज्जिनवरेन्द्रमभ्यर्च्य भगवद्वपुः वस्त्राभरणाद्यैरलङ्कृतं विधाय तस्यां शिबिकायां समारोपयन्। ततः सुरेन्द्रैरुत्पाटच्य तस्मिन्नेव वने नैऋर्त्यां दिशि रत्नशिलातले गोशीर्षचन्दनैश्चितां वितेने। तस्यां चितायां विभोर्वपुः संस्थाप्य सुरैर्युतो वासवोऽग्निसंस्कारमकारयत्। ततोऽर्धदग्धां प्रभोश्चितां देवैः क्षीरोदधिवारिभिर्निर्वाप्य यथायोग्यं प्रभोरस्थ्यादि जगृहे। तस्मिन् वह्निसंस्कारपूते रत्नशिलातले सौधर्मेन्द्रः श्रीनेमिजिनमन्दिरं सूत्रयामास।

तस्मिन् जिनमन्दिरे श्रीनेमे रत्नमयीं प्रतिमां संस्थाप्य तां प्रतिमां समानम्य साश्रुनेत्राः सुरनरेशादयः स्वं स्वं स्थानं ययुः। विद्याधरमुनिमुखादिति दुःश्रवां वाचमुपश्रुत्य पाण्डवेयाः मुनयः काञ्चित् दुःखमयीं दशां प्रपेदिरे। अहो! अस्माकमीदृशानि भाग्यानि न सन्ति यत् स्वामिना सह सङ्गमो भवेत्। बलदेवेन सह सङ्गमो न जातः, स्वामिनाऽपि सह सङ्गमो न जातः। अस्मिन् संसारे त एव धन्याः।

"येषां दीक्षोत्सवः स्वामिपाणिना पावितोऽभवत्।
अविश्रान्तं पिबन्ति स्म स्वामिवागमृतं च ये" ॥ १ ॥

त एव पुरुषा धन्येष्वपि धन्याः, ते श्लाघ्येष्वपि श्लाघ्यतमाः, येषां स्वामिना सह निर्वाणमहिमाऽभूत्, वयमधन्या यैरस्माभिः स्वामिनो दर्शनं न प्राप्तं, यतो भाग्यशून्यानां मनोरथा न फलन्ति। अस्माभिः सुदुस्तरोऽभिग्रहो गृहीतो यत् प्रभाते स्वामिदर्शने मासक्षपणपारणं करिष्याम इत्युक्तं तदस्मिन् जन्मनि पारणकेन

नेमि-
नाथस्य
निर्वाणम्

श्री झालावाड जैन श्वे.

मू. तपागच्छ संघ ट्रस्ट

सुरेन्द्रनगर की

ओर से



पूज्य साधु-साध्वीजी

भगवत एवं ज्ञानभंडारो

को सादर भेट

तवर्षाणि केवलित्वे भव्यान् प्रतिबोध्य नेमिजिनो निर्व्याबाधसुखां निर्वाणपदवीं लेभे । तदैव कृष्णस्याष्टौ महिष्योऽपरा अपि साधुसाध्व्यो राजीमत्याद्याः भूयस्यः शिवमासदन् ।

प्रभोर्मातरोऽपि शिवाप्रभृतयः, पिता समुद्रविजयः, अन्येऽपि दशार्हाः स्वामिना सहैव मृत्वा देवभूयमुपाययुः । तदानीमिन्द्राज्ञया धनदः शिबिकामकरोत् । ततः सर्वेऽपि देवेन्द्राः विधिवज्जिनवरेन्द्रमभ्यर्च्य भगवद्वपुः वस्त्राभरणाद्यैरलङ्कृतं विधाय तस्यां शिबिकायां समारोपयन् । ततः सुरेन्द्रैरुत्पाटच्च तस्मिन्नेव वने नैर्ऋत्यां दिशि रत्नशिलातले गोशीर्षचन्दनैश्चितां वितेने । तस्यां चितायां विभोर्वपुः संस्थाप्य सुरैर्युतो वासवोऽग्निसंस्कारमकारयत् । ततोऽर्धदग्धां प्रभोश्चितां देवैः क्षीरोदधिवारिभिर्निर्वाप्य यथायोग्यं प्रभोरस्थ्यादि जगृहे । तस्मिन् वह्निसंस्कारपूते रत्नशिलातले सौधर्मेन्द्रः श्रीनेमिजिनमन्दिरं सूत्रयामास ।

तस्मिन् जिनमन्दिरे श्रीनेमे रत्नमयीं प्रतिमां संस्थाप्य तां प्रतिमां समानम्य साश्रुनेत्राः सुरनरेशादयः स्वं स्वं स्थानं ययुः । विद्याधरमुनिमुखादिति दुःश्रवां वाचमुपश्रुत्य पाण्डवेयाः मुनयः काञ्चित् दुःखमयीं दशां प्रपेदिरे । अहो ! अस्माकमीदृशानि भाग्यानि न सन्ति यत् स्वामिना सह सङ्गमो भवेत् । बलदेवेन सह सङ्गमो न जातः, स्वामिनाऽपि सह सङ्गमो न जातः । अस्मिन् संसारे त एव धन्याः ।

"येषां दीक्षोत्सवः स्वामिपाणिना पावितोऽभवत् ।
अविश्रान्तं पिबन्ति स्म स्वामिवागमृतं च ये" ॥ १ ॥

त एव पुरुषा धन्येष्वपि धन्याः, ते श्लाघ्येष्वपि श्लाघ्यतमाः, येषां स्वामिना सह निर्वाणमहिमाऽभूत्, वयमधन्या यैरस्माभिः स्वामिनो दर्शनं न प्राप्तं, यतो भाग्यशून्यानां मनोरथा न फलन्ति । अस्माभिः सुदुस्तरोऽभिग्रहो गृहीतो यत् प्रभाते स्वामिदर्शने मासक्षपणपारणं करिष्याम इत्युक्तं तदस्मिन् जन्मनि पारणाकेन

सूतम्। एवं विमृश्य ते पञ्चापि पाण्डवमुनय इति चिंतयन्ति—नूनमत्रैव प्रत्यासन्ने नगोत्तमे श्रीविमलाचले श्रीधर्मघोषगुर्वनुज्ञयाऽनशनं कुर्मः।

यतः-"मलयाद्रौ यथाऽन्येऽपि यान्ति चन्दनतां द्रुमाः। तथाऽत्र पापिनोऽप्यङ्गिगणा यान्ति हि पूज्यताम् ।१।
अत्र हि क्षीणनिःशेषकर्मसन्ततयः पुरा। मुनयः पुण्डरीकाद्याः कोटिशः प्रययुः शिवम् ॥ २ ॥
तदयं सर्वतीर्थेषु महत्तीर्थं गिरीश्वरः। अस्माकमप्यभीष्टार्थसिद्धये भविताऽधुना" ॥ ३ ॥

इत्यालोच्य ते सर्वेपि गुरुणा सार्धं तं नगेन्द्रं विमलाचलमारुरुहुः, यतो दुःसाध्येऽपि कार्ये महाशया न मन्दायन्ते। अथ तस्य गिरेः शिरसि ते पाण्डवा धर्मघोषगुरोः पार्श्वे आराधनाविधिं विधाय ततोऽनशनक्रियां चक्रिरे। धर्मघोषो गुरुस्तेषां पाण्डवमुनीनां निर्यामको वभूव। धर्मघोषमुनिभिर्निर्यामिताः पाण्डवाः समतैकलीनचित्ता लोकालोकप्रकाशकं केवलज्ञानमासादयामासुः। ततो देवमनुष्यपर्षदि पाण्डवा मुहूर्त्तमात्रं विशुद्धं धर्ममुपदिश्य ततः क्षणमात्रमयोगिगुणस्थानके विश्रम्याऽक्षयसौख्यं मुक्तिपदं प्रापुः।

यतः-"क्रमाद्घातीनि कर्माणि क्षिप्त्वा मात्रा समं च ते। अन्तकृत्केवलालोका निःश्रेयसमशिश्रियन् ॥१॥
पाण्डवानामनु प्रापुः मुनिपञ्चशतानि च। सहस्रे द्वे शिवागारं प्राप्तानन्तचतुष्टयाः ॥ २ ॥
द्रौपदी पञ्चमं कल्पमवापानल्पपुण्यभृत्। अन्ये तु मुनयः केचित् शिवं स्वर्गं च केचन" ॥ ३ ॥

अथ नारदो देवमुनिर्द्वारिकादाहं नेमिनिर्वाणं च श्रुत्वा तत्रैव श्रीशत्रुञ्जयशृङ्गे भवनाशनमनशनं जग्राह। ततश्चतुःशरणं कृत्वा चत्वारि मङ्गलान्यपि हृदि ध्यात्वा त्रिकशुद्धया चतुष्कषायान् मुक्त्वा सम्यक्त्वं भावचरित्रं

चाश्रयन्, चतुष्प्रकारं धर्ममाश्रयन् चतुर्थध्यानमास्थितः शुक्लध्यानस्य चतुर्थांशं लब्ध्वा नारदः पञ्चमीं गतिमगात्। तत्पदानुगामिनी निर्मलाऽनशनपाविनी द्रुपदनन्दनी प्रनशनेन विधिवत् मृत्वा पञ्चमदेवलोके देवत्वं प्राप। तस्मिन् गिरिशिरसि तेषां पाण्डवमुनीनां निर्वाणमहिमानं देवाश्चक्रुः।

यथा—"हुताशैः संस्कारं त्रिदशतरुदारुप्रणयिभिस्तदङ्गानां तत्तद्विधिमधुरमाधाय विबुधाः।
जगत्काम्ये तस्मिन् गिरिशिरसि निर्वाणमहिमामहं चक्रुर्नृत्यत्सुरयुवतिसङ्गीतकमयम्" ॥ १ ॥

एतत्पाण्डवचरित्रं महाशास्त्रम्। यतश्चैककस्याऽपि महात्मनश्चरितं यस्मिन् शास्त्रेऽस्ति तत् कल्याणास्पदं महाशास्त्रं वर्त्तते। यस्मिन् शास्त्रे श्रीनेमिः, हरिः, प्रतिहरिः, मुशली, पाण्डवाः, कौरवाः, भीष्मकर्णकृपादयो महापुरुषाः वर्णिताः, तस्य किं ब्रूमहे ?।

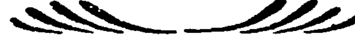
"षष्ठाङ्गोपनिषत्त्रिषष्टिचरिताद्यालोक्य कौतूहलादेतत् कन्दलयाञ्चकार चरितं पाण्डोःसुतानामहम्।
तत्राज्ञानतमस्तिरस्कृतिवशादुत्सूत्रमासूत्रयं यत्किञ्चित्तनु मय्यनुग्रहधिया शोध्यं तदेतद् बुधैः" ॥ १ ॥

इति श्रीमत्तपागच्छाधिराजभट्टारकश्री ५ श्रीहीरविजयसूरिपट्टालङ्कारसंप्रतिविजयमानभट्टारकश्रीविजयसेनसूरिराज्ये पण्डितदेवविजयगणि-विरचिते गद्यबन्धबन्धुरे श्रीपाण्डवचरित्रे बलदेवस्वर्गगमनश्रीनेमिनाथपाण्डवराजर्षिनिर्वाणवर्णनो नामाष्टादशः सर्गः समाप्तः।

॥ इति पाण्डवचरित्रं समाप्तम् ॥



प्रशस्तिः



अथ प्रशस्तिर्यथा—

स्वस्तिश्रीमत्तपागच्छे भट्टारकपुरन्दराः । श्रीविजयदानसूरिप्रवरा गुणशालिनः ॥ १ ॥
श्रीराजविजयसूरिः शिष्यस्तेषां गुणाग्रणीर्जयति । तच्छिष्यदेवविजयः प्राप्तोत्तमपण्डितश्रीकः ॥ २ ॥
शशिरसरसखमितेऽब्दे मासे माघे तिथौ च मासमिते । शुक्ले गुरुगुरुभयुते राजन्वदहमदावादे ॥ ३ ॥
जीर्णं पाण्डवचरितं शत्रुञ्जयनाममहिमकं च तथा । शास्त्रं च नलचरित्रं विलोक्य भावार्थमधिगम्य ।४।
सुगमत्वाद् गद्यमयं पाण्डवचरित्रं चकार विस्तरतः । स्वस्य परेषामपि वा सुखावबोधं ललितवचनं च ।५।
(पञ्चभिः कुलकम्)
छद्मस्थ्याद्यत् किञ्चिद् व्याकरणागमविरुद्धरचितम् । इह गीतार्थैस्तच्छोध्यं परोपकारैकबुद्धिधनैः ॥६॥
वाचकशिरोवतंसाः श्रीमन्तः श्रीशान्तिचन्द्रगुरुचन्द्राः । तच्छिष्यरत्नचन्द्रैर्विबुधैः संशोधितं स्वधिया ।७।
सूर्याचन्द्रमसौ यावद् यावत्सप्त कुलाचलाः । श्रीमत्तपागणस्तावदयं जयतु पुस्तकः ॥ ८ ॥

卐 इति प्रशस्तिः 卐

श्री झालावाड जैन श्वे.
मू. तपागच्छ संघ ट्रस्ट
सुरेन्द्रनगर की
ओर से



पूज्य साधु-साध्वीजी
भगवंत एवं ज्ञानभंडारो
को सादर भेट